

मनु शर्मा



कृष्ण की उर्गात्मकथा

॥ द्वारका की स्थापना ॥



प्रभात

कृष्ण की आत्मकथा-3

द्वारका की स्थापना

मनु शर्मा



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

आत्मकथ्य

मैंने जीवन भर कभी तर्क में विश्वास नहीं किया; क्योंकि तर्क अपने विरुद्ध स्वयं खड़ा हो जाता है। वह मानव बुद्धि का परम चतुर किंतु आदर्शहीन शिशु है। उसका जन्म भी उस समय हुआ था जब सत्य और झूठ की पहली लड़ाई हुई थी। तब से वह झूठ का ही प्रवक्ता रहा है। कभी-कभी वह सत्य के पक्ष में भी खड़ा हो जाता है। केवल इसलिए कि वह सत्य से प्रतिष्ठा पाता है और झूठ से जीवन रस।

वस्तुतः सत्य को उसकी आवश्यकता भी नहीं है; सत्य तो स्वयं भाषित है, स्वयं प्रमाण है। कभी-कभी वह बादलों के घेरे में आ जाता है, तब हम उसे छिपता हुआ देखते हैं। वास्तव में यह हमारा दृष्टि भ्रम है। बादलों के छँटते ही उसकी ज्योति अपने स्थान पर स्वतः चमकती दिखाई देने लगती है।

एक

अब महर्षि भार्गव से मिलने की मेरी इच्छा स्वाभाविक थी। सोचता था कि पहले करवीरपुर (वर्तमान कोल्हापुर) चलूँ। वहाँ के महाराज शृंगलव से मिलूँ। पारिवारिक संबंधों का भी यही आग्रह था। बलदाऊ भी मेरे पक्ष में थे; पर आचार्य गर्ग का निर्देश रह-रहकर याद आता था। उनका स्पष्ट आदेश था कि करवीरपुर जाने के पहले आचार्य परशुराम से अवश्य मिल लेना।

उस समय मैंने उनसे पूछा था कि केवल आशीर्वाद के लिए या कोई और बात है? उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया था, केवल रहस्यमय ढंग से मुसकरा दिए थे और कहा था कि आप लोगों के पहुँचने के पहले आपके संबंध में मेरी सूचना उन तक पहुँच जाएगी।

दाऊ का एक दूसरा तर्क था। उनका कहना था कि करवीरपुर का मार्ग प्रशस्त है, हम अपने रथ से बड़ी सरलता से वहाँ पहुँच सकते हैं; पर महेंद्र पर्वत पर महर्षि भार्गव के आश्रम तक जा पाना सुगम नहीं है। ऐसा नहीं हो सकता कि हम करवीरपुर होकर महर्षि के दर्शन के लिए चलें?

एक द्विविधा जन्म ले चुकी थी। करूँ तो क्या करूँ? मैंने समाधान के लिए समस्या ऋषिवर के समक्ष रखी। उन्होंने छूटते ही कहा, “आचार्यजी ने कुछ सोचकर ही निर्देश दिया होगा। मेरी तो सलाह है कि आप कहीं जाने के पूर्व महेंद्र पर्वत की ओर ही प्रस्थान करें। उनका आशीर्वाद आपके लिए आवश्यक है।”

“पर हम इस समय आशीर्वाद से अधिक आश्रय की खोज में हैं।” दाऊ बोला।

“हो सकता है, उनका आशीर्वाद ही आपके लिए आश्रय हो जाए।” ऋषिवर बोले और नयन मूँदकर कुछ सोचने लगे। निश्चय ही उनका कथन उनकी अंतर्दृष्टि का परिणाम था।

मैंने ऋषिवर की वह मुद्रा देखी और दाऊ की ओर दृष्टि डाली। उनके भी विचार बदले हुए मालूम पड़े। अब ऋषिवर की राय उनकी आज्ञा की तरह स्वीकार करते हुए हमने बहुत दिनों की शंका का बड़े सहजभाव से उद्घाटन किया—“महर्षि भार्गव भी अद्भुत हैं। शायद धरती पर एकमात्र चरित्र रह गया है, जो त्रेता को द्वापर से जोड़ता है।”

ऋषिवर हँस पड़े—“तुम क्या समझते हो, जो भगवान् परशुराम के समय थे, वे आज भी हैं!” उन्होंने हँसते हुए ही रहस्योद्घाटन करना जारी रखा—“अरे तात, परशुराम कोई व्यक्ति नहीं वरन् शस्त्र-समन्वित शास्त्र की एक परंपरा हैं, एक सिद्धपीठ हैं, जो युगों-युगों से चली आई है। व्यक्ति आते रहे, जाते रहे; पर परशुराम ज्यों-के-त्यों बने रहे। ये अतीत में भी थे, वर्तमान में भी हैं और भविष्य में भी रहेंगे।”

“पर मैं तो इन्हें एक ही व्यक्ति समझकर अतीत का वर्तमान के लिए चमत्कारी वरदान ही मानता रहा।”

“तुम्हीं नहीं, बहुत से लोग ऐसा समझते हैं।” ऋषिवर बोले, “हो सकता है, एक समय ऐसा भी आए जब शास्त्रज्ञ परशुराम से भिन्न समझे जाने लगे।”

“जो भी हो, अब दर्शन तो करूँगा ही।” मैंने कहा और हम लोगों ने भार्गव आश्रम जाने की योजना बनानी आरंभ कर दी।

ऋषिवर ने कहा, “आप लोग अग्निहोत्र के बाद कल प्रातः ही यहाँ से निकल पड़ें। और जैसा आप समझते हैं, मार्ग भी कोई दुर्गम नहीं है। प्रशस्त भी है। बहुत से लोग उनके दर्शनार्थ जाते रहते हैं। आपका रथ भी उनके आश्रम तक बड़ी सरलता से पहुँच सकता है। फिर मार्ग की प्रकृति भी आपको बड़ी मनोरम मिलेगी। सर्वत्र वनश्री की शोभा

अद्भुत है। ज्यों-ज्यों आप बढ़ते जाएँगे, आप सुषमा के प्रकोष्ठ में प्रविष्ट होते जाएँगे।”

दूसरे दिन प्रातः ही हम ऋषिवर की अनुमति और आशीर्वाद ले चल पड़े। यों मार्ग के संबंध में पूरी जानकारी उन्होंने दी थी, फिर भी अनजान रास्ता तो अनजान ही होता है। व्यक्ति स्वयं को भटका हुआ ही समझता है। यद्यपि गाँव बहुत दूर-दूर थे, पर वन की संपन्न सुषमा हमें मोह रही थी। हालाँकि ग्रीष्म का आक्रमण आरंभ हो गया था, फिर भी हमें जरा भी परेशानी नहीं थी। ऐसा लग रहा था कि इन्हीं वनों में कहीं वसंत लुका-छिपा बैठा है।

घनी अमराइयों और कदली वनों के बीच से जब हमारा रथ गुजरता था, तब हमें लगता था कि हम सचमुच हरीतिमा के सागर में तैर रहे हैं या किसी स्वप्नलोक में उड़े चले जा रहे हैं। हमें अपने वृंदावन पर बड़ा गर्व था; पर वह कूप मंडूक का गर्व इस सुषमा-समुद्र में डूब गया। कल्लोल करते पक्षी, चौकड़ी भरते मृग, एक डाल से दूसरी डाल पर किलककर छलाँग लगाते वानरों को देखने से ऐसा लगता था मानो प्रकृति हमपर हँस रही है और कह रही है कि हमारे इस उन्मुक्त प्रांगण को देखो। यहाँ के जीवों को तुम्हारी तरह कहीं भागने की आवश्यकता नहीं होती। न इनके राज्य में कंस पैदा होता है, न जरासंध और न तुम्हारी तरह इनका कोई ईश्वर है।

उद्धव से आखिर रहा नहीं गया। उसके मुख से निकल पड़ा—“यह तो वृंदावन से भी सुंदर है।”

“पर यहाँ कोई राधा नहीं है; न यशोदा माता, न नंद बाबा और न वे गोप-गोपिकाएँ।” उद्धव चुप हो गया और मैं कहता गया—“कुछ भी हो, वृंदावन तो वृंदावन ही है। अपना जो है!” दाऊ ने भी मेरे समर्थन में सिर हिलाया।

मेरा मन कहीं और खोने लगा। वैशाख आरंभ हो गया है, पर यहाँ ताप बिल्कुल नहीं।

“ताप का न होना एक बात है और ताप का अनुभव न होना एकदम दूसरी बात।” मैंने कहा और फिर मेरा मन दूसरी ओर चला गया। जब भी वृंदावन की बात चलती, मेरी मानसिकता अंतर्मुखी हो जाती। मैं सोचने लगता कि मैंने वृंदावन छोड़ा, मथुरा छोड़ी और अब मैं किस डगर पर जा रहा हूँ? क्या नियति ही मुझे नादान शिशु की तरह हाथ पकड़कर नहीं ले जा रही है? तब इसमें मेरा क्या दोष है? मैं तो अंधड़ में उड़ता एक पत्र हूँ। प्रवाह में बहता एक तिनका हूँ। हवाओं की इच्छा में बंदी बादल का एक टुकड़ा हूँ; जो कहीं बरसा, कहीं नहीं बरसा और ऐसी मनःस्थिति में मैं आध्यात्मिकों जैसी बातें करने लगता। उसी संदर्भ में मैंने कहा, “ब्रह्म का सामान्य अनुभव तो नहीं होता, पर मैं यह कह नहीं सकता कि ब्रह्म नहीं है। इसी तरह इस समय ताप का अनुभव नहीं हो रहा है; पर मैं कह नहीं सकता कि ताप नहीं है। यह अवश्य है कि वैशाख का ताप यहाँ अभी बैसाखी के सहारे है।”

मेरी मनःस्थिति का बिना अनुमान लगाए लोग मेरे ‘वैशाख’ और ‘बैसाखी’ शब्दों के प्रयोग पर हँस पड़े। जैसे निर्झर के किनारे ध्यानावस्थित व्यक्ति के समक्ष लहरें कल-कल करती निकल जाती हैं और वह उनसे निरपेक्ष बैठा रहता है वैसे ही मैं इस हँसी के समक्ष निरपेक्ष था। उद्धव ने मेरी मानसिकता समझ ली; क्योंकि दाऊ भैया की अपेक्षा उद्धव मेरे जीवन के अधिक निकट था। मेरे प्रति उसकी समझदारी भी भैया से अधिक गहरी थी। उसका मौन भैया पर भी छा गया। हम लोग चुपचाप चलते रहे। शीतल और सुगंधित वायु का झोंका हमें सहलाता रहा।

मेरी इस यात्रा का वर्णन अधूरा रहेगा, यदि मार्ग में पड़नेवाले आदिवासियों के संबंध में मैं कुछ न कहूँ। उनकी सहजता, सरलता और सहयोग की अपार भावना से विश्वास हो जाता था कि वनवासी राम के ऐसे ही सहयोगी रहे होंगे, जिनकी कृपा की भगवान् को भी आवश्यकता पड़ी।

हम लोग रात को ऐसे ही वनवासियों के एक ग्राम में ठहर गए थे। उन्होंने कंद-मूल और दूध-दही से हमारा स्वागत किया। उनके जीवन की सहजता में कितना आनंद है, उन्हें हम संसारी लोग समझ नहीं सकते। वन ही उनका सबकुछ है। स्त्री-पुरुष दिन भर वनदेवी की गोद में विहार करते और उन्हींकी कृपा से जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते।

रात होते ही मशालों की ज्योति में उनका संगीत आरंभ होता। खूब नाचते-गाते। इस बार तो हमें ही बीच में बैठाकर हमारे चारों ओर ऐसा नृत्य किया कि हम विभोर हो उठे। उनकी लयमयता इतनी आकर्षक थी कि उसने मेरी ही वंशी मेरे अधरों पर रख दी और मैं लगा वंशी बजाने। फिर क्या था! सोने में सुगंध आ गई और पूरी रात यह संगीत उत्सव चलता रहा।

दूसरे दिन सूर्योदय के पहले ही हमने चलने की तैयारी की। गाँव के सभी लोगों ने हमसे एक दिन और रुकने का आग्रह किया; पर हम वहाँ रुकनेवाले कहाँ थे। हमारा गंतव्य तो और कहीं था। जब उन्होंने देखा कि हम चले ही जाएँगे, तब हमारे रथ पर बैठते-बैठते एक बूढ़ा हमारे पास आया और अत्यंत विनीत जिज्ञासु की तरह बोला, “शायद आप आचार्य परशुराम का दर्शन करने जा रहे हैं।”

हम लोगों ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

“तो अवश्य जाइए। वे युगपुरुष हैं। पर एक बात बताइए, आप लोग क्षत्रिय तो नहीं हैं?”

“नहीं।”

“चलिए, एक आशंका तो दूर हुई। सुना है, क्षत्रियों को देखते ही उस व्यक्ति का परशु अब भी उठ जाता है।” इसके बाद वह बूढ़ा थोड़ा संतुष्ट दिखा; पर पूरा प्रसन्न नहीं। उसने थोड़ा सकुचाते हुए दूसरा प्रश्न किया—“आप ब्राह्मण भी नहीं होंगे?”

“नहीं।”

बूढ़ा गंभीर हो गया और बोला, “यदि आप ब्राह्मण होते तो क्या बात थी!”

“तो हम लोग ब्राह्मण का वेश बना लें?” उद्धव पूछ बैठा।

“नहीं-नहीं, ऐसा कभी मत करना। उस तपस्वी की दृष्टि बड़ी प्रखर है। फिर ब्राह्मण का वेश बनाने से आप ब्राह्मण तो हो नहीं जाएँगे।” उस बूढ़े ने कहा, “ऐसा करनेवाला अभी कल ही पकड़ा गया है और उसे ऐसा दंड मिला है कि वह जीवन भर याद करेगा।”

“आपको कैसे मालूम?”

“अरे, यह भी कोई पूछने की बात है! पूरे वन प्रदेश में यह समाचार हवा की तरह फैल गया है।”

“पर वह व्यक्ति कौन था, जो परशुराम द्वारा दंडित हुआ?” मेरी जिज्ञासा जागी।

“यह तो नहीं मालूम।” बूढ़े ने कहा और हमें निर्देश देते हुए बोला, “आप लोग बड़े सीधे-सादे व्यक्ति हैं।...और वह तपस्वी अद्भुत है। उसकी भृकुटी पर जरा भी वक्रता आने मत देना।”

वहाँ से तो चल पड़ा, पर मार्ग में उसकी बातें अनेक भंगिमाओं में याद आती रहीं। ये सहज वनवासी भी आचार्य परशुराम के स्वभाव से परिचित हैं। उनकी भृकुटी की वक्रता का ध्यान रखते हैं। फिर वह अभागा कौन था, जो ब्राह्मण का वेश बनाकर उन्हें ठगना चाहता था?

“कोई क्षत्रिय ही ऐसा जोखिम उठा सकता है।” भैया बोले, “क्योंकि क्षत्रियों को ही उनकी शस्त्रविद्या की आवश्यकता है और वह ऐसा ब्राह्मण है, जो किसी ब्राह्मण को ही अपनी विद्या देगा।”

“किसी ब्राह्मण को नहीं वरन् उपयुक्त ब्राह्मण की ही वे खोज कर रहे हैं।” मैंने कहा, “गर्गाचार्य ने मुझे बताया है कि उपयुक्त पात्र के अभाव में ही वे जीवित हैं, अन्यथा इतना लंबा जीवन जीने के बाद उन्होंने इच्छा मृत्यु ग्रहण कर ली होती।”

“इसका तात्पर्य यह है कि यदि उन्हें उचित पात्र न मिला तो क्या वे मरेंगे नहीं?” उद्धव ने कहा और मैं छूटते ही बोला, “यह तो तुम चलकर उन्हींसे पूछना।” सभी हँस पड़े। पर मैं कहता गया—“पात्रता के अभाव में न तो

विद्या सुरक्षित रहती है और न फलवती होती है।”

तब तक हम लोगों ने देखा कि एक स्वस्थ युवक यह प्रशस्त मार्ग छोड़कर दूर पगडंडी से चला आ रहा है। वह सिर झुकाए हुए अपराधी मनःस्थिति से ग्रस्त लगता है।

“अरे, यह तो वसुषेण (कर्ण) है!” मेरे मुख से निकला।

फिर भी भैया ने साश्चर्य पूछा, “कौन वसुषेण? क्या तुम इसे जानते हो?”

“हाँ, जानता हूँ।” मैंने कहा, “हस्तिनापुर में मैं इससे मिल चुका हूँ। लगता है, यही ब्राह्मण बनकर आचार्य भार्गव के यहाँ गया था।”

“तब क्या यह ब्राह्मण नहीं है?”

“नहीं।”

“तब कौन है?”

“लोग इसे सूतपुत्र कहते हैं।”

पर भैया की शंका अभी शांत होनेवाली नहीं थी। उन्होंने तुरंत पूछा, “लेकिन तुम क्या कहते हो?”

“मैं भी सूतपुत्र ही कहता हूँ; क्योंकि महाराज धृतराष्ट्र के सारथि अधिरथ ने इसे पाला है।”

“पाला है! इसका तात्पर्य है कि यह उनका जनमा पुत्र नहीं है?”

“नहीं। इसे तो अधिरथ ने गंगा में बहती एक मंजूषा में पाया था।”

“तब हो सकता है, वह मूल में ब्राह्मण ही हो।”

“ऐसा तो नहीं लगता, क्योंकि उसके वक्ष पर जन्म से ही कवच है। कोई ब्राह्मण दिव्य ज्ञान लेकर तो पैदा हो सकता है, पर दिव्य कवच लेकर पैदा नहीं हो सकता।” मैंने कहा।

तब तक उद्धव बोला, “लगता है, उसने रास्ता भी बदल दिया है। अब वह दूसरी ओर जा रहा है।”

“हो सकता है कि उसने मुझे पहचान लिया हो और मुझसे मिलना न चाह रहा हो।” मैंने कहा और सोचने लगा, ‘हो न हो, यह वही युवक हो, जिसके संबंध में वह वृद्ध कह रहा था।’

मैंने लोगों से भी यही बात कही और बताया कि वह बड़ा शौर्यवान् है; पर इस समय वह एकदम टूटा मालूम पड़ रहा है। मैं उससे बातें करने की सोच ही रहा था कि उद्धव बोल पड़ा—“कहिए तो उसे ब्राह्मणकुमार कहकर आवाज लगाऊँ।”

“क्या व्यर्थ की बात करते हो! उसके घायल अहं को फिर चोट पहुँचाना चाहते हो?” मैंने एकदम उद्धव को रोका और रथ से कूदकर ‘अरे ओ मित्र!’ कहता हुआ उधर दौड़ा और दौड़ते हुए भी कभी ‘मित्र’ और कभी ‘वसुषेण’ कहकर उसे पुकारता रहा। अंत में उसे रुक जाना पड़ा। उसने मुझे विचित्र दृष्टि से देखा। उसके स्वर्णिम कवच और कुंडल पर सूर्य की किरणें प्रत्यावर्तित होकर चकाचौंध कर रही थीं। उसकी स्फीत शिराओं में दौड़ता हुआ रक्त जैसे उद्घोषणा कर रहा था कि मैं पराजित नहीं हूँ। सूर्य की किरणों से प्रदीप्त उसका व्यक्तित्व वह नहीं था, जो दूर से हमें दिखाई पड़ रहा था। मैंने सकुचाते हुए ही पूछा, “वसुषेण, यहाँ कहाँ?”

वह चुप ही रहा; वरन् उसने उलटकर प्रश्न किया, “आप यहाँ कैसे?”

“पर्यटन के निमित्त निकला हूँ। सोचा, महेंद्र पर्वत पर चलकर आचार्य भार्गव के भी दर्शन कर लूँ।”

“अवश्य दर्शन कीजिए। वे दर्शनीय हैं भी।”

उसके कहने के ढंग में एक प्रकार की वितृष्णा थी, असफलता की बौखलाहट थी। मैंने उसे और अधिक छेड़ना उचित नहीं समझा।

उधर रथ पर बैठे भैया और धरती पर खड़ा उद्धव हमें एकटक देख रहे थे। शायद उन्होंने सोचा था कि उसे रथ की ओर लेकर मैं आऊँगा। पर सत्य कहूँ, इच्छा होते हुए भी मैं ऐसा नहीं कर पाया। केवल इतना पूछ पाया—“आचार्य के यहाँ पहुँचने का मेरा मार्ग तो ठीक है?”

“मार्ग तो आपका कभी गलत नहीं होता।” जैसे वह मुझे बहुत पहले से जानता हो।

“मार्ग गलत न होने पर भी कभी-कभी उपलब्धि गलत हो जाती है।” मैंने कहा।

“यह बात मुझ जैसे अभागे पर चरितार्थ होती है, आप जैसे लोगों पर नहीं।” यह वह नहीं, उसका अंतःकरण बोला था। फिर अचानक उसके मुख से निकला—“खैर, कोई बात नहीं।” लगा, उसके प्रदीप्त अहं ने उसके भीतर के अंधकार को एक बार फिर झकझोरा। उसने आकाश में चमकते हुए सूर्य की ओर देखा और पुनः उसके कवच एवं कुंडलों से चिनगारियाँ छूटने लगीं।

मैंने उसकी नस पर जानबूझकर अँगुली रखी—“क्या तुम भी हमारे साथ चलोगे?”

वह कुछ बोला नहीं; पर मुझे लगा कि उसकी नसों में रक्त उबलने लगा है। फिर उसने स्वयं को सँभाला—“भार्गव आश्रम का ऐसा कोई द्वार नहीं है, जो अब मुझे स्वीकार कर सके।”

अब मैं कुछ और पूछ न सका, अभिवादन कर चुपचाप लौट पड़ा। उसकी दृष्टि का दबाव मेरी पीठ तब तक सहती रही जब तक मैं अपने रथ पर आ नहीं गया।

□

सचमुच जैसा सुना था, महेंद्र पर्वत वैसा ही था। हरीतिमा ओढ़े हुए यह पर्वत श्रृंखला अपने पूरे परिवेश में प्रसन्न थी। सोमरस के वृक्ष हमने यहीं देखे थे। इनसे सोमरस निकालने दूर-दूर से लोग आते थे; क्योंकि इस पर्वत का सोमरस जगद्विख्यात है।

यात्रियों और पर्यटकों के निरंतर आवागमन का ही परिणाम है यहाँ का प्रशस्त पथ। हमारे रथ को यहाँ तक आने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ी। हम सूर्योदय होते-होते यहाँ पहुँच चुके थे।

मार्ग के दोनों ओर दूहे-सी उठी धरती पर पारिजात के स्वयं उगे जंगलों की सघनता सहज ही हमें आकृष्ट कर रही थी।

मार्ग में पारिजात के चूते फूलों से पुष्पशय्या-सी बिछ गई थी। उनपर से गुजरता हमारा रथ सुंदरता, सुगंध तथा मादकता के अद्भुत संसार में प्रविष्ट कर रहा था। ऊपर से झरते पुष्प, मार्ग में बिछे पुष्प और उसपर हम। सचमुच हम किसी स्वप्नलोक में जा रहे थे या इंद्रपुरी में, हम इसका अनुमान न लगा सके। इसका ज्ञान ही हमें नहीं था कि हम एक आश्रम में प्रविष्ट होने वाले हैं।

कुछ दूर और चलने पर कुछ वनवासियों ने हमारा स्वागत किया और बड़े विनीतभाव से बोले, “बड़ी कृपा हो, यदि आप रथ यहीं छोड़ दें।”

हम लोग तुरंत उतर गए और रथ को किनारे लगाकर घोड़ों को खोलने का उपक्रम किया जाने लगा।

“आप कष्ट न करें। आपके रथ और अश्वों की अच्छी देखभाल होगी।” उन्होंने कहा और हमने भैया व उद्धव की ओर देखा। हमारा दृष्टि-संभाषण यह स्वीकार कर रहा था कि अवश्य ही गर्गाचार्य का संदेश यहाँ आ चुका है।

“महर्षि अवश्य आपके स्वागत में आते; किंतु कल से ही उनकी मनःस्थिति असंतुलित है।”

“क्यों, क्या हो गया है उन्हें?”

“इसे आप ही पूछ लीजिएगा।” वनवासियों में से एक ने मुसकराते हुए कहा और उसने उसी दृष्टि से अपने मित्रों की ओर भी देखा।

इसके बाद चुपचाप वे हम लोगों के साथ चल पड़े।

इसके पूर्व हमने ध्यान नहीं दिया था कि हमारे रथ को देखते ही एक वनवासी आश्रम की ओर दौड़ पड़ा था। जिसके परिणामस्वरूप आश्रम के ब्रह्मचारियों का एक समूह मेरी अगवानी के लिए आ गया था।

कुछ आगे बढ़ते ही वे ब्रह्मचारी हमें मिल गए।

“आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ?”

“नहीं, बिल्कुल नहीं। इस स्वर्गाश्रम में कष्ट की संभावना तक नहीं।”

“अरे, स्वर्गाश्रम नहीं, इसे धरती का ही आश्रम कहिए।” एक ब्रह्मचारी बोला और हम सब हँस पड़े।

हम लोग चलते गए, चलते गए। किसी तपस्वी की घनी भौंहों से आच्छादित नेत्र की तरह घने और लंबे वृक्षों से आवेष्टित एक सुंदर विशाल नीली झील हमें अपनी ओर खींचती ज्ञात हुई। हम सँकरी और टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी पर खिंचते चले गए।

दूर से ही आश्रम में होते अग्निहोत्र का स्वर सुनाई पड़ने लगा। कुछ और बढ़ने पर हवि की सुरभि ने भी हमारा स्पर्श किया। हमें किसीके बताने की आवश्यकता नहीं पड़ी कि महर्षि अभी यज्ञस्थल पर हैं। हम बाँसों की बनी एक पर्णकुटी में बैठा दिए गए। वहाँ भू पर रखे कुशासनो के अतिरिक्त किनारे पर बिछे आस्तरण भी कुश के ही थे। वहीं पर मैं दुलक गया। भैया ने भी दीवार के सहारे अपनी पीठ टेकी। उद्धव मेरे पैरों के पास बैठ गया।

एक ब्रह्मचारी मेरी आवश्यक सेवा के लिए पर्णकुटी के द्वार पर रह गया था और शेष चले गए थे। दूसरी ओर बाँसों के सहारे लकड़ी के अनेक राड बने थे, जिनपर ताम्र तथा भोजपत्रों पर लिखे ग्रंथों का अंबार लगा था। दूसरी ओर तरह-तरह के चमचमाते परशु के साथ और अस्त्र भी टँगे थे। विचित्र था यह विशाल पर्णकक्ष। एक ओर ग्रंथालय और दूसरी ओर शस्त्रालय। शस्त्र और शास्त्र का यह अद्भुत संग्रहालय उस विश्वविश्रुत ऋषि के ज्ञान और कर्म के अप्रतिम समन्वय का परिणाम था, जो मेरे मानस के अधिक निकट था, जिसकी समन्वित तेजस्विता मेरे मन पर छाने लगी थी। मैं सोचने लगा था, शायद वसुषेण इसी तेजस्विता से आकृष्ट हुआ हो। मेरा चिंतन उस परिस्थिति से फिसलकर वसुषेण पर केंद्रित हो गया। मैं उसके व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व का साम्य देखने लगा। जन्म लेते ही वह मंजूषा में रखकर सरिता की धारा में बहा दिया गया था। मैं भी जन्म लेते ही नियति के प्रवाह को सौंप दिया गया। उसकी माता के इस कृत्य के पीछे लोकभय था। मेरे माता-पिता के इस कृत्य के पीछे राजभय था। मैं भी दूसरे के घर पला और वह भी दूसरे के घर। मेरा मूल उत्स सबको ज्ञात है, पर उसका नहीं। अज्ञेयता के रहस्य से ढके उसके व्यक्तित्व की तेजस्विता आच्छादन को फाड़-फाड़कर झाँकना चाहती है; संसार को विश्वास दिलाना चाहती है कि मैं सूतपुत्र नहीं हूँ। पर हम विश्वास नहीं करते; क्योंकि हम विश्वास का आधार खोजते हैं।

तब तक हमारे लिए मधुमिश्रित उष्ण दूध लाया गया। मेरी चिंतन शृंखला टूटी।

“क्या आचार्य के दर्शन के पूर्व ही हम अल्पाहार ग्रहण करें?”

“तो इसमें हानि क्या है?”

“हमारा व्रत है कि हम चलते ही आचार्य के चरण स्पर्श करेंगे।”

ब्रह्मचारी चला गया और शीघ्र ही यज्ञशाला में मेरी बुलाहट हुई।

उस परम तेजस्वी को देखते ही हम ठगे-से रह गए। यज्ञ की लपटों और धूम्र की झीनी परत से झाँकती उनके व्यक्तित्व की ओजस्विता हमारी दृष्टि पर सम्मोहन की तरह छा गई। इस वय में भी वह जरा भी श्लथ नहीं लगे। यज्ञकुंड के किनारे दृढ़ता से बैठा उनका व्यक्तित्व सीधे मेरुदंड पर टँगे स्वर्ण परशु-सा दमकता रहा। चरण पकड़ते ही उन्होंने मुसकराते हुए आशीर्वाद दिया और अग्निहोत्र का मंत्र पढ़ते रहे। हम लोग भी चुपचाप वहीं बैठ गए।

अग्निहोत्र समाप्त करते ही आचार्य बोल पड़े—“हमें आचार्य गर्ग का संदेश मिल चुका था। मैं उनके यहाँ दूत

भेजने को था कि एक मानसिक उलझन में पड़ गया।” यद्यपि वे मुसकरा रहे थे, पर उनकी मुसकराहट शांत ज्वालामुखी पर छाई हरियाली की तरह ऊपर से चिपकी जान पड़ी। फिर वे हमीं लोगों के साथ आए और प्रातःकालीन अल्पाहार में आतिथेय की भूमिका निभाही।

उष्ण दुग्धपान करते-करते वे अचानक अपने में खो गए। आत्मकेंद्रित अवस्था में उनके मुख से निकला—“था तो बड़ा प्रतापी बालक, पर मुझे धोखा दे गया। आश्चर्य है कि मेरी इन आँखों ने उसे ब्राह्मण समझ कैसे लिया, जो ब्राह्मण की पहचान लेकर इतने दिनों से योग्य पात्र की तलाश में थीं। धोखा देने के अपराध में मैंने उसे शापित भी किया। उसे दंड भी दिया। अब सोचता हूँ कि दंड मुझे मिलना चाहिए था।” वे बड़बड़ाते रहे। उनकी आँखों से पश्चात्ताप झाँकने लगा था।

मैंने संदर्भ तो समझ लिया था; फिर भी स्वयं को छिपाते हुए मैं बोल पड़ा था—“क्यों, क्या किया था आपने, जो दंड आपको मिलना चाहिए था?”

फिर वे एकदम खुल पड़े। पूरी कथा सुना गए। फिर बोल पड़े—“वह मूल में अवश्य ही क्षत्रिय है; पर बताया उसने स्वयं को सूतपुत्र!”

“भगवान् की इस सृष्टि में बड़े रहस्य हैं, जिन्हें हम पहचान नहीं पाते।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “पर मैं यह समझ नहीं पाता कि इस सारे संदर्भ में आप अपने लिए दंड की बात क्यों सोचते हैं?”

“क्योंकि मैं उसे पहले पहचान नहीं पाया। उस युवक की विनम्रता और ज्ञान के समक्ष मेरा सारा अनुभव कुंठित क्यों हुआ? प्रथम दृष्टि में पहचान लेनेवाली आँखों ने ऐसा धोखा कैसे खाया?...क्या इसमें मेरा दोष नहीं है?”

“मैं तो नहीं समझता कि इसमें आपका अपराध है। मैं इसमें पात्र को खोजने की व्यग्रता में विह्वलता को देखता हूँ। जब हमारा मन किसीकी खोज में व्यग्र रहता है, तब भीड़ में भी कई आकृतियाँ उस जैसी दिखाई देती हैं। क्या आप मुझमें ब्राह्मणत्व नहीं देख रहे हैं? अरे, ब्राह्मणत्व की कोई-न-कोई झलक तो दिखाई ही दी होगी।” इतना कहते ही मैं हँस पड़ा और मेरे साथी भी। आचार्य के अधरों में भी मुसकराहट की एक हलकी रेखा दिखाई पड़ी। निश्चित ही आचार्य का तनाव ढीला पड़ा।

जब उनकी मनःस्थिति लगभग सामान्य हुई तब मैंने बड़े सहजभाव से कहा, “वस्तुतः हमारे कर्म ही हमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बना देते हैं।” मैंने कहा तो सही, पर आचार्य का मन इसे मानने को तैयार नहीं था। युगों से चला आया उनका क्षत्रिय विरोध इतनी जल्दी समाप्त कैसे होता?

मैंने अनुभव किया कि वे अपने पूर्वज जमदग्नि की हत्या को भूल नहीं पा रहे हैं। वे अनेक प्रसंगों में कार्तवीर्य का नाम लेते हैं और उनका नाम जित्वा पर आते ही उनके दाँत किटकिटाने लगते हैं।

एक बार मैंने प्रसंगवश कहा भी—“ब्राह्मणत्व हमारी बौद्धिक अस्मिता का प्रतीक है। उसे इतना उत्तेजित नहीं होना चाहिए।” मुझे क्या पता था कि सहलाने से साँप की तरह क्रोध और फुफकार मारता है। आचार्य एकदम भभक उठे—“हमारी ब्राह्मणत्व की अस्मिता पर जब भी आघात होता है, मैं तिलमिलाता हूँ। तुम जानते नहीं हो, कन्हैया, इस धरती पर एक ही कार्तवीर्य नहीं हुआ है। जब-जब किसी राजा को अपरिमित शक्ति मिली है, वह कार्तवीर्य हो गया है। निर्दोषों की हत्याएँ हुई हैं, नारी का अपमान हुआ है, साधु एवं ब्राह्मण से कर के रूप में रक्त लिया गया है—और ब्राह्मण ने यह सब मौन होकर स्वीकार किया है।”

“और उसका मौन भी इतना तेजस्वी रहा है कि उसके रक्त ने सीता का रूप धारण करके रावण का विनाश किया है।” मैं फिर मुसकराने लगा। पर मेरे विवाद से भैया और उद्धव कुछ घबराए-से लग रहे थे। वे आचार्य की प्रकृति जानते थे। वे सोचते थे कि ऐसा न हो कि इस विवाद से आचार्य कहीं उबल पड़ें।

पर धीरे-धीरे मैं उनकी मानसिकता को सहलाता रहा और सोचता रहा कि यदि कहीं विषम स्थिति आई तो शीघ्र चरणों पर गिर जाऊँगा। मैं इसे खूब जानता था कि क्षमा, सत्कार और विनम्रता की समन्वित ढाल पर ब्राह्मण का हर प्रहार सहा जा सकता है।

मेरे जैसे बचपन से बातूनी व्यक्ति को इस विवाद में भी आनंद आ रहा था। मैंने अपनी बातों की इस छूटी डोर को पुनः पकड़ा—“मेरा तो आचार्यजी, यह विश्वास है कि कोई स्वयं कार्तवीर्य नहीं होता। वह बनाया जाता है।”

“कैसे?”

“निरंकुश सत्ता द्वारा।” मेरा स्वर थोड़ा और बढ़ा—“निरंकुश शक्ति का नाम ही कार्तवीर्य है, रावण है, वृषपर्वा है। वृषपर्वा और रावण तो जन्म से ब्राह्मण भी थे, फिर वे इतने अत्याचारी क्यों हो गए?” मैंने आचार्यजी के मर्म को छुआ। लोग समझने लगे कि मैं आचार्यजी के क्रोध को आमंत्रित कर रहा हूँ; पर वे मौन हो सोचने लगे। मैंने बोलना जारी रखा—“उन्हें उनकी प्रवृत्तियों ने राक्षस बना रखा था। वे गिरे भी तो कहाँ तक गिरे—आकाश से एकदम धरती पर।”

महर्षि भार्गव ने प्रसंग बदला—“पर उस तथाकथित सूतपुत्र ने तो मुझे धोखा दिया।”

“धोखा इसलिए दिया कि आपको केवल ब्राह्मण की तलाश थी; यदि केवल पात्रता की तलाश होती तो शायद वह धोखा न देता।”

“तुम बार-बार पात्रता की बात करते हो; पर जब क्षत्रियों का अत्याचार मैं देखता हूँ तो मेरी पात्रता के चयन का मानक एकदम बदल जाता है। आह भरने लगता हूँ कि एक बार फिर इस धरती को क्षत्रियविहीन कर पाता।”

मैं हँसने लगा और सोचने लगा कि चोट खाया नाग और यह महर्षि अपने बदले की भावना को छोड़ नहीं सकते हैं। जमदग्नि की मृत्यु आज भी इनके नयनों में ताजा है। वे उसे भूल नहीं सकते। जो भूल नहीं सकता, वह क्षमा भी नहीं कर सकता।... और क्षमा न कर सकनेवाले के पास शाप की शक्ति वह ज्वालामुखी है, जो भीतर-ही-भीतर हर क्षण उबलती रहती है और कभी भी किसी पर बरस सकती है। मैं कहना चाहता था कि इतनी बार तो पृथ्वी क्षत्रियों से विहीन हुई, पर क्षत्रिय आज भी हैं और कल भी रहेंगे। जड़ को छोड़कर डालों को काटने से क्या लाभ! मेरे मुख से इतना अवश्य निकला—“संसार को द्वेष, घृणा और हिंसा से जीता नहीं जा सकता।”

“तब किससे जीता जा सकता है?”

“प्रेम से।”

“तब तुमने कंस को प्रेम से क्यों नहीं जीता?” इस बार उनकी आँखें कुछ भभकती दिखाई दीं—“कहना बड़ा सरल है, कन्हैया। जब अंधी सत्ता के नीचे बेसहारों को कुचलते देखता हूँ, तब मेरी प्रतिहिंसा उबलने लगती है।”

बात बढ़ाना मैंने उचित नहीं समझा। चुप ही रह गया। मौन का यह अंतराल उस समय बोझिल भी नहीं लगा।

थोड़ी देर बाद मैं स्वयं बोला, “चलते समय गर्गाचार्यजी ने कहा था कि कहीं भी जाने के पूर्व मैं आपका आशीर्वाद ले लूँ।”

“इसकी सूचना मुझे परसों ही मिल गई थी।” उन्होंने मुसकराते हुए कहा। लगा कि उनका तनाव अब ढीला हो चुका है।

फिर भी यह न पूछ पाया कि किसने सूचना दी, वह कहाँ गया आदि।

“आप लोग करवीरपुर जाना चाहते हैं न?” आचार्य बोले।

“हाँ, महाराज!” मैंने कहा, “इस समय हमें आश्रय की बड़ी आवश्यकता है। हमारा विश्वास है कि करवीरपुर में हमें अवश्य आश्रय मिलेगा; क्योंकि करवीरपुर के राजा शृंगलव यादव हैं और हमारे दूर के संबंधी भी।”

“किंतु तुम यह नहीं जानते कि वह यादव के अतिरिक्त और क्या है?” महर्षि बोले—“वह यादव के अतिरिक्त और जो कुछ है, उसके सामने संबंधों का कोई महत्त्व नहीं।”

“मैं कुछ समझ नहीं पाया, अत्र भवान्।”

“बात स्पष्ट है, शृंगलव महास्वार्थी है, क्रूर और अहंकारी भी। पंडित और आचार्य उसके सामने जाने से कतराते हैं। वह स्वयं कहता है कि समुद्र का उन्माद जब गंगा को भी निगल जाता है तब हमारी शक्ति के समक्ष ये पंडित और आचार्य क्या हैं! सत्ता शास्त्र के बस में नहीं, वह शस्त्र के वश में रहती है। वह स्वयं को देवाधिदेव भी मानता है। यदि तुम सब देवों का अनादर कर उन्हें महादेव मान लो तो शायद वह तुम्हें आश्रय दे देगा। किंतु कितने दिनों तक? जब तक तुमसे स्वार्थ सिद्ध होता रहेगा।”

“मुझसे किसीका क्या स्वार्थ सिद्ध होगा?”

“तुमसे सिद्ध हो न हो, पर तुम्हारे माध्यम से अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेगा वह।”

यह बात भी मेरी समझ में नहीं आई। मेरी मौन मुद्रा प्रश्नवाची बनी रही।

आचार्य भार्गव बोलते रहे—“और ऐसा भी हो सकता है कि एक रात तुम सब सोते रह जाओ। आँखें खुलें तो देखो कि तुम सब जरासंध के बंदी हो।”

“इतना नीच है वह!” इस बार भैया बोले।

“उसकी नीचता की कोई सीमा नहीं, अपने स्वार्थ के लिए वह जरासंध से भी सौदा कर सकता है।”

मैं चुपचाप सोचता रहा, ‘शायद इसीलिए गर्गाचार्य ने कहा था कि करवीरपुर जाने के पहले महर्षि भार्गव से अवश्य मिल लेना। हो सकता है, शृंगलव के संबंध में उन्हें भी जानकारी रही हो; पर मेरे संबंधों की बात सुनकर वह भी मौन रह गए हों।’

पर अब प्रश्न था कि मैं जाऊँ तो जाऊँ कहाँ? दाऊ भैया ने तो सीधे पूछ ही दिया—“आप किधर जाने की सलाह देते हैं?”

महाभार्य हँसे। कदाचित् बातों के इस क्रम में उनकी यह पहली हँसी थी—“आश्रय ढूँढ़नेवाला चाहे जितना भी सशक्त क्यों न हो, संसार उसे दुर्बल ही समझता है।”

“आपको कैसे भ्रम हो गया कि मैं दुर्बल हूँ?” भैया बोले।

“मुझे भ्रम नहीं है; पर आप लोगों को निराश्रित देख संसार को भ्रम होगा।”

“पर मैं दुर्बल नहीं हूँ।” भैया आवेश में आए।

“तुम्हारा यह अहंकार भी तुम्हारी दुर्बलता का ही प्रतीक है।” महर्षि बोले। मैंने चुप हो जाने के लिए धीरे से भैया का हाथ दबाया।

“आप लोगों को आश्रय न खोजकर अपनी शक्ति बढ़ाने के संदर्भ में सोचना चाहिए।” महर्षि ने कहा, “तुम अनुमान लगा सकते हो कि तुम्हारे पलायन की सूचना पाकर जरासंध क्या करेगा!”

“मेरा विश्वास है कि वह मथुरा के यादवों को सताएगा नहीं।” मैंने कहा।

“क्यों? इसके विपरीत नहीं हो सकता? वह उनसे कहेगा कि तुम जिसको अपना तारणहार समझते थे, वह मेरे सामने भाग खड़ा हुआ। अब बोलो, तुम लोग किसकी छाया ग्रहण करोगे?...हो सकता है, यही बात वह उग्रसेन से भी कहे।...और उन राजाओं एवं सामंतों को बंदी बना ले, जिन्हें कंस वध के बाद तुमने मुक्त कराया था।”

हम सब सोचने लगे।

“जानते हो, इसका परिणाम क्या होगा? जो तुम्हारे रहने पर तुम्हारे पक्षधर रहे होंगे, वे सब उसकी कृपा के

आकांक्षी हो जाएँगे। तुम्हारे ही लोग तुम्हारे विरोध में खड़े होने के लिए विवश हो जाएँगे।”

“हो सकता है, उनसे बड़ा कर भी लिया जाए।” मैंने कहा।

“प्रश्न कर का नहीं है, प्रश्न है तुमसे प्रतिशोध लेने का...और प्रतिशोध की आग भयंकर होती है, कन्हैया! उसकी लपटें पीढ़ियों का अंतराल भी पार कर जाती हैं।” इतना कहते-कहते उनका स्वर अपेक्षाकृत गंभीर हो गया था।

यह गंभीरता उद्धव की आकृति पर भी दिखाई पड़ी। उसने कहा, “तब हो सकता है, वह यहाँ तक भी आ जाए।”

“हो सकता है।” महाभारग्व बोले। जैसे स्वयं प्रश्न करते हुए उन्होंने कहा, “और ऐसी स्थिति में तुम आश्रय खोजने चले हो। अरे, स्वयं आश्रय बनो। जो अपना आश्रय स्वयं नहीं बन सकता, उसे कोई आश्रय नहीं दे सकता।”

यह मानना पड़ेगा कि आचार्य ने मुझमें नई स्फूर्ति भरी। मेरा चिंतन संदर्भ ही बदल गया। मुझे लगा कि कर्म में अटूट आस्था रखनेवाला मैं कर्म से ही भाग रहा था। तब तक आचार्यजी स्वयं बोल पड़े—“जरासंध बड़ा महत्वाकांक्षी है। उसके सम्राट् पद की आकांक्षा तुम्हें कहीं से भी खोज निकालने के लिए उसे विवश करेगी।”

“अब हमारी आँखें खुल रही हैं। हमें आपका आशीर्वाद चाहिए।”

“अब तक आश्रय के आकांक्षी अब आशीर्वाद चाहने लगे।” इस बार परशुरामजी जोर से हँसे और उनके इस अटूटहास का कंपन काफी देर तक बना रहा।

अंत में उन्होंने कहा, “इस समय तो आप सब मध्याह्न का भोजन कर विश्राम करें। संध्या पूजन के पहले ही हम फिर मिलेंगे।”

भोजन के बाद हम लोग अन्य ब्रह्मचारियों के साथ उस विशाल कक्ष में सामान्य ढंग से लेटे, जहाँ अभी कुछ समय पहले अग्निहोत्र हुआ था। अब भी यज्ञकुंड में समिधा सुलग रही थी। धूम आँखों में लग रहा था। विश्राम हेतु यह स्थान आँखों को कष्टदायक था। फिर भी भैया और उद्धव के समक्ष वसुषेण ने इस अत्यंत सजग ब्राह्मण को धोखा कैसे दिया? यह समस्या अभी ताजा थी। शायद यहाँ किसी रहस्य का पता चले, इसीलिए सबने यहीं लेटने की इच्छा व्यक्त की।

सामान्य बातचीत के बाद एक ब्रह्मचारी के समक्ष मैंने अपनी इच्छा प्रस्तुत की।

“अरे, कुछ मत कहिए, श्रीमान! आचार्य ही नहीं, हम सब धोखे में थे।” वह ब्रह्मचारी बोला, “ऐसा अद्भुत साधक तो हम लोगों ने अब तक देखा ही नहीं था। रात-रात भर आश्रम के बाहर वह आचार्य से पाए शस्त्र ज्ञान का अभ्यास करता रहता था और ब्राह्म मुहूर्त में नित्यकर्म से निवृत्त हो पुनः इस यज्ञशाला में अग्निहोत्र के लिए चला आता। आखिर सोता कब था, किसीको मालूम नहीं। इतने पर भी उसके व्यक्तित्व पर थकावट का कोई चिह्न नहीं। उसका देदीप्यमान व्यक्तित्व एक अपूर्व तेजस्विता से चमकता रहता। उदयाचल की ओर मुख कर जब वह प्रातःकाल सूर्योपासना करता, तब तो उसकी तेजस्विता साक्षात् एक लघु सूर्य-सी दीखती। यज्ञशाला में भी जब धूम से उसकी आँखों से अश्रुपात होता तब स्पष्ट लगता, धधकते ज्वालामुखी से लावा पिघलकर बह रहा है। कभी-कभी आचार्यजी उसे देखते ही रह जाते।”

“तो क्या वह यज्ञहोत्र में मंत्रोच्चारण भी करता था?” यह मेरी दूसरी शंका थी।

“जी हाँ, बड़े धड़ल्ले से और इतने प्रवाह तथा शुद्धता के साथ कि क्या कोई ब्राह्मण करेगा! उसके शास्त्र ज्ञान पर तो आचार्यजी इतने मुग्ध थे कि उनकी प्रसन्नता का पारावार नहीं था। वे हम लोगों से कहा करते थे कि मैंने अपना अभीष्ट पा लिया है। मुझे ऐसे ही ब्रह्मकुमार की खोज थी। इसीसे उन्होंने अपना सारा शस्त्र ज्ञान उसे दे दिया।”

“इसका तात्पर्य यह है कि उसने घोर साधना की होगी स्वयं को ब्राह्मण बनाने के लिए।”

“निश्चय ही। उसकी यह साधना उसके व्यक्तित्व पर ऐसी आच्छादित थी कि कहीं से भी उसकी वास्तविकता दिखाई नहीं पड़ती थी।”

“तब आचार्य के विश्वास को ठेस कैसे लगी?” अब मैंने मूल प्रश्न किया। इस संदर्भ में उसने बताया—“पहली घटना तो बड़ी सामान्य सी है। उसने अभ्यास के समय एक ब्राह्मण की गौ को मार डाला। आचार्य इसपर बड़े नाराज हुए। उन्होंने क्रोध में कहा, ‘ब्राह्मण का बाण ब्राह्मण की गौ को लगे, यह हो नहीं सकता।’”

इसके बाद उस ब्रह्मचारी ने बताया—“इतना सुनते ही वसुषेण की आकृति पीली पड़ चुकी थी। हम लोगों ने उस समय सोचा अवश्य था कि इस साधारण सी बात पर इतना घबराया क्यों है? उसके अनुनय-विनय और आचार्य-चरणों में गिरकर क्षमा-याचना में गिड़गिड़ाने के कारण चोर की दाढ़ी का तिनका दिखाई भी नहीं दिया।

“आचार्य ने भी उसे लगभग क्षमा कर दिया।

“पर लगता है, आचार्यजी के मन में शंका का बीज पड़ चुका था। मुझे याद है कि एक दिन संध्या को शस्त्र अभ्यास के लिए वह जंगल में चला गया था। काफी देर रात गए तक वह नहीं लौटा। तब आचार्यजी ने हम लोगों से कहा था—‘ब्राह्मण की शास्त्र अभ्यास में इतनी तल्लीनता तो स्वाभाविक है, पर शस्त्र अभ्यास के संदर्भ में यह विचित्र सी लगती है।’ इसके बाद वे गंभीर से हो गए थे।”

ब्रह्मचारी बोलता चला जा रहा था—“इसके बाद तो अभी दो दिनों पूर्व एक घटना ऐसी घटी, जिसने वसुषेण की वास्तविकता नग्न कर दी। बात यह हुई कि मध्याह्न भोजन के बाद आचार्यजी अपने कक्ष के बाहर विश्राम कर रहे थे। उनकी सेवा में वसुषेण लगा था। पैर दबाने के बाद आचार्य का सिर अपनी जाँघ पर रखकर दबाने लगा। आचार्यजी को नींद आ गई। थोड़ी देर बाद वे खरटि भरने लगे। वसुषेण वैसे ही बैठा रहा। हम लोगों ने देखा, वह घंटों टस-से-मस न हुआ।

“जब सूर्य पश्चिम की ओर ढुलकने लगा, आचार्यजी एकदम उठ बैठे और चिल्लाए—‘यह क्या हुआ?’

“हम लोग दौड़े हुए आए और देखा कि आचार्य का पृष्ठ भाग रक्त से लथपथ है। पहले तो हम लोगों ने सोचा कि आचार्यजी पर ही कोई आघात हुआ है; पर शीघ्र ही बात स्पष्ट हुई कि जब आचार्यजी सो रहे थे तब कोई भयानक कीड़ा वसुषेण की जाँघ के नीचे चला गया था। वह निकल नहीं पाया और उसे काटने लगा। वसुषेण ने यह सोचकर जाँघ नहीं हिलाई कि कहीं आचार्यजी की नींद न टूट जाए।

“कीड़ा काटता गया। वसुषेण पीड़ा सहता गया। धीरे-धीरे रक्त की धार बह निकली। जब वह धार आचार्यजी की पीठ के नीचे गई, तब वह रक्त की उष्णता और उसकी चिपचिपाहट से घबरा उठे। उन्होंने वसुषेण की जाँघ देखी और स्वयं उसके भीतर से कीट निकाला। तब तक सबकुछ सामान्य था। हम लोगों ने सोचा कि आचार्यजी उसकी वीरता और सहन शक्ति पर उसे अवश्य पुरस्कृत करेंगे।...

“पर वे अचानक असामान्य हो उठे। उनके व्यक्तित्व का रुद्र उभर आया—‘वसुषेण, तूने धोखा दिया। तू ब्राह्मण नहीं है। ब्राह्मण की प्रकृति कभी इतनी पीड़ा नहीं सह सकती है। लगता है, तू मूल में कहीं-न-कहीं क्षत्रिय है।’

“इतना सुनते ही वह काँपने लगा था। हम सबको वह तिनका दिखाई दिया जो चोर की दाढ़ी में था। ‘बोल, तू वास्तव में क्या है; अन्यथा अभी मैं तुझे शाप देता हूँ?’

“तब उसने अपनी असलियत बताई और महर्षि के कोप का भाजक हुआ।”

वास्तविकता जानते हुए भी मैंने उससे पूछा, “क्या बताया उसने?”

“उसने कहा कि मैं सूतपुत्र हूँ।” ब्रह्मचारी ने कहा, “हम सबको उसकी सूतपुत्रता पर आश्चर्य था। ऐसा साधक, इतना तपस्वी सूतपुत्र तो नहीं हो सकता; पर यथार्थ यही था।”

“कभी-कभी यथार्थ हमारी कल्पना से परे होता है।” अब तक मौन पड़ा उद्धव बोल पड़ा।

“और कभी-कभी हमारी आँखें यथार्थ देख भी नहीं पातीं।” मैंने कहा, “हो सकता है, जैसे उसने ब्राह्मणत्व स्वयं ओढ़ लिया था वैसे ही सूतपुत्रत्व उसपर नियति ने ओढ़ाया हो।”

मेरी बात के समर्थन में कई ब्रह्मचारियों ने सिर हिलाया।

□

संध्या हो चली थी। मंद गंधवाह में एक प्रकार की सिहरन थी। हम यज्ञशाला के बाहर टहलते हुए महाभारगव की प्रतीक्षा कर रहे थे। अचानक मैं आश्रम के द्वार तक बढ़ गया। पूर्व आकाश में देखा, कुछ गिद्ध मँडरा रहे हैं। अवश्य ही कोई मृत प्राणी होगा, और आगे बढ़ गया। देखा, एक मरी हुई गाय पड़ी है और गिद्ध उसे नोच रहे हैं। मैं सोचने लगा, यही जीवन की अंतिम परिणति है।

चिंतन की अतल गहराई में चलता चला गया। मुझे लगा, वसुषेण मेरे सामने खड़ा है। वह मुसकराते हुए कह रहा है—‘जो गाय मुझसे मरी थी, वह यह नहीं है। मैं तुमसे पूछता हूँ, क्या ब्राह्मण के घर पैदा होने से ही मनुष्य ब्राह्मण होता है? क्या जीव की पहचान केवल जन्म से ही होती है, कर्म से नहीं? तुमने कभी सोचा है कि मैंने कितनी बड़ी तपस्या की थी ब्राह्मण बनने के लिए? मेरे लिए तो आश्रम के सभी द्वार बंद थे; क्योंकि मैं सूतपुत्र था। फिर भी मैंने शास्त्रों का ऐसा अध्ययन किया था कि मेरे ज्ञान और कर्म के समक्ष एक परम तपस्वी ब्राह्मण भी धोखा खा जाए; फिर भी मुझे ब्राह्मण नहीं माना गया। मुझे दुःख है तो केवल इस बात का कि मेरे कर्मों की अस्मिता को स्वीकारा नहीं गया। मान्यता मिली तो केवल जन्म को, जो मेरे लिए अज्ञात है, अज्ञेय है।’

तब तक मुझे लगा कि कोई पीछे से मेरी पीठ पर हाथ रख रहा है। अचानक मेरा स्वप्न टूटा। मैंने पीछे देखा, भैया खड़े मुसकरा रहे थे। उन्होंने पूछा, “क्या सोच रहे हो?”

“सोच रहा हूँ कि जीवन की अंतिम परिणति यही है क्या!” पर अब भी वसुषेण के प्रश्न की मेरी मनःस्थिति छिपा नहीं पाई, वरन् उसका व्यग्र संपूर्ण व्यक्तित्व एक विराट् प्रश्नचिह्न में बदलकर मेरी आँखों के सामने आकाश से भू तक लटक रहा था। शायद उसी समय वे पंक्तियाँ मेरे भीतर जन्म ले चुकी थीं, जिन्हें मैंने युद्धक्षेत्र में खड़े मोहग्रस्त अर्जुन से कहा था—‘चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।’

भैया से पता चला कि महर्षि मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

आते ही उनका प्रश्न था—“कहाँ चले गए थे?”

मेरा सधा-सधाया उत्तर था—“टहलने निकल गया था।”

“मैंने तुम्हारे संबंध में सोचा है, तुम निश्चय ही कठिनाई में पड़ गए हो। तुम्हारा तर्क अपनी जगह है; पर मैं सोचता हूँ कि तुमने मथुरा छोड़कर अच्छा नहीं किया।” फिर वे मौन हो एकटक मुझे देखते रहे; जैसे उनकी आँखों में अनुभव तैरने लगा। “कन्हैया, तुमसे एक बात कहता हूँ कि जीवन और जीवन की परिस्थितियों से भागना धर्म नहीं है, उन्हें भोगना ही धर्म है।...और तुमसे तो लोग इस अनीति भरे संसार में धर्म की स्थापना की आशा करते हैं।”

उनकी इस बात के साथ महर्षि की वह दृष्टि अब तक मेरे हृदय में लिखी है। यों तो उन्होंने बहुत कुछ कहा था, जो समय के साथ झर गया।

बातों के क्रम में ही उन्होंने यह बताया कि यहाँ से पश्चिम थोड़ी दूरी पर, सागर तट के निकट गोमांतक की टेकरी है। तुम्हारे निवास के लिए वह स्थान उचित प्रतीत होता है।

मैं कुछ बोला नहीं; पर मेरा चिंतन कुछ प्रखर हुआ।

“क्या सोचने लगे?”

“यही सोच रहा हूँ, वहाँ जरासंध यदि दल-बल के साथ कभी पहुँचा तो शायद किसीको भी अपनी सहायता के

लिए आमंत्रित न कर पाऊँगा। एक ओर सागर की लहरों से घिरा होऊँगा और दूसरी ओर उस दुष्ट की शक्ति से।”

इतना सुनते ही महर्षि जोर से हँस पड़े—“तुम परिहास तो नहीं कर रहे हो! हम तुम्हारी शक्ति को जानते हैं, तुम्हारे व्यक्तित्व को पहचानते हैं। उसमें भय और संत्रास का कोई स्थान नहीं है। एक नहीं, हजार जरासंध भी तुम्हारा कुछ नहीं कर सकते।”

मैंने अनुभव किया कि मेरे देवत्व ने इनके मस्तिष्क को भी छू दिया है। उन्होंने स्थिति और स्पष्ट करते हुए कहा, “गोमांतक की टेकरी हर दृष्टि से सुरक्षित है। चारों ओर पहाड़ी और प्राकृतिक संपदा से आरक्षित वह क्षेत्र तुम्हें ऐसे छिपा लेगा जैसे माता अपनी गोद में बच्चे को छिपा लेती है।” इसके बाद वे हँसने लगे।

जब हँसी थमी तब उन्होंने कहा, “वहाँ प्रयाण के पहले तुम्हें एक बात सोचनी होगी।”

“क्या?”

“तुम्हें रथ यहाँ ही छोड़ देना होगा। उस विकट मार्ग पर न रथ चल सकता है, न अश्व और न हाथी। वहाँ तो हम सबको पैदल ही चलना होगा।”

“हमें तो पैदल चलने का काफी अभ्यास है।” मैंने कहा और शंका से भैया की ओर देखा। इसके पहले कि भैया अपनी समर्थता व्यक्त करें, महर्षि स्वयं बोल पड़े—“घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल तीस घड़ी का रास्ता है। हम पूर्ण विश्राम करते हुए दो दिनों में आराम से पहुँच जाएँगे।”

“दो दिन क्या, हम चार दिन तक लगातार चल सकते हैं।” भैया बोले और हम लोगों ने महर्षि के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया।

निश्चय हुआ कि प्रातः अग्निहोत्र के बाद ही हम चल पड़ेंगे।

कार्यक्रम के अनुसार हमने आश्रम छोड़ा। आगे-आगे महर्षि अपने दाहिने कंधे पर विशाल परशु लिये चल रहे थे। उनकी गति हम सबमें तेज थी। उनके साथ हमें चलना नहीं वरन् दौड़ना पड़ रहा था। जीवन में किसी वाहन का प्रयोग न करने के कारण शायद उनकी गति इतनी तेज हो गई थी। संपूर्ण आर्यावर्त तो उन्होंने पगों से ही नाप लिया था।

मैं देख रहा था, उनकी तपःपूत शरीरयष्टि पर वय का कोई प्रभाव नहीं था। तपस्या से ताम्रवर्णी हो गई उनकी त्वचा पर कहीं भी सिकुड़न नहीं, कहीं भी शैथिल्य का कोई चिह्न नहीं। केवल उनके विशाल केश हिमानी हो चले थे। श्मश्रु और दाढ़ी के बालों पर भी अनुभव की बर्फ जम चुकी थी।

मार्ग में बातों के सिलसिले में वे बहुधा अपने अतीत में डूब जाया करते थे। ऐसे ही एक प्रसंग में उन्होंने बताया—“हमारे पूर्वज ने कार्तवीर्य पर मात्र इसलिए अस्त्र नहीं उठाया था कि उसने हमारे पूर्व पिता की हत्या की थी, वरन् उसका व्यक्तित्व अनर्थ और अनीति का प्रतीक हो गया था। वसिष्ठ जैसे महान् ऋषि के आश्रम में भी उसने आग लगा दी थी। सभी सनातन जीवन-मूल्यों का उसने उच्छेद कर दिया था। उसने सारी ऋत परंपरा का विनाश कर दिया था। वह मात्र एक राजा नहीं था, दैत्य था। पृथ्वी उसके वध के लिए व्यग्र हो चुकी थी।”

“उस समय और राजे-महाराजे क्या कर रहे थे?” उद्धव ने शंका की।

“कुछ आपसी लड़ाई में व्यस्त थे और कुछ कार्तवीर्य की छत्रच्छाया में खड़े हो गए थे। आर्यावर्त का क्षात्र तेज कलुषित हो गया था, अतएव ब्राह्म तेज को खड़गहस्त होना पड़ा।”

इस प्रकार अतीत की चर्चा ही हमारा पाथेय बन गई।

जब हम उस दुर्गम पहाड़ी की चोटी पर पहुँचे तो दूसरे दिन की संध्या हमारा स्वागत कर रही थी। दूर से देखने पर कभी कल्पना भी नहीं होती थी कि इन ऊँची पहाड़ियों के बीच में ऐसी हरी-भरी भूमि होगी। इतने मनोहर निर्झर

होंगे और पहाड़ियों के शिखरों से लटका हुआ ऐसा मुग्धकारी सूरज होगा।

हमारे वहाँ पहुँचने की सूचना मिलते ही गरुड़ के मुखौटे लगाए हुए आदिवासी महर्षि के चरणों में अपनी श्रद्धा निवेदन करने के लिए आने लगे। उन आदिवासियों के राजा से महाराज ने हमारा परिचय भी कराया और बताया कि ये मुखौटे राजकुटुंब के प्रतीक हैं और ये उन्हें किसी विशेष अवसर पर ही लगाते हैं।

जब गरुड़राज ने उनसे मेरा परिचय पूछा, तब महर्षि मुसकराने लगे और बड़े रहस्यमय ढंग से बोले, “अरे, तुम इन्हें नहीं पहचानते? आखिर कैसे पहचानोगे! युग बदल गया, इतिहास बदल गया, परिस्थिति बदल गई, हम-आप बदल गए।...और तो और, पहचान बदल गई।” महर्षि बोलते रहे, मुसकराते रहे—“कभी तुम्हारे पूर्वजों ने इनकी पत्नी सीता की रक्षा में स्वयं को उत्सर्ग किया था, अब इनकी रक्षा में तुम्हें सन्नद्ध रहना होगा।”

अब सब मेरे चरणों पर नत होने लगे। मैं आश्चर्यचकित था कि महर्षि ने यह क्या किया? अतीत का कौन सा पृष्ठ खोलकर मेरे व्यक्तित्व पर चिपका दिया। मैंने अनुभव किया कि मेरा देवत्व इतिहास से जुड़कर और भी महान् हो गया है।

हमें अपने भक्तों का पूज्य बनाकर महाभारगव उसी संध्या को वहाँ से लौट पड़े। यद्यपि उन आदिवासियों ने उन्हें बहुत रोका, पर वे नहीं रुके और बड़ी गंभीरता से बोले, “ब्राह्मण का व्यक्तित्व न तो नद है और न सरोवर। वह बँधा पानी नहीं है, वह तो सरिता का जल है, जिसकी अस्मिता बहते रहने में है। मुझे बहते रहने दो, गरुड़राज!”

सभी करबद्ध होकर महर्षि को सुनते रहे। उन्होंने मुझे संबोधित करते हुए कहा, “वासुदेव, मैं तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। मेरी तपस्या यह भी जानती है कि तुम कौन हो और तुम्हारा जन्म किसलिए हुआ है!” इतना कहते-कहते उनकी आवाज पश्चात्ताप में डूबकर बोझिल हो गई—“आश्चर्य है कि तुम्हें पहचाननेवाली आँखों ने वसुषेण को नहीं पहचाना। शायद वसुषेण ने नहीं, नियति ने ही मुझे धोखा दिया।”

महर्षि स्व कथन में डूबे रहे—“मुझे ऐसा लगता है, कन्हैया, कि तुम सब धर्म की रक्षा के लिए ही पृथ्वी पर आए हो; क्योंकि मैं तुम्हारे देवत्व को पहचानता हूँ। तुम भी अपने देवत्व को पहचानो। दूसरों को पहचाननेवाली दृष्टि तो भगवान् सबको देता है, पर अपने को पहचाननेवाली दृष्टि साधना से प्राप्त होती है।” इतना कहकर महर्षि एकदम चल पड़े और फिर हमें उलटकर देखा भी नहीं। उनकी रुक्षता से स्पष्ट लगा कि हो सकता है, अब इस परशुराम का तुमसे मिलना न हो सके।

□

दो

गोमांतक की टेकरी पर अभी एक सप्ताह भी नहीं बीता होगा कि मैं चप्पे-चप्पे से परिचित हो गया। वहाँ के लोग हमें छल-कपटहीन, बड़े ही मस्तमौला लगे। उनके लिए कदली और नारियल के वृक्ष कल्पवृक्ष थे। भोजन से लेकर अपनी पर्णकुटियों के निर्माण तक में ये इन्हीं वृक्षों का सहारा लेते थे। दिन भर ये प्रकृति के उपचय का आनंद लेते और संध्या होते ही मशालें जलाकर नृत्य तथा गान में संलग्न हो जाते।

गरुड़ के मुखौटे लगाकर स्त्री-पुरुष दोनों सम्मिलित रूप में नृत्य करते थे। पुरुष अपने गले से एक विशेष प्रकार की ढोल लटकाकर उसी पर थाप देते हुए नृत्य के लय पर झूमते और स्त्रियाँ गरुड़ के पंखों के सहारे परी-सी उड़ती हुई दिखाई देतीं। इस राग-रंग में वय की न कोई सीमा होती है और न लिहाज की।

इस आनंदोत्सव में एक प्रकार की सुधा का पान चलता। लोग उसे पीते और नाचते। ज्यों-ज्यों रात्रि का यौवन उभार पर आता त्यों-त्यों उनकी मस्ती का आलम छाता जाता। अंत में सब श्लथ होकर एक-दूसरे पर ढुलक जाते। कौन किसपर गिरा है, इसकी किसीको चेतना नहीं, चिंता नहीं।

यहाँ हमारे लिए भाषा का संकट अवश्य था। आर्यावर्त की भाषा लगभग निरर्थक हो गई थी। फिर भी हम संकेतों से अपना काम चला लेते। हमें अधिक प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता; क्योंकि ये हमारे देवत्व से ऐसे अभिभूत थे कि हमारा ध्यान वे स्वयं रखते थे। लगता है, परशुराम ने हमारे संबंध में उनमें बड़ी ऊँची धारणा भर दी थी।

वहाँ के राजा गरुड़केतु का हमारे प्रति भाव इतना महान् और पूज्य था कि उससे अतिथि और आतिथेय में इतनी दूरी बन गई थी कि जिसे पार करना हमारे लिए कठिन हो गया था। यह दूरी भक्त और भगवान् की शालीनता की नहीं वरन् एक प्रकार के संकोच की थी। संध्या को जब हम उनके आनंदोत्सव में भी पहुँचते, तब वे एक ऊँची शिला पर वल्कल बिछाकर हमें स्थायी महनीय दर्शक के रूप में बैठा देते थे; पर हमारा मन तो उनके उस आनंदोत्सव में सम्मिलित होने का होता था।

एक संध्या मुझसे रहा नहीं गया। उनके संगीत की लय पर मैं भी अपनी वंशी बजाता हुआ उनमें सम्मिलित हो गया। फिर क्या था! संगीत का स्वर्गिक स्वरूप धरती पर उतर आया। वे परम मुग्ध हुए। स्त्रियाँ मुझे घेरकर ताली बजाती हुई नाचने लगीं। इस संदर्भ में भैया भी अपने को रोक नहीं पाए। वे बोल ही पड़े—“कन्हैया, तुमने तो यहाँ भी वृंदावन का रास रचा दिया।”

इतना सुनते ही ब्रज की गोपांगनाएँ मेरे मस्तिष्क पर छाने लगीं। अब राधा की अनेक भाव-भंगिमाएँ मेरे सामने थीं। मैं उनमें खोता चला गया। ऐसे ही खोए तथा लेटे हुए घड़ियाँ बीत गईं। इतने में किसीने कुछ कहते हुए मेरा सिर हिलाया। मैंने मुड़कर देखा, गरुड़केतु था। उसने कहीं से सुन रखा था कि कुब्जा मेरी कृपा से ठीक हो गई थी। वह कई दिनों से इस विषय में बातें करना चाहता था; पर साहस जुटा नहीं पाया। आज उसने एकांत में देखा और निवेदन करने चला आया।

मैंने उसकी भाषा तो नहीं समझी, पर उसकी भाव-भंगिमा से पता चला कि वह मुझे अपने निवास पर ले चलना चाहता है। मैं मुसकराते हुए उसके साथ हो लिया।

मिट्टी, पत्थर और लकड़ियों से बना उसका आवास कोई बड़ा राजप्रासाद तो नहीं था, पर उसे मामूली सौंध की संज्ञा तो दी ही जा सकती है। कई विशाल कक्ष और आँगन में एक पुष्करिणी, जिसमें गिरनेवाली नाली सीधे स्नानागार में जाती थी।

द्वार पर पहुँचते ही उसने महिला प्रहरी से अपनी भाषा में कुछ कहा। वह दौड़ी हुई भीतर गई और अपनी कई संगिनियों के साथ आरती सजाकर ले आई। तब तक मैं गरुड़केतु के साथ बाहर ही खड़ा रहा।

आरती का थाल देखते ही मैं मुसकराया और वह पूज्यभाव से मेरे समक्ष झुका। फिर मेरी आरती उतारी जाने लगी। इस अवसर पर मधुर कंठ से उन नारियों ने जो कुछ गाया, उसे न समझते हुए भी मैं आत्मविभोर हो उठा। उनमें मेरे प्रति श्रद्धा से कहीं अधिक आत्मीयता थी।

फिर मैं उस सौंध के पिछले कक्ष में ले जाया गया। नारियल के सूखे पत्तों से सजा यह कक्ष अपने ढंग का अद्भुत था। दीवारों पर मृग और सिंह की गरदनो के साथ कई तरह के धनुष और तूणीर टँगे थे। मैं उनकी ओर संकेत करते हुए मुसकराया। उसकी छाती फूल गई। आँखों से चिनगारियों की तरह छूटते गर्व ने कहा, “इन सबका मैंने ही शिकार किया है।”

फिर अचानक कक्ष के किनारे एक काष्ठ मंचक पर पड़े अपने पुत्र की ओर संकेत करती हुई उसकी आँखें करुणार्द्र हो गईं। उसने कुछ संकेतों और कुछ शब्दों का सहारा लेते हुए बताया कि ‘उसे कूबड़ हो गया है। वह किसी तरह घुटने के बल घिसटता हुआ शय्या से उठकर अपने नित्यकर्म तो कर लेता है, पर यहाँ से बाहर नहीं निकल पाता और यही उसका संसार है।’ उसने उसके सिरहाने खुलनेवाले विशाल वातायन की ओर संकेत किया, जिसके बाहर गिरते हुए सिंधु में क्षितिज डूब रहा था।

मैं कुछ समय तक उसे गंभीरता से देखता रहा। उस रुग्ण की आँखों में अनिश्चय, हताशा और दया की याचना का अद्भुत मिश्रण था।

इसी बीच उसने एक ऐसे व्यक्ति को बुला लिया, जो आर्य भाषा भी जानता था। “तुम बीमार कम और निराश अधिक हो! तुमने अपने रोग से संघर्ष करने की इच्छा खो दी है और जानते हो, यही खोई संघर्ष की इच्छा ही तुम्हारा जीवन है। उसकी खोज करो। तुम जीवन के लिए संघर्ष करो, अपने लिए संघर्ष करो।” इतना कहते हुए मैंने अपना हाथ उसकी ओर बढ़ाया और उस देवी का स्मरण किया, जिसने मथुरा से चलते समय मुझे पुष्प का आशीर्वाद दिया था तथा मेरी माँ जिसकी आराधना में तल्लीन थीं।

उसने मेरा हाथ पकड़ा और मैंने सहारा देकर उसे खड़ा किया। वनमानुष की तरह कुछ झुककर वह खड़ा हो गया। “अरे, यह क्या! यह तो चमत्कार हो गया! इसको मैंने कभी खड़ा होते देखा ही नहीं।” गरुड़केतु बोला और प्रसन्नता में जैसे नाचने लगा। रुग्ण के चेहरे पर भी आशा की मुसकराहट खिल उठी।

“अब तुम स्वस्थ हो। मेरे कंधों का सहारा लेकर धीरे-धीरे चलो।” मैंने कहा। वह चलने लगा और धीरे-धीरे वातायन तक पहुँचा। उसकी आँखों की चमकती हुई आशा ने सिंधु की उत्ताल तरंगों को अपना प्रणति निवेदन किया।

“अब घबराओ मत। तुम मेरे सहारे चलोगे और फिर अपने से चलने लगोगे।” फिर मैंने उसे वह चिकित्सा बताई, जो कुब्जा को बताई थी।

फिर तो उस कक्ष का वातावरण ही जैसे बदल गया। प्रसन्नता जैसे वहाँ तैरने लगी। हर व्यक्ति के नयन में विश्वास का दीप जला। गरुड़केतु एकदम मेरे चरणों पर गिर पड़ा। उसने अपनी भाषा में विह्वल होकर जो कुछ कहा, उसका सारांश था कि जिसके सहारे संसार चल रहा है, आज उसीका सहारा मेरे पुत्र को मिल गया। यह सचमुच बड़ा भाग्यवान् है।

जब मैंने अनुभव किया कि मेरे देवत्व की छाया में गरुड़केतु अच्छी तरह सिमट गया है, तब मैंने वह मायावी हास्य बिखेरा, जिसमें वह छाया और भी घनी हो गई। वहाँ का हर व्यक्ति मेरा मुँह देखता रह गया; जैसे मैं गरुड़केतु

के कथन पर हस्ताक्षर कर रहा हूँ।

फिर मेरे इस देवत्व की छाया धीरे-धीरे गोमांतक पर पसर गई। फिर मैं बहुधा यज्ञादि के बाद प्रातःकाल गरुड़केतु के रुग्ण पुत्र तिरुदत्त के पास जाता और उसकी चिकित्सा के बारे में पूछता तथा उसे सहारा देकर चलाता भी। एक विचित्र बात यह होती कि जिस दिन मैं नहीं जाता, उस दिन वह मेरा स्मरण करते हुए खड़े होने की चेष्टा करता और कभी-कभी खड़ा भी हो जाता तथा मेरा नाम जपते हुए चलने भी लगता।

यद्यपि यह सब ओषधि और उसमें नूतन जगे आत्मविश्वास का ही परिणाम था; पर श्रेय मेरे देवत्व को मिलता गया। यह स्थिति मेरे अधिक अनुकूल थी, इसलिए मैंने इस भ्रम के भंजन का प्रयास भी नहीं किया। वरन् एक प्रातः उसे टहलाते हुए मैंने मुसकराकर कहा, “अब कल से मैं नहीं आऊँगा।”

वह एकदम विचलित हो गया। उसने सोचा, मेरा यहाँ अपमान तो नहीं हुआ। वह बड़ी विनम्रता से बोला, “क्यों, प्रभु?”

“जब मेरे नाम से काम चल जाता है, तब मेरे आने की आवश्यकता क्या?” मैं हँसने लगा और मेरे साथ वह भी।

अब मैं यदा-कदा उससे मिल लेता था। वह बड़ी शीघ्रता से स्वास्थ्य-लाभ करने लगा था। जीवन के प्रति उसकी आशान्विता उसके रोग को बड़ी जल्दी परास्त करती जा रही थी। अपने प्रति उसका मोह बढ़ता जा रहा था। पहले उसकी हर साँस भारी थी, जीना उसकी लाचारी थी। अब जीना उसकी पहली आवश्यकता थी; क्योंकि परमात्मा के दिए इस जीवन को वह पूरा रस लेते हुए पूरी समग्रता के साथ जीना चाहता था।

ज्यों-ज्यों वह ठीक होता गया, मेरा सम्मान बढ़ता गया। अब टेकरी क्षत्रप भी मेरा दास हो गया था।

दिन बड़े सुख से बीत रहे थे; पर रह-रहकर जरासंध की चिंता जाग उठती थी। आचार्य गर्ग ने समाचार भेजने को कहा था। परशुराम आश्रम तक तो उनका दूत आ ही सकता था। वहाँ से कोई-न-कोई यहाँ तक समाचार पहुँचा ही देता; फिर छंदक भी ऐसा मौन कैसे हो गया? कोई बात अवश्य है।

इस संदर्भ में उद्धव से मेरी बातें होतीं। वह भी चिंतित दिखाई देता; पर भैया इस चिंता से अछूते थे। उस प्रांतर की प्रकृति के साथ ही वहाँ के पुरुष ने उन्हें मोह लिया था। वह दोनों के संपर्क में अलौकिक आनंद का अनुभव करते और हर क्षण मस्ती में आकंठ मग्न रहते।

महेंद्र पर्वत पर सोम के वृक्ष थे; पर यहाँ एक प्रकार के वरुण के वृक्ष थे, जिनसे वारुणी निकलती थी। भैया उसीके पीछे और मस्त रहते थे। लगता था, मेरी चिंता से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है।

मैंने एक दिन प्रातः ही उन्हें टोका—“आपने कभी सोचा है कि यदि जरासंध इधर आ जाएगा तो क्या होगा?” वह एकदम सकते में आ गए। आनंद मेघों से आच्छादित उनके मन का आकर्षण अचानक निरभ्र हो गया। “क्या ऐसा भी हो सकता है?” वे बोले।

“क्यों नहीं हो सकता?” मैंने कहा, “न आचार्यजी का कोई संदेश है और न छंदक का ही कहीं अता-पता है। अवश्य ही वे किसी संकट से घिरे होंगे।”

“तब हममें से किसीको जाना चाहिए।” उन्होंने कहा और स्वयं के चल पड़ने का प्रस्ताव रखा।

“आपका जाना निरापद नहीं है।” मैंने कहा, “चलेंगे तो हम दोनों साथ चलेंगे।” इतना कहकर मैं एकदम चुप हो गया। सोचने लगा कि जिस तर्क का आधार लेकर हम लोग मथुरा से हटे थे, वहाँ पहुँचने पर तो वह आधार ही ध्वस्त हो जाएगा। लोग हमें देखकर क्या कहेंगे? जिस रण को हमने जिस स्थिति में छोड़ा था, वही स्थिति गले पड़ेगी। तब क्यों नहीं हम लोग दूर-दूर से ही उस वस्तुस्थिति का पता लगाएँ।

मैं सोच ही रहा था कि उद्धव बोल उठा—“इस स्थिति में तो मेरा ही जाना सर्वोत्तम है।”

“क्यों?”

“क्योंकि जरासंध की दृष्टि में तुम दो के अतिरिक्त कोई तीसरा नहीं है।” उद्धव मुसकराया—“और चलते समय मैंने अपने पिताश्री से कहा भी था कि मैं इन लोगों के साथ हमेशा के लिए नहीं जा रहा हूँ। वे भी घबरा रहे होंगे।”

उद्धव के पिताश्री देवभाग मेरे चाचा भी थे और मौसा भी। वे मुझे मानते बहुत थे, पर स्वयं को मेरी छाया से दूर भी रखते थे; क्योंकि परिस्थिति से जूझने की अपेक्षा वे उससे समझौता करने के अधिक पक्षधर थे। इसीलिए उद्धव का मेरे साथ रहना उन्हें अच्छा नहीं लगता था; पर मेरे प्रति अपने पुत्र की आत्मीयता के कारण वे कुछ कर नहीं पाते थे।

जब उद्धव ने उनका नाम लिया तब मैं उसे रोकने की स्थिति में नहीं था। इतना अवश्य बोला, “तब तुम सीधे मथुरा जाओगे?”

“जाना ही पड़ेगा।”

“अच्छा तो तुम मेरा रथ लेते जाओ। इतनी लंबी यात्रा रथ के बिना संभव नहीं होगी।” हम लोगों ने अपना रथ परशुरामजी के आश्रम में छोड़ दिया था।

उद्धव ने हमारा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

“मैं विश्वास करूँ कि हमारा-तुम्हारा मिलन फिर यहीं होगा?”

“अविश्वास का तो कोई कारण दिखाई नहीं देता, यदि आप यहाँ से हटे नहीं तो।” उद्धव इतना कहकर हँसने लगा। मुझे भी हँसी आ गई।

उद्धव हमारा भाई तो था ही, हमारा सखा भी था। बहुधा उसकी विनम्रता उसे मेरा आज्ञाकारी अनुचर भी बना देती थी, पर उसकी तर्क क्षमता के सम्मुख बड़े-बड़ों की बुद्धि चकरा जाती थी; क्योंकि वह बृहस्पति नीति का गहन अध्येता था। उसका कहना था कि नीति यही कहती है कि पहले महाभारत के आश्रम में आपका प्रणाम निवेदन करूँ।

“हाँ, हो सकता है, वहाँ कोई सूचना आ गई हो।” मैंने कहा।

“कोई विशेष बात होती तो महर्षि अवश्य उससे हमें अवगत कराने की व्यवस्था करते।” उसने कहा।

हम लोगों की बात चल ही रही थी कि गोमांतक क्षत्रप गरुड़केतु आ पहुँचा। उसे जब ज्ञात हुआ कि उद्धव परशुरामजी के आश्रम में जाना चाहते हैं, तब उसने उनके भेजने की व्यवस्था की और शीघ्र ही एक प्रकार की पालकी मँगवाई और उसे दिखाते हुए कहा, “आप इसीमें बैठकर आराम से चले जाइए। हमारे अनुचर आपको सुरक्षित पहुँचा देंगे।”

उद्धव को बिदाई देने के लिए वह बहुत दूर तक हमारे साथ चला भी। आकृति पर एक विशेष प्रकार की संतोषपूर्ण प्रसन्नता थी। मैंने पूछा भी—“आज बड़े प्रसन्न दिखाई देते हो, गरुड़राज?”

“हाँ, मुझे संतोष है।”

“किस बात का?” मैंने व्यंग्य करते हुए कहा, “इस बात का कि उद्धव चला गया?”

“नहीं, इस बात का कि आप लोग नहीं गए।” वह मुसकराया—“हमारे गुप्तचरों ने तो आप सबके चले जाने की सूचना दी थी।”

“तो आपके यहाँ भी गुप्तचर व्यवस्था है?”

“गुप्तचरी तो शासक की तीसरी आँख होती है, प्रभु! इसके बिना तो भू-खंड क्या, परिवार तक का शासन चलाया नहीं जा सकता।” उसका अनुभव बोला।

□

मुझे निरंतर महाभारत की वह बात याद आती रही कि छाया खोजने की अपेक्षा आपको स्वयं ऐसी छाया बनना होगा, जिसमें हर किसीके लिए आश्रय हो। आपको गोवर्धन बनना होगा, जिसमें निराश्रितों का व्रज समा जाए। इसके लिए शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी, अस्त्रों की आवश्यकता पड़ेगी, सेना की आवश्यकता पड़ेगी।

पर मेरे भाई का चिंतन मेरे चिंतन से मेल नहीं खाता था। जब भी मैं उनसे चर्चा करता, वे बड़े सहजभाव से कहते, “मनुष्य अपने से उतना परेशान नहीं होता, जितना अपनी महत्वाकांक्षा से परेशान होता है। वह ऐसी मृगतृष्णा है कि उसके पीछे जब हम दौड़ने लगते हैं तो दौड़ते ही जाते हैं और उसका अंत नहीं पाते। आज तुम राज्य स्थापना करना चाहते हो। उसकी स्थापना के बाद साम्राज्य स्थापित करना चाहोगे। फिर राजसूय यज्ञ करोगे। तुम्हारी आकांक्षा चक्रवर्ती होने की ओर बढ़ेगी। फिर तुम स्वर्ग पर भी अपना झंडा फहराने का स्वप्न देखोगे। आखिर यह सब किसलिए?”

मैं चुप ही था।

वही बोलते चले जा रहे थे—“एक सुख के लिए ही न! तो अभी से ही वारुणी पीकर क्यों नहीं पड़े रहते?” इतना सुनते ही गरुड़केतु को हँसी आ गई। उसे भैया की इस मानसिकता पर आश्चर्य था; पर मुझे कोई आश्चर्य नहीं था। मैं उनकी प्रकृति जानता था। बहुधा रह-रहकर उनमें ऐसी उदासी जाग उठती थी और फिर कुछ समय बाद समुद्र के भाटे की तरह धीरे-धीरे उतर भी जाती थी। मैं केवल चुपचाप उन्हें सुन लेता था।

अब तिरुदत्त पहले से अधिक स्वस्थ हो गया था। वह प्रातः-सायं अपने सौंध से बाहर भी निकलने लगा था; पर लकुटी के सहारे। मैं बहुधा समय निकालकर उसके साथ हो लेता था। वह इसे अपना अहोभाग्य समझता था।

तिरुदत्त का साथ पकड़ने के पीछे भी मेरी एक राजनीति थी। इसीसे मुझे पता चला था कि यह गोमांतक की टेकरी कोई पहाड़ी नहीं है वरन् एक संपन्न नगरी का प्राचीन ध्वंसावशेष है। किसी गंधर्व की बसाई यह नगरी कभी काल-कवलित हो गई थी। युगांतर हुआ। प्रकृति ने अपने परिवेश बदले। वनस्पतियाँ उगीं और वह भग्नावशेष धीरे-धीरे पहाड़ी में बदल गया। यह प्राचीन नगरी एकदम समुद्र तट तक जाती थी। वहीं पर इसका विशाल दुर्ग था। उसका एक बुर्ज अभी भी सागर के बीच जल के थपेड़े झेलते हुए खड़ा था।

मुझे यह स्थान बड़ा सुरक्षित लग रहा था। सोचता था, क्यों नहीं मैं भी ऐसे ही स्थान पर अपनी नगरी बसाऊँ; पर इसके लिए मुझे इस प्रांत के भूगोल की जानकारी की अपेक्षा थी। अपेक्षा ने मुझे तिरुदत्त के अधिक निकट ला दिया था।

उस दिन भी जब वह अपनी लकुटी के सहारे चल रहा था, मैंने उसे अपने कंधों का सहारा दिया और उसकी लकुटी दूर फेंक दी।

“कब तक इसके सहारे चलोगे? अपने पैरों पर भरोसा करो।” मैंने कहा और वह श्रद्धा से नत हो गया।

“यदि आपका सहारा मिला तो पैरों पर भी भरोसा आ जाएगा।”

“तुम राजपुत्र हो, तुम्हें अपने पैरों का ही नहीं, उसके नीचे की धरती का भी भरोसा करना पड़ेगा।” निश्चित था कि वह मुझे समझ नहीं पाया।

“देखो, जिसने इस धरती का भरोसा नहीं किया, वे काल के गाल में ऐसे समा गए कि आज उनका कोई चिह्न भी नहीं है।”

अब उसने मेरी बात समझी।

“चिह्न क्यों नहीं है! पर धरती ने उसे अपने भीतर छिपा लिया है।” इस क्रम में वह इस भू-खंड के बारे में कुछ पुरानी बातें और बता गया।

उसी समय हम लोगों ने निश्चय किया कि हम धीरे-धीरे इस भू-खंड के इतिहास की खोज करेंगे।

वह हमसे उपकृत था। मुझे अपना जीवनदाता समझता था। मेरी हर आज्ञा का पालन करना उसका धर्म था।...और उस धरती के नीचे छिपे इतिहास धन को खोज निकालना हमारा एकमात्र कर्म था। अपने कर्म और उसके धर्म के समन्वय में मैं अपना भविष्य देखने लगा।

धीरे-धीरे तिरुदत्त स्वस्थ हो गया और इतना स्वस्थ हो गया कि अब उसके तन पर अस्वस्थता का कोई चिह्न ही नहीं रहा। इसका स्पष्ट प्रभाव यह पड़ा कि हमारे देवत्व की छाया में अब संपूर्ण गरुड़ समाज आ गया था। एक दिन संध्या समय मैंने भैया से कहा, “क्या अब ऐसे ही जीवन बीतेगा?”

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“तात्पर्य स्पष्ट है, तात। शक्ति सेना और भूमिहीन राजा पेड़ से उड़ते उस पत्ते की तरह होता है, जिसका अस्तित्व न वृक्ष स्वीकार करता है और न धरती।”

“और यदि पत्ता किसी धरती को स्वीकार कर ले तो?”

“शक्ति के अभाव में वह वहाँ भी नहीं रह पाएगा। हवा उसे कहीं भी बहा ले जाएगी।”

“एक वायवी शक्ति के सहारे।” मैंने कहा, “ऊपर से आरोपित इस देवत्व की शक्ति कब तक हमारा आलंबन बनेगी? जरारसंध की जो आँधी हमें मथुरा से उड़ा लाई है, उसे यहाँ से उड़ते भला कितनी देर लगेगी?”

“तब तुम चाहते क्या हो?”

“शक्ति और शस्त्र का संचय।”

“इसके लिए हमें व्यवस्थित योजना बनानी होगी।”

“हमने योजना बना ली है।” फिर मैंने अपनी योजना व्यवस्थित रूप से बताई और उन्हें जानकारी दी—“अनुमान है कि इस भू-खंड के गर्भ में बहुत कुछ छिपा है, जिसका ज्ञान यहाँ के गरुड़ समाज को नहीं है। हमारा पहला कार्य है खुदाई कर उस भू-संपदा को प्राप्त करना।”

मैंने कार्य आरंभ किया। इसमें मुझे तिरुदत्त और उसके साथियों का पूरा सहयोग मिला। हमने सागर की ओर से खुदाई शुरू की। हमारा अनुमान ठीक निकला। थोड़ी खुदाई में ही हमें सफलता मिली। हमें एक गुफा मिली। हम उसमें थोड़ा और आगे बढ़े तो हमें एक द्वार मिला। वह द्वार बंद था। ऊपर के दबाव के कारण बिना तोड़े उसमें घुसा नहीं जा सकता था। उसे तोड़कर पहले भैया घुसे।

“यहाँ गहरा अँधेरा है। कुछ दिखाई नहीं दे रहा है।” भीतर से आवाज आई।

तुरंत कई मशालें जलाई गईं। भीतर की धरती काफी भीगी और कीचड़ से भरी हुई थी। सड़ी हुई मछलियों और जल की असह्य दुर्गंध बाहर तक झोंका मार रही थी। भीतर जानेवालों का बुरा हाल था।

“इस गुफा तक ज्वार का पानी आ जाता है। हो सकता है, कभी आया भीषण तूफान यहाँ समा गया हो।” तिरुदत्त बोला।

असह्य दुर्गंध ने भीतर के लोगों को बाहर कर दिया। यह प्रथम प्रयाण आशा की अनेक संभावनाओं के साथ स्थगित हो गया। दूसरे दिन इस उपलब्धि की सूचना पूरे गरुड़ समाज को दी गई। गरुड़केतु परम प्रसन्न हुआ। मेरी यह उपलब्धि भी उसे दैवी जान पड़ी।

गरुड़केतु ने स्वयं मुझसे कहा, “अब आप कष्ट मत कीजिएगा। यह खुदाई अब मेरे आदमी करेंगे।”

मैं चुप हो गया। मेरी चुप्पी उसे रहस्यमय लगी। उसने मुसकराते हुए और स्पष्ट किया—“इस खुदाई में जो कुछ प्राप्त होगा, वह आपका ही होगा।”

“और हम भी तो आपके ही हैं।” मैंने कहा और गरुड़केतु मेरे वक्ष से लग गया। सभी प्रसन्न हो उठे। तिरुदत्त ने बात और स्पष्ट की—“खुदाई मेरे आदमी भले ही करें, पर देखरेख और निर्देशन हमारे पूज्यश्री का ही रहेगा।”

यह प्रस्ताव सर्वसम्मत स्वीकृत हुआ।

दूसरे दिन प्रातः से ही यह कार्य आरंभ होना था। मैंने गरुड़केतु से कहा, “ऐसे शुभकार्य के पूर्व भूमि-पूजन और यज्ञ का विधान होना चाहिए।”

“हाँ, इससे भीतर की वायु भी शुद्ध हो जाएगी।” गरुड़केतु बोला, “यज्ञ के लिए तो आप ही उपयुक्त व्यक्ति हैं।” “पर आप तो इस भू के स्वामी हैं। यह शुभकार्य तो आपके ही हाथों संपन्न होना चाहिए।” मेरे इस प्रस्ताव के पीछे राजनीति यह थी कि मैं गरुड़केतु को इस कार्य में पूरी रुचि के साथ लगाना चाहता था, जिससे जनता समझे कि यह मेरा नहीं, मेरे राजा का काम है।

और हुआ भी ऐसा ही महाराज के यज्ञ पर बैठते ही। वह गरुड़ समाज अपने मंगल वाद्यों के साथ उपस्थित हो गया।

खुदाई में गरुड़केतु की प्रजा लगी और कार्य द्रुतगति से आरंभ हो गया। हम दोनों भाई उस कंदरा के बाहर ही एक स्फटिक शिला पर बिछे बाघंबर पर बैठ गए। तिरुदत्त भीतर जाना चाहता था।

“तुम अभी इतने स्वस्थ नहीं हो कि भीतर जा सको।” मैंने उसे भी अपनी बगल में बैठा लिया।

थोड़ी देर बाद विषधरों का समूह कंदरा के भीतर से आता दिखाई दिया। अपनी प्रकृति के अनुसार तिरुदत्त ने उन्हें मारने के लिए शूल (बरछा) उठाया। मैंने उसे एकदम रोकते हुए कहा, “बेचारों का घर भी उजाड़ रहे हो और भागने भी नहीं दोगे।”

“पर ये विषधर हैं। किसी भी समय घात कर सकते हैं। इन्हें तो देखते ही मार देना चाहिए।” वह बोला और उसका समर्थन उसके पिता ने भी किया।

“कितने विषधरों को मारोगे?”

“जितने भी मिलेंगे।”

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, “अपने वचन पर दृढ़ रहना।” वह सोचने लगा कि इतनी मामूली सी बात पर प्रभु मुझे संकल्पबद्ध क्यों कराना चाहते हैं?

तब तक मैंने फिर कहा, “तुमने मनुष्य का विष देखा है?” तिरुदत्त मेरा मुँह देखता रहा गया।

“साँप के काटने पर तो लहर आती है, पर मनुष्य के काटने पर तो लहर भी नहीं आती।”

“ऐसे मनुष्य को भी मार देना चाहिए।”

“बस यही याद रखना।” मैं कह ही रहा था कि भीतर से सूचना आई कि आगे विशाल शस्त्रागार है।

‘शस्त्रागार’ शब्द सुनते ही भैया एकदम उबल पड़े—“तुझे कैसे मालूम कि यहाँ शस्त्र है?”

मैं कुछ उत्तर दूँ, इसके पहले ही गरुड़केतु बोला, “इनके लिए कुछ भी अदृश्य नहीं।” मैंने अनुभव किया कि मेरा ईश्वरत्व उनपर छाता जा रहा है। मैंने इस विश्वास को खंडित करने की चेष्टा भी नहीं की; क्योंकि इस अनजान प्रदेश में यही मेरी संपदा थी। अतएव मैं रहस्यमय मुसकराहट बिखेरता रहा।

फिर मैंने कुछ शस्त्र बाहर निकाल लाने के लिए आदेश दिए। पता चला, भीतर नमी के कारण मोरचा लग गया है। और बहुत तो एक-दूसरे से सटकर बेतरह खराब हो गए हैं।

“फिर भी उन्हें निकालना तो पड़ेगा ही।” मैंने कहा।

“क्या होगा उन्हें निकालकर?” गरुड़केतु बोला।

“उन्हें साफ कर फिर काम के योग्य बनाया जा सकता है।” मैंने कहा, “फिर इस कक्ष को खाली करना भी तो आवश्यक है।”

“क्यों?”

“क्योंकि यह आपका भू-गर्भित दुर्ग होगा।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “आप बड़े भाग्यवान् हैं, गरुड़केतुजी!”

“यह आपकी कृपा है।” उनकी प्रसन्नता ने बड़े सहजभाव से स्वीकार किया।

फिर भीतर से अस्त्र-शस्त्र निकाले जाने लगे। तरह-तरह के धनुष, अनेक प्रकार के बाण। उनमें से कुछ ऐसे मंत्र-चालित बाण थे, जिनके मंत्रों का ज्ञान अब शायद ही किसीको हो। इसके बाद एक विचित्र और बहुत बड़ा पाश निकला।

“अरे, यह तो वरुणपाश है!” उसे देखते ही मैंने कहा। “इसे तो मैंने परशुरामजी के आश्रम में देखा था। उन्हींने इसका नाम और इसकी विशेषता बताई थी।”

“हाँ, मैंने सुना था कि महाराज वरुण ने कभी यहाँ अपनी सुंदर राजधानी बसाई थी। हो सकता है, यह उनका प्रासाद रहा हो।” गरुड़केतु ने कहा, “क्योंकि इस टेकरी पर उगे वृक्ष भी महाराज द्वारा स्वर्ग से लाए गए थे। उनसे निकलनेवाली वारुणी का स्वाद तो आपने चखा ही होगा!”

“अमृत है, अमृत!” भैया बोल पड़े।

“तो इसके भीतर छिपे शस्त्र भी वारुण शस्त्र होंगे।” मैंने कहा और गरुड़केतु के अहं को सहलाते हुए कहता रहा —“आप धन्य हैं! वरुण के पूरे प्रासाद पर आपका आधिपत्य है।”

“सब आपकी कृपा है।” गरुड़केतु मेरे प्रति कृतज्ञता तो प्रकट कर रहा था; पर उसकी आकृति पर एक अप्रत्याशित भय की छाया दिखाई देने लगी थी।

“क्या बात है, गरुड़राज, आप अचानक भयभीत हो गए?” मैंने कहा।

“ऐसा तो नहीं कि हमारे इस कार्य से वरुण कहीं कुपित हो जाएँ।”

“इसकी चिंता छोड़िए। अब वरुण की नहीं, यह आपकी संपत्ति है।” मैंने कहा, “भू से अधिकार हटते ही भू-गर्भ से स्वयं अधिकार समाप्त हो जाता है।”

□

खुदाई चलती रही। अस्त्र-शस्त्र निकलते रहे। मैंने सांदीपनि गुरु के आश्रम में अस्त्र बनाने और लोहा गलाने की कला सीखी थी। मुझे वह मंत्र विधि भी आती थी, जिसके द्वारा अग्नि में डाले गए पाषाण धातुओं में परिवर्तित हो जाते हैं। मैंने पुराने अस्त्रों की मरम्मत का काम तुरंत आरंभ कराया; क्योंकि मुझे आभास लग गया था कि इस टेकरी पर मेरी उपस्थिति का अनुमान जरासंध को हो गया है। उसकी चढ़ाई का मुझे निश्चित रूप से विश्वास होने लगा था; क्योंकि जरासंध शांत बैठनेवाला नहीं था। फिर भी मैंने यह बात गरुड़केतु से नहीं बताई। क्योंकि वरुण के भय से संतुष्ट उसका मानस एक और भय का सामना करने को तैयार नहीं था।...किंतु मैंने भैया से अवश्य संकेत किया था कि हम लोग एक ज्वालामुखी पर स्थित हैं। विस्फोट आसन्न है।

“नीचे तो शस्त्रागार है। ज्वालामुखी तो कहीं दिखाई नहीं देता।” बड़ी सहजता से वे बोले।

“ज्वालामुखी तो विस्फोट होने पर दिखाई देता है; पर मैं उसे विस्फोट के पहले देख रहा हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा और उनके कान में धीरे से जरासंधवाली वास्तविकता बताई।

वे भी गंभीर हो गए।

“इस समय तो उद्भव भी नहीं है और न उसका कोई समाचार ही मिला है।” भैया ने पहली बार उद्भव के अभाव को इतनी गंभीरता से अनुभव किया था।

बातों के क्रम में यह निश्चित हुआ कि हम लोग भले ही गरुड़केतु से जरासंध की चर्चा न करें, पर कुछ ऐसा अवश्य करें कि उसे भान हो जाए कि हम किसी बड़े युद्ध की तैयारी कर रहे हैं।

मैंने ऐसा वातावरण बनाया कि पूरा गोमांतक अस्त्रों के निर्माण में लग गया। इस स्थिति से गरुड़केतु आशंकित भी हुआ। मैंने उसे समझाते हुए कहा था—

“शस्त्र का तात्पर्य है शक्ति। बिना शक्ति के कोई सत्ता जीवित नहीं रह सकती।”

“पर मैं सत्ताधारी नहीं हूँ। टेकरी पर किसी तरह हम अपना कबीला पालते हैं।”

“पर आप एक व्यवस्थित सत्ता के उत्तराधिकारी हैं।” मैंने उसकी महत्वाकांक्षा जगाते हुए कहा, “आप जिस सत्ता के उत्तराधिकारी हैं, वह इसी धरती के नीचे सो रही है। उसे हमें जगाना है।...क्योंकि शक्तिहीन राजा, विषहीन सर्प और तापहीन अग्नि को कोई भी कुचल सकता है।”

मेरे मुख से अपने प्रति ‘राजा’ शब्द सुनकर गरुड़केतु की महत्वाकांक्षा भभकी और उसकी आकृति की ललाई बढ़ गई।

पिछले अनुभवों की भाँति इस बार भी हमें अनुभव हुआ कि महत्वाकांक्षा के जाग्रत होने के पहले न तो हम किसी प्रशस्त पथ का निर्माण कर सकते हैं और न उसपर चलने की शक्ति पा सकते हैं। महत्वाकांक्षा हमारे लक्ष्य के क्षितिज का विस्तार करती है और हम दौड़ने लगते हैं; भले ही हमारा दौड़ना एक मृग मरीचिका ही हो।

गरुड़केतु अब दौड़ने लगा था। खुदाई अब दूने उत्साह से आरंभ हो गई थी। अस्त्रों के साथ-ही-साथ रत्नों और बहुमूल्य धातुओं के भंडार भी निकल रहे थे। तिरुदत्त और उसके पिता ने कभी इतनी संपत्ति की कल्पना तक नहीं की थी। उनकी प्रसन्नता भय की परिधि में कुछ चिंतित हो गई थी।

एक और भय तिरुदत्त के मस्तिष्क में जन्म ले चुका था। यदि आसपास के राजाओं को इसकी सूचना मिलेगी तो वे अवश्य ही लोभ में चढ़ाई कर देंगे।

“लगता है कि हम सब शक्तिविहीन हैं, जो वे आसानी से हमें निगल सकेंगे।” मैंने उन्हें भरोसा दिलाया—“यों प्रकृति ने हमें यों ही सुरक्षा प्रदान की है, फिर भी हमें हाथ पर हाथ रखकर बैठना नहीं चाहिए।”

“इस संदर्भ में हमें क्या करना चाहिए?” पूछा तो भैया ने था, पर तिरुदत्त की आँखों से छलकती जिज्ञासा से लगा कि यह प्रश्न उसीका है।

मैं सोचते हुए गंभीरता से बोला, “खुदाई तो चल ही रही है।”

“जी हाँ, जोरों पर। टेकरी के अधिकांश लोग इस कार्य में लगे हैं।” तिरुदत्त बोला।

“क्या सोचते हो, नीचे छिपी राजधानी का विस्तार कितना होगा?”

“लगता तो यही है कि समुद्र तट से खोदते-खोदते टेकरी के इस पार निकल आएँगे।”

“यह तो बहुत अच्छा है।”

“पर एक खतरा भी है।” भैया बोले, “ज्वार के समुद्र का जल नीचे भर जाएगा। हो सकता है, इस पार भी चला आए।”

“तब तो यह और भी अच्छा है। संसार के सारे युद्धक दुर्ग जलाशयों से घेरकर बनाए जाते हैं। यह तो एकदम जल के ऊपर ही रहेगा।” मैंने हँसते हुए कहा। पर लोगों की दृष्टि इसकी उपयोगिता की ओर नहीं गई। उनकी प्रश्नवाची मुद्रा बनी रही।

“बस हमें अब दो काम करने हैं। एक तो खुदाई पूरी करनी है, केवल सौ-दो सौ हाथ छोड़ देना है, जिससे इस पार के लोगों को इस भूमिगत स्थिति का आभास तक न लगे। रह गई समुद्र के उधर की बात, तो उधर हम सतर्कता

बरतें।” इस संबंध में मैंने उन्हें और विस्तार से बताया—“समुद्र की ओर एक बड़ा फाटक बना देना चाहिए, जिसे आवश्यकतानुसार हम खोल और बंद कर सकें। उस फाटक को भी हम घनी झाड़ियों से छिपा दें।”

मैं बोलता चला गया—“दूसरा काम है अपनी गुप्तचर व्यवस्था को और अधिक दृढ़ तथा जटिल बनाना। दृढ़ इसलिए कि टेकरी पर आया कोई भी व्यक्ति हमारे लिए अनजाना न रह जाए और जटिल इसलिए कि संभव हो तो एक गुप्तचर दूसरे गुप्तचर को न पहचान पाए।”

“ऐसी गहरी सतर्कता की आवश्यकता क्या है?”

“इसका निश्चय तो काल करेगा, भविष्य तो उसीके गर्भ में है।” मेरी रहस्यमयी मुसकराहट में वह डूबते चले गए।

□

अभी सवेरा नहीं हुआ था। ज्योति प्रसव की वेदना से प्राची का मुख लाल हो चला था। नारियल के तेल में भीगी वर्तिका के ज्वलित मुख की आभा धुँधलाने लगी थी। हम दोनों भाइयों ने ब्राह्म मुहूर्त का पूजन समाप्त कर लिया था कि अचानक एक सैनिक के प्रवेश करने की आज्ञा माँगने की आवाज सुनाई पड़ी।

मेरी अनुमति पर वह नग्न असि लिये भीतर आया। इसके बाद उसने और कुछ कहा, जिसे मैं समझ नहीं पाया; यद्यपि अब उनकी भाषा मैं बहुत हद तक समझ लेता था।

“इसी समय।”

“हाँ।” इसके बाद उसने जो कुछ कहा, अनुमान से उसके निष्कर्ष तक मैं पहुँच चला था। उसका कहना था कि एक बाहरी गुप्तचर पकड़ा गया है। वह आपका परिचित भी है।

मेरा परिचित और गुप्तचर! बात कुछ समझ में नहीं आई। भैया भी अचरज में थे। हो सकता है, उद्धव लौटकर आया हो। पर यहाँ के लोग तो उसे जानते हैं। फिर वह भगवान् परशुराम का ही भेजा कोई गण हो, तब गुप्तचर क्यों होता? साफ कहता कि मुझे महाभारग्व ने भेजा है। फिर मेरे चिंतन में एक आँधी-सी आई—जरासंध के टोही लोगों की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

हम दोनों भाई उस प्रहरी के साथ ही चल पड़े।

क्षत्रप के सौंध में प्रवेश करते ही मैंने देखा कि सैनिकों से घिरा छंदक खड़ा है। वह हमें देखते ही मुसकराया। हमें भी हँसी आ गई।

“देखिए, मैंने आपको खोज ही लिया!” वह मेरी ओर बढ़ा और मैंने उसे छाती से लगा लिया।

यह देखकर गरुड़केतु चकित रह गया।

“तुमने महाराज को अपना पूर्ण परिचय क्यों नहीं दिया था?”

“दिया तो था; पर लगता है, महाराज अत्यधिक शंकित हैं।” छंदक बोला।

“शंका की बात तो है ही।” गरुड़केतु बोला, “इस टेकरी पर आने का मार्ग या तो यहाँ के लोगों को मालूम है या महाभारग्व के आश्रम के लोगों को।...और कोई नहीं जानता।...फिर कोई नया व्यक्ति टेकरी पर कैसे चला आया? शंका तो होगी ही।”

“यह मेरा मित्र है, गरुड़राज। यह अंधकार की अँगुली पकड़कर भी अपना रास्ता खोज लेता है।” मेरी बात पर छंदक जोर से हँसा। वातावरण का तनाव ढीला पड़ा।

मैंने छंदक को उन लोगों से अलग करते ही पूछा, “आपको मेरे यहाँ होने की सूचना कैसे मिली?”

“मुझे ही नहीं, यह आभास जरासंध को भी लग चुका है। फिर आपका कहीं होना किसीसे छिपा रह सकता है भला!”

इसके बाद मैं उसे अपनी पर्णकुटी में ले गया।

“आजकल मथुरा की क्या स्थिति है?” एकांत में आते ही मैंने उससे पूछा।

“आप मथुरा के बारे में जानना चाहते हैं, यह जानकर सुखद आश्चर्य हुआ।” निश्चित ही छंदक ने व्यंग्य किया था।

“ऐसा क्यों कहते हो, भाई? मैं तो रात-दिन मथुरा के बारे में ही सोचा करता हूँ।”

“अच्छा, ऐसा है!” उसने विचित्र मुद्रा बनाई—“तब तो लोगों का अनुमान आपके संदर्भ में ठीक नहीं है।”

“किसका अनुमान?”

“यही, आपके खास लोगों का।...कुछ लोग तो कहते हैं कि आप जैसा स्वार्थी दूसरा कोई हो नहीं सकता। जब सामने रहते हैं तब तुम्हारे सिवा दूसरा कोई नहीं, और जब छोड़कर चले जाते हैं तब नाम तक नहीं लेते।...पत्र लिखिए तो उसका उत्तर तक नहीं देते।”

‘आखिर कौन ऐसी शय रखता है मेरे प्रति?’ मैं सोच ही रहा था कि छंदक बोल ही पड़ा—“तुम्हीं सोचो, वह कौन हो सकती है—सिवाय तुम्हारी राधा के।”

राधा का नाम सुनते ही मन ने कहा, सचमुच मैंने उसके साथ बड़ा अन्याय किया है। वृंदावन से लौटने के बाद तो पलटकर उधर देखा तक नहीं शायद। इसमें मेरा दोष कम और परिस्थितियों का अधिक है।...पर परिस्थितियों को दोषी ठहराना अपने व्यक्तित्व की दुर्बलता को स्वीकार करना है। वह व्यक्ति क्या, जो परिस्थितियों को ही न बदल दे।

“क्या सोचने लगे?...लगता है, मन व्रज के कुंजों में चला गया।...पर उसे मथुरा के कुंजों में जाना चाहिए था।” छंदक बोला और मुसकराता रहा। उसकी मुसकराहट चिंता से बोझिल थी।

मैं कुछ और जिज्ञासा करूँ, इसके पहले ही वह बोल पड़ा—“मथुरा खाली हो गई है।”

“क्या लोग मथुरा छोड़ रहे हैं?” मेरी चिंता भभकी।

“लोग छोड़ रहे हैं या नहीं, इसकी सही सूचना तो मैं नहीं दे पा रहा हूँ; पर हाँ, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि महाराज उग्रसेन ने मथुरा छोड़ दी है।”

“तो कहाँ गए वे?”

“कुछ पता नहीं।” छंदक ने बताया—“राजकीय तौर पर तो इसकी घोषणा नहीं की गई। मुझे गुप्तचरों द्वारा ही ज्ञात हुआ कि एक रात अपने शयनकक्ष से वे अदृश्य हो गए।”

“हो सकता है, उनकी हत्या कर दी गई हो।”

“हो सकता है।” छंदक बोला और बोलता रहा—“आप लोगों के मथुरा छोड़ने के बाद मैं उनसे मिला था। वे बड़े दुःखी दिखे थे। बोले, ‘जिनका भरोसा था, यदि वही मथुरा छोड़ बैठे तो मैं यहाँ रहकर क्या करूँगा?...क्या सारे अनर्थ के मूल में मेरा अस्तित्व नहीं? क्या मैं जरासंध की क्रोधाग्नि का कारण नहीं बन सकता?...तो फिर मेरे लिए मेरी प्रजा का रक्त क्यों बहे?’ ”

इस समाचार के झंझावात से पुराने वृक्ष की तरह मथुरा के संबंध में मेरी अवधारणा उखड़ चुकी थी और मेरा मन झंझा में उड़ते पत्ते की तरह निरालंब आकाश में भटकने लगा था। ‘तो क्या मैंने मथुरा छोड़कर भूल की?’ मैं सोचने लगा।

“यह तो आप ही समझें।” छंदक बोला और एकदम चुप हो गया।

उसकी दृष्टि मेरी मुद्रा पर थी। “महाराज के गायब होने का प्रचार होना चाहिए।” मैंने कहा।

“आप क्या समझते हैं कि मैं चुप बैठा हूँ! मैंने लुके-छिपे यह कार्य शुरू कर दिया है।”

“इसकी प्रतिक्रिया कैसी है?”

“बहुत ठंडी।” छंदक निराश लगा—“अब मथुरा में वह आग नहीं है, जो पहले थी।” छंदक बोलता गया—“लोग मेरी बातें तो ध्यान से सुनते हैं; पर बड़ी उपेक्षा से कहते हैं कि जब कन्हैया ही रण छोड़कर चला गया, जिसपर हमने बड़ा भरोसा किया था, तब राजा रहे या जाए, हमें क्या लेना-देना है! हमारे भाग्य में तो अपनी जिंदगी से जूझना है और पेट के लिए समिधा जुटानी है।”

“यह स्थिति भयावह है, छंदक।” मैंने कहा, “जब सत्ता से प्रजा का लगाव समाप्त हो जाता है, तब सत्ता नींवविहीन उस प्राचीर की तरह हो जाती है, जिसे एक धक्के में कोई भी गिरा सकता है।”

“एक बार तो मैंने सोचा कि प्रचारित कर दूँ कि उग्रसेन की हत्या हो गई।”

छंदक अभी बोल ही रहा था कि मैं बीच में ही बोल पड़ा—“नहीं-नहीं, ऐसा कभी मत करना। राजा का गायब होना और बात है तथा सिंहासन का खाली होना और बात है।...सिंहासन के खाली होते ही जरासंध के लिए रास्ता साफ हो जाएगा। या तो वह स्वयं उसपर बैठ जाएगा या किसी कठपुतले को उसपर बैठा देगा।”

“ठीक यही बात आचार्यजी ने भी कही थी।” छंदक ने मेरा समर्थन किया।

“तुम यहाँ से लौटने के बाद मथुरा में प्रचारित कर देना कि शीघ्र ही महाराज अपनी पूरी शक्ति के साथ लौट रहे हैं।”

छंदक हँस पड़ा और बोला, “इसका मतलब है कि मागधी सैनिक और अधिक शक्ति इकट्ठी करने में लग जाएँगे।...फिर आपकी यहाँ की उपस्थिति के लगे आभास से वे कम व्यग्र नहीं हैं।”

“आखिर मेरी यहाँ उपस्थिति का आभास उनको लगा कैसे?”

“यह तो नहीं मालूम।”

“पर वे एक दिन स्वयं दमघोष को बता रहे थे कि महाभारगव के आश्रम के बाद वे लोग पश्चिम की ओर गए हैं।”

“लगता है, फूफाजी से आजकल उसकी निकटता बढ़ी है।” मैंने कहा।

“नहीं, ऐसी बात नहीं है। दमघोष ही ऐसे व्यक्ति हैं, जो जरासंध की बढ़ती शक्ति से सबसे अधिक घबरा रहे हैं। वे मथुरा के अस्तित्व के प्रति जितने चिंतित हैं, उतना शायद ही कोई व्यक्ति हो।”

“और उनका पुत्र शिशुपाल?”

“वह तो बिल्कुल जरासंध की मुट्ठी में है।” छंदक ने बताया—“अभी दो-चार दिनों की बात है। मैं देवभाग के यहाँ उद्धव से मिलने गया था। सोचा, आपका भी कुछ समाचार मिलेगा।”

मैंने बीच में ही जिज्ञासा की—“उद्धव वहाँ कब पहुँच गया?”

“जिस दिन मैं जरासंध से मिला था, उसके एक दिन पूर्व ही उसके वहाँ पहुँचने की खबर मुझे मिली थी।”

“जरासंध ने उससे मेरे संबंध में जानने की चेष्टा नहीं की?”

“क्यों नहीं की? ऐसा कहीं हो सकता है कि केंचुल दिखाई पड़ जाए और लोग साँप के संबंध में जानकारी न करें!” इतना कहकर वह हँसने लगा। फिर बोला, “जिस दिन उद्धव के आने का समाचार मथुरा में पहुँचा था, उसी दिन रुक्मी उससे मिला था। लोगों का विश्वास है कि जरासंध ने ही उसे भेजा था; क्योंकि मिलते ही उसने आप लोगों के संबंध में पूछा था।”

“तो क्या कहा उद्धव ने?”

“उसने बताया कि महाभारगव के आश्रम के बाद मेरा-उनका साथ छूट गया।”

“तो विश्वास कर लिया उन्होंने?”

“उसने इतने नाटकीय ढंग से कहा था कि विश्वास न करने की गुंजाइश ही नहीं रह गई थी।” फिर विस्तार से छंदक ने बताया—“उद्धव ने कहा था कि हमें बिल्कुल विश्वास नहीं था, वे लोग हमारे साथ ऐसा करेंगे। कहीं कोई बात नहीं थी; न छिपाव की, न दुराव की। पर एक रात वे दोनों भाई चुपचाप उठे और चल दिए। महाभारत ने भी उनके बारे में कुछ न बताया और मुझे लाचार होकर लौटना पड़ा।”

मुझे हँसी आ गई। मेरे मुँह से निकल पड़ा—“यदि संसार में झूठ न होता तो मनुष्य का जीवन दूभर हो जाता।”

“हाँ, तो बातें दमघोष की चल रही थीं। मैंने वार्ता की पुरानी डोर का छोर पुनः पकड़ा।”

“हाँ, तो कह रहा था कि जब उद्धव से मिलने गया था तब दमघोष भी वहीं आ गए थे। वह आप लोगों का कुशलक्षेम जानने के इच्छुक थे; पर उद्धव कुछ खुला नहीं। बात घूम-फिरकर यहीं तक आती थी कि आप लोग जहाँ कहीं होंगे, सकुशल होंगे। हाँ, उसने दमघोष को एक संकेत अवश्य दिया।”

“क्या?”

“यही कि वे लोग अपनी एक नई राजधानी बनाना चाहते हैं।”

“क्या प्रतिक्रिया थी फूफाजी की?”

“वह तो प्रसन्न ही दिखे। उनका कहना यह भी था कि कार्य हो जाने के बाद ही लोग जानें तो अच्छा हो। यहाँ तक कि मेरे पुत्र को भी इसकी सूचना न मिले, अन्यथा कृष्ण और बलराम कुछ कर पाएँ, इसके पूर्व ही वह उन्हें ध्वस्त करने की योजना बनाने लगेगा।”

इसके बाद तो बातों का सिलसिला पुनः दूसरी ओर चला गया। छंदक बोलता रहा—“आजकल मथुरा का राजनीतिक आकाश मेघाच्छन्न है।” उसने बिना पूछे विस्तार से बताया—“बात यह हुई कि जरासंध के मथुरा आते समय पांचाल नरेश ने अपने राज्य के भीतर से उसे जाने की अनुमति नहीं दी। कहते हैं, इसपर जरासंध आगबबूला हो गया। वह तत्काल कांपिल्य पर चढ़ाई कर देता; पर अपने सेनानायकों के कहने पर मान गया। उसने भी सोचा कि विशाल लक्ष्य की ओर न बढ़कर हम व्यर्थ में उलझ जाएँगे।”

“तब क्या हुआ?” मेरी उत्सुकता जागी।

“हुआ क्या! उसकी सेना को राजपथ छोड़कर जंगलों से जाना पड़ा।” छंदक ने बताया—“पर मथुरा में आकर वह इस बात को भूला नहीं। उसने शाल्व से कहा था कि यदि मुझे पता चलता कि वे दोनों भाई मथुरा से पलायित हैं, तब मैं द्रुपद को उसकी करनी का फल तुरंत चखाता और उसकी राजधानी को भस्म कर देता।

“जानते हैं, यह सुनकर शाल्व ने क्या कहा?”

मैं मौन ही रहा; पर छंदक सुनाता चला गया—“शाल्व और शिशुपाल दोनों एक स्वर में बोले, ‘यह मामूली काम भला आप क्या करते! हमें ही कांपिल्य की हवि देकर अग्निदेवता को प्रसन्न करने का अवसर दीजिए।’”

भैया को हँसी आ गई—“लगता है, कांपिल्य दाल-भात का कौर है, जो उठाया और मुँह में डाल लिया। अरे, उन लोगों ने द्रुपद को समझा क्या है? जो आचार्य द्रोण से टकराने की हिम्मत रखता है, वह जरासंध को समझता क्या है!”

मैं भैया से सहमत नहीं था। मुझे जरासंध की शक्ति का अनुमान था। फिर भी मैं चुप रह गया। संतोष इतना ही था कि ज्वार के समुद्र से टकराने के लिए कोई चट्टान तो मिली, जिसकी आड़ में खड़े होकर शर-संधान तो किया जा सकता है।

इसके बाद छंदक ने एक दूसरी घटना का उल्लेख किया। उसने बताया कि “एक दिन जरासंध ने मुझे भी भोजन पर बुलाया था।”

“बड़ी कृपा की थी उसने। क्या आपकी असलियत को वह पहचानता नहीं था?” मैंने कहा।

“जब सारी मथुरा पहचानती है तब वह क्यों नहीं पहचानता रहा होगा!” छंदक गंभीर हुआ—“इसे उसकी कृपा कहिएगा या कुछ और; पर इतना तो निश्चित है कि वह उस समय बड़ी अच्छी मुद्रा में था। उसने हँसते हुए मेरे कान में कहा, ‘यह तो तुम जानते ही हो कि मेरे वय के निकट की मथुरा की सारी स्त्रियों से मेरा बड़ा आत्मीय रिश्ता है। वह मेरे साथ पर्यंकभोगी भी हो सकती हैं।’

“मेरे सामने वह मथुरा की नारियों को ऐसी अभद्र बात कहे, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने छूटते ही कहा, ‘आप जानते हैं, पर्यंकभोगी एक प्रकार की नागिन भी होती है।’ इतना सुनते ही उसे काटो तो खून नहीं। उसकी मुद्रा एकदम बदल गई।” इतना कहते-कहते छंदक एकदम चुप हो गया; जैसे उसकी वाणी चिंतन की किसी परत में खो गई।

“क्या सोचने लगे?” मैंने पूछा।

“यही कि पूरी मथुरा में एक भी नारी पर्यंकभोगी (नागिन) नहीं निकली। कटार भोंकना तो दूर रहा, किसीने उसे दाँत से भी नहीं काटा होगा। कितना पतन हो गया मथुरा के चरित्र का!” मैं छंदक के कथन का तात्पर्य तो समझ रहा था। भैया तो बस उसका मुख देखते रह गए।

बाद में छंदक ने ही बताया—“भोजन पर मेरे कथन की प्रतिक्रिया बड़ी भयानक हुई। उसी क्षण से उसने मुझसे बोलना तो छोड़ ही दिया, साथ ही उसकी वासना प्रतिहिंसात्मक हो गई। अब वह किसी भी सुंदर स्त्री को देखता तो बलात् अपनी अंकशायिनी होने के लिए विवश करता। सैकड़ों नारियों का उसने सतीत्व नष्ट किया होगा।”

“पर इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई?” भैया आवेश में आ गए।

“यही तो आश्चर्य है! डसना तो दूर, मथुरा फुत्कार तक नहीं कर सकी।” छंदक बोला।

“लगता है, तुम्हारी लगाई आग ठंडी पड़ गई।” मैंने कहा।

“ठंडी तो नहीं होनी चाहिए थी, पर क्या कहूँ!” छंदक फिर चुप हो गया। हताशा और विस्मय से विकृत होती उसकी आँखों की भंगिमा कुछ और ही लगी।

“अभी नारियों की आह से जरासंध का पाला नहीं पड़ा है।” भैया का आवेश भभका—“जब वे आहें समवेत भभक उठेंगी, तब उसके अस्तित्व को भस्म होते देर नहीं लगेगी।”

“पर अभी तो ऐसा कुछ नहीं लगता।” छंदक की निराशा पुनः बोली।

“किंतु इससे बहुत नहीं घबराना चाहिए।” मैंने उसे सँभाला—“जातीय जीवन में कभी-कभी ऐसे भी क्षण आते हैं, जब निराशा के ऐसे वात्याचक्र चलते हैं कि हमारी सारी क्रियमाण शक्ति धूल की तरह उड़ जाती है और हमारा निजत्व पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों की तरह टुकड़ाए जाने के लिए ही समय की पगडंडी पर पड़ा रह जाता है।”

“फिर हम समय की पगडंडी पर इस तरह टुकड़ाए जाने के लिए कब तक पड़े रह जाएँगे?” छंदक भरी आवाज में बोला।

“जब तक तुम्हारी बोई चिनगारियाँ आग नहीं उगलने लगतीं।” इसके बाद मैंने हँसते हुए उसकी पीठ थपथपाई। उसकी निराशा झाड़ने का मैंने असफल प्रयास किया। फिर मैंने भैया की ही बात अपने ढंग से दुहराई—“नारी केवल वासना-तृप्ति का साधन ही नहीं है, वह अजस्र स्रोत है—मानव की प्रेरणा का। उसके इस रूप की उपेक्षा कर जरासंध मथुरा में अधिक दिनों तक नहीं रह सकता।”

“अभी तो है।...और उसने योजना तो ऐसी बनाई है जैसे सदा ही रहेगा।” छंदक बोलता गया—“और तो और, आजकल विश्व भी आकाश पर थूकने लगा है। महाराज उग्रसेन के अदृश्य हो जाने पर उसने उनकी दोनों दासियों

—प्रमदा और माया को अपने यहाँ बुलाया और कहा कि आज से तुम मेरी चेरी हो।”

“हो सकता है, उनसे महाराज के अदृश्य होने का रहस्य जानना चाह रहा हो।” भैया बोले।

“अरे नहीं, भैया। जैसा राजा वैसी प्रजा। जरासंध के विलास का ज्वर संक्रामक हो गया है। अब मथुरा में नारियाँ संध्या के बाद घर से बाहर नहीं निकलतीं।”

“इसका तात्पर्य है कि अब मथुरा के बचाव की समस्या नहीं, समस्या है वहाँ की नारियों के बचाव की।”

“क्यों, क्या इससे मथुरा बच जाएगी?”

“मर्यादाविहीन काम पौरुष को चबा जाता है, पुरुषार्थ को कुंठित कर देता है।” मैंने कहा, “अब उन नीचों की दृष्टि मथुरा पर कहाँ है? वह तो वहाँ की सुंदरियों पर लग गई है।”

“आप ऐसा कह रहे हैं, जो नाग के फन पर भी रास का अवसर निकाल लेता हो!” छंदक का आश्चर्य मुसकराहट में भीगने लगा था।

मैं भी हँस पड़ा—“काम का मंद गंधवाह बड़ा प्रेरक होता है, छंदक। उससे जिजीविषा को बल मिलता है।” मेरी हँसी अभी थमी नहीं थी—“मैं योग को भोग की तरह भोगता हूँ, रोग की तरह नहीं। काम मेरा अनुचर है, स्वामी नहीं। काम के स्वामी होने पर व्यक्ति ऐसा अंधा होता है कि उसे अँधेरा भी नहीं सूझता।”

“पर इस स्थिति में भी जरासंध को आप दोनों की लाशें तो सूझती ही हैं।” छंदक ने एकदम संदर्भ बदल दिया—“जिस भोज की मैं चर्चा कर रहा था, उसमें दमघोष एवं उसके पुत्र शिशुपाल और शाल्व भी थे, देवभाग का पुत्र बृहद्बल भी था; पर भोज के बाद उसने सबको हटा दिया। केवल बृहद्बल को एकांत में ले जाकर बोला, ‘बृहद्बल, मैं तुम्हें मथुरा के सिंहासन पर देखना चाहता हूँ।’ ”

“क्यों? और लोग मर गए हैं क्या?”

“उनके लिए तो मरे हुए ही समझिए।” छंदक बोला, “जरासंध तो स्वयं को अब मथुरा का अधिष्ठाता समझता है। वह जिसको चाहे, वहाँ की गद्दी पर बैठा सकता है। तभी तो उसने बृहद्बल से कहा कि तुम्हारा भाई उद्धव तो नपुंसक है। वह तो कुछ कर नहीं सकता। तुम्हीं उन दोनों के (कृष्ण और बलराम) स्वर्गारोहण की योजना बना सकते हो।”

“चलो, इतना होने पर भी वह हम दोनों को नरक का अधिकारी नहीं समझता, यह क्या कम है!” मैंने छंदक का तनाव कम करने के लिए हँसते हुए कहा और मतलब की बात पूछ ही बैठा—“फिर क्या कहा बृहद्बल ने?”

“आचार्यजी का कहना है कि बृहद्बल इस समय जरासंध की मुट्ठी में है। अपने पिता देवभाग से भी उसकी नहीं पटती। अब तो वह उनके साथ रहता भी नहीं है। लगता है, उद्धव से ही उसने आपके निवास का सूत्र पाया है।”

“क्यों, जरासंध ने उद्धव से नहीं पूछा होगा?”

“पूछा अवश्य होगा। उद्धव भी अपने पिता के साथ जरासंध के यहाँ देखा गया है। काफी निकटता बढ़ाई है उसने। देखिए, कौन किसको ठगता है! एक दिन तो उसने सबके सामने कहा था कि ‘जो आपका आगमन सुनकर मथुरा छोड़कर चला गया, उसका पीछा करना आप जैसे योद्धा को शोभा नहीं देता।’ ”

मेरी जिज्ञासा उतावली हो उठी—“तब क्या कहा उसने?”

“कहा था कि घायल नागों को छोड़ना अपनी मृत्यु को सुरक्षित रखना है। इसके साथ उसने यह भी कहा था कि तुम तो उन नागों के मित्र हो न?...तब उद्धव के साहस ने स्वीकार किया था कि यह भी कोई छिपी हुई बात है!”

“‘तो क्या करते हो उसके साथ?’

“‘जो एक मित्र मित्र के साथ करता है।’ उद्धव ने बड़ा तीखा उत्तर दिया था—‘मैं उनकी हर आज्ञा का पालन

करने के लिए तैयार रहता हूँ।’

“ ‘यदि वे मेरे वध की आज्ञा देंगे, तब भी तुम ऐसा ही करोगे?’

“ ‘यदि आपके वध का आदेश उन्हें देना होता तो वे मथुरा छोड़कर न जाते।’ उद्धव ने और स्पष्ट किया—‘मथुरा को उन्होंने इसलिए नहीं छोड़ा कि वे युद्ध से डरते हैं, वरन् वे युद्ध से घृणा करते हैं। व्यर्थ के मानव रक्तपात के वे पक्षपाती नहीं हैं।’ ”

“तब जरासंध ने क्या कहा?” मेरा कुतूहल एक बार फिर छटपटाया।

“उसने कहा, ‘मैं भी व्यर्थ रक्तपात का विरोधी हूँ; पर तेरे मित्रों के शव का आकांक्षी अवश्य हूँ।’ इसके बाद वह उद्धव को बड़ी आत्मीयता से एकांत में ले गया। उद्धव को मिलाने की उसकी चेष्टा अवश्य है; पर उसका विश्वास बृहद्बल पर ही है।”

□

अब मुझे विश्वास हो गया था कि आज नहीं तो कल, जरासंध का पागलपन मुझे खोजने यहाँ जरूर आएगा। किंतु शीघ्र ही मुझे यह सूचना महाभारगव से मिली कि जरासंध मथुरा को अव्यवस्थित छोड़कर अभी इधर आने की नहीं सोच रहा है। उसने सार्वजनिक घोषणा कर दी है कि मैं मथुरा पर अधिकार नहीं करना चाहता। मैं तो मात्र मथुरा के यादवों की मित्रता चाहता हूँ। मेरे मन में उग्रसेन के प्रति सम्मान है। मैं तो अक्रूर जैसा सलाहकार और बृहद्बल जैसा युवा नायक चाहता हूँ।

पर मथुरा ने उसकी घोषणा का विश्वास नहीं किया; क्योंकि वह उसके क्रोध से अधिक उसकी वासना का शिकार हो चुकी थी। मथुरा की नारियों का खुला अपमान और मथुरा से मित्रता! गले मिलने के पूर्व थूकने जैसा है। अक्रूर ने स्पष्ट कहा, “आपके सलाहकारों ने आपको गर्त की उस गहराई तक ढकेला है, जहाँ मेरे हाथ आपको सँभालने के लिए पहुँच ही नहीं सकते।”

जरासंध का क्रोध भभका—“यदि तुम्हें भी उस गर्त में ढकेल दिया जाए तो?”

“पहले तो मैं गिरूँगा नहीं। हाँ, मेरा शव अवश्य ढकेला जा सकता है।” अक्रूर ने मुसकराते हुए ऐसे सहजभाव से कहा कि जरासंध उनका मुँह देखता रह गया।

अचानक उसने अपनी मुद्रा बदली और एक कूटनीतिक हँसी हँसते हुए बोला, “हम दोनों अपनी-अपनी परिस्थितियों से लाचार हैं। मैं अक्रूर नहीं हो सकता और तुम क्रूर नहीं हो सकते। इसीलिए तो तुम महाराज उग्रसेन के भी प्रिय हो और मेरा जामाता कंस भी तुमपर विश्वास करता था।”

इसके बाद तो उसने अक्रूर की प्रशंसा में पुल बाँध दिए।

सुना है, उसने यह भी सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि महाराज उग्रसेन की गद्दी लेने मैं नहीं आया हूँ। उनकी खाली पड़ी गद्दी के किसी उत्तराधिकारी की तलाश में मैं अवश्य हूँ।

“यदि आपने गद्दी किसीको सौंप दी और महाराज कहीं से अवतीर्ण हो गए तब?” शायद यह प्रश्न छंदक ने ही किया था।

“तब महाराज को गद्दी सौंप दी जाएगी और मेरा बनाया उत्तराधिकारी महाराज का महामात्य हो जाएगा।” इस प्रकार उसने बृहद्बल की महत्वाकांक्षा को अपनी मुट्ठी से निकलने नहीं दिया।

उसने यह भी घोषणा की कि “मुझे तो उन दोनों (कृष्ण और बलराम) का शव चाहिए था, वह नहीं मिला। अब केवल पचास हाथी, सौ रथ और दो मनुष्य के बराबर तौल का सोना अपनी विजय के प्रतीक रूप में लेकर लौट सकता हूँ।”

“आपकी इच्छा की पूर्ति करना तो हमारा कर्तव्य है।” अक्रूर बोले।

जरासंध जोर से हँसा—“तुम सोचते होगे कि मैंने कृष्ण और बलराम के प्राणों का मूल्य कितना कम लगाया है; पर याद रखना, इसके बाद भी मैं उन्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा।”

विदर्भ नरेश रुक्मी और शिशुपाल ने भी उसकी हाँ में हाँ मिलाई।

यह सब दमघोष को अच्छा नहीं लगा। पर वे कुछ बोलने की स्थिति में नहीं थे। भीतर-ही-भीतर वे जरासंध के बढ़ते हुए प्रभुत्व से आशंकित थे। छंदक के ही कथनानुसार, उन्होंने अपना एक विश्वस्त दूत महाराज द्रुपद के पास भेजा था। वे मुख्य रूप से जरासंध के विरुद्ध एक मोरचा बनाना चाहते थे। इसके लिए वे पांचाल, कुरु जैसे शक्तिशाली राज्यों का समर्थन भी जुटा रहे थे।

बाद में मुझे पता चला कि उग्रसेन को छिपाने में छंदक की ही चाल थी। वह चाहता था कि कोई ऐसा धमाका हो कि मथुरा झकझोर उठे, उसकी विद्रोही चेतना को झटका लगे; पर जब मथुरा ठंडी-की-ठंडी रह गई तब उसे बड़ा आघात लगा। इसी हताशा में वह सीधे मेरे यहाँ चला आया।



तीन

अचानक टेकरी पर विपत्ति के बादल मँडराने लगे। ब्राह्म मुहूर्त के पूर्व ही महाभारत का चर आया कि जरासंध टेकरी की ओर गया है। आतंक-सा छा गया। गरुड़केतु दौड़ा हुआ आया।

“मैंने कहा था न कि संपत्ति की दुर्गंध विपत्ति की मक्खियों को खींच ले आती है!”

“क्या कीजिएगा, यह मक्खियों का स्वभाव है और इसी स्वभाव के कारण वे मारी भी जाती हैं।” मैंने हँसते हुए उसकी व्यग्रता को सहलाया। पर उसके नेत्रों से उसके भय की गोद में बैठा उसके भविष्य का अनिश्चय झाँक रहा था।

मैंने शीघ्र ही गुप्तचरों को उत्तर-पूर्व की ओर दौड़ाया। उधर से आनेवाला एक ही मार्ग था। उस मार्ग की दोनों ओर की झाड़ियों में सैनिकों को छिपाकर मैंने अपनी व्यूह रचना की।

इसी बीच एक बात और हुई। उसी मार्ग से आते हुए भी जरासंध का अहं महाभारत के आश्रम में प्रणाम करने तक नहीं गया। विनाशकाले विपरीत बुद्धिः। महर्षि परशुराम के कोप की लपटें जरासंध की ओर लपकने लगीं। शायद इसीलिए जरासंध के आने की सूचना उन्होंने तत्काल मुझे भेजी और स्पष्ट कहा, “अपने कुत्सित चरित्र के कारण जरासंध अब इस धरती पर रहने लायक नहीं रह गया है। मैं स्वयं उसके विरुद्ध परशु उठाता; पर इस समय मैं शास्त्र रचना में लगा हूँ। इसलिए अब धर्म की रक्षा करना तुम्हारा काम है। उसका संस्थापन तुम्हारे व्यक्तित्व का एक अंग है। हमें विश्वास है कि तुम इसमें सफल होगे।”

आचार्य भार्गव के आशीर्वाद से मुझे संतोष मिला। पर मैं गरुड़केतु की व्यग्रता से अधिक व्यग्र हो गया। मैं उसे यह बताने की स्थिति में भी नहीं था कि जरासंध यहाँ क्यों आया है। उसका तो वही पुराना रोना था कि यह आसन्न विपत्ति धरती से निकाली गई संपत्ति का ही परिणाम है।

पर तिरुदत्त इतना परेशान नहीं था। उसकी पत्नी तंगमा और भी बहादुर थी। उसने कहा, “पिताजी व्यग्र अवश्य हैं; पर हम बिल्कुल नहीं घबरा रहे हैं। हमें विश्वास है कि जिसने हमारे पति का रोग जीत लिया है, उसमें हर प्रतिकूल परिस्थिति को पराजित करने की क्षमता है।”

मध्य रात्रि के बाद तंगमा अचानक मेरे शिविर में आई। इस स्थिति में भी फूलों के शृंगार से युक्त उसकी आकर्षकता अग्नि में खिले पुष्प की तरह अद्भुत लगी। मैंने भैया की ओर देखा। वे खरटि भर रहे थे। शायद उन्होंने आज भी वारुणी ले ली थी।

मैं तंगमा को लेकर शिविर से बाहर आने को हुआ। उसने एकदम मेरा हाथ पकड़ लिया—“नहीं, ऐसे नहीं।”

तंगमा ने मेरा हाथ पकड़ा और वह मुझे बाहर निकलने से भी रोक रही है। उसके शृंगार और शरीरयष्टि की ओर मेरी दृष्टि जानी स्वाभाविक थी। मैं सोचने लगा कि आज क्या हो गया है तंगमा को?

तब तक तंगमा स्वयं बोल पड़ी—“मैं इसलिए आपको रोक रही हूँ कि मैं आपको इतनी शीघ्रता से उससे मिलाना नहीं चाहती।”

“किससे?”

“जिसे पकड़कर मैं लाई हूँ।” बड़ी नाटकीयता से उसने कहा, “मैं आपको यह दिखाकर चकित कर देना चाहती हूँ कि जिसे आप अपना मित्र समझते थे, वह भी आपके शत्रु से मिल गया।”

“मैं कुछ समझ नहीं पाया?”

“शत्रुओं का एक चर टोह लेने टेकरी पर चला आया और वह पकड़ा गया।”

“आश्चर्य है कि यहाँ तक आने का मार्ग उसे कैसे पता चला?”

“इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। वह तो आपका मित्र ही रहा है। आपके पीछे छाया की तरह लगा रहा है। यहाँ का राई-रत्ती जानता है।”

अब भी मैं समझ नहीं पाया। मेरी व्यग्रता उतावली हो उठी। “तब कौन है?” कहता हुआ मैं बाहर निकल आया। देखा, सामने उद्धव मुसकरा रहा था।

“अरे तुम! कैसे आए?”

“जरासंध की सेना के साथ आया।” उद्धव बोला। मैंने उसकी चतुराई पर मन-ही-मन उसे सराहा।

“और कितने महारथी हैं उसके साथ?”

“दमघोष, रुक्मी, अनुविंद, दंतवक्र और दारद हैं उसके साथ। और साथ है सेना की एक छोटी सी टुकड़ी।”

“सेना की छोटी सी टुकड़ी!” मैंने आश्चर्य व्यक्त किया।

उद्धव हँस पड़ा—“हुआ न आपको आश्चर्य! पर यह बुद्धिमानी चेदिनरेश की है। वे जरासंध को यह समझाने में सफल हो गए कि यदि आप विशाल सेना लेकर चलेंगे तो हो सकता है, वे दोनों भाई वहाँ से भी भाग जाएँ; जैसे आपका नाम सुनते ही वे दोनों मथुरा से पलायित हो गए थे।”

“दमघोष ने यह अच्छी युक्ति लगाई; पर उसका पुत्र शिशुपाल नहीं आया?”

“न शिशुपाल आया, न बृहद्बल आया और न शाल्व ही। सभी मथुरा की सुरक्षा में हैं।” उद्धव बोला।

“अब मथुरा पर कौन सी विपत्ति आने वाली है?”

“यह तो जरासंध ही बता सकता है।” उद्धव हँसा—“छंदक भी अद्भुत व्यक्ति है। वह धूल में रस्सी बट देता है और फिर वही रस्सी फुफकारने लगती है। आज मथुरा का सिंहासन उन सबको साँप की तरह फुफकारता लगता है। आशंका बनी रहती है कि कहीं महाराज किसी शक्ति के संचय के लिए तो अदृश्य नहीं हो गए हैं।”

“हो सकता है, इसी आशंका से जरासंध ने अपनी सारी सेना मथुरा में छोड़ दी हो; अन्यथा वह दमघोष की बात में आनेवाला नहीं है।”

“हो सकता है।” उद्धव बोला।

अब तक मौन खड़ी तंगमा से न रहा गया। वह बोली, “अब वह यहाँ क्या कर रहा है?”

“टेकरी पर चढ़ने के लिए मार्ग खोज रहा है।” उद्धव ने कहा और मुसकराते हुए बताया—“दमघोष ने यहाँ भी उसके साथ राजनीति की है। उसने समझाया है कि पहले आप मत जाइए। सैनिकों को भेजकर ही हमें टोह लेनी चाहिए। उसने दो सैनिक तो मेरे साथ ही लगा दिए।”

“तो कहाँ हैं वे दोनों?”

“स्वर्ग के मार्ग पर।” उद्धव तंगमा को देखकर मुसकराया—“झाड़ियों में छिपे इनके बहादुर सैनिकों ने उन्हें एक ही बार में ठंडा कर दिया।”

“तब तू कैसे छूट गया?”

“मुझपर भी वार हो ही जाता, तब मैंने आप सबका परिचय दिया और भगवान् की कृपा थी कि उनमें से एक ने मुझे पहचान भी लिया।” उद्धव बोला।

“इसी तरह और भी सैनिकों को आने दीजिए। हमारे वीर प्रहरी उनका भी काम तमाम कर देंगे।” तंगमा ने कहा।

“नहीं-नहीं, तुम अपनी ओर से ऐसा कुछ मत करना।” मैंने कहा, “क्योंकि अभी जरासंध की मृत्यु का समय नहीं

आया है।”

“क्या मृत्यु का भी कोई समय होता है?” उद्धव पुनः मुसकराया। उस अंधकार में भी मुझे उसकी मुसकराहट का अनुभव हुआ।

“एक मरण ही तो ऐसा है, जो निश्चित है, ध्रुव है। जीवन का कुछ भी निश्चित नहीं है। यदि निश्चित है तो उसकी अनिश्चितता—और यही अनिश्चितता जीवन का रस है।” मैं बोलता गया—“यदि जीवन भी निश्चित होता तो हमारी सारी क्रियमाण शक्तियाँ जड़ हो जातीं।” इतना कहने के बाद मैंने एकदम संदर्भ को हलका किया—“क्या यह भी कभी सोचा जा सकता था कि इस समय तंगमाजी यहाँ होंगी? इस समय तिरुदत्त की व्यग्रता क्या सोच रही होगी?” मैं हँस पड़ा।

तंगमा विचलित हुई—“अच्छा तो मैं चलती हूँ।”

और वह चली गई।

“मैं चेष्टा करता हूँ कि टेकरी के ऊपर आने का सेना को मार्ग ही न मिले।” उद्धव ने कहा और चलने को हुआ।

“तब वे क्या करेंगे?”

“घेरा डाले पड़े रहेंगे।”

“पर बहुत दिनों तक यह स्थिति भी हमारे लिए खतरनाक हो जाएगी।” मैंने आकाश की ओर देखा और कुछ सोचते हुए बोला, “पर कोई बात नहीं, हमारा समुद्र ही उन्हें भगा देगा।”

“समुद्र उन्हें भगा देगा!” उद्धव यह रहस्य जान नहीं पाया। मैं मुसकराता रहा और वह चला गया।

उसके जाने के बाद मैं तिरुदत्त के यहाँ पहुँचा। वह मेरे आगमन की सूचना पाते ही घबरा गया। बाहर आया।

मैंने उसकी व्यग्रता को शांत करते हुए कहा, “कहो भाई, तंगमा सकुशल तुम्हारे यहाँ पहुँच तो चुकी है?”

उसने स्वीकृति में सिर हिलाया।

“तब इतने व्यग्र क्यों हो?” उसने अब मेरा व्यंग्य समझा और मेरी हँसी में शामिल हो गया।

“अच्छा यह बताओ, नीचे की सुरंग का खोदा जाना इस पार तक चला आया है न?”

“हाँ; पर आपके कहने पर कुछ छोड़ दिया गया था।”

“यदि खोदना पड़े तो कितना समय लगेगा?”

“इस समय!” वह सोचने लगा—“उत्तर-पूर्व की ओर जब शत्रुओं का घेरा है तब ऐसे में हम टेकरी के पूरे लोगों को लगा भी नहीं सकते।”

“फिर भी कुछ लोगों को तो लगाना ही पड़ेगा।” मैंने कहा, “और अंत तक खोदकर उसके उस द्वार को चट्टानों से ढककर झाड़ों से छिपा देना होगा।”

जब सारी व्यवस्था कर मैं लौट रहा था तब पूर्व के आकाश से लाली झाँकने लगी थी।

□

फिर उद्धव नहीं आया। टेकरी के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र पर घेरा पड़े लगभग चार दिन हो गए। टेकरी का वही मुख्य मार्ग था, उधर से ही आवश्यक सामग्री आती थी। हमारा संबंध भी शेष जगत् से लगभग टूट गया था। फिर भी टेकरी की जीवनचर्या में कोई विशेष अंतर नहीं आया था।

पुरुष अपने युद्धाभ्यास में रत थे। तंगमा के नेतृत्व में महिलाओं की एक टुकड़ी घायलों की सेवा से लेकर आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के लिए भी तैयार थी।

वातावरण विस्फोटक था। फिर भी लोग घबराए हुए नहीं थे। टेकरी के शिखर से जरासंध के सैनिक साफ दिखाई दे रहे थे। इतनी कम सेना भी टेकरीवालों के लिए अशांति का कारण बन सकती थी; पर मेरी वंशी और मुसकराहट

उनकी अशांति रोकने के लिए पर्याप्त थे।

मुझे ठीक याद है। घेरा का आज तीसरा दिन था। संध्या होते-होते गरुड़केतु मेरे पास आया—“यही वह जरासंध है न, जिसके कारण आपको मथुरा छोड़नी पड़ी?”

“तो क्या समझते हो, हम यहाँ से भी छोड़कर भाग जाएँगे?” मैंने कहा और जोर से हँसा—“वस्तुतः मैं मथुरा को छोड़कर भागा था, जरासंध को नहीं।”

वह चुप ही रहा; पर उसका मन कह रहा था—‘आपकी बातों में उलझन अधिक है। जरासंध का भय न होता तो क्या आप मथुरा छोड़ते?’

मैंने अनुभव किया कि मेरा ईश्वरत्व इस आकस्मिक भय से दबने लगा है। मेरे लिए यह शुभ चिह्न नहीं है। पर करता क्या! मैं तो पूर्णरूप से नियति की मुट्ठी में था।

मुझपर ईश्वरत्व लादने और उसकी रक्षा करने का काम उसीका था। मैं तो निष्काम कर्म में विश्वास करता हूँ। गरुड़केतु बोला, “मेरी राय है कि आज रात सब लोग मिलकर उनपर हमला बोल दें। शत्रु को पालने से अच्छा है, जितना शीघ्र हो, उसका काम तमाम करना। रात अँधेरी है और हमें इस अंधकार से भी लाभ उठाना चाहिए।”

“यदि अंधकार का ही प्रश्न है तो कल की रात तो और भी अँधेरी होगी। कल अमावस्या है।”

“इस एक दिन में क्या हो जाएगा?” उसने कहा।

“यही तो देखना है।” मेरी मुसकराहट ने उसपर रहस्य का जाल फेंका। मैंने फिर उसे पश्चिम की ओर लहराते सिंधु की ओर दिखाया। वह कुछ समझ नहीं पाया; पर योजना एक दिन के लिए टल गई।

आज अमावस्या है। मध्याह्न में ही एक सैनिक गुप्त सूचना लेकर आया कि “आज शत्रु टेकरी के नीचे के जंगलों में आग लगा देगा।”

“यह समाचार तुम्हें किसने दिया?”

“आपके मित्र उद्धव ने—और बताया कि यह योजना दमघोष की है।”

“तुमने यह बात किसी और को तो नहीं बताई?”

“केवल अपने क्षत्रप को बताई है।” उसने कहा।

मेरा माथा ठनका। गरुड़केतु तो सुनते ही घबरा गया होगा। उसे ढाढ़स बँधाना जरूरी है। मैंने सैनिक को किसी और से यह बात न बताने की चेतावनी देकर बिदा किया और सीधे गरुड़केतु के पास पहुँचा। वह मेरे यहाँ आ ही रहा था। वह मुझे देखते ही बोला, “अब हम अग्नि की लपटों से घिर जाएँगे।”

“तो इसमें घबराने की क्या बात है?” मैंने मुसकराते हुए उसे सांत्वना दी—“इंद्र के कोप से वृंदावन को बचानेवाला जब आपके साथ है, तब आपको चिंता कैसी?” मेरा अहं पहली बार इतना खुलकर सामने आया था। मैंने उसे समझाते हुए कहा, “बस उस समय और इस समय में अंतर इतना ही है कि उस समय इंद्र का कोप ऊपर से वृंदावन पर बरस रहा था और हम गोवर्धन के नीचे थे, इस समय अग्नि का कोप नीचे से भभकेगा और हम टेकरी के ऊपर होंगे।”

वह कुछ समझ नहीं पाया। वह बोलना चाहता था कि आप हमेशा रहस्य में ही बोलते हैं; पर वह कुछ बोल नहीं पाया।

मैंने उसके कंधों पर हाथ रखा और आगे बढ़ा। बीच-बीच में उसकी पीठ भी थपथपाता जाता था।

“सचमुच आप घबरा नहीं रहे हैं?”

“बिल्कुल नहीं।” मैं पुनः मुसकराया—“यह जानते हुए कि नियति ने कभी मेरे साथ धोखा नहीं किया है, वह आज

भी मेरे अनुकूल रहेगी।”

शाम घिरने को आई। अमावस्या का आकाश काला होने लगा। हम लोग सजग तो पहले से ही थे। अचानक एक प्रहरी दौड़ा हुआ आया। उत्तर-पूर्व के कोने में जहाँ सेना पहले से पड़ी है, मशालें नाच रही हैं। हम लोग दौड़कर टेकरी के ऊपरी शिखर पर पहुँचे, इसके पूर्व ही जंगल जलने लगा था। उठते हुए घुएँ ने वातावरण की कालिमा पर एक के बाद दूसरी पर्त चढ़ानी आरंभ कर दी। आकाश के तारे धूम सागर में डूबने लगे।

मैंने दौड़कर तिरुदत्त को समुद्र की ओर जाने के लिए कहा तथा समझाया कि अपने साथियों के साथ जाओ और जितना शीघ्र हो, नीचे की सुरंग का पूर्वी द्वार खोल दो।

तिरुदत्त ने सागर की ओर देखा। अमावस की रात का सागर उद्वेलित था। लहरें उतावली थीं।

“अब थोड़ी ही देर में ज्वार का सागर सुरंग में घुस जाएगा।” तिरुदत्त बोला।

“इसके पहले ही तुम्हें द्वार खोल देना होगा।”

उसने बताया—“उधर लगाई गई चट्टानें और झाड़ियाँ हटानी पड़ेंगी।”

“चट्टानें अविलंब हटाओ। झाड़ियाँ तो लहरें स्वयं बहा ले जाएँगी। फिर अँधेरे में किसको क्या दिखाई दे रहा है कि कहाँ क्या हो रहा है!”

फिर तिरुदत्त अपने साथियों के साथ तीर की तरह छूटा और टेकरी से दुलकते हुए समुद्र की ओर चला गया।

इधर भैया ने अपना हलायुध उठाया। वह पूरब की ओर कुछ सैनिकों के साथ बढ़ें, इसके पहले ही मैंने उन्हें रोका और उनके कान में अपनी योजना बताई। वे मुसकराने लगे।

पर टेकरी का धैर्य वह आग देखकर छटपटा उठा। आबालवृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष—सभी अपने-अपने पात्रों में पानी लेकर दौड़ने लगे थे। खलबली मच गई थी। अग्नि में स्वाहा होने के पहले वह उसे बुझा देना चाहते थे।

मैंने उन्हें बड़े सहजभाव से रोकते हुए कहा, “यह आप लोग क्या कर रहे हैं?”

“आग ऊपर तक चली आए, इसके पहले ही उसे बुझा देने की चेष्टा हो रही है।” उनका समवेत स्वर था।

“किंतु आप क्यों घबराते हैं? वह ऊपर तक आ ही नहीं सकती। मैंने उसे निगल लेने के लिए सागर से कहा है।”

मेरे स्वर में अनुशासनात्मक गरिमा थी। सबके सब मेरा मुँह देखने लगे।

‘सागर आपकी बात मान जाएगा?’ उनकी चकित मुद्राएँ मुझसे पूछने लगीं।

बिना कुछ उत्तर दिए सहजभाव से मुसकराते हुए मैं वंशी बजाने लगा।

“तुम इस स्थिति में भी वंशी बजा रहे हो?” भैया ने मेरी निश्चितता को झकझोरा।

“मैं तो कालिय के फन पर भी वंशी बजा रहा था।” मैंने कहा।

इतना सुनते ही उन्हें मेरा देवत्व याद आया। वे सभी अब कुछ शांत दिखे। पता चला कि गरुड़केतु शिखर पर चला गया है। मैंने उसकी ओर देखा; पर शिखर अंधकार में ऐसा डूब गया था कि गरुड़केतु का थाह नहीं लगा। फिर भी मुझे विश्वास है कि मेरी वंशी सुनकर उसकी भी व्यग्रता विश्राम लेने लगी होगी।

थोड़ी देर बाद ही ज्वार का सिंधु अपने पूरे उफान पर आया। सुरंग से होता हुआ लहरों का हलकोरा टेकरी के उत्तरी-पूर्वी कोने पर पहुँचा। फिर एक अजीब चीत्कार सुनाई पड़ी। मैं दौड़ा हुआ टेकरी के शिखर की ओर गया। मेरे साथ बहुत से लोग थे।

टेकरी के शिखर से हमें स्पष्ट दिखाई दिया कि पहाड़ी की ढाल पर चढ़ती हुई आग घायल हो गई है। चारों ओर ज्वार का पानी भर गया है। शत्रुओं का समूह हाथों में मशालें उठाए तैरने की कोशिश कर रहा है। मशालें यमुना में किए दीपदान की तरह लहरों पर तैर रही थीं।

उस अँधेरे में भी मैंने अपनी गर्वित मुसकान बगल में खड़े गरुड़केतु पर फेंकी। वह एकदम मेरे चरणों पर गिर पड़ा। वस्तुतः वह मेरे नहीं, मेरे ईश्वरत्व के चरणों पर गिरा था।

इतनी ऊँचाई से भी प्रकाश के धुँधलके में हमें बहुत सारे लोगों के डूबने-उतराने और बहुत सारे लोगों के तैरने का आभास लगा।

“इतने सैनिक होंगे, मैं अनुमान भी नहीं लगा सकता था।” मेरे मुँह से निकला।

“इसमें टेकरी के भी सैनिक शामिल हैं।” गरुड़केतु बोला, “पर आप घबराएँ नहीं, उन्हें तैरने का अच्छा अभ्यास है।”

“ओह, बरसात में डूबे खेतों में बिलों में से निकले चूहों के पीछे दौड़ते हुए ये साँप ही दिखाई दे रहे हैं।” मेरे इस व्यंग्य पर गरुड़केतु खुलकर हँसा और बहुत देर तक हँसता रहा। उस उन्मुक्त वातावरण में उसकी हँसी बहुत देर तक तैरती चली गई।

□

देर में सोई टेकरी का आज ब्राह्म मुहूर्त बड़ा अस्त-व्यस्त था। कुछ लोग अभी भी सो रहे थे। कुछ जागते ही विजयोन्माद में किल्लोलें लेने लगे थे। आज सवेरा बड़ा उत्साहवर्द्धक और उत्फुल्ल था। मेरी पर्णकुटी के सूखे झाड़ों में जैसे फूल उग आए थे। थोड़ी देर बाद मुझे लगा कि कोई भीड़ मेरे द्वार की ओर आ रही है। भैया तो अग्निहोत्र पर बैठे थे। मैं अपनी पूजा समाप्त कर चुका था। भीड़ का कोलाहल मेरी कुटी की ओर बढ़ता चला आ रहा था। मैं बाहर निकला तो मैंने देखा कि टेकरी के लोग जरासंध को बंदी बनाकर ले आ रहे हैं। जाल में आबद्ध वह सिंह मुझे देखकर गुर्राया। जलने के बाद भी रस्सी की ऐंठन नहीं गई थी। मैं मुसकराता रहा।

अब मेरी दृष्टि भीड़ में चुपचाप खड़े फूफाजी (दमघोष) पर गई। मैं तत्क्षण उनके चरण छूने के लिए उनकी ओर लपका; पर उन्होंने हाथ से संकेत कर मुझे रोक दिया। कोई और स्थिति होती तो वे आगे बढ़कर मुझे छाती से लगा लेते, पर इस समय वे जरासंध के सामंत थे। अपने शत्रु के प्रति ऐसी आत्मीयता कैसे दिखाते? सत्ता के समक्ष मनुष्य कितना विवश हो जाता है!

मैंने तुरंत जरासंध के बंधन ढीले करने का आदेश दिया और बोला, “लगता है, साम्राज्य विस्तार की लोलुपता आपको इधर खींच लाई है; पर न यहाँ वैभव है और न सत्ता का चाकचिक्य।...यहाँ तो प्रकृति का उन्मुक्त प्रांगण है और हैं ऋषियों के आश्रम, जिन्होंने कभी किसी राजसत्ता को स्वीकार नहीं किया।”

“मैं राजसत्ता के लिए नहीं, तुम्हारे लिए यहाँ आया हूँ।” इस स्थिति में भी वह बंधे हुए बनैले सुअर की तरह फुत्कार रहा था—“यदि तुम मेरे बंधन खुलवा रहे हो तो मुझे अस्त्र भी दो और मुझसे लड़ने के लिए तैयार हो जाओ।”

इतना सुनते ही मेरे पीछे से एक विशाल असि भैया ने उसकी ओर फेंकी और स्वयं हलायुध लेकर लड़ने के लिए आगे आए—“पहले मेरा सामना कर।”

उनके क्रोध का उबाल अपनी सीमा लाँघ चुका था। ऐसे में भैया को नियंत्रित करना क्रुद्ध सर्प को सहलाने जैसा था। फिर भी हम लोगों ने उन्हें पकड़ा और समझाया—“इनके ललकारने से क्या होता है! इस समय ये हमारे बंदी हैं—और बंदी अवध्य होता है।”

फिर मैंने जरासंध से कहा, “यदि मुझे आपसे लड़ना होता तो मैं मथुरा क्यों छोड़ता?...मैंने वस्तुतः मथुरा को नहीं छोड़ा था, युद्ध छोड़ा था, रण छोड़ा था। इसीलिए तो रणछोड़ हुआ; मथुराछोड़ नहीं हुआ।” इतना कहने के बाद मैं जोर से हँसा, वही चिर परिचित मायावी हँसी। वह मेरा मुँह देखता रह गया।

उसने स्वयं को सँभाला और बड़े ताव से बोला, “तो क्या तुम युद्ध से डरते हो?”

“युद्ध से डरता नहीं हूँ, वरन् घृणा करता हूँ।” मैंने कहा, “व्यर्थ के रक्तपात से घृणा करता हूँ।” मैं बोलता गया —“अभी मैं शिखर से देख रहा था। कई लाशें समुद्र के जल में थपेड़े खा रही थीं। कितने सहजभाव से मृत्यु उन्हें निगल गई। आखिर उनका अपराध क्या था? केवल यही न कि वे आपके सैनिक थे! उनकी जिंदगियाँ मात्र कुछ स्वर्णखंडों पर आपने खरीदी थीं।”

शायद वह चकित था। मेरी वाणी, मेरा व्यक्तित्व और वह मेरी मायावी उन्मुक्त अट्टहास समवेत होकर उसकी मानसिकता पर छा गए थे। वह सकपकाया-सा कुछ क्षणों तक चारों ओर देखता रहा; और चारों ओर के लोग उसे देखते रहे।

एक विचित्र चुप्पी सबके चेहरों पर चिपक गई थी। रात को लगातार गरजनेवाला सिंधु भी इस समय चुप हो गया था।

मौन के संक्षिप्त अंतराल को उसकी घुटन ने विस्तार दे दिया। ऐसा लगा कि हमारे चुप रहने की घड़ियाँ कुछ और सरकने लगीं।

इस मौन को मैंने ही भंग किया और जरासंध से बोला, “आप कुछ समय के लिए हमारा आतिथ्य स्वीकार करें।...ज्वार का पानी तो उतर गया है, पर उत्तर-पूर्व की ओर जल का जमाव अभी भी है। आपको लौटने के लिए शायद मार्ग न मिले।”

“मार्ग मिले या न मिले, मैं स्वयं मार्ग बना लूँगा।” जरासंध का अपमान घायल सर्प की तरह अपना फन पटकता रहा—“आया था तुम्हारा शव लेने और तुम्हारा अतिथि होऊँ! यह नहीं हो सकता, यह नहीं हो सकता!” वह एकदम चल पड़ा और बड़बड़ाता गया—“मैं जब तक तुम्हारा सिर नहीं काट लूँगा, इस टेकरी पर अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।”

उसकी इस स्थिति पर पीछे से भैया बोल पड़े—“पागल है।” एक सामूहिक खिलखिलाहट उसे चिढ़ाते हुए हवा में निकल गई। फिर चारों ओर से आवाजें उठीं—“पागल है, पागल है।”

चलते समय मैंने पुनः दमघोष के चरण स्पर्श किए। इस बार उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया; क्योंकि वे इस समय जरासंध की दृष्टि की परिधि से बाहर थे। भीड़ जरासंध को ‘पागल-पागल’ कहते हुए उसे बहुत दूर तक दौड़ा चुकी थी।

“तुमने सर्प को घायल करके छोड़ दिया है। यह अच्छा नहीं किया।” चलते-चलते दमघोष बोले।

□

यह विजयोल्लास की संध्या थी। सिंधु का उन्माद शांत हो चुका था। डूबते हुए सूर्य की किरणों ने समुद्र में सोना घोल दिया था। सारी टेकरी वारुणी और सोम के नशे में झूम रही थी। अभी से ही स्थान-स्थान पर मशालें जला दी गईं। रात्रि उत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं।

कुछ पहले से ही भैया अदृश्य थे। स्पष्ट था कि वारुणी के प्रभाव में झूमते हुए किसीके साथ कहीं लता प्रकोष्ठ में पड़े होंगे।

गरुड़केतु का सारा परिवार मेरे यहाँ कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए आता रहा। लोगों को यही आश्चर्य था कि इतना बड़ा तूफान भी हमें बिना छुए गुजर गया।

“पर इसमें हमारी भूमिका क्या?” मैंने कहा।

“आपकी सबसे बड़ी भूमिका यही थी कि आपने जरा भी हमें विचलित नहीं होने दिया। स्वयं इतने सहज रहे जैसे कहीं कुछ होने वाला ही नहीं है।” तिरुदत्त ने कहा।

“मुझे तो लगता है कि सागर ने नतमस्तक होकर आपके आदेश का पालन किया।” गरुड़केतु बोला। उसे फिर मेरा

ईश्वरत्व दिखाई दिया। ऐसी स्थिति में मुसकराने के सिवा मेरे पास कुछ और नहीं होता।

थोड़ी देर बाद अपने स्वाभाविक ढंग से मैंने कहा, “इसे आप अवश्य समझ लें कि आधी पराजय के मूल में तो हमारी भूमिका है और इस व्यग्रता का कारण हमारा अज्ञान है। हम देखते रहते हैं कि ज्वार का सागर उद्वेलित है। ऐसे में हम कर क्या सकते हैं? सिवा इसके कि इन दूर खड़े भाटे की प्रतीक्षा करें। क्योंकि न ज्वार हमारे नियंत्रण में है और न भाटा। वैसे ही हमारे जीवन में भी ज्वार-भाटे आते रहते हैं। उन्हें भी वैसे ही निरपेक्ष भाव से झेलना चाहिए।” इतना कहकर मैं पुनः आया; पर उस ब्रह्मचारी को देखकर वह एकदम ठिठक गया। मैंने कहा कि मैं “महाभारव के आश्रम में बुलाया गया हूँ।”

“तब तो अवश्य कोई विशेष बात होगी।” तिरुदत्त बोला और प्रश्नवाची की मुद्रा में ब्रह्मचारी की ओर देखता रहा।

“आपका कोई मित्र उद्धव है?” ब्रह्मचारी धीरे से बोला।

“हाँ।” मैंने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया—“क्या हो गया उसे?” दुश्चिंत से मन घिर गया। आज मध्याह्न से ही मेरा जी घबरा रहा था।

“वह नरक में डाल दिया गया है।” उसने बताया।

मुझे हँसी आ गई—“कोई जीते जी तो स्वर्ग और नरक में नहीं जा सकता।”

“पर वह जीते जी नरक भोग रहा है।” ब्रह्मचारी ने बताया—“एक दुष्ट शासक ने इस धरती पर ही नरक बनाया है।”

मैं यह न पूछ सका कि ऐसा शासक कौन है और न उसने बताया ही; पर मेरे अनुमान के घेरे में जरासंध ही आ रहा था। हो सकता है, यहाँ से अपमानित होने के बाद उसने अपना क्रोध उद्धव पर ही उतारा हो। उद्धव उसके साथ आया भी था। मेरे अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी देखा था। जब ज्वार के जल में जरासंध और अन्य सैनिक डूब रहे थे, तब अपने रथ पर वह दूर खड़ा शंख फूँक रहा था।

“जरासंध का कुछ अता-पता है?” मैंने ब्रह्मचारी से पूछा।

“उसके बारे में मुझे कुछ नहीं मालूम।”

मेरी चिंता और बढ़ी। मैंने कई प्रश्न किए; पर इस प्रश्न को वह अपने गुरुजी पर टालकर अधिकांश मौन ही रहा। तिरुदत्त तो वहाँ से चला गया। उसके सिर पर उत्सव सवार था। पर मेरी विचित्र स्थिति थी। किसीसे कुछ कह नहीं पा रहा था। अपनी व्यग्रता की अग्नि पर मुसकराहट का उत्तरीय ओढ़ाए लोगों को भुलाए रखा।

मैंने खोजकर भैया को स्थिति से अवगत कराया। वारुणी के नशे में लगभग धुत-से वे बोले, “अरे भाई, अभी से क्यों परेशान करते हो? कल जो होगा, देखा जाएगा।”

इधर वह ब्रह्मचारी मेरी पर्णकुटी में चुपचाप लेटा रहा। मैंने उससे उत्सव में सम्मिलित होने के लिए बार-बार कहा; पर उसकी मानसिकता अत्यंत तेजी से चलते हुए उस चक्र की भाँति हो गई थी, जो अपनी गतिशीलता में भी स्थिर दिखाई देता है। सचमुच वह स्थिर ही पड़ा रहा।

मैं वंशी लेकर निकल पड़ा। मुझे उस सामूहिक नृत्य में वंशी बजाना था।

और मैं वंशी बजाने भी लगा। लोग झूमते भी रहे। पर मैं आज वंशी में खो न सका और न वंशी मुझमें खो सकी। मैंने बहुत प्रयत्न किए। बदल-बदलकर कई राग भी बजाए। मैंने कालिय नाग के फन पर भी वंशी बजाई थी; पर आज व्यग्रता के इस फन पर खड़े होकर मेरा वंशी बजाना कठिन हो गया। फिर भी मैं सिर हिलाता और बीच-बीच में मुसकराता रहा, नृत्य के हर ताल पर झूमता रहा।

यों तो मैंने अनेक बार आरोपित जीवन जिया है। अनेक मुखौटे लगाए हैं, क्योंकि भगवान् को तो यह सब करना

ही पड़ता है। यही उसकी लीला है। शास्त्र कहता है कि जीव भी मुखौटे लगाता है—कभी पशु का, कभी पक्षी का, कभी कीट-पतंगों का और कभी मनुष्य का। अंतर यही है कि हमारे मुखौटे चेहरे बदल देते हैं और उनके मुखौटे योनि बदल देते हैं।

किंतु इस समय मेरा मुखौटा लोगों को कैसा लग रहा था, पता नहीं; पर वह मुझे तो गड़ रहा था। बड़ा बोझिल अनुभव कर रहा था। जी में आ रहा था, कितनी जल्दी इसे उतारकर फेंक दूँ; पर ब्राह्म मुहूर्त अभी दूर था, नृत्य चल रहा था।

थोड़ी देर बाद वारुणी और कादंबरी का नशा और घना होने लगा। लोग ढुलकने लगे। जिनमें चेतना थी, वे ढुलकने के लिए हटने-बढ़ने लगे। देखते-देखते सारा उत्सव मादकता की चादर ओढ़कर सो गया; पर मैं खड़ा रहा, मेरे नेत्र खुले रहे। मशालें जलती रहीं। उनकी झिलमिलाहट में सोया हुआ सारा विजयोत्सव उद्धव की आकृति में बदलता दिखाई दिया। मुझे लगा जैसे वह कह रहा हो, 'मैं जीते जी नरक में डाल दिया गया हूँ और तुम विजयोल्लास में मस्त हो।'।

मैं एकदम विचलित हो उठा और दौड़ा हुआ अपनी पर्णकुटी में आया। मैंने देखा, ब्रह्मचारी सो रहा है। भैया अब भी नहीं लौटे थे। मैं भी आस्तरण पर ढुलक गया।

उद्धव की विभिन्न मुद्राएँ मेरी आँखों के सामने आने लगीं। उद्धव तो मेरी छाया था। फिर यह कैसे हो गया कि छाया नरक में हो और मैं उन्मुक्त धरती पर होऊँ?

मैंने बड़ी चेष्टा की, पर मुझे नींद नहीं आ रही थी। मैं किसी तरह तंद्रा में चला गया था, जागने-सोनेवाली स्थिति में।

थोड़ी देर में मैंने अनुभव किया कि भैया भी आए और वहीं ढुलक गए।

धीरे-धीरे समुद्र की ओर से प्रातःकालीन हवा बहने लगी। पूर्वाकाश में ब्राह्म मुहूर्त की सूचना देता शुक्र उदित हुआ। टेकरी पर जागरण का विश्वास रेंगने लगा।

मैं सीधे गरुड़केतु के यहाँ पहुँचा। नींद में डूबी उसकी आँखें अचानक मुझे देखकर सहम-सी गईं। मैंने उसे बताया कि मैं भैया के साथ जा रहा हूँ। वह चकित-सा रह गया। वह यह भी न पूछ सका कि कहाँ, क्यों, आखिर ऐसी कौन सी परिस्थिति आ धमकी। अप्रत्याशितता से अवसन्न वह केवल इतना बोल पाया—“फिर अब कब आगमन होगा?”

“बहता पानी, रमता योगी।...और मेरे जीवन का क्या ठिकाना!”

“बहता पानी तो नहीं लौटता, पर योगी के आने की संभावना रहती है और आप...” वह कुछ और कहे, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—“यह सब तो प्रभु की लीला है।”

मैंने ऐसे ढंग से कहा कि वह किसी और से नहीं, स्वयं प्रभु से बातें कर रहा हो। वह मुझे देखता रह गया।

जब मैं वहाँ से अपनी पर्णकुटी पर लौटा, दिन निकल आया था।

मैंने अपने अस्त्र उठाए। मुरली कमर में खोंसी और भैया तथा उस ब्रह्मचारी के साथ चल पड़ा। ज्यों ही पहाड़ी उतरने लगा था कि सिर पर एक पक्षी ठोर मारकर निकल गया। शायद यह 'भूलिंग' था। मांसाहारी इस पक्षी के मुख से एक प्रकार की आवाज भी निकलती है—‘साहस मत करो।’

उसके ठोर मारते ही ब्रह्मचारी ठिठका।

“इसका ठोर मारना तो अच्छा नहीं, बड़ा अपशकुन होता है।” उसने कहा।

“जीवन तो शकुन और अपशकुन के समुच्चय का ही नाम है, युवक। यदि जीवन है, तो यह सब तो होते ही रहेंगे।

जीवन तो एक उपवन है, मित्र! इस उपवन में जहाँ आकर्षक पुष्प हैं, उनकी सुगंध है, चहचहाते पक्षी हैं, रंग-बिरंगी तितलियाँ हैं, गुनगुनाते भौरे हैं, वहीं इसमें छिपे हुए विषैले नाग भी। यदि हम नागों के संशय में ही रहे तो उपवन के सुख से वंचित रहेंगे, इसलिए जीवन को संशयहीन होकर जियो।”

□

हमने दूर से ही देखा, महाभारगव आश्रम के द्वार पर ही टहल रहे हैं। मध्याह्न का सूर्य माथे पर चमक रहा है। निश्चय ही वह मेरी प्रतीक्षा में व्यग्र हैं। मुझे आता देखकर वह चुपचाप द्वार पर ही खड़े हो गए और मेरे पहुँचते ही बोल पड़े—“मैंने तुम्हें बुलाया है कि तुम्हारा मित्र नरक में पड़ा है।...केवल उसे ही नहीं, बहुत सारे ऋषि-मुनियों को भी उसने नरक में डाल दिया है।”

“कौन है वह?”

“अरे वही, वासुदेव का बच्चा!” इतना कहते-कहते उनका सारा व्यक्तित्व ही क्रोध से उबलने लगा।

मैं कुछ समझ नहीं पाया। मन-ही-मन मुसकराता रहा।

“मेरे पुत्र होने का तो समय ही नहीं है, यह वासुदेव का बच्चा कौन हो गया?”

“उसने अपने बनाए नरक में अनेक महर्षियों को भी डाल दिया है और स्वयं को भगवान् वासुदेव घोषित कर दिया है।” महर्षि अपने आवास की ओर बढ़ते हुए बड़बड़ाए—“जो उसे भगवान् वासुदेव नहीं मानते, उन्हें तुरंत नरक का कष्ट भोगना पड़ता है।”

“आखिर ऐसा कौन है?” मैंने पुनः जिज्ञासा की।

“वही, करवीरपुर का राजा शृंगलव।” महर्षि परशुराम बोले और बलराम भैया की ओर संकेत कर कहा, “तुम तो उसे अपना हितैषी समझते थे; पर वह स्वयं अपना भी हितैषी नहीं है, तुम्हारा क्या होगा! उसके अहंकार ने उसे पागल बना दिया है और आठों याम भगवान् वासुदेव की अहम्मन्यता में जीता है। मैंने तुम्हें बताया था न, कृष्ण, कि अहं के हिमालय पर बैठी हुई राजसत्ता जब ऐसे ही पागलपन में डूब जाती थी, तभी हमारे पूर्वजों को हथियार उठाना पड़ता था।”

मैंने भैया की ओर देखा। भैया करवीरपुर चलने के लिए कभी बहुत जोर दिया करते थे, पर इस समय अचंभित थे।

“फिर उद्धव वहाँ कैसे चला गया?” मेरी मूल जिज्ञासा थी।

“बात यह हुई कि तुम्हारे यहाँ जाने के पहले मगध नरेश जरासंध भी उसके यहाँ गया था। सुना है, शृंगलव ने उसका बड़ा स्वागत-सत्कार किया था। गोमांतक में तुम्हारे होने की उसने पूरी सूचना दी थी। उसे हर प्रकार की सहायता का वचन दिया था और कहा था कि उन दोनों को यमलोक पहुँचाकर आने पर हम आपका अभिनंदन करेंगे।”

महाभारगव बोलते रहे—“यह बात उद्धव को तो मालूम थी ही। जरासंध जब तुम्हारे यहाँ से अपमानित होकर भागा तब उद्धव बड़ा प्रसन्न हुआ। उसकी प्रसन्नता करवीरपुर तक उसे खींच ले गई; क्योंकि वह देखना चाहता था कि शृंगलव मगध नरेश के अभिनंदन की कैसी तैयारी कर रहा है।”

इतना कहने के बाद महर्षि रुके।

“मुझे एक बात और लगती है।” उन्होंने कहा।

“क्या?”

“तुम शृंगलव की सहायता लेना चाहते थे न? उससे तुम मैत्री करना चाहते थे न?...इसकी भी संभावना का पता उद्धव को लगाना था।”

आचार्यजी से तो मैं कुछ नहीं बोला। मेरी चिंतित मुद्रा भैया की ओर मुड़ी। “उसके बारे में तो पिताजी ने बताया था

कि वह हम लोगों का संबंधी है। उन्होंने उद्धव से स्वयं कहा था कि तुम पहले उससे मिल लेना।”

“वह मिलने जाने वाला भी था; पर महर्षि के मना करने पर रुक गया।” भैया बोले। फिर हम दोनों गंभीर सोच में डूब गए।

“क्या सोचने लगे?” महर्षि बोले—“इस बने हुए वासुदेव का वध तुम्हें ही करना है।”

“अवश्य करूँगा।”

इसके बाद हम लोगों ने आश्रम में ही भोजन कर विश्राम किया। कल का रात्रि जागरण, फिर भी आज नींद नहीं आई। अपराह्न के पूर्व ही उठा। भैया को लेकर चल पड़ा। महर्षि के चरण छुए—“आशीर्वाद दीजिए कि आपके आदेश का पालन कर सकूँ।”

“तुझे किसीके आशीर्वाद की आवश्यकता नहीं है। प्रभु की तुझपर कृपा है!” उन्होंने कहा और आश्रम के अंतिम द्वार तक हमें पहुँचाने आए। साथ ही कुछ ऐसे ब्रह्मचारियों को साथ कर दिया, जो शास्त्र से शस्त्र-चालन में अधिक प्रवीण थे तथा परशु आदि अस्त्र भी लिये थे।

भैया इन्हें ले चलने के पक्ष में नहीं थे; पर कैसा पड़े, कैसा न पड़े। मैंने उनकी सेवा महाभारगव के आशीर्वादस्वरूप स्वीकार की और फिर करवीरपुर का मार्ग भी हमारे लिए अनजाना था। कोई मार्गदर्शक तो होना ही चाहिए।

आश्रम से निकलकर जब हम लोग प्रशस्त मार्ग की ओर आए तो अपराह्न का सूर्य पश्चिम की ओर ढुलक चुका था।

ब्रह्मचारियों में से एक ने वन की पगडंडी पकड़ी।

“इस मार्ग से हम चंद्रोदय होते-होते करवीरपुर की सीमा में पहुँच जाएँगे।” उसने बताया और हमने उसका अनुसरण किया।

बस जहाँ हमने यह पहाड़ी पार की कि शृंगलव राज्य की सीमा मिली। इस विश्वास के साथ ऊबड़-खाबड़, झाड़ों से घिरे मार्ग में आगे बढ़ते रहे।

हम चलते चले गए। सूर्य डूब गया। रात हो गई। धीरे-धीरे अँधेरा गाढ़ा होने लगा। अभी चंद्रोदय में लगभग तीन घड़ी शेष है। इस अंधकार में ऐसे मार्ग से सुनसान जंगल में चलना निरापद नहीं। हमारे पास मशाल भी नहीं थी। अब क्या किया जाए? समस्या थी।

तब तक ब्रह्मचारियों में से एक बोला, “अरणी तो मेरे पास है। मैं अग्नि उत्पन्न कर सकता हूँ।”

“तब घबराने की बात नहीं है।” दूसरा ब्रह्मचारी बोला, “अग्नि जलाइए, मैं व्यवस्था करता हूँ।” इसके बाद उसने एक वृक्ष का नाम बताया, जिसे इस समय मैं भूल रहा हूँ। उसके तनों में एक प्रकार का तैलीय पदार्थ होता है। उसकी डालें जला देने के बाद मशाल की तरह बहुत देर तक जलने लगती हैं।

सूखे पत्तों का छोटा ढेर लगाया गया और अरणी से आग पैदा की गई। जब पत्ते जलने लगे तब वह ब्रह्मचारी अपने एक साथी के साथ पगडंडी से हटकर जंगल में गया और उस वृक्ष की बहुत सारी टहनियाँ तोड़ लाया।

इस युक्ति से तो हमें प्रकाश मिला और हम आगे बढ़ते चले गए। चंद्रोदय होते-होते हम एक निर्झर के पास थे। हमने वहीं पहला पड़ाव डाला।

ग्रीष्म की उस रात में निर्झर का झर-झर सन्नाटे में जैसे बज-सा रहा था। धुली हुई-सी स्फटिक शिला पर हम सब लेटे थे। आकाश में ताजा उगा चंद्रमा हमारी थकावट हरने के लिए काफी था।

वन्य पशुओं के बचाव के लिए वहीं पास में आग जला दी गई थी। फिर बातों का सिलसिला जो चला, वह

उछलता-कूदता कहाँ से कहाँ चला आया था, क्या बताऊँ; क्योंकि उसी क्रम में हम सो गए थे।

थकावट ने हमें नींद की ऐसी गहराई में ढकेल दिया था कि उठते-उठते काफी देर हो गई थी। आँखें खुलीं तो सूरज पूरब में उठ गया था। चौकड़ी भरते-भरते मृग हमारे स्वागत में हमें घेरकर खड़े हो गए थे। उनकी हमपर लगी एकटक दृष्टि हमसे कुछ माँग रही थी; पर घास के अतिरिक्त हमारे पास इस समय कुछ नहीं था। हमने थोड़ी सी घास बटोरकर उनके सामने रखी और उन्हें सहलाने लगे।

तब तक एक श्याम मृग उन जंगलों से निकला। उसे देखते ही एक ब्रह्मचारी चिल्लाया—“अरे, इधर श्याम मृग कहाँ से चला आया?”

“जब श्याम ही आ गए हैं तब भला श्याम मृग नहीं आएँगे!” मेरा व्यंग्य वे सहज ब्रह्मचारी समझ नहीं पाए और मैं मुसकराता रहा।

“श्याम मृगों में कस्तूरी होती है।” वह ब्रह्मचारी बोला, “भगवान् यह संपदा श्याम मृगों को ही क्यों देता है?”

“लगता है, श्याम पर भगवान् अधिक प्रसन्न हैं।” दूसरा ब्रह्मचारी बोला और उसने सर-संधान करना आरंभ कर दिया।

“यह क्या कर रहे हो?” मैंने उसे रोका—“केवल इसलिए कि तुम उसकी कस्तूरी चाहते हो। भगवान् इन श्याम मृगों को कस्तूरी देकर एक बड़ी विपत्ति इनके सिर पर डाल देता है।...अच्छा एक बात बताओ, यदि तुम्हारे पास कस्तूरी होती तो क्या श्याम मृग तुम्हारी हत्या कर उसे प्राप्त करने का प्रयास करते?”

“नहीं।”

“तब तुम क्यों कर रहे हो?” मैंने कहा, “तुमसे अच्छे तो ये पशु हैं, जिनके लोभ के हाथ दूसरों तक नहीं फैलते।”

मेरी-उसकी बात चल ही रही थी कि पहाड़ी से एक साधु उतरता दिखाई दिया; जिसकी घनी दाढ़ी-मूँछें और घने बालों में आकृति का बहुत सा हिस्सा छिपा था। दूर से लगा कि वह हाथ उठा-उठाकर कुछ बोलता जा रहा है। ज्यों-ज्यों निकट आता गया, उसकी आवाज स्पष्ट होती गई। वह ‘जय भगवान् वासुदेव, जय भगवान् वासुदेव’ बराबर कहता जा रहा था।

उसका व्यक्तित्व जितना अपरिचित लगा, उसकी आवाज उतनी ही परिचित जान पड़ी। मैं सोचने लगा, यह आवाज किसकी हो सकती है? मैंने इसे कहीं-न-कहीं सुना अवश्य है। मैं सोचता रह गया। उसने निकट आकर कनखियों से मुझे गौर से देखा और अपना नारा दुहराते हुए चुपचाप निकल गया।

“मैंने तो सोचा कि वह यहाँ रुकेगा; क्योंकि वह तुम्हारी जय बोल रहा था।” भैया ने कहा।

“हाँ, उसकी आवाज भी कुछ परिचित लग रही थी।”

“मुझे भी ऐसा ही लग रहा था कि यह कहीं सुनी हुई आवाज है।”

इस चिंतन में थोड़ा और डूबते ही मैंने उसे पा लिया। हो न हो, यह छंदक की आवाज है। अब मैं एकदम उसकी ओर दौड़ा। उसकी गति अब धीमी होती चली और आवाज उसी अनुपात में तेज। अवश्य ही उसका प्रयत्न अपनी आवाज को पहचान दिलाने का था।

मैंने उसके निकट आते ही कहा, “तुम वासुदेव की जय के नारे लगा रहे हो और वासुदेव को छोड़े जा रहे हो।”

“कौन है वासुदेव? कहाँ है वासुदेव?” वह रुकते हुए बोला।

मैंने मुसकराते हुए उसकी दोनों भुजाएँ पकड़ीं। उसकी आँखों में आँखें डालने की चेष्टा की; पर वह धरती की ओर ही देखता रहा और ‘भगवान् वासुदेव की जय’ बोलता रहा।

यह स्थिति बहुत देर तक नहीं चली। मेरी मुसकराहट के साथ वह भी मुसकराने लगा और बोला, “आप स्वयं को

वासुदेव कहते हैं; पर यहाँ भगवान् वासुदेव एक ही हैं, जिनके सभी आराधक हैं। जो उन्हें भगवान् वासुदेव नहीं मानता, उसे नरक में भेज दिया जाता है।”

“तो तुम भी उन्हें भगवान् वासुदेव मानते हो?” मैंने पूछा।

“अवश्य मानता हूँ। यदि न मानता तो अब तक उद्धव की तरह मैं भी नरक में भेज दिया गया होता।” वह बोलता रहा—“इसीलिए तो सोते-जागते, चलते-फिरते मेरी जबान पर बस एक ही आवाज रहती है, जय भगवान् वासुदेव!”

इसी बीच मैंने देखा, भैया के साथ उन ब्रह्मचारियों का समूह भी मेरी ओर आ रहा है। मैंने उन्हें हाथ से संकेत कर वहीं रोक दिया। मेरे इस कार्य का समर्थन छंदक ने भी किया—“अच्छा किया आपने। अभी वह स्थिति नहीं आई है कि यहाँ के लोग मेरी वास्तविकता को जानें।”

“आखिर तुम यहाँ कैसे चले आए?” वह कुछ कहे, इसके पहले ही मैंने पूछा।

“जरासंध की सेना के पीछे-पीछे उद्धव के साथ लगा मैं भी चला आया था।”

“जरासंध तुम्हें पहचानता नहीं?”

“खूब पहचानता है।” उसने मुसकराते हुए कहा, “मथुरा में ऐसा कौन है, जो छंदक को न पहचानता हो!”

“मथुरा को पहचानने के लिए छंदक को पहचानना जरूरी है।”

उसने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। पर इतना ही कहा, “मथुरा अब अपनी पहचान खो चुकी है।”

उसकी वाणी में पीड़ा थी। मैंने उसका मन हलका करने के लिए कहा, “जैसे तुम्हारे व्यक्तित्व ने अपनी पहचान खो दी है।”

“मेरे व्यक्तित्व ने अपनी पहचान खोई नहीं है वरन् मैंने अपने व्यक्तित्व पर एक दूसरा व्यक्तित्व ओढ़ लिया है। एक ऐसा व्यक्तित्व, जिसमें मैं सुरक्षित रह सकूँ।” इसके बाद अचानक वह मौन हो गया। फिर बड़ी गंभीरता से उसने चकित कर देनेवाले तथ्य का उद्घाटन किया। उसने बताया—“मुझे सूचना मिली है कि आपके गुरुभाई भी वहाँ नरक की यातना भोग रहे हैं।”

“मेरे गुरुभाई? कौन गुरुभाई?”

“पुनर्दत्त! आचार्य सांदीपनि के पुत्र।”

अब उसने विस्तृत जानकारी दी—“लगभग तीन दशक पूर्व यादव विजेताओं के साथ एक साधुवर्ग यहाँ आया था। वे साधु विष्णु के भक्त थे। उनका नेतृत्व गालव ऋषि कर रहे थे। शृंगलव के पिता ने उनकी बड़ी आवभगत की थी। उन ऋषि के आशीर्वाद से ही राजा को पुत्र हुआ—यही शृंगलव। शृंगलव जब पंद्रह-सोलह वर्ष का था, तब उसके पिता स्वर्ग सिधारे। यह धर्महंता गद्दी पर बैठा। थोड़े दिन बाद गालवाचार्य का अवसान हो गया। तब शृंगलव ने उनका आश्रम नष्ट कर दिया और उनकी साधनास्थली में, उस संप्रदायवालों के सामने ही, स्वयं को भगवान् वासुदेव घोषित किया।...और फिर शस्त्र-बल से अपनी इस घोषणा को लोगों से स्वीकार कराया। इसके बाद आसपास के कबीलों पर भी अधिकार कर उनसे भी स्वयं को भगवान् घोषित कराया और अपनी आराधना करने को बाध्य किया।”

“पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि पुनर्दत्त इस पचड़े में कैसे पड़ा?” मेरी जिज्ञासा ने जोर मारा।

“यही तो बताने जा रहा था।” छंदक बोला और धीरे-धीरे टहलते हुए उसने बताना आरंभ किया—“इसके बाद उसने साधु-संतों और आचार्यों को भी तंग करना आरंभ किया कि या तो उसे ईश्वर का अवतार भगवान् वासुदेव मानो, उसकी पूजा और आराधना करो या उसके कोपभाजक बनो। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गई।”

“आचार्यों की तेजस्विता को क्या हो गया था?” मैंने बड़े आवेश में पूछा।

“उसे लकवा मार गया था।” छंदक बड़े सहजभाव से बोलता रहा—“जब अधर्म की आँधी चलती है तब धर्म के वृक्ष ही नहीं उखड़ते वरन् एक दावाग्नि जन्म ले लेती है। उसी दावाग्नि को पीने के लिए ही भगवान् वासुदेव को अवतार लेना होता है।” छंदक बड़े व्यंग्य से मुसकराया। उसका ‘भगवान् वासुदेव’ का संबोधन दोनों ओर चोट कर रहा था। मेरे देवत्व की ओर भी और भगवान् वासुदेव के पशुत्व की ओर भी।

मैं कुछ सोचता हुआ मौन ही रह गया। जब छंदक ने अपने व्यंग्य को प्रतिक्रियाशून्य पाया तब पुनः बोलना आरंभ किया—“सभी आचार्यों का तेज कुंठित नहीं हुआ था। उनमें से कुछ ऐसे अवश्य थे, जिन्होंने शृंगलव की अहम्मन्यता के विरोध का संकल्प लिया। उन आचार्यों में प्रमुख थे पुनर्दत्त के नाना रुद्राचार्य। उन्हीं के नेतृत्व में आचार्यों के एक दल ने शृंगलव की इस प्रवृत्ति का घोर विरोध किया। पर उस विरोध में उस पापाग्नि को बुझाने की क्षमता न रही और सभी उस मदांध राजा के बंदी हुए तथा नरक में डाल दिए गए।”

“तो क्या पुनर्दत्त इन दिनों अपने नाना के यहाँ ही था?”

“था नहीं। रुद्राचार्य को बंदी बनाने के समाचार की संक्रामकता पूरे आर्यावर्त में छा गई। समाचार मिलते ही आचार्य सांदीपनि व्यग्र हो उठे। सुनते हैं, उनके मुख से पहला वाक्य यही निकला—‘अरे, शृंगलव तो पागल हो गया है। उसका पागलपन कुछ भी कर सकता है, उनकी पत्नी तो अपने पिता का यह हाल सुनकर संज्ञाशून्य ही हो चुकी थी।’”

“आचार्य सांदीपनि तो इस संदर्भ में हस्तिनापुर की भी सहायता ले सकते थे।” मैंने कहा।

“हाँ, ले तो सकते थे; पर लगता है, वे एकदम घबरा गए थे। उन्होंने शृंगलव को समझा-बुझाकर काम निकाल लेना ही उचित समझा। वे स्वयं करवीरपुर आना चाहते थे; पर उनके पुत्र ने उन्हें मनाकर स्वयं यहाँ आने का निर्णय लिया।”

“और वह भी यहाँ आकर बंदी हो गया।” मैं बोला।

“और वही नहीं, इस समय तक लगभग सत्तर आचार्य नरक में यातना झेल रहे हैं। उनमें से तीन की तो नरक में ही मृत्यु भी हो चुकी है।”

मेरे चिंतन में तूफान आ गया। मैं लगभग विचलित हो चला। मैं छंदक को लेकर शीघ्र ही भैया की ओर लौट पड़ा। जैसा आपको पता होगा, भैया महाभारत के ब्रह्मचारियों के साथ झरने के निकट बैठे थे और मेरी इतनी लंबी हो रही बातों के प्रति उतावले थे।

मैंने पहुँचते ही कहा, “इन्हें आपने पहचाना नहीं।” अब भैया की दृष्टि छंदक की ओर खिंच गई थी। वह मुसकरा रहा था। “यह मेरी छाया है।” मेरे इतना कहते ही भैया पहचान गए। अब मैंने उससे जो कुछ सुना था, सब विस्तार से बताया। उद्धव और पुनर्दत्त के साथ ही उन बंदी ऋषियों की मुक्ति का यत्न वे भी खोजने लगे और शीघ्र ही अपनी प्रकृति के अनुसार निष्कर्ष पर आ गए—“शृंगलव की हत्या के अतिरिक्त अब कोई उपाय नहीं है।”

“यह तो अंतिम उपाय है।” मैंने भैया से मुसकराते हुए कहा, “उद्धव जैसे कुछ और लोग वहाँ पहुँच जाएँ तो उसके नरक की दीवार आपसे आप टूटकर गिर जाएगी। हो सकता है, इसके लिए हम लोगों को भी वहाँ पर चलना पड़े।”

“नहीं, अभी आपके वहाँ चलने का समय नहीं आया।” छंदक बोला।

“पर हम तो वहीं चल रहे हैं। यह तो संयोग है कि मार्ग में आपसे भेंट हो गई।”

“संयोग नहीं, यह तो नियति का आग्रह था; क्योंकि करवीरपुर आपके आगमन को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं

है।”

“तब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ?” मैंने कहा, “यह भी निश्चित समझो कि बिना आज्ञा-पालन किए मैं महाभारगव के आश्रम में नहीं लौट सकता।”

“महाभारगव की क्या आज्ञा है?”

“शृंगलव का वध।”

“तब आप एक कार्य कीजिए। इस पहाड़ी के उस पार एक आश्रम है। आप कुछ समय के लिए वहीं निवास कीजिए और समय की प्रतीक्षा कीजिए।”

“जब तक मैं आश्रम की रीति से परिचित न होऊँ, उसके ऋषि का स्वभाव और प्रकृति न जानूँ, तब तक मैं वहाँ जाना उचित नहीं समझता।” मैंने कहा।

छंदक ने तुरंत बताया—“वहाँ इस समय कोई नहीं है। वह आश्रम रुद्राचार्य का था। अब वे अपने शिष्यों के साथ नरक में पड़े हैं।”

“तब भी वहाँ कोई-न-कोई तो होगा ही। मनुष्य न होंगे, जानवर तो होंगे।”

“जानवर नहीं, वह मेरा निवास स्थान है।” छंदक से इतना सुनते ही हम सभी हँस पड़े।

इसके बाद हमने वह पड़ाव छोड़ दिया और छंदक के साथ हो लिये।

हम पहाड़ी की चढ़ाई चढ़ते जा रहे थे। आगे छंदक था। वह बराबर बोलता जा रहा था—“भगवान् वासुदेव की जय, भगवान् वासुदेव की जय!”

मैंने उसे रोकना चाहा भी; पर उसने कहा, “मैं आपकी जय भी न बोल सकूँ, इतना भी मेरा अधिकार नहीं है!”

मैं चुप हो गया। रास्ते में और भी जो मिलते थे, वे उसके जयकार में अपना भी स्वर मिलाते जाते थे। जिसकी जैसी भावना थी, वह जयकारा उसपर वैसा ही प्रभाव कर रहा था।

□

हम लोग छंदक के साथ इस नए आश्रम में चले आए। अपराह्न ढुलक चुका था, पर संध्या अभी दूर थी। पहाड़ी ढाल पर बसा यह आश्रम रमणीक लगा। इस प्रशस्त आरण्यक आश्रम को प्रकृति ने अपने सौंदर्य से सँवारा था। यहाँ के वृक्षों पर चहचहाते पक्षी और चौकड़ी भरते मृग आश्रम के सुनसान को स्वर दे रहे थे।

हम लोगों ने चारों ओर घूमकर पहले इसे देखने का उपक्रम किया। जिस कक्ष में छंदक रहता था, वह ठीक-ठीक था; पर यज्ञशाला उस सूने पिंजड़े की तरह लगी, जिसका पक्षी उड़ गया हो, जिसके दाने और जल के पात्र औंधे पड़े हुए सन्नाटे को झेल रहे हों। यज्ञकुंड में कब की बुझी राख विगत ताप का इतिहास बन चुकी थी। पशुशाला में दो-चार गायें अवश्य बैधी थीं, जो शायद पहाड़ी पर चरकर अभी लौटी थीं, जिन्हें आते ही छंदक ने बाँधकर उनके सामने चारा फेंक दिया था।

हमारे साथ आए ब्रह्मचारियों ने सफाई में शीघ्रता बरती और आश्रम को हमारे रहने योग्य बनाया।

“एक बात और है।” छंदक बोला।

“क्या?”

“आप सुनिष्ठा तो अचरज में पड़ जाइएगा।” छंदक ने रहस्य को और अधिक गंभीर बनाया।

“अनजान सदैव रहस्यमय होता है, छंदक, क्योंकि वह अभी तक अभोगा है; जो भोगा है, क्या वह कम आश्चर्यजनक रहा है! उन्हीं आश्चर्यों को झेलना तो हमारी नियति बन गई है।”

तब छंदक ने बताया कि “श्वेतकेतु भी वहीं है।”

मैं कुछ समझ नहीं पाया। बोला, “कौन श्वेतकेतु?”

“वही, आपका सहपाठी। सांदीपनि का शिष्य।”

“अरे, तब तो उज्जयिनी का आचार्य सांदीपनि का पूरा आश्रम ही यहाँ चला आया है!” मैंने कहा, “तो वह भी नरक में ही होगा?”

“नहीं, वह स्वर्ग में है। भगवान् वासुदेव की सेवा में है। उसी छत्रच्छाया में तो मैं भी जी रहा हूँ।” छंदक बोला, “उसे उद्धव ने देखा अवश्य था, पर पहचाना नहीं। लगता है, वह पहले से बहुत बदल गया है।”

‘यह सब मैं क्या सुन रहा हूँ?’ मैं सोचने लगा।

“वह अवश्य बदल गया होगा—केवल शारीरिक रूप से ही नहीं, मानसिक रूप से भी बदला होगा। अरे, उद्धव ने उसे न पहचाना न सही, पर उसे तो उद्धव को पहचानना चाहिए था।”

“यही तो आश्चर्य है कि मैं उसकी पहचान कराने की स्थिति में नहीं था। मैंने अपनी भी पहचान उससे नहीं कराई है।”

इस सारे वार्तालाप का निष्कर्ष यह था कि हम सब इसी आश्रम में रहें। आज से छंदक शृंगलव के राजप्रासाद में रहेगा। वह मौका पाकर किसी बहाने श्वेतकेतु को यहाँ ले आएगा और तब आगे का कार्यक्रम बनाया जाएगा।

उसी समय छंदक हमें छोड़कर चला गया।

रात घिर आई थी। एकदम काली रात। चंद्रमा आज पाँच घड़ी बाद ही उदित होने वाला था। सट्याद्री की पहाड़ियाँ अपनी शार्दूल दहाड़ के लिए प्रसिद्ध हैं ही। इस समय जब रह-रहकर ये दहाड़ें ध्वनित-प्रतिध्वनित होती थीं, तब लगता था कि सन्नाटा एक विस्फोट के साथ बिखर रहा है।

बहुत दिनों से सूना रहने के कारण आश्रम भूतों का डेरा हो गया था। केवल दो मशालों की व्यवस्था हो पाई थी। एक को हम लोगों ने अपने कक्ष में और दूसरे को आश्रम के प्रशस्त प्रांगण में जला रखा था। निराशा के सघन अँधेरे में चिंता की तरह जलती यह मशालें किसी भी जंगली जानवर को आतंकित करने के लिए पर्याप्त थीं। पूजन-अर्चन के बाद सोने के पूर्व मैंने ब्रह्मचारियों से कहा, “लगता है, महर्षि की आज्ञा का पालन शीघ्र नहीं हो पाएगा।”

“पर वे तो प्रतीक्षा कर रहे होंगे। उनका आप पर बड़ा विश्वास है।” उन ब्रह्मचारियों में से एक बोला।

“इसीलिए तो मैं कह रहा हूँ कि आपमें से कोई कल जाकर उनसे सारी परिस्थिति बता दे और स्पष्ट कह दे कि आपकी आज्ञा के पालन में कुछ समय लग सकता है।”

□

दो-तीन दिनों के बाद ही हम लेग आश्रम में व्यवस्थित हो गए थे। पूजन-अर्चन और अग्निहोत्र—सबकुछ चलने लगा था। छंदक भी बीच-बीच में आता-जाता रहता था, समाचार देता रहता था।

मैंने एक दिन बड़े सहजभाव से उसकी प्रकृति पर व्यंग्य करते हुए पूछा, “क्यों छंदक, चिनगारियाँ बोलने की तुम्हारी उस प्रकृति का क्या हुआ?”

“कहीं प्रकृति भी बदलती है, वासुदेव!” वह हँसा—“पर यहाँ उसकी आवश्यकता नहीं रही। यहाँ तो करवीरपुर भीतर-ही-भीतर धधक रहा है। शृंगलव एक बंद ज्वालामुखी पर बैठा है; पर आश्चर्य है, अभी तक विस्फोट क्यों नहीं हुआ!”

“लगता है, उसके लिए भी नियति तुम्हारी चिनगारी माँग रही है।”

वह हँसा और मुझसे भी अधिक गंभीर स्वर में बोला, “चिनगारियों से ज्वालामुखी नहीं फूटा करते, कन्हैया। वो तो नियति के नादान शिशु हैं, अपनी मौज में ही फूट पड़ते हैं।”

मैंने अनुभव किया, छंदक मेरी ही भाषा बोल रहा है।

एक दिन वह श्वेतकेतु को किसी बहाने ले आया।

“मैं इन्हींकी कृपा से भगवान् वासुदेव की सेवा में हूँ।” वह बोला।

यह श्वेतकेतु है? मुझे जैसे विश्वास ही न हो। मैं उसे देखता रह गया। वह मुझे एकदम दूसरा ही दिखाई दे रहा था। उसपर सत्ता के भोग की छाया थी। कहाँ वह सांदीपनि के आश्रम का कृशकाय श्वेतकेतु, कहाँ यह राजभवन का पालित सुचिक्कन श्वेतकेतु। कितना अंतर है उन दोनों में! यज्ञ की हवि-सा पवित्र और उसकी ज्वाला-सा तपःपूत यह श्वेतकेतु उस समय कैसा दमकता था! अब सत्ता की गोद में कितना सड़ गया! मैं यही सोच रहा था। उसने स्वयं कहा, “शायद मुझे पहचान नहीं रहे हैं!”

“पहचान तो रहा हूँ; पर यह समझ नहीं पा रहा हूँ कि यज्ञ के धूम में इतनी दुर्गंध कहाँ से आ गई!”

श्वेतकेतु मेरी मानसिकता समझ गया। उसकी दृष्टि जो नीचे गड़ी, सो गड़ी रह गई।

“हमें आश्चर्य है कि आचार्य सांदीपनि की प्रज्ञा तुम्हारे पास आकर इतनी कुंठित कैसे हो गई? तुम्हारा सारा शास्त्र ज्ञान इतनी जल्दी बुझ कैसे गया? वैभव की शरणागत होकर तुम्हारी अस्मिता ने पहचान कैसे खो दी?”

वह अपराधी की तरह सबकुछ सुनता रहा, फिर धीरे से बोला, “मैंने मन से उसे भगवान् स्वीकार नहीं किया है।”

“तुम मन से उसे भगवान् स्वीकार करो या न करो, इससे मुझे क्या लेना-देना है!” मैंने कहा, “किसीको भी भगवान् मान लेने के लिए कोई भी स्वतंत्र है; किंतु जब ऋषियों से तुम्हारा भगवान् अपने रथ खिंचवाता है, उन्हें घोड़ों की तरह जोता जाता है, तब भी तुम्हारा मन कुछ नहीं कहता?”

“मेरा मन तो बहुत कुछ कहता है, पर मैं कुछ कर नहीं पाता।”

“तुम अवश्य कर पाते, यदि तुमने नरक में जाने की परवाह न की होती। सही बात तो यह है कि तुम स्वर्ग छोड़ नहीं पाते। भोगलिप्सा ने अपना पंगु दास बना लिया है तुम्हें।” मैं बोलता जा रहा था—“तुम्हें याद है, श्वेतकेतु, उज्जयिनी में महाकाल का पूजन करने हम दोनों साथ ही जाते थे। हमारी समवेत प्रार्थना होती थी कि हमारी यह मित्रता कभी भी भंग न हो। हम किसी भी स्थिति में एक-दूसरे का साथ न छोड़ें। हम स्वर्ग में भी रहें तो साथ ही, नरक में रहें तो भी साथ ही।”

मुझे ठीक याद है, इतना कहने के बाद मैं कुछ समय के लिए रुका था। उसकी दृष्टि एकदम धरती में गड़ी जा रही थी। उसकी आकृति लज्जा से लाल हो गई थी।

“हमारी क्या आकांक्षाएँ थीं?” मैंने फिर बोलना शुरू किया—“और हम क्या हो गए?...इतने पतित हुए कि महाकाल के समक्ष की गई हमारी प्रतिज्ञाएँ भी हमें याद न रहीं। अब स्थिति यह है कि तुम स्वर्ग में हो, उद्धव नरक में है और मैं उस स्वर्ग तथा नरक के बीच की दीवार को ध्वस्त करने के प्रयत्न में लगा हूँ। क्योंकि जब तक वह दीवार नहीं गिराई जाएगी, शृंगलव का विनाश नहीं होगा, तब तक ऋषियों को मुक्ति नहीं मिलेगी। मुझे तो महाभारगव के आदेश का पालन करना है। महाभारगव के आदेश का ही नहीं, उस विराट् की आज्ञा-पालन के लिए भी मैं वचनबद्ध हूँ, जिसने मुझे धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए इस धरती पर भेजा है।”

आक्रोश के आवेग में मेरी वाणी दैववाणी की तरह गंभीर हो गई थी। छंदक तो मेरे पैरों पर गिर पड़ा। उसे मैं साक्षात् भगवान् दिखाई देने लगा था। भैया की दृष्टि में मैं पहली बार कृष्ण कन्हैया से कुछ अधिक लगा। ब्रह्मचारी तो शरणागत थे ही। उनकी आस्था में थोड़ी और वृद्धि हुई।

अब तक मेरे सामने खड़ा श्वेतकेतु मेरे चरणों के निकट बैठ गया था। उसका अहं पराभूत हो चुका था और आँखों से पश्चात्ताप टपकने लगा था।

“आखिर वह कौन सी परिस्थिति थी कि तुम वैभव के इस जंगल में फँसे?” मैंने अंत में पूछ ही दिया।

अब उसने विस्तार से जो कुछ बताया, वह एक तरुण मन में अँगड़ाई लेते यौवन को बंदी बना लेने के लिए पर्याप्त था।

उसने बताया—“बात उन्हीं दिनों की है, जब आप अपनी गुरुदक्षिणा के लिए पुनर्दत्त की खोज में उद्धव के साथ पुण्यजन जहाज से जा चुके थे। गुरु आश्रम में मैं अकेला रह गया था। नित्य की भाँति मैं प्रातः-सायं महाकाल के दर्शन के लिए जाता रहा। एक दिन मैं कुछ जल्दी चला गया था। सूर्य अभी उदित नहीं हुआ था, पर रात की कालिमा पर सफेदी पुत रही थी। मैंने उसी धुँधलके में देखा, महाकाल तीर्थ पर एक सुंदरी स्नान कर रही थी। गौरवर्ण, किसी देवांगना की तरह सुगठित शरीरयष्टि। श्वेत भीगे रेशमी वस्त्र से चिपकी हुई वह स्फटिक की मूर्ति की तरह मुझे बड़ी आकर्षक लगी। मैं एकटक उसे देखता रह गया। वह चंचल मीनाक्षी मुझे निहारती रही। मुझे लगा, उसके अधरों से छूटी मुसकान उसके व्यक्तित्व पर पसर रही है। उसकी आँखें मुसकरा रही हैं। उसकी आकृति मुसकरा रही है। उसके भीगे-भीगे श्वेत वस्त्र के नीचे से उसके तन के खाले-ऊँचे स्थलों का पूर्ण आभास दिलानेवाली उसकी सारी तन-रचना मुसकरा रही है।

“आप विश्वास करें, उसने मुझे बुलाया नहीं था, फिर भी मैं उसके पास खिंचता चला गया। अब मेरे लिए उस युवती का आकर्षण महाकाल की भक्ति पर छा चुका था। मैं जीवन में पहली बार अनुभव कर रहा था कि महाकाल से भी कोई अधिक शक्तिशाली है तो वह रति है, उसकी अनुरक्ति है।

“‘आप आ गए! मैं अनुभव कर रही थी कि आप अवश्य आएँगे।’ इतना कहते हुए वह हँसी। मुझे लगा, मेरे स्वप्नों की प्रतिमूर्ति काया मेरे सामने खिलखिला रही है। वह खिलखिलाहट इतनी ऐंद्रजालिक थी कि मैं उसमें फँसता चला गया, फँसता चला गया, फँसता चला गया।”

श्वेतकेतु की भावुकता उस समय इतनी प्रगल्भ हो चुकी थी कि शब्दशः उसे अंकित करना मेरे लिए संभव नहीं। फिर भी अपनी स्मृति पर बहुत जोर डालकर उसकी भावुकता के निकट पहुँचा जा सकता है। उस समय भी वह आपे में नहीं लगता था। आवेग में बोलता चला जा रहा था और मैंने उसे हर बात कह जाने दिया। जबकि भैया मेरी बगल में बैठे हुए टोका-टोकी कर रहे थे; पर वह अपनी भावना में बहता चला जा रहा था।

“अब जब तक वह रहती, जल-किल्लोल करती, मैं उसे एकटक देखा करता। वाणी से कुछ नहीं बोलती; पर उसके तन का रोम-रोम बोला करता।

“एक दीवानगी, कैसे कहूँ? एक प्रकार का प्रेम का पागलपन मुझपर सवार होता जा रहा था और मैं एक भौरै-सा उस फूल के चारों ओर मँडरा रहा था।”

“भौरा तो मँडराते हुए फूल को चूमता भी है!” भैया ने व्यंग्य में ही ऐसा कहा था।

“पर मैं ऐसा नहीं कर सका।” उसने बताया—“उसकी सद्यःस्नात देह पर एक बार मेरा हाथ जाने कैसे खिंच गया था। वह एकदम पारे-सी छटक गई थी और मेरा हाथ उस रेशमी देह पर से फिसलकर रह गया।”

“तुमने उसका नाम नहीं पूछा?”

“अभी तक तो नहीं पूछा था; पर एक दिन उसने स्वयं मेरा हाथ पकड़ लिया और मुसकराते हुए बोली, ‘मैंने तुम्हारा हाथ पकड़ा, तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है?’

“‘नहीं।’

“‘पर तुम मेरा हाथ मत पकड़ना।’

“‘क्यों?’

“‘मुझे गहरी आपत्ति है।’ वह मुसकराई और ऐसी इठलाई जैसे कोई नागिन डसकर उलट जाए। तब तुझे लगा कि

यह कोई अप्सरा है, जो महाकाल के दर्शन के पूर्व जल-विहार करती है।...और तब मैंने उसका नाम पूछा था। उसने बताया—‘शैव्या।’

“ ‘पर मैं हरिश्चंद्र नहीं।’ यह कहकर मैंने अपनी दुर्बलता उजागर की थी; पर वह शायद समझ नहीं पाई। उसने पूछा, ‘फिर तुम्हारा नाम क्या है?’

“ ‘श्वेतकेतु।’

“ ‘सत्यकेतु।’

“ ‘नहीं, श्वेतकेतु।’

“ ‘श्वेतकेतु।’ वह पुनः खिलखिलाई—‘सत्य भी श्वेत ही होता है। मैं क्यों नहीं तुम्हारे श्वेत को सत्य का पर्याय मान लूँ! तब सत्यकेतु और सत्य हरिश्चंद्र में मात्र एक शब्द का अंतर रह जाएगा और यह अंतर मेरे अनुकूल होगा।’

“ ‘मैं समझ नहीं पाया कि वह क्या कहना चाहती है।’

“ उज्जयिनी में वह कहाँ रहती थी? ” मैंने पूछा, “ क्या आचार्यजी को तुम्हारे इस प्रेम-प्रपंच का पता नहीं चला? ”

“ यह तो नहीं कह सकता, पर इतना उन्होंने अवश्य एक दिन कहा था कि ‘तुम इधर बहुधा गायब रहते हो और जब आते हो तो खोए-खोए से। लगता है, आश्रम में तुम्हारा शरीर आता है, मन कहीं और रह जाता है।’ ”

“ तब तुमने क्या कहा? ”

“ मैं मौन रह जाता था। ” श्वेतकेतु कहता गया—“ एक दिन उन्हें कुछ आभास शायद लग गया था। तभी तो उन्होंने कहा कि पर-स्त्री के साथ एकांत में नहीं रहना चाहिए। ”

“ तब भी तुम मौन रह गए होगे? ” मैं बोला।

“ लगा जैसे मैंने कुछ सुना ही नहीं। उस समय मेरी मानसिकता बड़ी विचित्र थी। जब प्रकृतिस्थ होने लगा तब आचार्यजी की बात मुझे याद आने लगी। ”

“ फिर भी उनकी बात का तुमपर प्रभाव नहीं पड़ा? ”

“ कैसे पड़ता? मेरा तन आश्रम में अवश्य आता-जाता था, पर मेरा मन शैव्या के काम-कटाक्ष में बंदी था। ” उसने अत्यंत लाचार होकर कहा, “ मेरी विवशता आप नहीं समझ सकते, कन्हैया। ”

मैं मन-ही-मन हँसा। मेरा मस्तिष्क अतीत के पृष्ठ उलटने लगा—“ लेकिन जब मैं पुनर्दत्त को लेकर आश्रम में लौटा था, तब तो तुम वहीं थे। याद है, मुझसे आश्रम के द्वार पर ही मिले थे। ”

“ याद है। उन दिनों मैं उसके जादू में फँस चुका था। ”

“ पर तुमने इसकी चर्चा कभी नहीं की? ”

वह मौन ही रहा।

“ फिर तुमने उसके साथ कब उज्जयिनी छोड़ी? ”

“ आप लोगों के आश्रम छोड़ देने के बाद। ”

मुझे यह अच्छा नहीं लगा कि मेरा अंतरंग मित्र होकर भी इतनी बात छिपा गया। इसलिए मेरी वाणी में थोड़ी रुक्षता आई—“ मैं तुम्हारी विवशता समझता हूँ, अच्छी तरह समझता हूँ, श्वेतकेतु! काम-सागर में तुमने छलाँग तो लगा दी, पर तुम तैरना नहीं जानते। इसीलिए तुम डूबते गए, डूबते गए; पर उतरा न सके। वासना की लहरें तुम्हें थपेड़े पर थपेड़े मारती रहीं, पर तुम उससे खेल न सके। वासना के वश में होना वासना का रोगी होना है और वासना से खेलना वासना का भोगी होना है। तुम रोगी हो गए थे, श्वेतकेतु। तुम्हें ओषधि चाहिए थी, तुम्हें वैद्य

चाहिए था, तुम्हें आचार्य का निर्देश चाहिए था। तुम इन सबसे दूर हो गए थे और तुम्हारा रोग असाध्य हो गया था। मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे जैसा मेधावी और प्रतिभासंपन्न ब्रह्मचारी इतनी सहजता से स्थूलित कैसे हो गया! तुम्हारी बुद्धि मन का नियंत्रण न कर सकी, वरन् मन ने ही बुद्धि को धर दबाया।”

मैं उपदेश झाड़े जा रहा था। मुझे आज अनुभव होता है, ज्यों-ज्यों लोगों की दृष्टि में मेरा ईश्वरत्व स्थापित होता गया त्यों-त्यों मेरे स्वभाव में लोगों को उपदेश देने की प्रवृत्ति बढ़ती गई। आप इसे मेरे बढ़ते हुए अंतर्मुखी अहं का बहिर्मुखी प्रदर्शन भी कह सकते हैं; पर जब मैं आत्मविश्लेषण करता हूँ तब मैं अपनी इस प्रवृत्ति का विकास देखता हूँ और उपदेश देने की अपनी इस प्रवृत्ति का चरम उत्कर्ष कुरुक्षेत्र में खड़े मोहग्रस्त अर्जुन के समक्ष पाता हूँ।

तो इस समय भी मैंने श्वेतकेतु को लंबा उपदेश दे दिया और वह भी मुझे ध्यान से सुनता हुआ एक अपराधी की तरह सबकुछ स्वीकार करता रहा।

फिर संदर्भ बदला। उसने बताया—“एक दिन शैव्या मुझे अपने द्राक्षामंडप में ले गई।”

“द्राक्षामंडप! यह क्या है?”

“उज्जयिनी में ही करवीरपुर के शासकों ने एक द्राक्षामंडप बनवाया था। शैव्या वहीं रहती थी।”

“हम लोगों के समय में तो शायद वहाँ नहीं था।”

“नहीं, था। आपने कदाचित् ध्यान नहीं दिया होगा।”

मैंने उसकी बात स्वीकार की और कथा को आगे बढ़ाया।

उसने आगे बताया—“वहाँ लाकर शैव्या ने पहली बार मुझसे कहा, ‘तुम्हारे व्यक्तित्व में एक अद्भुत आकर्षण है। मैंने अपने जीवन में अभी तक इतना सुंदर युवक नहीं देखा है।’ फिर द्राक्षाकुंज में मुझे बिठाकर अपना स्नेहिल स्पर्श देती रही; पर जब मैं उसे अपनी बाँहों में लेने की चेष्टा करता, वह एकदम छिटक जाती थी। कहती थी कि इस शरीर पर तुम्हारा अधिकार नहीं है।”

मैंने कहा, “तुमने पूछा नहीं कि तब किसका है?”

“उसने बताया कि भगवान् वासुदेव का।” श्वेतकेतु बोला, “आप विश्वास करें, मैंने उसके इतना कहने पर यही समझा था कि वह आप पर आकृष्ट है। शायद इसीलिए मेरी-उसकी निकटता और बढ़ गई।”

मुझे फिर हँसी आ गई—“इसका तात्पर्य है कि तुम्हारे पतन में कुछ दोष मेरा भी है।”

“नहीं-नहीं, बिल्कुल नहीं।” श्वेतकेतु बोला, “मेरे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं था। मैं तो मात्र इतना कहना चाहता था कि मैं भ्रम में पड़ा। बुद्धि भ्रम से ग्रसित हो गई और मन उस वासनयिका के मायाजाल से।...शैव्या ने मुझसे कहा था कि मेरा शरीर छूने के लिए तुम्हें पहले उस योग्य बनना पड़ेगा।

“यह बात उसने उस समय कही थी, जब मैं उसके साथ चलने के लिए जलयान पर चढ़ चुका था।” श्वेतकेतु ने बताया—“इस वाक्य ने मुझे अत्यधिक झकझोर दिया था। मैं सोचने लगा, जिसके लिए मैंने आश्रम छोड़ा, गुरु की छाया छोड़ी, ब्रह्मचर्य की मर्यादाएँ तोड़ीं, अपने विवेक और बुद्धि का अनुशासन तोड़ा, एक मायावी के काम-कटाक्ष में फँसा, फिर भी मैं उसके स्पर्श का अधिकारी न हुआ; जिसने मुझे प्रेमपाश में जकड़ा, उसके भी छूने की योग्यता से वंचित रहा!

“ऐसे में शैव्या ने मेरे दोनों कंधों को झकझोरा। पूछा, ‘तुम क्या सोच रहे हो?’ फिर उसने स्वयं उत्तर दिया—‘यही न कि तुम्हारी तपस्या नष्ट हो गई, तुम्हारा सारा ज्ञान मेरी मुसकान में बंदी हो गया, तुम्हारे तपःपूत आश्रमी जीवन में वासना की आँधी आ गई; पर यह सब सोचने से क्या होगा!...अब तुम धरती छोड़ चुके हो। जलयान आगे बढ़ चुका है। अब पुरानी बातें याद करने से कोई लाभ नहीं। नए जीवन को आरंभ करने के पहले पुराना सबकुछ भूलना

होगा और मुझे प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करनी होगी।’

“ ‘वह कैसे?’

“ ‘भगवान् वासुदेव की सेवा-पूजा से।’ शैव्या ने कहा। मैं इस समय भी तुम्हारे ही भ्रम में था, कन्हैया! विश्वास करो, मैं तुम्हारे ही भ्रम में था।’ इतना कहते-कहते वह मेरे चरणों पर ढुलक गया। श्वेतकेतु इस स्थिति में भी बोलता रहा—“शैव्या ने मुझसे पूछा था—‘तुम भगवान् वासुदेव की सेवा-पूजा को स्वीकार करोगे न?’ इतना कहते-कहते उसकी आँखें मेरी आँखों में डूबती हुई एकदम मेरे हृदय में उतर गई।’ वह बोलता रहा—“उस समय मेरे हृदय में केवल तुम खड़े थे, केवल तुम।...और मैंने तुम्हारे ही सेवा-पूजन की स्वीकृति दी थी। मुझे क्या पता था कि वह दुष्ट शृंगलव स्वयं को ही भगवान् वासुदेव कहता है!”

“तुम अब भी शृंगलव को भगवान् वासुदेव कहते हुए भी मुझे ही देखते हो? उसका नमन करते हुए भी मेरा ही नमन करते हो?”

श्वेतकेतु ने बड़े विश्वास के साथ स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

“तब तुम स्खलित होकर भी स्खलित नहीं हुए। तुम उस घृत के समान हो, जो दीप में ही गिरता है।” मैंने उसकी भूल को भी भूल नहीं रहने दिया तथा उसे और अधिक गिरने से सँभाला। जहाँ अपराध दूसरों का अहित करता है वहाँ अपराधबोध स्वयं का होता है। इसलिए मैं उसे अपराधबोध से मुक्त करना चाहता था।

मुझे इसमें सफलता भी मिली। मैंने बहुत सी बातें कहीं। उसे समझाया और अंत में पूछा, “क्या सचमुच तुमने उद्धव को नहीं पहचाना?”

“यदि पहचानता तो मैं अवश्य बोलता।” बहुत सोचकर श्वेतकेतु ने कहा, “मैंने उद्धव जैसा एक व्यक्ति एक दिन दरबार में अवश्य देखा था; पर कल्पना ही नहीं थी कि वह उद्धव होगा। अब मैं उससे अवश्य मिलूँगा।”

“वह तो नरक में डाल दिया गया है।” अब तक चुप खड़ा छंदक बोल पड़ा।

“तो मैं नरक में जाऊँगा।” श्वेतकेतु बोला, “वहाँ प्रतिदिन कोई-न-कोई अधिकारी तो जाता ही रहता है। उसका मुख्य काम होता है नरक में पड़े लोगों से यह पूछना कि वे अब शृंगलव को भगवान् वासुदेव स्वीकार करते हैं या नहीं। उनमें जो स्वीकार करते हैं, उन्हें छोड़ दिया जाता है।”

“तो क्या तुम इसी तरह उद्धव को नरक से मुक्ति दिलाओगे?” मैंने कहा, “उद्धव इसे कभी स्वीकार नहीं करेगा। तुमने तो भ्रमवश स्वीकार भी कर लिया, पर उद्धव के मन में ऐसा भ्रम कभी पैदा ही नहीं हो सकता; क्योंकि उद्धव के मन में तो सदा मैं रहता हूँ। जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ कोई भ्रम नहीं रहता।”

मैंने अनुभव किया कि श्वेतकेतु की बदली हुई मनःस्थिति को अचानक आघात लगा। उसने बस इतना कहा, “मैं उनसे कुछ स्वीकार कराने नहीं जाऊँगा। पर स्वीकार कराने के बहाने उनसे मिलूँगा।” बातों के क्रम में ही उसने धीरे से बताया—“राजप्रासाद के नरक से एक गुप्त मार्ग धरती के भीतर-ही-भीतर जंगल की ओर निकलता है; पर उसे बहुत कम लोग जानते हैं।”

मैंने एकदम संदर्भ बदला—“अच्छा, एक बात बताओ। यदि मैं तुम्हारे भगवान् से मिलूँ और उससे कहूँ कि मैं आपको भगवान् वासुदेव मानता हूँ। आपकी अभ्यर्थना करता हूँ, तो क्या वह नरक में पड़े ऋषियों को मुक्त कर देगा?”

“नहीं, कदापि नहीं।” श्वेतकेतु मेरे निर्णय से काँप उठा—“आपको उसकी कृपा तो मिल जाएगी, पर ऋषियों को मुक्ति नहीं मिलेगी। ऋषियों को मुक्ति तो तब मिलेगी जब वे स्वयं उसे भगवान् स्वीकार करेंगे।”

“तब इस भगवान् से मुक्ति तो भगवान् ही दिलाए।” मैंने व्यंग्य में यह बात कहीं थी। श्वेतकेतु मेरा मुख देखता रह

गया।

□

श्वेतकेतु के चले जाने के बाद से हमारे सामने एक ही लक्ष्य रह गया था, उद्धव के साथ ही ऋषियों की मुक्ति। इसके लिए मैंने बराबर छंदक के माध्यम से शृंगलव के राजदरबार से संबंध बनाए रखा। दूसरी ओर मैंने दो ब्रह्मचारियों को महाभारगव के आश्रम में भी भेजा। उनसे मुझे दो काम लेने थे—एक तो महर्षि को यहाँ की पूरी गतिविधि का विस्तृत विवरण देना और दूसरे हम लोगों का रथ आश्रम में ही था, उसे किसी तरह ले आना। एक और काम के लिए मैंने दो सैनिकों को गोमांतक की टेकरी पर भेजा और गरुड़केतु को कहलाया कि कुछ अपने सैनिक भी हमारे आश्रम में भेज दे।

मुझे कुछ ऐसा लग रहा था कि शृंगलव का वध अनिवार्य है। भैया भी इसी विचार के थे। वे इसी समय चलकर यह पवित्र कार्य संपन्न करने के लिए उद्यत थे। पर मेरी दृष्टि केवल शृंगलव पर ही नहीं वरन् संपूर्ण राज्य पर थी। मैं प्रजा की मनःस्थिति पर भी आँखें लगाए था। समय की प्रतीक्षा करते हुए अवसर की खोज में था; क्योंकि अवसर समय के तूणीर का ऐसा बाण है, जो कभी निष्फल नहीं जाता और आधी समस्या स्वयं हल कर देता है। आज की रात छंदक मेरे आश्रम में ही रहा। मैंने उससे कहा, “तुमने मेरा काम अभी तक नहीं किया, पर मैंने तुम्हारा काम बहुत पहले से ही आरंभ कर दिया।”

“मेरा काम? कौन सा काम?” उसने पूछा।

“वही, चिनगारियाँ बोलने का।” मैंने कहा, “श्वेतकेतु के मन में मैंने चिनगारियाँ बो दी हैं।”

“इससे तो वह खुद जल रहा होगा। शृंगलव का क्या होगा?”

“कुछ भी हो, पर आग तो प्रासाद के भीतर जलनी आरंभ हो जाएगी।”

“हाँ, इतना अवश्य हुआ है कि शैव्या से उसकी दूरी बढ़ी है।” छंदक ने बताया—“सुना है, कल संध्या शृंगलव के पूजन-अर्चन के बाद अंतःपुर में ही विवाद छिड़ गया था। वहाँ शैव्या और श्वेतकेतु के अतिरिक्त महारानी पद्मावती भी थी। श्वेतकेतु का आक्षेप था कि ‘तुम्हारे रूपजाल ने मुझे धोखा दिया है। मैंने आश्रम के पवित्र जीवन को तिलांजलि दी, अपने बंधु-बंधव छोड़े; केवल इसलिए कि तुम मुझसे विवाह करोगी। तुमने ऐसा आश्वासन भी दिया था।’

“‘मैंने ऐसा कोई आश्वासन नहीं दिया था।’ शैव्या ने कहा, ‘मैं स्वतंत्र थोड़े ही हूँ। मैं अपने भाई भगवान् वासुदेव की अनुमति के बिना कुछ नहीं कर सकती।’

“‘प्रेमाचार कर सकती थी!’ श्वेतकेतु बोला।

“‘वह तो हर युवक और युवती का जन्मसिद्ध अधिकार है और इसी अधिकार के कारण हम दोनों एक-दूसरे के निकट भी आए।’

“‘जब निकट आ ही गए हो तब विवाह के सूत्र में बँध जाने में क्या आपत्ति है?’ पद्मावती के इतना कहते ही शैव्या ने उसे ऐसा तरेरा कि जैसे उसे कच्चा चबा जाएगी।”

छंदक के कथनानुसार, करवीरपुर के अनर्थ के मूल में दो ही हैं। एक शृंगलव और दूसरी उसकी बहन शैव्या। एक की अनीति का आधार उसकी राजसत्ता है तो दूसरे की उसकी सौंदर्यगर्विता।

“सौंदर्य कभी अनर्थमूलक नहीं होता, उसकी अनुभूति अनर्थ करती है। यह उक्ति भोग्य और भोक्ता दोनों के लिए समान रूप से सही है।” मैं इतना कहकर चुप हो गया; क्योंकि इस समय मेरे लिए छंदक को सुनना अधिक उपयुक्त था। “फिर तो पद्मावती की कुछ न चलती होगी?” मैंने उसे विशेष रूप से कुरेदा।

“बिल्कुल नहीं। पद्मावती शृंगलव की महारानी मात्र है। शासन में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं है। सब शैव्या करती

है। महाराज का दर्शन, पूजन, उनका स्तुति-पाठ, आराधना आदि सभी उसीके जिम्मे हैं। यही समझिए, उसे भगवान् स्थापित करने और उसके गौरव की रक्षा करने में मुख्य हाथ उसीका है। वह तथाकथित नरक की एकमात्र अधिष्ठात्री भी है।”

“तब तो श्वेतकेतु के लिए उद्धव की मुक्ति सरल होगी।” मैंने कहा।

“सरल तो नहीं है, पर उसने युक्ति लगा ली है।” छंदक ने बताया—“इसके लिए उसने बड़ा जोखिम भरा काम किया। संयोग था कि प्रहरी प्रमुख की आकृति और कद लगभग उद्धव से मिलता था। श्वेतकेतु ने उसकी हत्या करारकर उसके सारे आभूषण, पहनावा और अलंकरण उद्धव को पहना दिए। अब उद्धव प्रासाद में प्रहरी प्रमुख बना घूमता है।

“उसे किसीने भी नहीं पहचाना?” मैंने शंका की।

“अभी तक तो वह पहचाना नहीं जा सका है।...पर यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चलेगी; क्योंकि शृंगलव के परिवार के अन्य सदस्यों ने कहीं देख लिया तो अनर्थ हो सकता है।...हो सकता है, उसमें से कोई उसके पहचान का निकल आए।”

“क्या राजप्रासाद में शृंगलव का पूरा परिवार नहीं है?”

“नहीं, उसकी पत्नी और बहन को छोड़कर परिवार के अन्य सदस्यों तथा पारिवारिक अतिथियों के लिए भी प्रासाद-प्रवेश निषिद्ध है।”

“शायद इससे उसके भगवानत्व पर आँच आती।”

“तब वे लोग कहाँ रहते हैं?”

“प्रासाद से दूर एक दूसरे महल में।” छंदक ने बताया।

“अद्भुत है करवीरपुर की माया।” मेरे मुख से निकला और उसी समय मैंने अनुभव किया कि अब स्थिति लगभग अनुकूल बन चुकी है। कल प्रातः ही हमें राजप्रासाद में प्रवेश करना चाहिए।

□

ब्राह्म मुहूर्त के बाद मेरा रथ भी आ गया और गरुड़केतु के भेजे सैनिक भी। मैंने भी अपने आयुध सँभाले। भैया तो पहले से ही तैयार थे। सूर्य की पहली किरण को प्रणाम कर हम लोग चल पड़े। करवीरपुर के नगरवासियों ने हमें बड़े कुतूहल से देखा। राजप्रासाद के सिंहद्वार पर जाकर मैंने भीतर अपने आगमन की सूचना भिजवाई। मैंने स्पष्ट कहा, “मथुरा से आया वसुदेव का यह पुत्र महाराज को भगवान् वासुदेव स्वीकार करने के लिए तैयार है, यदि नरक में पड़े सभी व्यक्तियों को मुक्त कर दिया जाए।”

उस समय शृंगलव का पूजन हो रहा था। ‘भगवान् वासुदेव की जय’ के साथ उसकी आरती उतारी जा रही थी। उस जय-जयकार में सबसे तेज आवाज छंदक और उद्धव की थी, जो अपनी पहचान अलग ही बना रही थी।

आरती के बाद ही शैव्या ने स्तुतिगान शुरू किया। वह एक पंक्ति बड़े स्वर के साथ गाती थी। फिर वही पंक्ति समवेत स्वर में दरबारियों द्वारा दुहराई जाती थी। स्वर इतना तीव्र और तीखा था कि पूरे वातावरण को चीरकर वह प्रासाद के बाहर हम लोगों तक आ रहा था।

मैंने अनुमान लगा लिया था कि मेरा संदेश अभी वहाँ नहीं गया होगा; पर भैया का क्रोध सुलगने लगा था कि अभी तक हम लोगों के संदेश का कोई उत्तर नहीं आया। मैंने उन्हें भी शांत करने की चेष्टा की।

धीरे-धीरे स्तुतिगान का स्वर मंद हो बंद हो गया। इसके बाद ही प्रासाद का सिंहद्वार खुला। हमने सोचा कि यह हमारे बुलाए जाने के उपक्रम का एक अंग है; पर हमें द्वारपाल से शीघ्र ही मालूम हुआ कि इसके बाद भगवान् प्रजाजनों को दर्शन देने के लिए नगर में निकलेंगे। मेरा माथा ठनका। मैंने शीघ्र ही एक द्वारपाल से पूछा, “भगवान्

के रथ के वाहक कौन होंगे?’’

“वही नरकवासी लोग भगवान् का रथ खींचेंगे।” मैंने जो सोचा था, बात वही निकली। मेरी रगों में खून उबलने लगा। भैया ने तो हलायुध उठा लिया।

तब तक प्रासाद के कुछ सैनिक बाहर दौड़े हुए आए और हमें बीच से हटाते हुए बोले, “मार्ग से हट जाइए। भगवान् की सवारी आ रही है।”

“आज तुम्हारे भगवान् की सवारी नहीं निकलेगी। हम लोग मार्ग से नहीं हटेंगे।” हमने बड़े आक्रोश में कहा। वे सैनिक एकदम सकते में आ गए। पर शीघ्र ही हमें याद आया कि हम तो अपना प्रस्ताव भेज चुके हैं। फिर मैंने अपनी मुद्रा बदली—“पहले आप लोग मेरे भेजे संदेश का उत्तर ले आइए; फिर मार्ग से हटने, न हटने पर विचार करेंगे।”

खलबली मच गई। आज तक भगवान् की सवारी का विरोध करने का किसीने साहस नहीं किया था। आज यह क्या हो गया! उधर सैनिकों में छंदक ने बड़ी युक्ति के साथ मेरा जयगान आरंभ कर दिया था। और घटनाएँ तो पुरानी पड़ चुकी थीं, पर जरासंध के पराजित होकर भागने की घटना तो नई थी। जब लोगों ने इस घटना की चर्चा शृंगलव से की तो वह एकदम भभक उठा—“अरे, जरासंध तो कायर था। उस छोकरे से डरकर भाग गया।” शृंगलव का अहं फनफनाता जा रहा था—“अपने मामा का वध करने के बाद उन छोकरों का दिमाग बढ़ गया है, जो पहाड़ से टकराने चले आए हैं!” उसने श्वेतकेतु को बुलाया और कहा, “जाओ, उन छोकरों से कह दो कि पहले भगवान् का शरणागत होना स्वीकार करें, फिर कोई प्रस्ताव भेजें।”

“क्षमा कीजिएगा, मुझसे यह न हो सकेगा।” श्वेतकेतु का यह कहना शृंगलव को अप्रत्याशित लगा। वह भौंचक्का रह गया। बगल में खड़ी शैव्या भी अपने प्रेमी को तरेरती रही; जैसे उसकी आँखें कह रही थीं, श्वेतकेतु यह क्या कर रहे हो! अपने ऊपर लटकती तलवार को देखो।

पर श्वेतकेतु सहजभाव से खड़ा रहा। अपने ऊपर भारी पड़ते उस दरबारी सन्नाटे को तोड़ते हुए उसने कहा, “यह कार्य तो किसी और से भी कराया जा सकता है।”

“पर इसे तुम्हें ही करना पड़ेगा।” शृंगलव गुर्गया।

“किंतु मैं इसे न कर सकूँगा।” श्वेतकेतु ने पुनः अपनी असमर्थता दुहराई। इस बार उसने कारण भी बताया कि वसुदेव के पुत्र कृष्ण और बलराम मेरे सहपाठी हैं। हम लोगों ने सांदिपनि के आश्रम में एक साथ शिक्षा पाई है। इस कार्य के लिए न तो हमारा सौजन्य हमें अनुमति देता है और न हमारी आत्मीयता।

“सौजन्य! आत्मीयता! सांदिपनि!” शृंगलव जोर से हँसा—“जब सांदिपनि का पुत्र नरक में भेजा जा रहा था तब तुम्हारा सौजन्य कहाँ था? जब रुद्राचार्य को यातनागृह में डाला जा रहा था, तब तुम्हारा सौजन्य कहाँ था? और उस दिन, जब उद्धव को नरक का आदेश हुआ था तब तुम्हारा सौजन्य कहाँ था? क्या उन लोगों से अधिक आत्मीयता है उन छोकरों से?”

शैव्या भी लाल हो गई थी। लग रहा था कि उसकी शिराओं में भी उबाल आ गया है। उसने बड़े तीखे स्वर में कहा, “इस समय तुम्हारी आत्मीयता की परीक्षा है। एक ओर मैं हूँ और दूसरी ओर वे दोनों छोकरे। किधर है तुम्हारी आत्मीयता?”

“श्रीकृष्ण और बलराम की ओर।” श्वेतकेतु बड़े सहजभाव से बोला। उसकी आकृति पर कोई तनाव नहीं था वरन् एक अप्रत्याशित शांति थी—जैसे इतना कहकर हलका हो गया हो।

‘थू’ करते हुए शैव्या के क्रोध ने उबाल खाया—“तुझे तो नरक का कीड़ा होना चाहिए।” वह गरजी और इसीके

साथ सैनिक श्वेतकेतु को पकड़कर नरक की ओर ले जाने लगे।

अब तक शृंगलव की बगल में मौन बैठी महारानी पद्मावती अपने पति को समझाते हुए बोली, “यदि मथुरा के वे छोकरे आपसे संधि करना चाहते हैं तो आप उनसे संधि क्यों नहीं कर लेते?”

“क्यों कर लूँ?” शृंगलव तड़पा—“क्या उनकी शर्त मान लूँ? नरक में पड़े लोगों को मुक्त कर दूँ?”

“मुक्त कर देने में हानि क्या है?” पद्मावती ने पुनः कहा, “मैं तो समझती हूँ कि इस संधि से सबका भला होगा।”

“तू अपनी समझ अपने पास रख और हमें उन छोकरों को पाठ पढ़ाने दे।” इतना कहने के बाद शृंगलव ने अपने सेनापति को अविलंब हमें बंदी बनाने का आदेश दिया।

अचानक सिंहद्वार से धड़धड़ाती शृंगलव की सेना निकली। सेना की मुद्रा आक्रामक थी। हम कुछ ही लोग थे। हमने समझा, यह स्थिति अनुकूल नहीं है। मैं एकदम अपने रथ पर खड़ा हो गया और उन सैनिकों को संबोधित करते हुए बोला, “तुम लोग शांतिपूर्वक खड़े रहो और यह बताओ, क्या चाहते हो?”

“हम तुम्हें बंदी बनाकर अपने भगवान् के समक्ष उपस्थित करना चाहते हैं।”

“बस इतने के लिए यह सारी परेशानी!” मैं जोर से हँसा—“मैं स्वयं तुम्हारे भगवान् के पास चलता हूँ।” इसके बाद मैंने बड़ी चतुराई से अपना रथ मोड़ा। बड़ी शीघ्रता से सिंहद्वार में प्रविष्ट हुआ। साथ में ‘भगवान् वासुदेव की जय’ कहते हुए मेरे साथी भी थे। राजमहल के माहौल में एक नाटकीय बदलाव आया। आखिर यह किसकी जय-जयकार कर रहे हैं!

रथ से उतरकर हम लोग राजदरबार में पहुँचे। मेरे साथ के लोग बराबर ‘भगवान् वासुदेव की जय’ का उद्घोष करते रहे।

दरबारियों की दृष्टि में भगवान् वासुदेव कोई और था, हमारे साथियों की दृष्टि में भगवान् वासुदेव कोई और। जिसकी दृष्टि में जो था, यह जय-जयकार उसीको समर्पित था। श्रद्धा के क्षेत्र में ऐसा भ्रम मैंने कभी नहीं देखा था।

सबसे पहले मेरी दृष्टि मंच की ओर गई। अनेक अलंकारों से अलंकृत नाटे कद का शृंगलव लंबा सा मुकुट लगाकर विदूषक-सा बैठा था। उसीकी बगल में पतली-दुबली, आवश्यकता से अधिक गंभीर और कुछ बुझी-बुझी-सी उसकी महारानी पद्मावती थी। और सिंहासन के किनारे खड़ी थी एक अनिंद्य सुंदरी। शायद यही शैव्या थी। वह इस सारे माहौल में सबसे अधिक क्रोधित दिखाई दे रही थी। उसकी आँखों से चिनगारियाँ छूट रही थीं।

वह क्रोध में भी जब इतनी आकर्षक है, तब सहजभाव में वह कैसी रही होगी! सचमुच इस सौंदर्य पर फिसलकर श्वेतकेतु ने कोई अपराध नहीं किया। वह तो मानव की सहज प्रवृत्ति का मात्र शिकार हो गया है।

अब तक जय-जयकार थम चुका था। मैंने अपने रथ पर खड़े होकर बड़ी गंभीरता के साथ घोषित किया—“हम स्वयं आपके सामने चले आए हैं। हमने आपके सैनिकों को कष्ट देना उचित नहीं समझा।”

“अच्छा तो सिंह की माँद में लाए जाने की अपेक्षा तुम लोगों ने स्वयं चला आना उपयुक्त समझा!” शृंगलव हँसते हुए गुराया।

“क्योंकि हम लोग सिंह से मित्रता करना चाहते हैं।”

“भगवान् से मित्रता! हा, हा, हा!” वह एक बार फिर हँसा—“भगवान् से मित्रता नहीं, भगवान् के भक्त बनो। रथ से उतर जाओ। मुकुट उतार दो और भगवान् वासुदेव के शरणागत हो।”

इतना सुनते ही मेरे साथी मेरा मुख देखने लगे। अब भैया भी अपने कंधे पर हलायुध रखकर खड़े हो चुके थे। अब मैंने अपनी आकृति पर मायावी मुसकराहट उगाई और एकटक शृंगलव को देखता रहा। फिर मैं बड़े सहजभाव

से बोला, “भक्त ही तो भगवान् का सच्चा मित्र होता है। आप मुझे अपना सच्चा मित्र ही समझिए।”

इस कथन पर भैया ने आपत्ति की। उन्होंने मेरे कान में धीरे से कहा, “क्यों उस पागल को मुँह लगा रहे हो!” उधर पद्मावती भी अपने पति के कान में कुछ कहती दिखाई दी। शायद वह कह रही थी कि क्यों नहीं इन मथुरा के बालकों से आप मित्रता कर लेते। व्यर्थ का विवाद बढ़ाने से क्या लाभ? इसपर शैव्या तड़प उठी—“नहीं-नहीं, ऐसा कभी नहीं होगा। या तो भगवान् वासुदेव की शरण में आओ या नरक में जाओ।”

“कहीं बहन भी अपने भाई को नरक में भेजती है?” मैंने वैसे ही मुसकराते हुए कहा।

“ये मथुरा के मायावी छोकरे हैं, ये ऐसे नहीं मानेंगे!”

“तो कैसे मानेंगे?” शृंगलव की बात पूरी हो, मैंने इसके पहले ही पूछा और बोलता रहा—“मेरे मानने का एक ही रास्ता है कि आप नरक द्वार खोल दीजिए। उसका अस्तित्व मिटा दीजिए। ऋषि-मुनियों को मुक्त कर दीजिए।”

“वे भगवान् वासुदेव को नहीं मानते, इसलिए ऐसा नहीं हो सकता।” शृंगलव बोला।

इसी बीच भीड़ में से आवाज आई—“वे सब भगवान् वासुदेव को मानते हैं।” मैंने देखा, भीड़ में छंदक बोल रहा था—“और भगवान् वासुदेव ही उन्हें मुक्त भी कराएँगे।”

शृंगलव गुराया—“यह कौन बोल रहा है?”

“यह करवीरपुर की जनता बोल रही है। अब वह नकली वासुदेव के चक्कर में नहीं पड़ना चाहती।”

“तो क्या मैं नकली हूँ?” शृंगलव तड़पा। “मैं अभी बताता हूँ कि कौन असली है और कौन नकली!” इतना कहते हुए उसने अपनी असि खींच ली और मुझे मारने के लिए दौड़ा। इसके पहले कि वह मेरे पास आए, मैंने चक्र चलाकर उसके सिर को धड़ से अलग कर दिया। लोग देखते रह गए। कुछ देर तक उसका धड़ छिपकली की कटी दुम की तरह छटपटाता रहा। विस्मय और अप्रत्याशितता से राजदरबार क्षण भर के लिए सन्न हो गया।

“भगवान् वासुदेव की जय!” मेरे साथियों के बराबर उठ रहे जयघोष ने उस सन्नाटे को फाड़कर रख दिया। दूसरी ओर तथाकथित भगवान् वासुदेव के ढुलके शव पर पद्मावती विलाप करती रही।

□

शृंगलव की मृत्यु के बाद किसीसे कुछ कहे बिना नरकाधिकारी ने नरक का फाटक खोल दिया। मैं मुक्त हुए ऋषियों की अगवानी में पैदल ही दौड़ा। पुनर्दत्त तो दौड़कर आया और मेरे गले से लगकर रोने लगा। उसकी आँखों से उसका कृतज्ञ मन पिघलकर बहता रहा। उसके मुँह से निकला—“आपने दूसरी बार मुझे संकट से उबारा है। मैं आपके इस ऋण से कैसे उऋण हो पाऊँगा?”

“किसका ऋण? कैसा ऋण?” मैंने कहा, “कौन किसपर ऋण करता है! हम सब तो निमित्त मात्र हैं। सारी लीला तो नियति की है। तुम अपने को ऋणी समझते हो, यह तुम्हारी महानता है।” मैंने उसे पुनः गले लगाया। वह सिसकता ही रहा।

आश्चर्य तो यह था कि भगवान् वासुदेव के जय का स्वर अब और अधिक तीव्र हो गया था। लोगों में यह धारणा बड़ी तेजी से फैल गई कि नकली भगवान् मारा गया। असली भगवान् हमारा रक्षक है।

आश्चर्य तो यह था कि कहीं से मेरा कोई विरोध नहीं हुआ। लगता है, सारी प्रजा शृंगलव के अत्याचार से पीड़ित थी। पाप का घड़ा एकदम भर चुका था। मैं न फोड़ता तो वह खुद फूटता।

उधर छंदक का प्रवचन चल रहा था—“जब-जब धर्म की हानि होती है, असुर प्रवृत्ति के शृंगलव जैसे अभिमानि का उत्कर्ष होता है, ऋषि-मुनि और साधु पुरुष सताए जाते हैं, तब-तब किसी-न-किसी रूप में भगवान् हमारे कष्टों को दूर करता है।”

अब मैं करवीरपुर की दृष्टि में भगवान् था—असली भगवान्।

मैंने रुद्राचार्य के साथ ही सभी ऋषियों के चरण स्पर्श किए। भैया और मेरे साथियों ने भी उनके चरण स्पर्श किए। ऋषियों ने हमें आशीर्वाद भी दिया, साथ ही मेरे जय-जयकार में स्वर भी मिलाया।

जब रुद्राचार्य को ज्ञात हुआ कि मैं उन्हींके आश्रम में ठहरा हूँ तो वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें कुछ ऐसा लगा जैसे सत्ता की निरंकुशता पर यह आश्रम की विजय है। पर मैं इस समय कुछ सोचने की स्थिति में नहीं था। मैंने उन लोगों की उचित व्यवस्था कराई। अब करवीरपुर का हर राज्याधिकारी आँख मूँदकर मेरी आज्ञा का पालन कर रहा था। उसे लग रहा था कि अब मैं ही उसका राजा हूँ, मैं ही उसका भगवान् हूँ।

यह सबकुछ करते हुए मेरा ध्यान शृंगलव की ओर लगा था। अवसर मिलते ही मैं उस ओर गया। उसका शव अब भी पड़ा था। केवल उसका पैर दक्षिण की ओर करके सीधा लिटा दिया गया था। पद्मावती अब भी बैठी रो रही थी। उसने बड़े करुणार्द्र नेत्रों से मेरी ओर देखा; पर शैव्या एकदम गुराई।

“अब यहाँ क्या लेने आए हो?”

मैंने उसके जलते क्रोध को जलने ही दिया। जितना इसे भभककर निकलना हो, निकल जाए। कुछ क्षणों तक गंभीर मुद्रा में खड़ा रहा, फिर धीरे-धीरे बोलना आरंभ किया, “मथुरा का यह वासुदेव करवीरपुर के वासुदेव को अंतिम प्रणाम करता है। उनकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करता है।”

“हमें मालूम है कि तुम नाटक करना भी अच्छी तरह जानते हो।” शैव्या बोली—“हमारा राजपाट लेकर हमें निर्वासित करने की जो तुमने योजना बनाई है, वह कभी पूरी नहीं हो सकती।”

“आप वास्तविकता से अधिक अपनी कल्पना से भयातुर हैं। आपने कल्पना भी कर ली कि मैंने कोई योजना बनाई है। वस्तुतः हम सब एक विराट् योजना के अंग हैं।” मैंने कहा।

शैव्या ने कुछ समझा या नहीं, यह नहीं मालूम; किंतु वह चुपचाप मेरा मुँह देखने लगी।

“उस महान् आयोजक की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। हम सब तो माध्यम हैं, करण हैं; कर्ता कोई और है। तुम समझती हो कि तुम्हारे भैया को मैंने मारा है। मैं तो मात्र निमित्त बना। वह तो पहले से ही मरे हुए थे।”

“देख, मेरे साथ नाटक मत कर नीच!” शैव्या का क्रोध अब पूरे उबाल पर था—“तू हत्यारा है, पापी है, नीच है, धोखेबाज है! तूने मेरे चाचा (कंस) की हत्या की, अब मेरे भाई की। तेरा सत्यानास होगा, तेरे तन में कीड़े पड़ेंगे, पा...।” इतना कहते-कहते पद्मावती ने उसके मुख पर हाथ धर दिया। उसने एक झटके से पद्मावती का हाथ हटाया और फिर अंड-बंड बकना आरंभ किया।

मैंने अपने पक्ष को सँभाला। भैया आपे से बाहर हो रहे थे। उनके हलायुध का एक प्रहार काफी था उसके अंत के लिए। मैंने उनसे बस इतना ही कहा, “उसका भाई मारा गया है, उसकी बुद्धि का संतुलन खो जाना स्वाभाविक है।”

मेरे दल के सभी ने धैर्य की डोर से स्वयं को बाँध रखा था, अन्यथा क्षण भर में रक्त की सरिता बह जाती। अब श्वेतकेतु ने उसे समझाना शुरू किया—“शैव्या, तू व्यर्थ भगवान् वासुदेव को लांछित कर रही है। इसमें उनका कोई दोष नहीं।”

“नीच, तू भी दोष-निर्दोष की बात करता है! अरे, तू पहले अपनी ओर देख! मैं तुझे कहाँ से कहाँ ले आई। भैया से कहकर तुझे राज्य में उच्च पद दिलाया। तुझे अपना हृदय दिया और तू इतना कृतघ्न निकला! मुझे कभी कल्पना तक नहीं थी कि तू इतना नीच होगा।”

मैंने अनुभव किया कि शैव्या की आग में श्वेतकेतु की कृतघ्नता का ही ताप नहीं है, वरन् एक सौंदर्यगर्विता के अहं को लगी ठेस की ऊष्मा भी अधिक है। मैंने संकेत से श्वेतकेतु को हट जाने के लिए कहा और वह चुपचाप दमघोष

के पीछे विंद और अनुविंद की बगल में चला गया। इन दोनों ने भी सांदीपनि के आश्रम में शिक्षा पाई थी।

“जो होना था, वह तो हो ही चुका है। अब तो इनकी अंत्येष्टि की व्यवस्था करनी चाहिए, बहन।” मैंने शैव्या को ही संबोधित कर कहा। अब वह फफककर रो पड़ी। क्रोध की आँधी की अंतिम परिणति आँसुओं की बरसात में ही होती है।

इसके बाद सारी व्यवस्था की गई। आनन-फानन में शृंगलव की अंत्येष्टि की तैयारी हुई। मुखान्नि देने के लिए उसके एकमात्र पुत्र शक्रदेव के अतिरिक्त कोई और उचित नहीं दिखा।

इसी बीच रुद्राचार्य ने एक गंभीर समस्या उठाई—“मुखान्नि देते ही शक्रदेव अशौच में पड़ जाएगा। क्या इतने दिनों तक सिंहासन खाली रहेगा?”

“नहीं, ऐसा नहीं होना चाहिए।” मैंने कहा और तत्क्षण निर्णय लिया गया कि अंत्येष्टि के पूर्व शक्रदेव का राज्याभिषेक कर देना चाहिए।

मेरे इतना कहते ही सारा राजभवन सकते में आ गया। लोग सोचने लगे, यह क्या हो रहा है? सबसे अधिक आश्चर्य तो पद्मावती और शैव्या की आकृतियों पर दिखाई दिया। उनकी कल्पना तो कुछ और थी तथा मैंने कुछ और घोषणा कर दी।

मैंने महारानी पद्मावती से कहा, “रोने के लिए तो सारा जीवन पड़ा है आपके सामने। अब सिंहासन की ओर देखिए, शक्र को उसपर आसीन करने की व्यवस्था कीजिए।”

कल्पना को लगा आघात यथार्थ के आघात से कम विस्मयकारी नहीं होता। लोगों की कल्पना थी कि अब नकली वासुदेव के सिंहासन पर असली विराजमान होंगे; पर स्थिति एकदम बदल गई। अभिषेक की तैयारी जोरों से होने लगी। पुरोधा तो रुद्राचार्य थे ही। मैंने उनसे कर्मकांड संपन्न कराने का अनुरोध किया।

वे सहज गंभीरता से बोले, “अभी कुछ समय पूर्व का नरकवासी भला इस योग्य समझा तो गया!” उनके इस व्यंग्य पर हम लोगों की हँसी उभरी तो सही, पर वातावरण के दबाव से अधरों तक आकर एकदम रुक गई।

फिर बड़ी शीघ्रता से राज्याभिषेक की सारी औपचारिकता पूरी की गई और अंत में अश्रु भरे नेत्रों से लोगों ने महाराज शक्रदेव की जय का उद्घोष भी किया।

इसके बाद पूर्व महाराज शृंगलव की राजकीय सम्मान के साथ अंत्येष्टि की गई।

संध्या के सूर्य के ढलते प्रकाश में चिता धू-धू कर जल रही थी। सघन धूम के साथ शृंगलव का भगवान् बनने का अभिमान भी अंतरिक्ष को भेदता चला जा रहा था। अपने साथ आए आश्रम के ब्रह्मचारियों से मैं कह रहा था—“हमारा सारा वैभव, सारा ऐश्वर्य, हमारा सारा तेरा-मेरा बस यहीं तक तो आता है। इसके आगे तो कुछ नहीं जाता। चिता की इन लपटों के आगे यदि कोई वस्तु जा सकती है तो वह है मनुष्य का धर्म, मनुष्य का कर्म। इतना बड़ा भगवान् जब कुछ लेकर नहीं जा सका तब हम-आप क्या लेकर जाएँगे!”

मेरा अंतिम वाक्य सुनते ही वहाँ उपस्थित हर व्यक्ति मुझे देखने लगा। जीवन में जिसे मैंने भगवान् स्वीकार नहीं किया, मरने के बाद यह आदरभाव। निश्चय ही उस समय लोगों की दृष्टि में मैं बहुत बड़ा हो चुका था। उनकी आँखें भी धुल चुकी थीं, जो मेरे भीतर एक हत्यारा देख रही थीं।

केवल एक छंदक मुझे समझ रहा था। उसकी दृष्टि में तो सबकी सहानुभूति प्राप्त करने का मेरा यह तरीका कोई नया नहीं था। उसने श्वेतकेतु के कान में कुछ धीरे से कहा। शायद वह मेरी राजनीति की ओर इंगित कर रहा था। अब मैं पूरे करवीरपुर में अजातशत्रु था, शृंगलव और कंस का हत्यारा होकर भी।

जब दिन ढल गया, चिता शांत हुई, लोग अपने पूर्व महाराज की स्मृति को प्रणाम करते हुए अपने घर चले, तब

भी मैं मृतकों के परिजनों के साथ ही था। उन्हीं के साथ ही प्रासाद की ओर चला। और लोगों को मैंने आश्रम में जाने दिया, पर भैया और उद्धव मुझे छोड़ने के पक्ष में नहीं थे। शायद मेरी सुरक्षा पर उनकी दृष्टि अधिक थी। उनका मानना था कि मुझे अकेले प्रासाद में नहीं जाना चाहिए। शृंगलव की पक्षधर बची-खुची चिनगारी भी भभक सकती है।

प्रासाद में जाकर मैं पहले रानी पद्मावती से मिला। उसे मैंने सांत्वनाएँ दीं। अनेक ऐतिहासिक एवं पौराणिक संदर्भ सुनाए।

“मृत्यु तो ध्रुव सत्य है, महारानी, वह तो होगी ही।...और उसका निमित्त भी किसी-न-किसीको बनना पड़ेगा, चाहे पुरुष बने या प्रकृति बने। जब पुरुष निमित्त बनता है तब हमारे जैसे हत्यारे प्रकट होते हैं और जब प्रकृति निमित्त होती है तब रोग और दुर्घटनाएँ होती हैं।”

“क्यों, हम इन दोनों को निमित्त न मानकर कारण क्यों नहीं मानते?” पद्मावती कुछ प्रकृतिस्थ होती ज्ञात हुई। उसके चिंतन ने उसकी भावुकता को दबाना आरंभ कर दिया था।

मैंने उसे समझाया—“कारण तो मनुष्य के कर्म होते हैं।” मुझे ‘योगवासिष्ठ’ याद हो आया। “मृत्यु के पास किसीको स्वयं मारने की सामर्थ्य नहीं होती— मारणीयस्य कर्मणि।...मनुष्य तो अपने कर्मों से मारा जाता है।”

“तुम यही समझाना चाहते हो न कि तुम हत्यारे नहीं हो!” यह तीखी आवाज मेरे पीछे अब तक मौन खड़ी शैव्या की थी। उसके केश खुले थे। आँसुओं के उन्मत्त सागर के साथ बड़वाग्नि को समेटे उसके लाल और विशाल नेत्र उसकी गौर आकृति पर ऐसे दमक रहे थे कि मुझे माँ दुर्गा की छवि दिखाई दे रही थी। मैंने मन-ही-मन उसे प्रणाम किया। वह मुझसे वय में भी बड़ी थी।

“हत्यारा तो मैं हूँ ही, तुम्हारे भाई का भी और तुम्हारे चाचा का भी; पर तुम्हारा यह सोचना एक आंशिक सत्य तक ही पहुँचता है।...मेरे द्वारा की गई इन हत्याओं के पीछे जो कारण रहे हैं, वे अधिक सत्य हैं।”

“कारण तो कुछ भी हो सकता है।” शैव्या का आक्रोश बोला, “यदि तुम्हारी कोई हत्या करे तो तुम्हें कैसा लगेगा?”

मुझे हँसी आ गई—“जब मेरी हत्या हो जाएगी तब लगने का प्रश्न ही कहाँ रह जाएगा? जब मैं ही नहीं रहूँगा तो अनुभूति किसे होगी?”

उसका क्रोध झुँझलाया—“लगता है, तुम अमृत पीकर आए हो, मरोगे ही नहीं।”

“नहीं, मैं भी मरूँगा। इस जगत् का हर व्यक्ति मरणधर्मा है। शरीर तो छोड़ना पड़ेगा ही, चाहे उसका निमित्त कोई बने।”

“चाहे तुम्हारी हत्या ही हो?”

मैंने अनुभव किया कि शैव्या के मन में अपने भाई के प्रतिशोध की भावना बड़ी प्रबल है। मैं उस भावना को सहलाते हुए बोला, “हो सकता है, मेरी हत्या ही हो जाए। हो सकता है, मेरा हत्यारा भी कहीं-न-कहीं पैदा हो गया हो।” मेरे इतना कहते ही मेरे मित्रों की आकृति का भाव बदला; पर मैं बड़े सहज और तटस्थ भाव से बोलता रहा—“मेरे द्वारा तुम्हारा चाचा मारा गया, तुम्हारा भाई मारा गया। मैं तुम्हारे चाचा को तो लौटा नहीं सकता, तुम्हारा वह भाई भी तुम्हें दे नहीं सकता; पर हाँ, उससे अच्छा भाई तुम्हें दे सकता हूँ।”

“अच्छे से तुम्हारा क्या तात्पर्य है?” मैंने देखा, शैव्या एक भावुक नारी ही नहीं, उसकी सोच और समझ भी परिपक्व है।

“अच्छे से मेरा तात्पर्य है कि तुम्हें मिले भ्रातृ-स्नेह में किसी प्रकार की कमी नहीं होगी।”

“वह कैसे?”

“तुम्हें मथुरा ले जाकर।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “वहाँ तुम्हें मेरे जैसा भाई भी मिल जाएगा और माँ देवकी जैसी माता भी।”

शैव्या बड़े शांतभाव से मुझे देखती रही।

मैंने पुनः कहा, “पर तुम्हें भाई और माँ से भी अधिक जिसकी आवश्यकता है, वह तो यहीं है।”

वह कुछ बोली नहीं; पर उसकी दृष्टि प्रश्नवाची अवश्य हुई। स्पष्ट लगा जैसे वह पूछ रही हो, मुझे किसकी आवश्यकता है? और वह कौन है?

मैंने मुसकराते हुए श्वेतकेतु की ओर संकेत किया और बोला, “तुम्हें एक अच्छे पति की आवश्यकता है।”

वह एकदम लाल हो गई—“इस नीच पुरुष की मुझे आवश्यकता नहीं!”

“अरे, यह क्या कह रही हो तुम?” मैंने उसे ठंडा करने की चेष्टा की— “जिसने तुम्हारे लिए आश्रम छोड़ा, जिसने तुम्हारे लिए ब्रह्मचर्य जीवन को प्रणाम किया, जो तुम्हारे संकेत पर सबकुछ करने के लिए संकल्पबद्ध हुआ, अब वही तुम्हारी दृष्टि में नीच हो गया!”

शैव्या ने वे सारी बातें दुहराईं, जिन्हें वह श्वेतकेतु पर किए अपने उपकार के संदर्भ में कह चुकी थी।...और अंत में बोली, “यदि यह मेरी बात ही मानता तो मेरी दृष्टि में इतना क्यों गिरता?” उसका कहना था—“हम लोगों ने इसे आदेश दिया था कि हमारी सेना लेकर यह तुम्हारा सामना करे। यह एकदम मुकर गया। ऐन मौके पर यह ऐसा विश्वासघात करेगा, इसकी कल्पना तक मुझे नहीं थी।”

इसके उत्तर में श्वेतकेतु कुछ बोलना चाहता था; पर मैंने उसे रोक दिया और पुनः शैव्या को समझाने की चेष्टा की—“अच्छा हो कि जो हुआ, उसे हम भूल जाएँ; क्योंकि हम अतीत को ढोकर वर्तमान को ठीक तरह से भोग नहीं सकते और भविष्य के लिए तो हमें भूत से बहुत दूर होना पड़ेगा। तुम दोनों को अपनी समझ में थोड़ा अंतर लाना होगा। तुम्हें श्वेतकेतु को अपना क्रीत दास न समझकर अपना जीवनसाथी समझना होगा।...और इसे तुम्हें मात्र वासना की वस्तु या काम-पुत्तलिका न समझकर अब अपनी अर्धांगिनी समझना होगा। तुम दो होकर भी जीवन में एक रहोगे। तुम्हारे पाप-पुण्य में भी दोनों का समान अधिकार होगा।”

“और मैं इसे अपना पुरुष न मानूँ तो?”

“क्या तुम यह अपने मन से कह रही हो या बुद्धि से या परिस्थितियों के कारण?” मैंने और जोर दिया—“सोच-समझकर बताना। परिस्थितिजन्य भावुकता में बह मत जाना। क्या तुमने इसे अपना हृदय नहीं दिया है? तुम्हारे मन ने तो इसे अपना पति बहुत पहले मान लिया था। यह बात दूसरी है कि किसी कारणवश विवाह की औपचारिकता अभी तक निबाही नहीं जा सकी।”

अब शैव्या मौन थी। उसका चिंतन आरंभ हो गया था और चिंतन के आरंभ होते ही क्रोध मन के जलते तवे पर जल की बूँदों की तरह छनछनाकर उड़ जाता है।

इस स्थिति में मैंने शैव्या से कुछ और कहना उचित नहीं समझा। मेरी दृष्टि मुँह लटकाए बहुत देर से बैठी पद्मावती की ओर थी। गंभीर निराशा में डूबी बेचारी के लिए चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा था। पति नहीं रहे, उनके अहंकार के पागलपन से पीड़ित और त्रस्त प्रजा जाने क्या कर बैठे। पुत्र भी मात्र बारह साल का। पद्मावती की हताशा की कोई सीमा न रही।

मैंने उसे ढाढ़स बँधाया। मैंने दमघोष की ओर संकेत कर कहा, “महाराज चेदिराज की छत्रच्छाया तो आप पर रहेगी ही। मात्र एक दूत फूफाजी के यहाँ भेजना पर्याप्त होगा, उनकी सारी शक्ति आपकी रक्षा में खड़ी हो जाएगी। रह

गया महाराज शक्र की शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न, उनकी देखरेख आपके यहाँ से मुक्त हुए आचार्य और ऋषिगण करेंगे और अब तक महाराज स्वयं समर्थ नहीं हो जाते, उनकी रक्षा आपकी देशभक्त प्रजा करेगी।”

“प्रजा!” पद्मावती धीरे से बोली।

“मैं आपकी आशंका समझता हूँ, राजमाता!” मैंने कहा, “जब व्यक्ति ही नहीं रहा तब उसका विरोध कैसा! पूर्व महाराज की अच्छाइयाँ तो रह गई हैं, पर बुराइयाँ उनके साथ ही चिता पर भस्म हो गईं। प्रजा उसे गाँठ बाँधकर थोड़े ही बैठी है। आप प्रजा का विश्वास कीजिए, प्रजा आपका विश्वास करेगी।”

मेरे इतना कहते ही वहाँ उपस्थित जितने भी लोग थे, एक साथ बोल पड़े—“महाराज शक्रदेव की जय!”

इसके बाद मैं वहाँ से चला आया। शैव्या पर मेरे समझाने का क्या परिणाम हुआ, इसे तो भगवान् ही जाने।



चार

मेरी जीवन नौका को नियति के थपेड़ों को झेलने का जैसे अभ्यास हो गया था। वह उनकी लहरों से बड़े सहजभाव से खेलती थी और जब नियति का समुद्र शांत हो जाता, नौका स्थिर हो जाती, तब लगता जीवन जैसे स्थिर हो गया है। स्थिरता के इन्हीं क्षणों को मैंने रुद्राचार्य के आश्रम में अपने साथियों के साथ बिताया; क्योंकि इस समय यहाँ रहने के सिवा मेरे पास कोई चारा नहीं था। करवीरपुर की राजसत्ता की सारी व्यवस्था कर लेने के बाद भी मुझे यहाँ की जनता छोड़ना नहीं चाहती थी। नगर के बहुत सारे लोग प्रातःकाल ही 'भगवान् वासुदेव की जय' बोलते चले आते थे और जब तक मैं आश्रम के बाहर निकलकर उनके अभिवादन को हाथ हिलाते और मुसकराते हुए स्वीकार नहीं करता था, वे तब तक नहीं जाते थे।

इस संदर्भ में जब मैंने लोगों को मना करने के लिए नगर प्रमुख से कहा, तब उसने बड़ी विनम्रता से मुसकराते हुए बताया—“यह तो हमारी दिनचर्या हो गई है। पहले हर प्रातः हम नकली भगवान् वासुदेव की जय करने आते थे, अब असली भगवान् वासुदेव की जय-जयकार करने आते हैं।”

मैं चुप हो गया और मैंने यह अनुभव किया कि पूरे जनमानस पर मेरा ईश्वरत्व अच्छी तरह छा गया है। अब मुझे इस ईश्वरत्व को बनाए रखने के लिए यथाशीघ्र करवीरपुर छोड़ देना चाहिए; क्योंकि भगवान् का भगवानत्व तभी तक बना रहता है जब तक वह अपने भक्त से दूर रहता है। निकटता तो एक-न-एक के अस्तित्व को समाप्त कर देगी।

इसके दूसरे दिन ही मैंने ब्राह्म मुहूर्त में ही महाभारगव के यहाँ चलने की योजना बनाई और रुद्राचार्य से बोला, “शृंगलव के वध के बाद कई बार मैं महाभारगव के यहाँ जाकर आशीर्वाद लेने की सोचता रहा; पर यह शुभकार्य अभी तक कर नहीं पाया। सोचता हूँ, कल सूर्योदय के पूर्व ही चुपचाप अपने मित्रों को लेकर निकल जाऊँ।”

“तब तो मुझे भी चलना पड़ेगा।” रुद्राचार्य ने मुसकराते हुए कहा।

मैं कुछ बोल नहीं पाया। वे स्वयं बोले, “क्यों, तुम मुझे अपना मित्र नहीं समझते?”

मुझे हँसी आ गई—“नहीं, आप मेरे मित्र नहीं, आचार्यकल्प हैं। आचार्य परंपरा के हैं।” मैंने कहा।

मैंने गोमांतक के सैनिकों और महाभारगव के ब्रह्मचारियों को भी कल की योजना से अवगत कराया और पुनः अपनी कुटिया में लौट आया। देखा, न भैया हैं, न उद्धव; वरन् फूफाजी (दमघोष) बड़ी चिंतन मुद्रा में विराजमान हैं। समझ गया कि कोई गंभीर बात होगी। अभिवादन करते ही मैं उनकी बगल में बैठ गया और बोला, “कहिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?”

“सेवा नहीं, एक प्रश्न मन में उठ रहा है।”

मेरी सहज मुसकान ने पूछा, “क्या?”

“क्या सर्प को घायल कर उसे मुक्त छोड़ देना उचित है?”

इतना सुनते ही मैं दमघोष की मानसिकता के निकट पहुँच चुका था। फिर भी मैंने कहा, “मैं कुछ समझ नहीं पाया?”

“क्या जरासंध का घायल अहं शांत बैठा होगा?”

“शांत तो नहीं होगा।” मैं पुनः मुसकराया—“पर घायल सर्प को छटपटाने के लिए थोड़ा समय देना चाहिए और जब तक वह फिर फन न उठाए, उसपर प्रहार नहीं करना चाहिए।”

“यह मानव नीति हो सकती है; पर सर्प नीति यही है कि जब भी अवसर मिले, उसे शत्रु को काट खाना चाहिए।”
उनका कहना था कि सर्प के लिए सर्प नीति अपनानी चाहिए।

इसी क्रम में उन्होंने बहुत सी बातें बताईं, जिनमें से बहुत कुछ मैं जानता था और बहुत नहीं भी जानता था। उन्होंने विगत घटनाओं की चर्चा करते हुए कहा, “एक समय था, जब जरासंध के ग्रह काफी ऊँचाई पर थे। उसने चक्रवर्ती होने का सपना देखा था और लगभग हो भी गया था। केवल तीन महाशक्तियों ने उसके चक्रवर्तित्व को स्वीकार नहीं किया था। ये थे—पांचाल के द्रुपद, हस्तिनापुर के धृतराष्ट्र और दक्षिण-पश्चिम का क्षत्रप कालयवन। द्रुपद को तो वह अपने मित्र राज्यों से घिरा समझता था और उसपर आक्रमण की योजना भी बना चुका था। उसने मुझसे यह कार्य संपन्न करने के लिए कहा। पर मैंने स्वीकार नहीं किया। वह एकदम आगबबूला हो गया। बोला, ‘मेरी असि की छाया में पलनेवाले तुम! और तुम ही मेरा विरोध करो।’

“ ‘मैं किसीकी असि की छाया में नहीं पलता, महाराज! मुझे अपनी ही असि की छाया काफी है।’ बस एक इसी बात पर उसने मुझपर आक्रमण कर दिया था। मैंने डटकर उसका सामना किया; पर विडंबना यह कि पुत्र शिशुपाल ही मेरे विरुद्ध हो गया। उसने उसपर ऐसी माया डाली कि वह उसीका होकर रहा। लाचार, मुझे उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, उसके छत्र के नीचे आना पड़ा; किंतु इसके बाद ही तुमने उसके जामाता (कंस) का अंत कर दिया। उसका सारा सपना लड़खड़ा गया। बस यहीं से वह तुम्हारे खून का प्यासा हो गया।...और गोमांतक की घटना के बाद तो उसकी प्यास और अधिक बढ़ गई होगी।”

“आवश्यक नहीं है कि प्यासे को कुआँ मिल ही जाए।” मैंने अपनी सहजता बनाए रखी।

“लगता है, तुम मेरी बात को गंभीरता से नहीं ले रहे हो।” फूफाजी की आवाज में झुँझलाहट थी। मैंने अनुभव किया कि उनके भीतर भी एक घायल साँप है।

“क्या तुम्हें यह नहीं मालूम था कि मेरा-उसका युद्ध हुआ था?”

“हाँ, मैंने सुना था; पर आपकी और उसकी निकटता देखकर मैंने कभी चर्चा नहीं की थी। आज भी मैं सोच रहा था कि वह इधर से आपके यहाँ ही गया होगा।”

“यदि मैं उसके साथ जाता तो वह अवश्य मेरे ही यहाँ जाता; पर उसके साथ तो गया है रुक्मी। अवश्य ही वह कुंडिनपुर गया होगा।”

“तब तो मुझसे भूल हो गई।”

“क्या?”

“मैंने जरासंध का पीछा करने के लिए करवीरपुर के सेनानायक श्वेतकेतु को भेजा है; पर उसे तो निर्देश दिया था आपके राज्य में जाने के लिए। किंतु है तो वह योग्य, कोई-न-कोई रास्ता अवश्य निकाल लेगा।” मैंने सोचते हुए कहा।

फूफाजी का तनाव ढीला पड़ा।

“तब तुमने घायल सर्प पर से दृष्टि नहीं हटाई है।” वे भी हँसे और मैं भी।

थोड़ी देर बाद उन्होंने पुनः पूछा, “फिर यहाँ का सेनानायक अब कौन है?”

“अब यह पद पुनर्दत्त को दे दिया गया है।”

मेरी इस सूचना पर फूफाजी बड़े प्रसन्न हुए। उनके विचार से यह योग्य पद के लिए योग्य व्यक्ति का चुनाव था। इसके बाद वे कुछ सोचने लगे—“पर श्वेतकेतु की जगह यदि छंदक जाता तो शायद अधिक उपयुक्त होता।”

“क्यों?”

“क्योंकि छंदक शीघ्र किसीकी पहचान में नहीं आता और परिस्थितियों को समझने तथा उसका सामना करने की क्षमता उसमें किसी और से अधिक है।”

“किंतु मैं छंदक को कभी कोई आदेश नहीं देता।” मैं इतना कहकर चुप हो गया। पर मैं समझता था कि फूफाजी की जिज्ञासा इतने से शांत नहीं होगी। वह मुझसे आदेश न देने का कारण पूछेंगे और मैं बता नहीं पाऊँगा। इसीलिए मैं सहज मुसकान के बीच बोला, “जिसमें स्वयं परिस्थितियों को पढ़ने की योग्यता हो, उसे आदेश देना निरर्थक भी है।”

एक तरह से अच्छा ही हुआ, जो फूफाजी की जिज्ञासा छंदक में ही उलझकर रह गई। कहीं वे श्वेतकेतु के संबंध में पूछते तो मैं और परेशानी में पड़ता।

वस्तुतः श्वेतकेतु के भेजने के कई कारण थे। एक तो शैव्या का उसके प्रति क्रोध अब भी भभक रहा था। हम लोगों के न रहने पर वह पता नहीं कितना ताप ले लेता। दूसरे, यदि श्वेतकेतु को करवीरपुर से न हटाता तो उसका स्थान पुनर्दत्त को कैसे देता? तीसरे, शृंगलव के नरक से मुक्त हुए व्यक्ति को उसीकी सेना में नायकत्व प्रदान करना केवल सत्ता परिवर्तन का ही नहीं, व्यवस्था परिवर्तन का भी द्योतक था।

□

रात्रि के तीसरे प्रहर में ही हम लोग रुद्राचार्य के आश्रम से निकल चुके थे। सोचा, सूर्योदय तक महाभारगव के दर्शन कर पाएँगे। अभी अँधेरा था। शीतल बयार का झोंका बीच-बीच में उल्लसित करता जा रहा था। रह-रहकर जंगल खड़खड़ा उठता था। प्रयाण के लिए इससे अच्छे प्रकृति परिवेश की कल्पना नहीं थी।

जब हम लोग बाहर निकले तब किसीने मुझे दूर—नैऋत्य में वृक्ष के नीचे किसीके खड़े होने का संकेत किया। अंधकार में गहरे काले धब्बे की तरह वह छायामूर्ति किसी नारी की जान पड़ी; मानो वनदेवी हमारी अगवानी में खड़ी हो।

लोगों की राय थी कि वनदेवी को यहीं से प्रणाम करते हुए हमें बगल की पगडंडी से निकल चलना चाहिए। किंतु मेरे मन में आया कि जब देवता सुलभ हो तब दूर से प्रणाम कैसा! मैं उस ओर बढ़ गया। फिर और लोग भी मेरे साथ आ गए।

ज्यों-ज्यों मैं निकट पहुँचता गया, वह छायामूर्ति स्पष्ट होती गई।...और अंत में हमें वनदेवी की जगह शैव्या खड़ी मिली। वह मौन हमें आता देखती रही।...और अब भी मौन थी। उसकी धधकती आँखें इस अंधकार में भी मुझपर बरस रही थीं। रह-रहकर हवा में हिलोरें लेता उसका आँचल उसके मन की काँपती आशंकाओं का बिंब लगा। मैंने बड़ी विनम्रता से जिज्ञासा की—“यहाँ ऐसे क्यों खड़ी हो, शैव्या?”

वह अब भी मौन रही। पर स्पष्ट आभास लगा कि उसके नासापुट की धड़कन कुछ तेज हो गई है। मैंने फिर भी उससे बोलने की चेष्टा की—“हम लोग महाभारगव का आशीर्वाद लेने चल रहे हैं, क्या तुम भी चलोगी?”

“हत्या के बाद आशीर्वाद, थू!” कहती हुई वह बगल से निकल गई।

लाचार हमें भी अपने मार्ग की ओर लौटना पड़ा। शैव्या के इस अप्रत्याशित व्यवहार से लोग दुःखी और खिन्न थे। किसीने कहा, “शैव्या ने यह उचित नहीं किया।” किसीने कहा, “यह अच्छा नहीं हुआ।”

“वस्तुतः इससे अच्छा कुछ दूसरा हो नहीं सकता था।” मैंने हँसते हुए कहा, “अरे भाई, कोई नागिन जब फुफकारकर बगल से निकल जाए तब यात्रा बड़ी शुभ होती है।” मेरे साथ ही सब हँसने लगे; लेकिन मैं स्पष्ट कह सकता हूँ कि मैंने अब तक ऐसे अपमान का घूँट नहीं पीया था।

मैं अनुभव करता हूँ कि ज्यों-ज्यों मैं ईश्वर बनता गया त्यों-त्यों मेरा अहं बढ़ता गया। यदि उस अनुपात में मेरा विवेक बढ़ा होता तो मैं भी शृंगलव हो गया होता। इस समय मेरे विवेक ने मुझे ही नहीं, मेरे अहं को भी सँभाला।

हम लोगों के पहुँचने के पहले ही हमारे आने की सूचना आश्रम में पहुँच चुकी थी। हमने दूर से ही देखा, आश्रम के प्रांगण में महर्षि अपने शिष्यों के साथ हमारी प्रतीक्षा में टहल रहे हैं। उषःकाल का यज्ञ समाप्त हो चुका था। यज्ञशाला पर छाए हुए पर्णों से छनकर निकलते धूम के पीछे से उगता हुआ सूर्य झाँक रहा था। ज्यों ही आचार्य की दृष्टि मेरी ओर घूमी, मैं उनके चरण स्पर्श करने के लिए दौड़ा। वे भी बड़ी शीघ्रता से आगे बढ़े। मेरी इस क्षिप्रता में मेरी विनम्रता से अधिक विजयोन्माद था।

“यशस्वी भव, वत्स! यशस्वी भव!” मैं चरण स्पर्श कर सकूँ, इसके पहले ही आचार्य ने मुझे वक्ष से लगाते हुए कहा।

और सबके अभिवादन में उनका अभय मुद्रा में उठा हाथ उठा ही रह गया। मेरे मुख से बस इतना ही निकला—“आपकी आज्ञा का पालन हुआ।”

वे परम गद्गद थे। बोले, “मुझे अब विश्वास हो गया कि इस देश में सत्ता के अहं से साधुता कभी पीड़ित न होगी। तुम्हारा आविर्भाव ही इसीलिए हुआ है। अब हमारा काम समाप्त हुआ। क्षत्रियों पर उठनेवाले हमारे अस्त्र अब मात्र पूजा की वस्तु रह जाएँगे।” महर्षि आज आह्लाद के आवेग में थे और इसी आवेग में वे पता नहीं क्या-क्या कहते चले गए। अब याद आता है कि उन्होंने अपने पूर्व कथन को ही दुहराया था कि हमारा और हमारे पूर्वजों का क्षत्रियों से विरोध नहीं था। अनेक क्षत्रियों को हमारे आश्रम ने दीक्षित किया था। यदि विरोध था तो सत्ता की अंधबर्बरता और उसकी निरंकुशता से, जिसमें निरीहता पिसती थी तथा साधुता उत्पीड़ित होती थी।...और संयोग कुछ ऐसा था कि ऐसी सत्ता अधिकांशतः क्षत्रियों के हाथ में ही थी।

मुझे ठीक से याद है, मैंने प्रतिवाद किया था—“पर रावण तो क्षत्रिय नहीं था, असुरराज वृषपर्वा भी क्षत्रिय नहीं था।”

“ये भ्रष्ट ब्राह्मण थे। ब्राह्मण जब पतित होता है तो उसके पतन की कोई सीमा नहीं होती। वह सीधे राक्षस हो जाता है। उनसे उद्धार के लिए ही आप जैसे लोगों का जन्म होता है।” इतना कहने के बाद आचार्य की ममता ने फिर मेरा सिर सहलाया।

“फिर ब्राह्मण इतना पतित क्यों हो जाता है?”

“गिरने के लिए भी एक ऊँचाई चाहिए।” इतना कह महर्षि मुसकराए और मुझे समझाते हुए बोले, “देखो, मेरे यहाँ शब्द हैं ‘योगभ्रष्ट’। ‘भोगभ्रष्ट’ शब्द नहीं है। योगी ही भ्रष्ट होता है, भोगी क्या भ्रष्ट होगा!”

“तब आपके पूर्वजों ने ऐसे ब्राह्मणों के विरुद्ध अस्त्र क्यों नहीं उठाए? उनकी सत्ता भी निरंकुश थी। उनके अत्याचार से त्राहि-त्राहि मच गई थी।”

“यदि मेरे पूर्वज ही उनके विरुद्ध अस्त्र उठाते तो पृथ्वी पर तुम्हारा आगमन कैसे होता?” इतना कहकर महर्षि जोर से हँसे। लगता था, वे बात टालना चाहते थे। मुझे भी उनका तर्क प्रभावित नहीं कर पाया। मैंने भैया की ओर देखा, उनके चेहरे पर भी विचित्र भाव था। फिर भी हम लोगों ने बात बढ़ाना उचित नहीं समझा।

मुश्किल से हम दो दिन ही आचार्य परशुराम के आश्रम में रहे। आचार्य का स्नेह हमें अवश्य छोड़ना नहीं चाहता था; पर जरासंध की कल्पना कर वे चिंतित हो जाते थे। उनके विचार भी दमघोष जैसे ही थे और वे फूफाजी के जैसा ही तर्क देते थे कि तुमने उसे छोड़कर अच्छा नहीं किया। उसकी प्रतिशोध की भावना मणिहीन सर्प की तरह छटपटा रही होगी। वह किसी भी समय तुम्हें काट सकता है।

मैंने भी उन्हें वही उत्तर दिया, जो फूफाजी को दिया—“कि हमने उसे छटपटाने के लिए ही छोड़ा है। कम-से-कम लोग देखें तो सही कि इस गरजनेवाले बादल में बरसने की कितनी सामर्थ्य है!”

“पर इससे लाभ क्या?”

“हो सकता है, वह छटपटाते-छटपटाते स्वयं शांत हो जाए।”

“असंभव! तुमने क्या जरासंध को कटी हुई विष तूलिका की पूँछ समझा है!”

“तब उसकी छटपटाहट जिस जनमत को आकर्षित करेगी, वह हमारे पक्ष में होगा; क्योंकि जनमत न्याय का पक्षधर होता है।”

“मुझे तो लगता है कि आज का जनमत शक्ति का पक्षधर है। यदि ऐसा न होता तो कंस और जरासंध की अस्मिता को जनमत ही चबा जाता। इन कृत्यों के लिए तुम्हारी आवश्यकता न होती।”

“मैं तो माध्यम हूँ, अत्र भवान्! मात्र माध्यम!” इतना कहकर मैं पुनः मुसकराया और उन्होंने मुझे पुनः वक्ष से लगा लिया।

मेरे इस दृष्टिकोण के होते हुए भी महर्षि के साथ ही मेरे अन्य मित्रों की राय थी कि जरासंध को मुक्त नहीं छोड़ देना चाहिए। वह राजनीति का अच्छा खिलाड़ी है और रुक्मी जैसे लोग उसके साथ हैं। अवश्य ही वह किसी षड्यंत्र की रचना कर रहा होगा।

लोग इस विचार के भी थे कि अकेला श्वेतकेतु कुछ कर नहीं सकता। हमें उसका पीछा करना चाहिए।

अंततः परशुराम के आश्रम से हम करवीरपुर के लिए चल पड़े; क्योंकि हमारे रथ और शस्त्रादि वहीं थे और रुद्राचार्यजी से मैंने लौटकर मिलने के लिए कहा था।

□

रुद्राचार्य के आश्रम में आने के बाद पता चला कि कल शैव्या मुझे खोजते हुए आई थी। लोगों का आतंकित हो जाना स्वाभाविक था। लोग उसके क्रोध का उफान देख चुके थे। पर वह कर ही क्या सकती है! लोग यह भी सोचते थे।

मैंने जिज्ञासावश आचार्यजी से पूछा, “और क्या कह रही थी शैव्या?”

“कोई विशेष बात नहीं। यही पूछ रही थी कि क्या कन्हैया यहाँ से सदा के लिए चले गए?”

“तब आपने क्या कहा?”

“मैंने बस इतना ही कहा कि लौटने को तो कह गए हैं।” आचार्यजी बोले, “बेचारी बड़ी दुःखी दिखाई पड़ रही थी।”

इतना सुनते ही मेरी कल्पना में श्वेतकेतु की आकृति आई। उसके शैव्या के साथ प्रेमिल संबंधों के अनेक चित्र उभरे। हो सकता है, वह इसी संदर्भ में दुःखी हो।...तो क्यों नहीं मैं प्रासाद में चलकर उससे मिल लूँ। भैया का सोचना था कि यदि उसे मिलना है तो हम लोगों के आगमन की सूचना पाकर वह स्वयं आएगी। इतने अपमानित होने के बाद भैया प्रासाद में जाकर उससे मिलने के पक्ष में नहीं थे।

उस समय तो मैंने उनकी बात मान ली; पर मेरी कूटनीतिज्ञता मुझे बार-बार प्रासाद में जाने के लिए प्रेरित कर रही थी। मेरे मन में आ रहा था कि इसी बहाने प्रासाद में चलकर देखूँ कि मेरे न रहने पर मेरे प्रति बने माहौल में कोई अंतर तो नहीं आया है। फिर रहस्य और कुतूहल से खेलने की मेरी प्रवृत्ति तो पुरानी थी।

संध्या होते-होते मैं बिना किसीको लिये चुपचाप आश्रम से निकल पड़ा। मार्ग में लोग मिलते रहे, मेरा अभिवादन भी करते रहे; पर उनकी आकृतियों पर अनिश्चितता एवं अवसाद की छाया स्पष्ट थी। मुझे प्रासाद भी दूर से डूबते सूर्य की उदास किरणों का वस्त्र लपेटे उल्लासहीन ही दिखा।

प्रवेश करते ही प्रतिहारी मेरे आगमन की सूचना देने के लिए दौड़े। शायद इसीलिए महाराज के निजी आवास तक पहुँचते-पहुँचते शैव्या आती दिखाई पड़ी। गति तो तीव्र अवश्य थी, पर वह ऊष्मा नहीं थी और न वह आवेग था।

धारा में बहते सद्यः बुझे हुए दीप की तरह वह चली आ रही थी, जिसकी लौ तो समाप्त हो चुकी थी, केवल बाती सुलग रही थी।

आते ही वह एकदम मेरे चरणों पर गिर पड़ी।

“अरे रे रे, यह क्या कर रही हैं आप? आप मुझसे बड़ी हैं। मेरी बहन हैं। आपके चरण तो मुझे छूने चाहिए।” मैंने कहा।

वह इतने भावावेश में थी कि उसके मुख से बोली नहीं निकल रही थी। जो कुछ कहना चाहती थी, वह यही था—“मुझे क्षमा करो, कन्हैया! उस रात मैंने तुम्हारा बड़ा अपमान किया था। अब सोचती हूँ कि तुम्हारे ऊपर थूकने के पहले मेरा मुँह क्यों नहीं जल गया? मैं संज्ञाशून्य क्यों नहीं हो गई?” इतना कहते-कहते उसकी आँखें झरने लगीं। सीपी में बंद समुद्र उमड़ पड़ा।

उन्माद और पश्चात्ताप दोनों भयंकर होते हैं। एक में व्यक्ति गिरकर टूटता है और दूसरे में टूटकर गिरता है। मैंने अनुभव किया कि शैव्या टूट चुकी है। उसे सँभालने की आवश्यकता है। मैं नितांत गंभीर वाणी में दार्शनिकों जैसा बोला, “किसने अपमान किया, शैव्या? किसका अपमान किया? तुम सोचती हो कि तुम वही शैव्या हो, जो शैव्या मेरे ऊपर थूकते समय थी। इस बीच भीमवती (करवीरपुर के निकट की नदी) का कितना पानी बह गया। काल की धारा में निरंतर हमारा ‘हम’ बहता चला जा रहा है। हम-तुम दोनों बदल चुके हैं। न वह तुम शैव्या हो आज और न मैं वह कन्हैया ही हूँ। थूकनेवाली वह शैव्या अब नहीं रही। जिस कन्हैया पर थूका गया, वह कन्हैया भी नहीं रहा। वह घटना भी नहीं रही। तब पश्चात्ताप कैसा? और किसके लिए पश्चात्ताप?”

हो सकता है, मेरे इस कथन से भीतर की शैव्या कहीं जुड़ रही हो; पर बाहर की शैव्या अब भी टूटी थी। वह उखड़े हुए वृक्ष की तरह मेरे कंधे पर गिर पड़ी और बहुत देर तक सिसकती रही। उदास संध्या का सन्नाटा उसकी सिसकन पीता रहा।

इस बीच प्रासाद के दीप प्रज्वलकों की दृष्टियाँ हमें टटोलती हुई कई बार हमारे बगल से निकल गईं। अनेक प्रतिहारियों ने भी हमें बड़ी गंभीरता से देखा।

जब उसकी सिसकन थमी और उसने मुझे छोड़ा, तब मैंने बड़े सहजभाव से उससे कहा, “एक आवश्यक सूचना तुम्हें देनी है।”

वह कुछ बोल तो नहीं सकी, केवल उसके नेत्रों ने ही प्रश्न किया—‘क्या?’

“बिना तुम्हारी अनुमति के मैं श्वेतकेतु को कुंडिनपुर भेज चुका हूँ। अब मैं भी वहीं जा रहा हूँ।”

यद्यपि इसकी पूरी जानकारी उसे थी, फिर भी वह मौन रही। जब मैं चलने को हुआ तब उसने धीरे से कहा, “क्या भाभीजी से नहीं मिलेंगे?”

“मिल तो चुका हूँ, पर जब तुम कहती हो तो चलो एक बार और मिल लूँ। बड़ों का जितना आशीर्वाद बटोर सकूँगा, उतना ही कल्याण होगा।”

हम लोग अंतःपुर की ओर बढ़ चले। दीपदानों में वर्तिकाएँ झिलमिलाने लगी थीं। चलते-चलते ही उसने बताया कि “मैं आपसे मिलने आश्रम में भी गई थी। आप नहीं मिले। निरंतर मेरे मन में यह सालता रहा कि हे भगवान्, मैंने यह क्या कर दिया! आप विश्वास करें, उसके बाद मैं ठीक से सो भी न सकी।”

“मैं विश्वास करता हूँ, शैव्या, क्योंकि तू तो अपने वश में थी नहीं, तुझपर तो क्रोध सवार था। क्रोध दूसरों की हानि बाद में करता है, अपनी पहले। क्रोध बुद्धि का नाश करता है और बुद्धि का नाश स्वयं का विनाश है।”

मुझे याद आता है कि युद्धक्षेत्र में अर्जुन के समक्ष जो मैंने क्रोध की व्याख्या की थी, उसका बीज पहले से ही मेरे

मन में पड़ चुका था—‘बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।’

मुझे देखते ही पद्मावती प्रसन्न हुई और चकित भी—“मुझे तो सूचना मिली थी कि आप जा चुके हैं।”

“आपसे मिले बिना कैसे जाता?”

“इसका तात्पर्य है कि मुझे मिली हुई सूचना गलत थी।” उसकी आकृति पर क्षोभ और आशंका के भाव उभरे।

“राजमाता को मिली गुप्तचरों की सूचना गलत हो जाए तो शासन कैसे चलेगा?”

“आपको मिली सूचना गलत नहीं थी। मैं गया भी था और आपसे बिदा लेने चला भी आया।”

“बिदा लेने! आपने मुझे इस योग्य समझा।” पद्मावती बड़ी प्रसन्न हुई।

बातों के क्रम में उसने बताया—“जरासंध का दूत आया था। जरासंध ने शक्रदेव का संरक्षक बनने की बात कही है।”

“क्या आपने उससे निवेदन किया था?” मैंने पूछा।

“मैंने तो कुछ नहीं कहा था और न कहलाया ही था। मेरे पतिदेव स्वागत की तैयारी ही करते रह गए।” फिर उसका गला भर आया। फिर भी वह बोलती रही—“उनके दिवंगत हो जाने पर भी वह ढाढ़स बँधाने भी नहीं आया और कहला दिया कि परिस्थितियाँ विषम हैं। मैं संप्रति कुंडिनपुर जा रहा हूँ। अवसर मिलते ही आ जाऊँगा।”

मैं चाहता तो वह पत्र भी देखता, जो दूत ले आया था। पर मैंने बात बढ़ाना उचित नहीं समझा; क्योंकि मुझे लगा कि पद्मावती को मेरे और जरासंध के संबंधों का ज्ञान नहीं है।

अब मैंने अधिक देर वहाँ रुकना ठीक नहीं समझा। परिस्थितियाँ कह रही थीं कि मैं जितनी जल्दी कुंडिनपुर पहुँचूँ, उतना ही उपयोगी होगा।

□

करवीरपुर से कुंडिनपुर जाने का मैंने मन बना लिया था और लगभग तैयारी भी हो चुकी थी। रुद्राचार्यजी ने गणना कर कहा, “अभी न जाते तो अच्छा था। तुम्हारी यात्रा उत्तर को है और चंद्रमा कन्या का है, पीठ पीछे पड़ रहा है।” निदान दो दिनों तक और आश्रम में रह जाना पड़ा।

अंतिम रात एक अश्वारोही मुझसे मिलने आया। आश्रम के द्वार पर ही भैया उससे मिल गए। उन्होंने अश्वारोही से जानकारी प्राप्त करनी चाही। शायद वह उन्हें पहचानता नहीं था, इसलिए उन्हें कुछ भी बताने से उसने इनकार किया।

“मैं जो कुछ कहूँगा, कन्हैया से कहूँगा।”

भैया ने यह भी बताया—“मैं उनका बड़ा भाई हूँ।”

“होंगे।” उसने कहा, “मेरे स्वामी का निर्देश है कि कन्हैया के सिवा किसीसे कुछ मत बताना।”

“और यदि कन्हैया तुम्हें न मिलें तो?”

“तो मैं लौट जाऊँगा।” उसने कहा। भैया एकदम खीज उठे। उन्होंने यह भी नहीं पूछा कि तुम्हारा स्वामी कौन है? वे सीधे मेरे पास आए और बड़े व्यंग्य से बोले, “जाओ, तुम्हारा कोई चहेता आया है।”

अश्वारोही ने मुझे देखते ही पहचान लिया। बोला, “मैं कुंडिनपुर से आ रहा हूँ। मुझे सेनापति श्वेतकेतु ने भेजा है।” इसके बाद उसने अपने पटुके से निकालकर एक पत्र मुझे दिया।

उस अंधकार में उसे पढ़ना असंभव था। मैंने उससे कहा, “पत्र तो बड़ा लंबा है। यदि तुम पत्र का उत्तर चाहते हो तब तो तुम्हें रुकना पड़ेगा।”

“मेरे स्वामी ने कहा है कि तुम पत्र देकर चले आना, उत्तर की प्रतीक्षा मत करना। यदि आपको कोई संदेश देना हो तो देने की कृपा करें।”

मैंने कुछ कहा नहीं और वह चला गया।

मैंने वह पत्र अकेले में पढ़ना ठीक समझा नहीं; क्योंकि भैया को ऐसा लग रहा था कि लोग मुझसे भी गोपनीयता बरतते हैं। उनकी मानसिकता देखते हुए मैं सबसे पहले पत्र भैया को थमाते हुए बोला, “इसे श्वेतकेतु ने भेजा है।”

भैया में स्वाभाविक सहजता आई। वे बोले, “तब अवश्य ही कोई महत्वपूर्ण बात होगी।” उन्होंने तुरंत उद्धव को बुलाया। कितने ऋजु हैं भैया! मेरे प्रति उनके मन में शंकाएँ उठती जरूर थीं; पर फिसल तुरंत जाती थीं। उनके नाराज और खुश होने का अंतराल बहुत लंबा नहीं था।

उद्धव तथा भैया के अतिरिक्त आचार्यजी को भी बुला लिया गया। सबके सामने ही मैंने उस पत्र की गोपनीयता उधेड़नी आरंभ की।

‘अग्रजश्रेष्ठ!

प्रणाम,

‘अनुविंद के साथ कुंडिनपुर आया। महाराज कौशिक के आश्रम में ही संप्रति डेरा डाला है। यह तो आप जानते ही होंगे कि रुक्मी के पितामह कौशिक आजकल सत्ता से निरपेक्ष होकर नगर के बाहर एक आश्रम में रहते हैं। मैंने स्वयं को आपका दूत बताया। आपका नाम सुनते ही उन्होंने अपनी सारी आत्मीयता उड़ेल दी। पर बड़े दुःखी थे; क्योंकि जरासंध ने यहाँ प्रचारित कर दिया है कि यदि दमघोष बीच में न पड़ते तो मैं उन छोकरोँ को यमलोक भेजकर ही दम लेता। फिर वे छोकरे भी प्राणों की भीख माँगते हुए गिड़गिड़ाने लगे। तब मैंने सोचा, क्यों नहीं एक बार इन्हें छोड़ ही दिया जाए। अतएव मैंने छोड़ तो दिया, पर अब मैं निश्चय कर चुका हूँ कि उन वसुदेवपुत्रों ने यदि जरा भी शरारत की तो उन्हें मेरी तलवार के घाट उतरना ही होगा।

‘यह बात उन्होंने विस्तार से भीष्मक को भी समझाई है। आश्चर्य है कि पूरी घटना के प्रत्यक्षदर्शी रुक्मी की उपस्थिति में ही जरासंध ने भीष्मक से कहा और रुक्मी कुछ नहीं बोला। सबकुछ सुनने के बाद भीष्मक ने यहाँ तक कहा कि मैं तो उन बालकों को दैवी शक्ति से संपन्न मानता था। मुझे कल्पना भी नहीं थी कि वे इतने निरीह निकलेंगे। फिर भी रुक्मी ने इस संदर्भ में अपने पिता से कुछ नहीं कहा। केवल जरासंध की हाँ-में-हाँ मिलाता रहा।

‘इस तरह आपके पराभव की यह कहानी पूरे कुंडिनपुर में छा गई है। आपके हितैषी बड़े दुःखी हैं। महाराज कौशिक की निराशा तो इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि उन्होंने मुझे देखते ही कहा था कि अब इस धरती पर अनीति और अत्याचार ही विजयी होंगे।

‘सबसे अधिक दुःखी तो रुक्मिणी दिखाई पड़ी। पहले तो उसे इस कहानी पर विश्वास ही नहीं हुआ। उसने अपने पितामह से स्पष्ट कहा था कि हो सकता है, यह कहानी जरासंध की अपनी गढ़ी हो। पर पितामह ने बताया कि रुक्मी भी तो उसके साथ था। ऐसी स्थिति में जरासंध विदर्भ में किसी झूठे प्रचार का साहस नहीं कर सकता।

‘कहते हैं कि महाराज के यह कहने पर रुक्मिणी की आँखों के सामने अँधेरा छा गया था। ‘अब मेरा क्या होगा, पितामह?’ कहकर वह कौशिक के चरणों पर गिर पड़ी’ थी और संज्ञाशून्य हो गई थी।

‘मैंने महाराज से स्पष्ट कहा कि यह बिल्कुल झूठा प्रचार है। वास्तविकता तो एकदम इसके विपरीत है। वासुदेव के पुत्रों ने तो वह पराक्रम कर दिखाया, जो किसीके लिए भी असंभव है। उन्होंने गोमांतक की रक्षा की। गोमांतक की धरती के नीचे वरुण के राजभवन और शस्त्रागार का पता लगाया। जंगली गरुड़ों को सभ्यता की मुख्यधारा से जोड़ा। जरासंध को बंदी बनाया, फिर भी हत्या नहीं की। शृंगलव ने स्वयं को भगवान् वासुदेव घोषित कर दिया था। लोगों से अपनी आराधना करवाता था। जो लोग उसकी आराधना नहीं करते थे, उन्हें अपने बनाए नरक में डाल देता था। ऐसे शृंगलव का उन लोगों ने वध किया। ऋषियों और आचार्यों को उनके नरक से मुक्ति दिलाई।

‘तब महाराज कौशिक बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सबसे पहले ये सारी बातें रुक्मिणी को बताईं। उसने छूटते ही कहा कि मैंने कहा था न कि जरासंध का प्रचार झूठा है।

‘आदरणीय भ्रातृगण! मुझे ज्ञात हुआ है कि आप लोग जरासंध का पीछा करने कुंडिनपुर आने वाले हैं; पर जरासंध यहाँ से जा चुका है। उसने रुक्मी को अपनी पौत्री से विवाह का आश्वासन दिया है। किंतु यह विवाह तभी संभव होगा, जब रुक्मी अपनी बहन का विवाह शिशुपाल से कर देगा।

‘सुना है, इस संदर्भ में रुक्मी ने अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी थी और कहा था कि रुक्मिणी शिशुपाल को वरण करना नहीं चाहती। तब जरासंध ने उसे भरोसा दिलाया कि इसकी चिंता तुम मुझपर छोड़ दो। मैं ऐसी युक्ति लगाऊँगा कि रुक्मिणी के समक्ष शिशुपाल को चुनने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाएगा।’

‘संक्षेप में यही कुंडिनपुर की स्थिति और राजनीति है। यहाँ की जनता आपके संबंध में बड़ी दुःखी है। उसके मन में जरासंध का प्रचार घर कर गया है।

आपका सेवक और गुरुभाई

—श्वेतकेतु

पुनश्च-1 : मेरी दृष्टि में यह स्थिति आपके अनुकूल नहीं है। इस समय तो यहाँ छंदक की आवश्यकता थी।

2 : आपको प्रसन्नता होगी कि महाराज कौशिक ने मुझे युवा सैनिकों को शस्त्र शिक्षा देने का काम सौंपा है—और इसके लिए एक आश्रम का निर्माण भी आरंभ हो गया है।

—श्वेतकेतु’

श्वेतकेतु का यह पत्र काफी विस्तृत और परिस्थितियों को स्पष्ट करनेवाला था। पत्र पढ़ने के बाद मुझे हँसी आ गई। मेरे मुख से निकला—“अद्भुत है जरासंध। रस्सी जल गई पर ऐंठन नहीं गई।”

“इस ऐंठन का ही दूसरा नाम जरासंध है। तुमने तो उसका वध किया नहीं, तब भला ऐंठन कैसे जाती!” भैया बोले। अब आचार्यजी से नहीं रहा गया। उन्होंने कहा, “तुमने अच्छा ही किया, कन्हैया। क्षमा कभी-कभी दंड से भारी पड़ती है।”

“यह सज्जनों के लिए है, जरासंध जैसे दुष्ट लोगों के लिए नहीं।” भैया बोले। आचार्यजी ने कोई प्रतिकार नहीं किया।

जरासंध की दुष्टता पर चर्चा चलती रही। पर उद्धव चुपचाप बैठा रहा। उसकी चिंतन मुद्रा इस सारी चर्चा से निरपेक्ष लगी। मैंने पूछ ही दिया—“उद्धव, आखिर तुम इतने चुप क्यों हो? क्या सोच रहे हो?”

“मैं सोच रहा हूँ कि जरासंध कितना बड़ा राजनीतिज्ञ है!” उद्धव बोला।

“हम लोग उसकी दुष्टता पर सोच रहे थे और तुम उसकी राजनीति पर।” मैंने कहा।

“मुझे तो उसकी राजनीति उसकी दुष्टता से अधिक खतरनाक लगती है।” उद्धव ने कहा और इसी प्रसंग में उसने एक बड़े पते की बात बताई—“चेदि और विदर्भ दो ऐसे बड़े राज्य हैं, जो पूर्णतः उसके प्रभाव में नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि शिशुपाल और रुक्मी पर उसका प्रभाव है; पर विदर्भराज भीष्मक उसके प्रभाव क्षेत्र से बाहर हैं और चेदि महाराज यहाँ स्वयं बैठे हैं।”

अब हम लोगों की दृष्टि दमघोष की ओर गई। “चलिए, अब फूफाजी को बहू मिल रही है।”

“वह तो पता नहीं कब से मिल रही है।” फूफाजी ने बड़े बेमन से कहा, “रुक्मिणी तो जीते जी कभी शिशुपाल का वरण नहीं करेगी।”

मैं तो नहीं बोला, पर भैया ने पूछा, “क्यों, आप ऐसा कैसे सोचते हैं?”

“मैंने सुना है कि वह मन-ही-मन किसी और का वरण कर चुकी है।” दमघोष ने कहा, “रुक्मी और उसके पिताश्री भीष्मक दोनों चाहते थे कि शिशुपाल से उसका विवाह हो जाए; पर अभी तक तो नहीं हो पाया।”

“हो सकता है, आगे हो जाए।” लगता है, भैया ने सब जानते हुए दमघोष को अधिक खोलने की नीयत से कहा।

“पर होगा कैसे?” रुद्राचार्य बोले, “नारी कोई गाय तो है नहीं कि जिस खूँटे से चाहा, उससे बाँध दिया। विवाह तो आत्माओं का होता है, दो मनो के मेल का परिणाम है। यह शारीरिक रिश्ता नहीं है कि आप दो शरीरों को बाँधकर एक कर देंगे।”

आचार्यजी की बात सुनकर लोग चुप हो गए। लगा, रुक्मिणी प्रकरण का संप्रति उपसंहार हो गया।

उद्धव ने अपने राजनीतिक संदर्भ की छूटी डोर पुनः पकड़ ली—“जरासंध अपनी पौत्री का विवाह रुक्मी से करके विदर्भ से अपने संबंध को पक्का करना चाहता है।”

“पर रुक्मी तो उसके हाथ में है ही।” दमघोष बोला।

“कौशिक तो उसके हाथ में नहीं हैं; भीष्मक भी उसके प्रभाव में नहीं हैं।” उद्धव ने बताया—“तब हम लोग छोटे-छोटे थे। जग प्रपंच से दूर, वृंदावन में हम लोगों का बचपन किलकारियाँ भरता था। यह बात तब की है जब जरासंध ने विदर्भ पर आक्रमण किया था और उस समय सिंहासनासीन कौशिक को अपमानित किया था। उन्हें ऐसी वितृष्णा हुई कि उन्होंने सिंहासन स्वयं छोड़ दिया और कुंडिनपुर के बाहर आश्रम बनाकर रहने लगे। क्या कौशिक उस अपमान को भूल पाएँगे?”

“महाराज कौशिक तो एक ऐसे शांत ज्वालामुखी हैं, जो अपने भीतर की आग के ऊपर एक हरियाली ओढ़े रहता है।” मैंने कहा, “कोई विस्फोट कभी भी संभव है।”

“शायद इसीलिए उन्होंने श्वेतकेतु को युवा सैनिकों का शिक्षक बना दिया है।” भैया बोले।

“लगता है, विदर्भ की राजनीति बदल रही है।” उद्धव मेरी ओर देखकर मुसकराया। उसकी मुसकराहट मेरे मन में वहाँ तक धँसती चली गई, जहाँ रुक्मिणी बैठी थी।

मैं इन सारी परिस्थितियों से वस्तुतः प्रसन्न था। मेरी प्रसन्नता का आधार रुक्मी का दूसरा विवाह था। आखिर उसकी पूर्व पत्नी सुव्रता क्या सोच रही होगी? क्या वह इसे स्वीकार करेगी? नारी सबकुछ सहती है, पर वह अपने प्रेम का विभाजन नहीं सह सकती। इस समाचार से तो सुव्रता भी सुलगने लगेगी—और रुक्मिणी भी इस अवसर से चूकेगी नहीं। वह सुव्रता के सुलगते हुए अंतर को अपनी सहानुभूति की हवि देगी। विदर्भ का राजमहल भीतर-ही-भीतर जलने लगेगा।

इधर मैं कुछ सोच रहा था, उधर दमघोष कुछ और ही। उसने एक दूसरी ओर संकेत किया—“लगता है, इस बार रुक्मिणी स्वयंवर में आमंत्रित किए जानेवालों की सूची जरासंध ही बनाएगा।”

“कोई भी आमंत्रित करे, पर हम लोगों का नाम तो रहेगा ही।” भैया बोले।

“नहीं भी रह सकता।” फूफाजी ने शंका व्यक्त की।

“क्यों?”

“वह कह सकता है कि इन लोगों को क्यों बुलाऊँ!” दमघोष बोले, “तुम लोग तो मात्र ग्वालों के नायक के पुत्र हो। एक राजकुमारी के स्वयंवर में ग्वालों का क्या काम!”

सचमुच इधर तो हमारा ध्यान ही नहीं गया था। हम लोगों को तो बड़ी सरलता से वह अपने मार्ग से हटा सकता है।

इस समस्या के साथ ही उस वार्ता का क्रम समाप्त हो गया था। रात अधिक जा चुकी थी। अँधेरे का सन्नाटा मंद

हवा पर तैरने लगा था। मैंने अनुभव किया कि मेरे अगल-बगल के लोग सोने लगे हैं। उनमें से कुछ की नाक भी बोलने लगी है।

पर मेरी नींद मेरी आँखों से दूर मुझे एकटक निहार रही थी और मैं रुक्मिणी को देख रहा था। वह अनेक भंगिमाओं में मेरे सामने थी—मुसकराती हुई, हँसती हुई, रूठती हुई, रीझती हुई। कभी-कभी उसकी बगल में राधा आकर खड़ी हो जाती थी और कभी-कभी त्रिवक्रा भी।

मुझे ऐसा लगा कि वह त्रिवक्रा (मालिनी) और राधा से कह रही है—‘तुम दोनों बड़ी भाग्यशालिनी हो, जो कन्हैया का इतना सान्निध्य पाया। मैं तो मात्र दूर-दूर से ही पाला छूती रही और निकटता का सपना देखती रही। कभी भी इसके निकट नहीं आई और इस ग्वाले को हृदय दे दिया। राधा, तेरा तो बचपन उसीके साथ बीता। तेरी निकटता तो स्वाभाविक थी। पर त्रिवक्रा तुझपर ईश्वर सदय था, जो उसने तुझे तीन तरफ से टेढ़ा कर दिया। तेरे टेढ़ेपन ने ही उसे तेरी ओर पुकारा। यदि तू सामान्य होती तो तू अंगारक की थी और अंगारक की बनी रह जाती। तेरे टेढ़ेपन से मुझे ईर्ष्या होती है। भगवान् ने मुझे ऐसा टेढ़ा क्यों नहीं बनाया! मैं भी अपनी सुघड़ता कन्हैया से माँगती और कन्हैया की हो जाती।’

मेरी कल्पना में अब भी त्रिवक्रा (मालिनी) सिर नीचा किए खड़ी रही। पर राधा बोल पड़ी—‘बहन, कन्हैया तो ऐसा फल है, जो खाए वह भी पछताए और जो न खाए वह भी पछताए। मुझे इसकी निकटता मिली, इसलिए पछता रही हूँ। तुझे निकटता नहीं मिली, इसलिए पछता रही है। यह बड़ा निर्मोही है। इसकी न निकटता भली और न दूरी।’

इसके बाद दोनों अदृश्य हो जाती हैं और रह जाती हैं केवल रुक्मिणी, परिस्थिति से बँधी हुई रुक्मिणी। वह बड़बड़ाती जा रही है—‘अब तक मेरा भाई ही शिशुपाल से बाँध रहा था। अब जरासंध ने भी उसकी सहायता करने का आश्वासन दिया है; क्योंकि जरासंध अब केवल मुझे ही नहीं बाँधना चाहता वरन् वह विदर्भ और चेदि को भी अपनी छाया में लाना चाहता है। इसके लिए उसने जाल बिछाना आरंभ कर दिया है। जानते हो, वह अब अपनी पौत्री का विवाह भैया से करेगा। अब सुव्रता भाभी को पता चला है कि वह कितने पानी में थी। हर बात में एक पतिव्रता स्त्री की तरह वह रुक्मी का साथ देती थी। मथुरा में वह हमारे-तुम्हारे संबंधों को देखकर जली जा रही थी। कितना उलटा-सीधा भैया से लगाती थी; पर आज जब सिर पड़ा है तब उसने चेता है। एक दिन वह अपने किए पर पश्चात्ताप कर रही थी—अच्छा होता, तू कन्हैया के साथ चली जाती। पर जरासंध कह रहा था कि उसके साथ तेरा विवाह कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो ग्वाले का लड़का है।’

अचानक कुछ शोर और खड़खड़ाहट के साथ मेरा चिंतन टूट गया। मेरी बगल में सोए लोग जाग गए थे।...पर भैया अब भी सो रहे थे।

आखिर बात क्या है? मैं सबसे पहले अपनी पर्णकुटी से निकला। पता चला कि एक जंगली जानवर आश्रम में घुस आया था और गोशाला की ओर गया है। तब तक कई मशालें एक साथ जल उठीं, जिसे देखते ही वह जंगली जानवर शायद पीछे से भाग गया। मैं उसे देख भी न पाया; लेकिन मुझे बताया गया कि उसने एक गाय को भी घायल कर दिया है।

“आप बहुत जल्दी उठ गए। क्या आप अभी तक सोए नहीं थे?” उद्धव ने प्रांगण से लौटते हुए कहा।

“मैं सोया तो नहीं था, पर इस घटना ने मुझे जगा अवश्य दिया।” आकाश का चंद्रमा मेरे इस कथन पर मुसकरा दिया।

उद्धव भी मेरी बात समझ नहीं पाया। वह बोला, “पहेली बुझाने की आपकी आदत कभी नहीं जाएगी।”

“मैं पहेली नहीं, सत्य कह रहा हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “सोते को जगाना आसान होता है, उद्धव! पर जागते

को जगाना बड़ा कठिन है।...और यह कठिन कार्य एक जंगली जानवर ने कर दिया।”

मैंने उद्धव की जिज्ञासा को अधिक परेशान करना उचित नहीं समझा और उसे सही-सही बातें बता दीं—“मैं कुंडिनपुर के संबंध में सोचने लगा था। सोचते-सोचते उसीमें खो गया था और नींद मुझमें खो गई थी।”

“श्वेतकेतु का पत्र तो विचित्र है।” उद्धव ने मेरी बगल में लेटे-लेटे बातें आरंभ कीं—“जरासंध जब अपनी पौत्री का विवाह रुक्मी से करेगा तो सुव्रता उसका विरोध नहीं करेगी?”

“किया करे विरोध।” मैंने कहा, “उसका विरोध अरण्यरोदन मात्र रह जाएगा।”

“क्यों?”

“क्योंकि इस स्थिति के आने से पहले सुव्रता अकेली रह जाएगी। रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से हो चुका होगा।”

“यह कैसे होगा?” उद्धव के स्वर में हलका आवेश था—“उसकी इच्छा के विरुद्ध न पहले कुछ हुआ है और न अब होगा।”

“पहले की बात छोड़ो। अब जरासंध ने उसके विवाह का ठेका ले लिया है।” मैंने कहा।

“तब क्या करेगा वह? वह हमें कैसे रोक सकता है?”

“फूफाजी की बात सुनी नहीं तुमने? पहले अपनी हैसियत देखो तब बड़ी-बड़ी बातें करना। हम ग्वालों के बेटों को राजा की बेटी द्वारा वरण किए जाने का सपना देखना क्या उचित है?”

“प्रश्न यह है कि हम उसके वरण का सपना देखें या न देखें, पर वह तो हमें वरण करने का सपना देखती है।”

मैं भी चुप हो गया और उद्धव भी। कुछ क्षणों तक यह मौन बना रहा।

नींद कब आ गई, पता नहीं।

□

करवीरपुर से प्रातः ही हमारी यात्रा आरंभ होने वाली थी। हमें बिदाई देने के लिए सवेरे से ही आश्रम के निकट नगरवासियों की भीड़-सी लगने लगी थी। उधर प्रासाद के द्वार पर भी बिदाई के आयोजन की व्यवस्था की गई थी। आश्रम से चलने के पूर्व राजप्रासाद से हमें विधिवत् निमंत्रण भी आया था।

हम जनता का अश्रुपूरित अभिवादन स्वीकार करते हुए प्रासाद की ओर चले। हमने देखा, प्रासाद के द्वार पर ही पूरा राजभवन हमें बिदाई देने के लिए खड़ा है।

रुद्राचार्य भी यहीं हैं। मैंने उन्हें चलते समय प्रणाम करने के लिए कई बार आश्रम में खोजा, पर वे मिले नहीं। लगता है, अग्निहोत्र के बाद राजगुरु के नए पद की प्रतिष्ठा के अनुसार सीधे यहाँ चले आए थे। उन्हींकी बगल में सेनाध्यक्ष पुनर्दत्त भी खड़ा था। इनके पीछे सिंहद्वार की दूसरी सीढ़ी पर राजमाता के साथ ही महाराज शक्रदेव भी राजसी गौरव और परंपरा का विचार न करते हुए धरती पर ही खड़े थे। और शैव्या! इस माहौल से कटी-छँटी-सी, टूटी हुई शैव्या एक स्तंभ के सहारे थोड़ी दूर पर खड़ी थी।

पहुँचते ही हम लोगों ने आचार्य के चरण छुए और राजमाता को प्रणाम किया। ज्यों ही मैं शक्रदेव की ओर नमस्कार करने के लिए मुड़ा, मेरा हाथ पकड़ते हुए पद्मावती बोल उठी—“यह आपके आशीर्वाद का आकांक्षी है, अभिवादन का नहीं।”

और शक्रदेव ने हम सबको झुककर प्रणाम किया।

इसके बाद राजमाता ने हमें पुष्पहार पहनाए। करतल ध्वनियों और जय-जयकारों से गगन गूँजने लगा। इन सारी औपचारिकताओं के बीच में एक नितांत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति छूट जाता, यदि मेरी उसपर अचानक दृष्टि न पड़ती। निश्चित रूप से उसका अहं अब तक मेरी ओर आने से उसे रोकता रहा। शायद वह यह भी सोचता रहा हो कि

देखें, अब उनकी दृष्टि मेरी ओर घूमती है या नहीं। तब तक मैंने उसे देख लिया। वह था गरुड़केतु।

“अरे, आप कब पधारे?” कहता हुआ एकदम उसकी ओर दौड़ा। अपने ‘स्व’ का ऐसा सम्मान देखकर वह गद्गद हो गया। हम दोनों छाती से लगकर बड़ी देर तक आनंद में एक-दूसरे को झकझोरते रहे। उसीसे पता चला कि तिरुदत्त को ताप है।

“तब आपने पधारने का कष्ट क्यों किया?”

“क्या बात करते हैं आप!” वह बोला, “यदि मैं न आता तो मुझे कृतघ्नता का पाप लगता। अब मैं जंगली न रहकर आप जैसा ही हो गया हूँ और वैसा ही सोचने भी लगा हूँ।” इतना सुनते ही वहाँ जितने लोग थे, सबके सब हँस पड़े। यह हँसी बहुतों को छूती निकल गई।

इसके बाद मैंने गरुड़केतु को समझा-बुझाकर बिदा किया।

“यदि पुत्र ताप से पीड़ित न होता तो मैं आपको अपने साथ ही थोड़ी दूर ले चलता; क्योंकि आपको जल्दी छोड़ने का जी नहीं चाहता।” वह और भी प्रसन्न हुआ।

इधर पद्मावती और शक्रदेव एक ऊँचे मंचक पर खड़े हो गए थे। लगता है, चारों ओर से बढ़ती भीड़ के कारण ही उन्हें ऐसा करना पड़ा।

मेरे निकट पहुँचते ही राजमाता ने उच्च स्वर में बोलना शुरू किया। उनका सारा भाषण तो मुझे याद नहीं है; फिर भी स्मृति को कुरेदकर उसके कुछ मार्मिक अंश प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

“पूज्य गुरुदेव, आदरणीय महाराज, श्रद्धेय बलराम और कृष्ण तथा प्रियजनो!

“एक ऐसी अभागिन नारी आपके समक्ष खड़ी है, जिसका पति अब इस लोक में नहीं रहा, जिसने स्वयं को भगवान् वासुदेव घोषित किया और भगवान् वासुदेव के चक्र पर ही चढ़कर देवलोक चला गया। उसकी काया नहीं रही, पर उसकी माया अब भी ‘हम’ और हमारे चारों ओर फैली है। यह राज, यह राजगद्दी, उनका सारा वैभव यहीं रह गया और वे चले गए। कुछ भी उनके साथ नहीं गया। यदि कुछ जा सकता तो मैं शायद सबसे पहले उनके साथ जाने को तैयार होती। पर मैं तो विधवा होने के लिए अभिशप्त थी और वह अभिशाप मैंने सहा। इसका मुझे दुःख है और मेरा विश्वास है कि आप भी मेरे साथ दुःखी होंगे।

“मरना तो सभी को है। मेरे पूज्य पतिदेव को भी मरना था। कहीं भी किसीके हाथ से वे मारे जा सकते थे। क्योंकि उनके अहं के साथ-साथ उनका उत्पीड़न भी चरम बिंदु पर था। जब रावण का उत्पीड़न नहीं चला, कंस का उत्पीड़न नहीं चला, तब उनका कितना चलता? अंत तो उनका होना ही था; पर इतना अच्छा अंत होगा, इसकी कल्पना भी मुझे नहीं थी और न आप लोगों को रही होगी। मैं सोचती हूँ कि उनके इस प्रकार के अंत से आप लोग भी प्रसन्न ही होंगे।”

सबने दाँतों तले अँगुली दबाई। पद्मावती यह क्या बोल रही है? सबकी सोच और कल्पना के परे उसका बोलना था। पर वह विचित्र भावुकता में बोलती चली जा रही थी। भीड़ ऐसी सकते में थी मानो भीड़ पर आवाज नहीं, सन्नाटा बरस रहा था।

“पतिदेव के चले जाने के बाद एक भयंकर आशंका मुँह बाए हमारे सामने खड़ी हो गई थी। हम सोचने लगे थे कि युद्ध छोड़कर भागनेवाले ये रणछोड़ अब यहीं बसेंगे। हमारी राजगद्दी को अपनी राजगद्दी बनाएँगे। हमारे कई पारिषदों ने भी ऐसी आशंका व्यक्त की थी। यदि वे ऐसा करते तो शायद उन्हें रोकनेवाला कोई नहीं था। नरक में पड़े आचार्य और साधु-संत तथा उत्पीड़ित प्रजा उन्हें सिर-माथे बैठा लेती; पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। राम के आदर्श का अनुसरण करते हुए उन्होंने मेरे पुत्र का विधिवत् अभिषेक किया। मुझे महारानी से राजमाता बना दिया।”

जनता इतनी भावुक हो उठी थी कि वह एकदम चिल्ला उठी—“राजमाता की जय!”

और जब उन्होंने हम लोगों को संबोधित कर कहा कि ये तो हमारे लिए सच्चे भगवान् हैं, तब जनता ने ‘भगवान् वासुदेव की जय’ का इतने उच्च स्वर में घोष किया कि वह ध्वनि तरंग अवश्य ही सूर्यमंडल को भेदकर शृंगलव को सुनाई दी होगी।

वह बोलती रही—“ऐसे संत-साधु रक्षक, उत्पीड़ित धरती को मुक्ति दिलानेवाले और जनता के निस्स्वार्थ सेवक आज हमारे राज्य से जा रहे हैं। हम सबको इसका दुःख है। दुःख इस बात का भी है कि मैं अपनी ही समस्या में उलझी रही। मैं उनका उचित सत्कार भी न कर सकी। राज्याभिषेक के समय भी उन्हें कुछ भेंट न दे सकी। देती भी क्या? मेरे पास इन लोगों को देने योग्य आखिर है क्या! फिर भी आज मैं अपनी ओर से और इस राज्य की कृतज्ञ प्रजा की ओर से कुछ तुच्छ भेंट देना चाहती हूँ। विश्वास है कि यह हमारी भेंट अवश्य स्वीकार करेंगे।”

इतना कहते ही जयघोषों के बीच स्वर्णपणों से भरे हुए कई थैले लेकर कई अनुचर हमारे रथों की ओर बढ़े। संपूर्ण वातावरण ऐसा था कि मैं कुछ बोल नहीं पाया।

मेरे जीवन में किसी राज्य द्वारा दी गई यह पहली भेंट थी, जिसको विनम्रतापूर्वक स्वीकार करना मेरी औपचारिकता भी थी और परिस्थिति की आवश्यकता भी।

इसके अतिरिक्त ताम्र कुंतकों (भालों) तथा अन्य शस्त्रों से सुसज्जित छब्बीस घुड़सवार भी भेंटस्वरूप मिले। यह हमारे जीवन की पहली अपनी सेना हुई। हमने उद्धव को उसका नायक बनाया। अब तक तो मैं दूसरों की सेनाओं का ही सहयोग लेता रहा।

इसके बाद महाराज के साथ राजमाता और सारा राज समाज ग्यारह डग पैदल हमारे साथ चला। फिर लोग अपने-अपने वाहनों पर सवार होने लगे।

इस बीच मेरी दृष्टि पुनः उस स्तंभ की ओर गई, जहाँ शैव्या थी। वह अब भी मूर्तिवत् वैसी ही खड़ी थी। एकटक मुझे निहार रही थी। वह उस माहौल से घिरे होते हुए भी नदी की धारा में पड़ी हुई रेती की तरह एकदम अलग-थलग थी। उसके नेत्रों का सूनापन जैसे मुझसे कुछ पूछना चाहता हो। मैं एकदम रथ छोड़कर उसकी ओर दौड़ा और निकट आकर प्रणाम करते हुए उससे बोला, “क्या तुम मेरे साथ नहीं चलोगी, शैव्या?”

उसकी आँखों की सीपी से दो मोती ढुलके। उसने बहुत धीरे से पूछा, “किधर जा रहे हो?”

“चल तो मथुरा की ओर रहा हूँ, फिर नियति जिधर ले जाए।”

“जब नियति को ही ले चलना है, तो चलो।”

वह निरीह गाय की तरह मेरे पीछे चल पड़ी। सब देखते रह गए। वह अपने आंतरिक संघर्ष से इतना बिखर चुकी थी कि जैसे उसे कुछ ध्यान ही नहीं रहा। किसीसे उसने कुछ नहीं कहा। यहाँ तक कि राजमाता को प्रणाम भी नहीं किया।

□

पाँच

रथ आगे बढ़ रहा था। दृष्टिपथ में तो मथुरा थी, पर हम अवंती के पथ पर थे। यह मार्ग की विवशता थी या नियति की इच्छा, मैं कुछ कह नहीं सकता। इस यात्रा में एक विचित्र बात यह थी कि जिधर भी जाता था, भव्य स्वागत होता था। कई स्थानों पर तो लोगों ने हमें रोक-रोककर पुष्पहार पहनाए। कई जगह व्यवस्थित रूप से हमारा अभिनंदन हुआ। भाषणों में लोगों ने विस्तृत यशगान किया। आश्चर्य तो यह था कि मेरे बचपन से लेकर आज तक की कोई भी घटना इनकी जानकारी से छूटी न थी। गोवर्धन कांड, कालिय दमन, त्रिवक्रा को स्वास्थ्य-लाभ, कुवलयापीड को वश में करना, कंस और चाणूर वध, गोमांतक की रक्षा, पुनर्दत्त की वापसी, शृंगलव वध आदि घटनाएँ इन्हें मालूम हो गई थीं।

इस बार की यात्रा भी पहले से भिन्न प्रकार की थी। पहले तो केवल मेरा ही रथ चलता था; पर इस बार हम समूह में थे। सबसे आगे उद्धव के नेतृत्व में करवीरपुर के हमें मिले सैनिक थे। उनके पीछे पद्मावती के दिए उपहारों से भरी बैलगाड़ियाँ थीं। फिर मेरा रथ था। मेरे ही रथ पर शैव्या थी। जब लोग मेरा अभिवादन करते, शैव्या भी हाथ उठाकर मुसकराते हुए उनका उत्तर देती। इससे लोग उसे मेरी पत्नी होने का भ्रम पाल लेते। कई स्थानों पर तो मुझे स्पष्ट करना पड़ा कि यह मेरी बड़ी बहन है।

शैव्या के रहने के कारण भैया मेरे रथ पर नहीं थे। उनसे बातें करने और समस्याओं पर सोचने का लाभ तो नहीं था, पर शैव्या का सान्निध्य मुझे अच्छा लग रहा था। लोगों द्वारा मेरा यह सत्कार शैव्या के मन में बैठी मेरी मूर्ति को एक विचित्र आभा प्रदान कर रहा था। अब मैं उसकी दृष्टि में महिमामंडित था। वह कृष्ण अब उससे लगभग छूट चुका था, जिसपर उसने थूका था।

एक बार तो वह अचानक गंभीर हो गई और एकटक मुझे देखने लगी। वृक्षों की घनी छाया में रथ घरघराता हुआ चला जा रहा था। आकाश में उठते सूर्य की धूप टुकड़े-टुकड़े होकर हमपर बरस रही थी। मैंने भी उसकी ओर देखा। फिर भी उसकी मुद्रा नहीं बदली। स्पष्ट लगा कि उसपर मानसिक रोग का दौरा पड़ा है। मैंने पूछा, “क्या सोच रही हो?”

“देख रही हूँ कि तुम वही हो या दूसरे?” एकदम मानसिक रोगी की तरह उसने प्रश्न किया।

“क्यों? मुझमें कोई अंतर दिखाई दे रहा है क्या?”

“जब से तुम्हारा अतीत मुझसे लिपटा है, तुम दूसरे दिखाई दे रहे हो।”

“अतीत कभी भी किसीको छोड़ता नहीं, वह तो लिपटा ही रहता है। यह बात दूसरी है कि वह तुम्हें दिखाई न दिया हो।”

“कभी तुमने दिखाया नहीं, इसलिए देखती कैसे?” उसका कहना था—“तुम्हारे अतीत को दिखाया मार्ग के लोगों ने।”

“जब मैं स्वयं अपना अतीत नहीं देखता तो तुम्हें क्या दिखाता!” मेरा कहना था कि “अतीत को देखनेवाला व्यक्ति अतीत में जीने लगता है—और अतीतजीवी वर्तमान को ठीक से भोग नहीं पाता।”

“तो क्या वर्तमान को भोगने के लिए अतीत को भुला देना चाहिए?”

“यह मैं कब कहता हूँ। अतीत को भुलाना अपने इतिहास को भुलाना है।” मैंने कहा, “और इतिहास को भुलाकर कोई व्यक्ति या संस्कृति अपनी पहचान भूल जाती है। अतएव इतिहास को भूलना नहीं चाहिए और इतिहास में जीना

भी नहीं चाहिए।”

“पर हमारा वर्तमान तो इस समय मार्ग पर दौड़ रहा है।” शैव्या मुसकराई।

“इसी गति का नाम तो जीवन है।” मैंने कहा, “यदि यह गंतव्य की ओर बढ़ती है, तब जीवन सफल है। यदि गंतव्य से विमुख हो जाती है, तब विफलता हाथ लगती है।”

इन्हीं बातों में उलझे हम किसी जनपद के निकट आ गए थे। एक विशाल भीड़ ने हमें रोक लिया था। यहाँ सभी हमारे दर्शन को लालायित लगे। छोटे-छोटे बच्चे भी हमें बड़े कुतूहल से देख रहे थे। उनका आग्रह था कि हम निकट के मंदिर की ओर चलें।

सूर्य पश्चिम की ओर ढुलक चुका था। संध्या अब निकट थी। जिस मंदिर में हम लोग आए गए थे, वहाँ बड़ा प्राचीन शिव मंदिर था। वहाँ के लोगों का कहना था कि यह शिवलिंग बड़ा सिद्ध है। यात्रियों का ऐसा कोई समूह इधर से नहीं गुजरता, जो यहाँ मस्तक न नवाता हो और अपनी यात्रा के लिए आशीर्वाद न लेता हो।

मंदिर का चबूतरा भी विशाल था। हमारे जैसे दो समूह उसपर बड़ी सरलता से आराम कर सकते थे। हमने अपनी यात्रा को यहीं विश्राम दिया। मंदिर के चारों ओर का प्रशस्त भू-खंड भी हरे-भरे वृक्षों से भरा था। हमने यहीं अपने रथ खड़े किए। हमारे सैनिकों ने भी अपने-अपने घोड़े चरने के लिए छोड़ दिए।

संध्या डूबने लगी थी। भीड़ के अनेक लोग हमारी स्वागत व्यवस्था में लग चुके थे। हमारे भोजन के लिए पकवानों के अतिरिक्त दूध और फल भी लाए गए। चैत्र की यह मादक गोधूलि धीरे-धीरे घनी होने लगी। इसी बीच हमने देखा कि एक वृद्धा अपने सिर पर मटकी लिये चली आ रही है। बस गोकुल मेरी आँखों के सामने आ गया। मेरा बचपन उन कुंजों में किल्लोल करता मुझे दिखाई दिया।

“सुना है, तू दधि और माखन का ही प्रेमी है।” वह बूढ़ी दही की मटकी मेरे सामने रखते हुए बोली। मेरे अन्य मित्र भी उसकी ओर आकृष्ट हुए।

“तुझे कैसे मालूम, माँ?” मैंने आत्मीयता से पूछा।

“तू मुझसे चुहुल करता है।” बूढ़ी का पोपला मुख खिलखिलाया—“अभी तो दो-तीन दिन पहले तू ही सबकुछ हम लोगों को बता गया है। आज मुकुट लगाकर आया है तो समझता है कि मैं तुझे पहचानूँगी नहीं।”

अब मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सब मेरी ओर चकित भाव से देखने लगे। उस समय उनके मन पर मेरे देवत्व से अधिक मेरी लीला का विस्मय था। मैं भी सोचने लगा था कि आखिर यह बुढ़िया कह क्या रही है? पर वह कहती जा रही थी—“सही-सही बता, तू दो-तीन दिन पहले यहाँ नहीं आया था? तू ही ने तो अपनी सारी लीला बताई थी; वही गोवर्धन पर्वतवाली, कालीदह, पूतना और चाणूर वधवाली। सोचता है कि मैं बहुत चालाक हूँ। मोर मुकुट लगा लेगा तो कोई पहचानेगा नहीं। बेटा, तेरे जैसे मायावी को मैं खूब पहचानती हूँ। अब तो तेरी पोल खुल ही गई। सच-सच बोल दे, आया था न?”

मुझे कहना पड़ा—“हाँ, आया था।”

बूढ़ी इतना तेज हँसी जैसे उसने अंधकार में खो गए सत्य को पुनः पा लिया हो।

“क्या समझता है, बेटा? ये आँखें अस्सी से पार हो चुकी हैं। इनसे तेरी असलियत छिपी नहीं है और छिप भी नहीं सकती।” वह जीर्ण जर्जर बूढ़ी बच्चों-सी फुदकती चली गई।

लोग आश्चर्य में डूबे अब भी मेरी ओर देख रहे थे। मैं वस्तुस्थिति को समझने की कोशिश कर रहा था। तब तक शैव्या ने पूछ ही दिया—“कौन आया था यहाँ?”

“मेरी माया।” मैंने मुसकराते हुए रहस्य पर रहस्य की एक परत और चढ़ाई। “अब तुम मेरे साथ हो ही, धीरे-धीरे

सबकुछ जान जाओगी।”

बात तो मैंने उस समय समाप्त कर दी और लगा मटकी से दही निकालकर बाँटने और खाने; पर लोगों की जिज्ञासा को विश्राम कहाँ?

अंत में मुझे लोगों को बताना पड़ा—“लगता है, हम लोगों के आने के पहले छंदक इधर से गुजर गया है। इस भू-खंड पर लिखी मेरी कहानी उसीकी लिखावट में है।...और वह बुढ़िया भी ठीक ही कहती थी। मुकुट, चक्र और वंशीविहीन होने पर मैं बिल्कुल छंदक जैसा ही हो जाता हूँ।”

□

वहाँ के लोगों द्वारा मंदिर के विशाल चबूतरे पर बड़े-बड़े आस्तरण बिछाए गए थे। उसपर मृगचर्म के ऊपर हम दोनों भाइयों के लिए बाघंबर थे। मैंने वह स्थान फूफा और भैया के लिए सुरक्षित रखा और मैं उद्धव को लेकर अपनी रुचि के अनुसार नील मेषों के चर्म पर ढुलक गया।

हम लोगों के बीच एक ही स्त्री थी—शैव्या। मंदिर के प्राचीर के निकट वस्त्रों को टाँगकर उन लोगों ने उसके लिए एक सुंदर प्रकोष्ठ जैसा बना दिया था। शुश्रूषा के लिए एक सेविका भी निश्चित कर दी थी।

भोजनोपरांत हम सभी तारों टँके उन्मुक्त आकाश के नीचे विश्राम कर रहे थे। दिन भर के थके थे। चैत्र की शीतल मंद और सुगंधित वायु ने हमें सहलाना आरंभ किया। लोग बेसुध होने लगे। मैंने अनुभव किया कि उद्धव अभी सोया नहीं है; पर तंद्रा में आ गया है।

“सो गए क्या?” मैंने उसे हिलाते हुए धीरे से बोला।

“नहीं।” उसने अवश्य कहा; पर उसकी आवाज निद्रा के निकट थी।

“सेनापति तब सोता है जब उसकी सेना सो जाती है।” मैंने कहा, “देखो, तुम्हारे सैनिक अभी जागे हुए हैं। वे बातें कर रहे हैं। सुन रहे हो उनकी बातें?”

उद्धव अब सजग हुआ। उस सन्नाटे पर तैरती हुई उन सैनिकों की आवाजें अब स्पष्ट आ रही थीं—“आखिर हमारी भी क्या जिंदगी है!” उनमें से कोई कह रहा था कि “कल तक करवीरपुर के सेवक थे, आज दासों की तरह दूसरों को सौंप दिए गए।”

“हम दास तो हैं ही। जीना तो दूर, हम अपनी इच्छा से मर भी नहीं सकते।” यह दूसरी आवाज थी।

“इतनी निराशा की कोई बात तो हमें दिखाई नहीं देती।...हमारा यह स्वामी पुराने स्वामी से कहीं अच्छा है। यदि चाहता तो करवीरपुर का राजा बनकर बैठ जाता; पर उसने ऐसा नहीं किया।”

“किया, चाहे नहीं किया; पर स्वामी तो स्वामी है। दूसरों के लिए लड़ना और मरना हमारी नियति है। स्वर्णखंडों पर बिका जीवन अब अपना नहीं रहा।”

उनींदे स्वर में जैसे कोई बड़बड़ा रहा था—“कैसा स्वामी और कौन स्वामी! अरे, अभी तो इसका कहीं राज्य भी नहीं है। व्यर्थ की बकवास तुम लोग लगाए हो। चुपचाप सो जाओ।”

और इसके बाद सारी आवाजें हँसी की एक चादर ओढ़ सो गईं।

मैं सोचने लगा, कैसे सहज जीव हैं। इनपर मेरे व्यक्तित्व का कोई प्रभाव नहीं। मेरा ईश्वरत्व इन्हें छू तक नहीं गया है। पशु-पक्षी के भी भगवान् नहीं होते। भगवान् की सारी अवधारणाएँ उन मनुष्यों की बुद्धि की उपज हैं, जिनके पास आकांक्षाएँ हैं, ईर्ष्या है, घृणा है, द्वेष है, हमारा-तुम्हारा है; जिन्होंने धरती बाँटी है; जिनका बस चले तो आकाश भी बाँट लें।

“कुछ सुना आपने?” इस बार उद्धव ने मेरे चिंतन को झकझोरा।

“क्या?”

“यही कि हमारे पास कोई राज्य नहीं है।” उद्धव बोला, “बिना राज्य के सेना कैसी? सेना तो राज्य के सात (सप्ताङ्गस्य च राजस्य) अंगों में से एक अंग है। फिर बिना अंगी के अंग कैसा!”

“ठीक कहते हो, उद्धव!” अब मेरा चिंतन राज्य की अनिवार्यता को स्वीकारने लगा। मैंने अब अनुभव किया कि मुझे अब अपना राज्य स्थापित करना चाहिए। मेरे कानों में रुक्मिणी की वही पुरानी आवाज पुनः गूँजने लगी—“तुम तो ग्वालों के सरदार के बेटे हो, कोई राजा के बेटे तो हो नहीं, जो तुम्हारे यहाँ जरासंध मेरे स्वयंवर का निमंत्रण भेजे।”

मैं यही सोचते-सोचते सो गया। उद्धव शायद मुझसे पहले सो गया था।

दूसरे दिन हम लोगों ने ब्राह्म मुहूर्त में ही यात्रा आरंभ की; क्योंकि मध्याह्न होते-होते हमें उज्जयिनी पहुँचना था। मैंने चलने के पूर्व उद्धव को निर्देश दिया—“आगे-आगे तुम्हीं हो, जरा गति बढ़ाए चलना।”

इस बार फूफाजी के रथ पर मैंने शैव्या को बैठाया और भैया को अपने रथ पर बुला लिया। मैंने यह सबकुछ बड़ी विनम्रता से किया। किसीको कोई बात लग न जाए। फिर भी भैया ने मुसकराते हुए पूछ ही दिया—“क्यों, शैव्या से मन भर गया?”

मैंने उनके व्यंग्य पर विचार न करते हुए बड़ी गंभीरता से कहा, “आपसे कुछ मंत्रणा करनी थी।”

“किस संदर्भ में?”

तब मैंने रात्रि की घटना विस्तार से चर्चा की। मैंने बताया कि “आप लोगों के सोने के बाद भी मैं जाग रहा था। सैनिकों की बातें सुन रहा था। उनका कहना था कि हम लोग सैनिक तो हैं, पर हमारा यह समूह सेना नहीं है।”

“यह कैसे हो सकता है?” भैया बोले, “तुमने उद्धव को सेनानायक भी बना दिया है। फिर भी वे स्वयं के समूह को सेना नहीं मानते!”

“मुझे तो उनका तर्क ठीक लगता है।” मैंने कहा।

“कैसे?”

“सैनिकता तो उनका धर्म है। वे अब भी उस धर्म से बँधे हुए हैं। मारने-मरने को तैयार हैं; पर अपने समूह को ये सेना नहीं कहते, क्योंकि सेना तो राज्य का अंग होती है। हमारे पास जब राज्य ही नहीं है तब सेना कैसी? जब अंगी ही नहीं है तब अंग कैसा?”

भैया मेरा मुँह देखने लगे। उन्हें भी लगा कि सैनिकों का तर्क ठीक है।

“लगता है, नियति हमें राज्य की ओर ले चल रही है। जब उसने अंग जुटाने शुरू कर दिए हैं तो एक दिन अंगी की भी अवतारणा हो जाएगी।” इसी क्रम में भैया को राज्य के सात अंगों का स्मरण कराते हुए मैंने कहा, “छोटी-मोटी सेना तो हमारे साथ है ही। पद्मावती के दिए उपहार को कोष का प्रारंभिक रूप समझ लीजिए। प्रजा से तो हम अलग हैं ही नहीं।”

भैया ने बात काटते हुए कहा, “और राजा तो प्रजा के पहले से ही हमारे पास है।” उनका स्पष्ट संकेत मेरी ओर था।

हम दोनों हँस पड़े। रथ अपनी गति से चला जा रहा था। उसकी घड़घड़ाहट से वृक्षों पर बसेरा लेते पक्षी आकाश में छितरा जा रहे थे और राजपथ तक टहलने आ गए मृग भी जंगल में भाग पड़ते थे।

“जब राजा है तो उसके पारिषद् भी हैं ही—और अमात्य भी। दंड विधान भी बना लिया जाएगा।”

मैंने कहा, “अब राज्य के केवल दो अंग नहीं हैं—भू-खंड और दुर्ग।”

“इसके लिए हमें प्रयत्न करना होगा।” भैया ने राज्य की आवश्यकता अनुभव करते हुए कहा।

“पर इतना जो कुछ है, उसके लिए हमने क्या प्रयत्न किया?” मैंने कहा।

“बिना प्रयत्न के ही यह सब प्राप्त हो गया है।” भैया बोले।

“जिसे आप प्रयत्न कहते हैं, वह तो हमारा कर्तव्य था। परिस्थितियाँ उन कर्तव्यों को निर्धारित करती गईं और हम करते गए। वस्तुतः हमारा कर्मवाद हमारे जीवन में किसी भी क्षण स्खलित नहीं हुआ।”

भैया चुप हो गए। थोड़ी देर बाद कुछ सोचते हुए बोले, “तब तो हमें कर्म करते रहना चाहिए; पर दृष्टि राज्य-स्थापन की ओर अवश्य रखनी चाहिए।”

अब हम अवंती की सीमा में आ चुके थे। चारों ओर हमारा जय-जयकार हो रहा था; जैसे हम कोई बड़ी विजय करके लौटे हों। अब भैया ने स्वीकार किया कि यह सारी माया छंदक की है। हो सकता है, उज्जयिनी में वह मिले भी।

मैंने उनके कथन पर स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

अब हम उज्जयिनी की परिधि में थे। महाकाल के मंदिर का विशाल कलश दिखाई देने लगा था। थोड़ा और आगे बढ़ते-बढ़ते भीड़ ने हमें घेर लिया। हमने देखा, आचार्य सांदीपनि के साथ महाराज जयसेन और उनके दोनों पुत्र—विंद और अनुविंद भी स्वागतार्थ चले आ रहे हैं। हम लोग रथ से उतर गए। स्पष्ट लगा कि महाराज की हमारे संबंध में धारणा अब पहले से बदल चुकी है।

हमने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया।

“अरे, आप यह क्या कर रहे हैं? आप तो स्वयं प्रणम्य हैं।” महाराज बोले और मेरी ओर झुके। वय में छोटा होते हुए भी मैंने उन्हें वक्ष से लगा लिया। वे बोलते रहे—“मुझे अनुविंद से सबकुछ ज्ञात हो गया है। आपने जिस उदारता से जरासंध को क्षमादान दिया है, वह आपकी महत्ता का द्योतक है।”

उन्हें छोड़ते ही मैं आचार्यजी के चरणों पर गिर पड़ा। वे हम लोगों से मिलकर परम प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने अपने पुत्र के संबंध में जिज्ञासा की।

“आजकल वह करवीरपुर का सेनानायक है।” मैंने कहा।

आचार्यजी की आकृति की प्रत्येक झुर्री जैसे विहँस पड़ी—“जो नरक का वासी था, वह आज उसी राज्य में सेनानायक है। यह सब तुम्हारी कृपा का ही फल है, कन्हैया!” सांदीपनि का कंठ भर आया और उन्होंने मुझे छाती से ऐसे लगाया, जैसे वह छोड़ना ही न चाहते हों।

इसी बीच भैया ने अति उत्साह में करवीरपुर की सारी घटना कह सुनाई। जब उन्होंने सुना कि रुद्राचार्य अब वहाँ के राजगुरु हैं, उनका अपना आश्रम है, तो वे फूले नहीं समाए।

“मुझे स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं थी कि इतना परिवर्तन हो जाएगा।”

अब महाराज बोले, “कभी-कभी यथार्थ कल्पना से अधिक प्रखर होता है, आचार्य!”

“और तभी वह चमत्कार की संज्ञा पाता है।” आचार्य बोले, “इसीसे तो कहता हूँ कि मेरा कन्हैया चमत्कारी है, चमत्कारी।”

मैंने देखा, आचार्य की आँखों में देवत्व की आभा उतर आई है।

मैं, भैया और उद्धव भीड़ के दबाव में महाराज और आचार्य के साथ हो लिये थे; पर दो व्यक्तित्व ऐसे थे, जो एकदम अलग-थलग पड़ गए थे। एक दमघोष फूफाजी और दूसरी शैव्या।

शैव्या तो भीड़ से एकदम दूर खड़ी महाकाल के मंदिर को एकटक निहार रही थी। ऐसा लग रहा था कि इस मंदिर से लिपटी सारी स्मृतियाँ उसके मानस पर विभिन्न भंगिमाओं में उभरने लगी हैं। चित्त की इस एकाग्रता के

कारण शायद उसने किसी प्रकार के उपेक्षाभाव का अनुभव नहीं किया; पर फूफाजी के संदर्भ में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वे रथ से उतरकर बहुत देर तक खड़े रहे; फिर चुपचाप जाकर रथ में बैठ गए। उन्होंने स्वयं को थोड़ा अपमानित भी अनुभव किया। वे चेदिराज थे। उनका सम्मान राजोचित होना चाहिए था; पर यहाँ तो सभी मुझमें ही उलझे रह गए।

उनकी ओर दृष्टि पड़ते ही मैं दौड़ पड़ा—“अरे फूफाजी, आप बैठे ही रह गए!” मैंने कहा। अब तक अवन्तीराज भी आ गए थे। उन्होंने बड़ी विनम्रता से क्षमा माँगी और बोले, “हम लोग ऐसे घिर गए थे कि आप तक पहुँच ही नहीं सके।”

“घिर नहीं गए वरन् यों कहिए कि कन्हैया को देखनेवाला किसी और को देखता ही नहीं है। मैं इसे रास्ते भर अनुभव कर रहा हूँ।” उन्होंने रथ से उतरकर मुसकराते हुए कहा और अवन्तीराज के अभिवादन का उचित उत्तर दिया।

जयसेन ने भी अपने पुत्र विंद को निर्देश दिया—“चेदिराज को प्रासाद में ले चलो। ये मेरे कक्ष में ही ठहरेंगे।”

मैंने अनुभव किया कि फूफाजी को यहाँ की उपेक्षा से अधिक मार्ग की उपेक्षा से ज्यादा चोट लगी है; पर मैं मार्ग की जनता से क्या कह सकता था! यदि उनके रथ पर से भैया को न हटाता तो शायद उनकी मनःस्थिति इतनी न बिगड़ती। खैर, अब तो जो होना था, वह हो ही चुका था। उसे न कुरेदना ही मैंने उचित समझा।

फूफाजी को लेकर महाराज प्रासाद की ओर बढ़ चले थे। उनके साथ महामात्य और राजकीय कर्मचारी भी थे। भीड़ भी अब तितर-बितर होने लगी थी। उधर शैव्या अपने सपनों में अब भी खोई थी। मैं अनुविंद के साथ उसके भी घावों को सहलाने के लिए आगे बढ़ा।

“किन सपनों में खोई हो?” मैं शैव्या के निकट पहुँचकर उसके पीछे से बोला।

वह एकदम चौंक पड़ी।

“जब यथार्थ हाथ से छूट जाता है तब सपने ही तो रह जाते हैं, भैया।” उसकी आवाज में सपनों का उतना प्रभाव नहीं था, जितना भीतर की आग के धुँएँ का।

“पर सपने जीवन नहीं होते।”

“जीवन की मनचाही कल्पना तो होते हैं, इसीलिए लुभावने भी। चित्त को बड़ी शांति मिलती है इसमें।” अभी तक मैंने शैव्या की भावुकता देखी थी। पहली बार मैं उसकी बौद्धिकता की ऊँचाई देख रहा था।

क्षण भर बाद उसीके चिंतन की डोर पकड़ते हुए बोला, “तुम्हारा यथार्थ तुम्हारे हाथ से छूट भले ही गया हो, पर वह अब भी तुम्हारे पास है। जब चाहे तुम उसे पकड़ सकती हो, आम्र की उस निचली डाल से लटकती मंजरी की तरह।” मैंने ‘कालतीर्थ’ के किनारे लगे रसाल की ओर संकेत किया। उसके अधरों के बीच मुसकराहट की एक हलकी रेखा रेंग गई। मैं भी मुसकराते हुए अनुविंद की ओर देखने लगा।

तनाव ढीला पड़ा। अब उसका स्वप्न छूट चुका था। वह प्रकृतिस्थ हो चली थी। मैंने अनुविंद से कहा, “यह भी तुम्हारी राजकीय अतिथि हैं।”

शैव्या ने मुसकराते हुए पूछा, “क्यों?”

“क्योंकि तुम राजा की बहन हो, किसी ग्वाले की बेटी नहीं।”

बौद्धिक स्तर ऊँचा होने से उसकी समझदारी भी पैनी थी। वह मेरा व्यंग्य समझ गई और खुलकर हँसी।

किंतु मेरा उद्देश्य तो उसे संप्रति अपने से दूर हटाना था और मैं उसमें सफल हुआ। वह अनुविंद के साथ राजमहल

में चली गई। मैं पुनः आचार्य की ओर बढ़ा। भैया और उद्धव तो वहाँ पहले से ही थे। आचार्यजी सोचने लगे कि शायद मैं उन्हें राजभवन की ओर ही ले जाने के लिए आ रहा हूँ।

“मेरा अहोभाग्य हो, यदि तुम सब मेरा आतिथ्य स्वीकार करो।” मेरे पहुँचते ही वे बोल पड़े।

“अरे, आप यह क्या कह रहे हैं, गुरुवर! हम आप ही लोगों का आशीर्वाद तो लेने आए हैं; और माताजी को देखे तो बहुत दिन हो गए।”

“वह भी तुमसे मिलकर बड़ी प्रसन्न होंगी। हर विकट परिस्थिति में तो तुम्हीं याद आते रहे।”

अब भैया चुप न रह सके—“विकट परिस्थिति में तो केवल भगवान् याद आते हैं।”

“हम लोगों के लिए तो कन्हैया ही भगवान् है।”

□

आश्रम में पहुँचते ही माताजी की विह्वलता ने हमें वैसे ही देखा, जैसे कोई रंक स्वर्ण-भंडार को निहारे। कब के बिछुड़े पुत्र उन्हें अप्रत्याशित मिल गए थे। जैसे कभी उन्होंने पुनर्दत्त को पाया था और विह्वलता में पागल हो गई थीं—“अरे मेरे वत्स, अरे तात! तुम कहाँ चले गए थे?” उन्होंने हममें से एक-एक का सिर सूँघा। गले से लगाया और प्रत्येक के तन पर हाथ फेरती हुई ऐसे देखने लगीं, जैसे कभी देखा ही न हो।

इसके बाद वह स्वयं आस्तरण लाने के लिए दौड़ीं। हर माता अपने बिछुड़े पुत्र के संबंध में सबसे पहले जिज्ञासा करती है। पर ममता की यह स्थायी प्रकृति भी उनकी विह्वलता पर हावी न हो सकी। उन्होंने पुनर्दत्त के बारे में कुछ नहीं पूछा, बस हमीं लोगों से लगी रहीं; जैसे हमीं उनके पुनर्दत्त हों।

अब वह अल्पाहार की व्यवस्था के लिए आश्रम के शिष्यों को बुलाने लगीं—“अरे वासवी और रेवती! देखो, आज कौन से लोग आए हैं!”

हमने देखा, बालकों के अतिरिक्त अब बालिकाएँ भी आश्रम का शिष्यत्व ग्रहण कर चुकी हैं। पर ये बालिकाएँ भी नहीं हैं, पूर्ण युवतियाँ हैं। हम सब आश्चर्य से उन्हें देखते रहे। कभी आश्रम में इनका प्रवेश निषेध था; पर आज ऐसा कुछ दिखाई नहीं पड़ा।

भैया के मुख से तो निकल ही पड़ा—“क्या आश्रम में नारी प्रवेश निषेध नहीं है?”

“नहीं, अब ऐसी कोई वर्जना नहीं रही।” आचार्य बोले, “जैसा समाज होता है वैसे ही सामाजिक नियम और आचार संहिता बनती है।”

“पर आचार संहिताएँ इतनी जल्दी नहीं बदलतीं।” मैंने कहा।

“जब समाज जल्दी बदल रहा हो तब उनकी आचार संहिता के बदलाव में भी शीघ्रता अपेक्षित है; अन्यथा समाज से सामाजिक जीवन-मूल्यों का संतुलन टूट जाता है।” आचार्य ने कहा, “हम सब एक संक्रमण काल में जी रहे हैं। संक्रमित समाज के बदलाव की अनुभूति हमें स्पष्ट होती है और इसीलिए वह आश्चर्यजनक लगती है। फिर वैदिक युग में नारी के लिए ऐसी कोई वर्जना नहीं थी। अपाला, गार्गी—सभी आश्रमों में ही रहीं।”

“पर वे तो ऋषि पुत्रियाँ थीं, आश्रम में न रहतीं तो कहाँ जातीं? क्या ये भी आपकी पुत्रियाँ हैं?” मैंने मुसकराते हुए ही पूछा।

“इन्हें भी मेरी पुत्रियाँ ही समझो, वत्स।” आचार्य की मुसकराहट उन दोनों युवतियों के अधरों का स्पर्श करती चली गई।

तब तक माताजी की आवाज पुनः उन युवतियों को संबोधित करती हुई सुनाई पड़ी—“अरे, तुम लोग वहाँ खड़ी क्या कर रही हो? उन लोगों को कुछ खिलाने-पिलाने की व्यवस्था करो।”

दोनों माताजी के कक्ष में चली गईं। अब भैया का स्वप्न टूटा। वह तो रेवती को एकटक देख रहे थे। सचमुच ऐसी

हृष्ट-पुष्ट और सुगढ़ शरीरयष्टि की युवतियाँ शायद ही दिखाई देती हों। लगता है, विधाता ने हिमगिरि पर पड़ती हुई उषा की किरणों को ही समेटकर उसे बनाया था। भैया की जब टकटकी उसपर लगी थी तब उसकी स्वर्णिम आकृति पर ऊपर से जड़ी लगती दो बड़ी-बड़ी आँखों में लज्जा रक्तवर्णी होकर उतर आई थी। कोमलता के साथ प्रौढ़ता का ऐसा अद्भुत समन्वय था मानो स्वर्ग की कोई अप्सरा धरती पर वीरांगना के रूप में अवतरित हुई हो। उसने कोई युद्ध भले न जीता हो, पर भैया का मन तो जीत लिया था। यह भैया की हर भंगिमा बता रही थी। वह जिधर से जाती, उनकी आँखें उधर ही पीछा करतीं। आचार्यजी को भैया की मनःस्थिति का आभास लग चुका था। शायद इसीसे जब वह फलों की डाली लेकर आई तो आचार्यजी बोल पड़े—“इसीके लिए तो मुझे आश्रम का नियम बदलना पड़ा।”

“अच्छा, ऐसी है यह!” मैंने नाटकीयता का सहारा लिया—“सारे नियम अपने सौंदर्य-प्रहार से ध्वस्त करती चली आई है।”

“अपने सौंदर्य-प्रहार से नहीं, अपनी परिस्थितियों की मार से कहो।” आचार्यजी गंभीर हुए। हमारी जिज्ञासा और बढ़ी। पर उसे खोलने का भार भैया पर छोड़ते हुए मैंने उस दूसरी युवती के बारे में पूछा, “यह कौन है?”

“अरे, तुम इसे नहीं जानते!” आचार्य के स्वर में विस्मय का भाव था—“इसको तो तुमने देखा होगा।”

“यदि देखा होता तो क्यों पूछता!”

“आश्चर्य! यह श्वेतकेतु की बहन है, वासवी।” आचार्य ने बताया। उसकी आकृति भी श्वेतकेतु से बहुत मिलती थी। आचार्यजी बोलते चले जा रहे थे—“तुम्हें मालूम होगा कि श्वेतकेतु आश्रम से ही गायब हो गया था। मैं तो कहूँगा, उसे शृंगलव की बहन शैव्या उठा ले गई थी।”

“शैव्या नहीं, शैव्या का आकर्षण कहिए, आचार्य।” मेरे कहने पर उद्धव तो हँस पड़ा, पर आचार्यजी गंभीर ही दिखे।

आचार्यजी बोले, “नारी का आकर्षण पुरुष के लिए स्वाभाविक है, प्रकृति-धर्म है; पर उस आकर्षण को पाश न बनाना पुरुष का विवेक है। हमें आश्चर्य है कि श्वेतकेतु के इस विवेक का स्खलन कैसे हुआ? और आश्चर्य यह भी है कि वह बिना किसीसे कुछ कहे, उस पाश में जकड़ता चला गया। आश्रम परेशान। तुम्हारी माताजी तो चार दिनों तक सोई नहीं। हमेशा रोती रहीं। उनके मस्तिष्क में यही बात भरी रही कि ऐसे ही अचानक मेरा पुनर्दत्त भी गायब हो गया था।

“जब श्वेतकेतु के माता-पिता को उसके अदृश्य होने का पता चला, तो वे पहले यहीं आए। वासवी भी उनके साथ थी।” उन्होंने अपनी पत्नी की ओर संकेत कर कहा, “उस समय बिलख-बिलखकर वासवी को ऐसा वक्ष से लगाया कि आज तक उसे छोड़ न सकीं।”

हम लोग फल खाते रहे और इधर-उधर की बातें करते रहे, तब तक रेवती दधि और नवनीत लेकर आई और दोनों पात्र मेरे सम्मुख रखकर मुसकराने लगी। मैंने अनुभव किया कि भैया की दृष्टि फिर उसकी मांसल देह से चिपक गई है। वह भी कनखियों से उन्हें देख रही थी।

इसी बीच आचार्यजी बोल पड़े—“यह मेरी शिष्या वह विद्या सीखने आई है, जिसमें तुम आचार्य हो, बलराम!” भैया झेंप गए। हम सबकी जिज्ञासा रेवती के प्रति और बढ़ी।

“मैं कुछ समझ नहीं पाया, आचार्य।” भैया ने कहा।

“यह गदायुद्ध का अभ्यास कर रही है।” आचार्यजी ने बताया।

“नारी और गदायुद्ध!” भैया बोले।

“क्या शस्त्र विद्या पर पुरुषों का ही अधिकार है?” रेवती ने ऐसे तपाक से कहा जैसे इस प्रश्न का उत्तर वह अनेक परिस्थितियों में दुहराती रही हो। उसकी सलज्ज आँखों में तेजस्विता बिजली की तरह कौंध गई।

भैया पर तो उसके सौंदर्य का ऐंद्रजालिक प्रभाव था। वे स्तब्ध थे और स्तब्ध रह गए। मैंने कहा, “विद्या तो न किसीके लिए वर्जित है और न होनी चाहिए। पर इसपर तो विचार होना ही चाहिए कि कौन सी शस्त्र विद्या किसके अनुकूल है।”

“क्या इसकी देह की मांसलता गदायुद्ध के उपयुक्त नहीं है!” आचार्यजी ने हँसते हुए कहा और नारीसुलभ लज्जा ने रेवती को वहाँ खड़ा रहने नहीं दिया।

“यह तो भैया ही बता सकते हैं कि इसकी देह की मांसलता किसके उपयुक्त है!” मैंने मुसकराते हुए भैया की ओर देखा। वे अब भी चुप थे। भगवान् जाने वे मन-ही-मन उसकी देह की उपयुक्तता के संबंध में सोच रहे थे या और कुछ।

भैया के मौन, आचार्यजी के व्यंग्य और हमारे संकोच की त्रिवेणी में एक बार फिर रेवती का प्रसंग डूब गया। पर रेवती में हमारा डूबा हुआ मन नहीं उतराया। वह रहस्य में उलझता चला गया। अंत में मुझसे रहा नहीं गया। मैंने आचार्यजी से पूछा, “आपकी यह शिष्या कहाँ की रहनेवाली है? आसपास की तो नहीं मालूम देती!”

“यह कुशस्थली (वर्तमान द्वारका) से आई है। राजकन्या है।”

“राजकन्या!” हमारा आश्चर्य और बढ़ा।

“क्यों चकित होते हैं?” आचार्यजी बोले, “परिस्थितियों ने बेचारी की यह स्थिति कर दी, नहीं तो सागर के किनारे इसके पिता का विशाल राज्य था। विदेशों से व्यापार होता था; पर अचानक स्थितियाँ बदल गईं।” इतना कहकर आचार्यजी कुछ सोचने लगे। लगा, नियति की इस क्रूरता पर उनका मन भर आया।

“आपने रेवती के पिता का नाम तो बताया ही नहीं।” उद्धव बोला।

“रैवत ककुद्मिन।”

“यह नाम तो कुछ विदेशी जैसा लगता है।” मैंने कहा।

“विदेशी नहीं, एकदम देशी है। ककुद्मिन शर्यातिवंशीय क्षत्रिय हैं।”

“क्यों, क्या वे अब नहीं रहे?”

“हैं तो, पर नहीं के बराबर।” आचार्यजी ने बताया—“अब उन्होंने अज्ञातवास ले लिया है।”

“जीवन से ऐसी वितृष्णा क्यों?...क्या अवस्था होगी उनकी?”

“अवस्था तो कोई अधिक नहीं। यही समझिए कि रेवती उनकी पहली संतान है। वसुदेव के वय के होंगे।” आचार्यजी ने बताया—“रह गई वितृष्णा की बात। जब सत्ता देखते-देखते समाप्त हो जाती है, वैभव एक स्वप्न की तरह टूट जाता है, तब जीवन के प्रति वितृष्णा होना स्वाभाविक है, वत्स!”

“तो क्या ककुद्मिन प्रकृति प्रकोप के शिकार हुए? समुद्री वात्याचक्र की उत्ताल तरंगें कुशस्थली को निगल गईं?”

“समुद्री वात्याचक्र नहीं वरन् समुद्री राक्षसों ने ककुद्मिन के वैभव को निगल लिया।” आचार्य बोले, “इसकी बड़ी कारुणिक कथा है, कहैया। जब अल्पाहार के बाद मेरे कक्ष में विश्राम करने चलोगे, तब बताऊँगा।”

हमने समझ लिया कि आचार्यजी रेवती के समक्ष अधिक खुलना नहीं चाहते। यद्यपि इस समय वह यहाँ थी नहीं, पर उसके आ जाने की संभावना अवश्य थी।

जिज्ञासा की आतुरता ने हमारे अल्पाहार में शीघ्रता कर दी। हम लोग हाथ-मुँह धोकर आचार्य के कक्ष में प्रविष्ट हुए। अच्छा हुआ कि यहाँ और लोग नहीं थे। हमारे सारे साथी अवंती नरेश का आतिथ्य स्वीकार कर चुके थे।

आचार्यजी ने जो कुछ बताया, वह रोमांचक भी था और घृणित भी—“पुण्यजन के राक्षस कुशस्थली पर बराबर आक्रमण करते रहे। ककुद्मिन बराबर उनका सामना करता और हर बार वे राक्षस हार मानकर भाग जाते और जो कुछ लूट में मिलता, उन्हें ले जाते। वर्षों यह क्रम चलता रहा। धीरे-धीरे ककुद्मिन और उसके प्रजाजनों की यह धारणा बनती गई कि ये पुण्यजन राक्षस मात्र समुद्री दस्यु हैं, लुटेरे हैं। कोई कल्पना भी नहीं थी कि एक दिन ये कुशस्थली को ही हड़प लेंगे।...

“एक तूफानी रात को जब सारा नगर निश्चित सो रहा था तब ये राक्षस अपनी पूरी शक्ति के साथ चढ़ आए। स्वप्न में भी इस आक्रमण की आशंका नहीं थी। सैनिक अपने शिविरों में निर्विघ्न सो रहे थे। उन्हें इन राक्षसों ने उठने तक का अवसर नहीं दिया और सामूहिक हत्या आरंभ कर दी। लोग सोच भी न सके कि यह क्या हो रहा है। इसके बाद जो कुछ हुआ, वह कहते रोंगटे खड़े हो जाते हैं।” बोलते-बोलते आचार्यजी रुक गए।

हम सबकी प्रश्नवाची मुद्राएँ आचार्य की ओर लगीं। आचार्य की आँखों में अतीत रक्त बनकर उतराता दिखाई दिया। हम कुछ बोल नहीं सके। अपने धैर्य को बड़ी दृढ़ता से थामे हुए उनकी वाणी की प्रतीक्षा करते रहे।

थोड़ी देर बाद अत्यंत टूटे मन से कुछ संकेतों से, कुछ शब्दों के सहारे आचार्यजी ने बताया कि “सवेरा होते-होते सबकुछ समाप्त हो चुका था। अब अमानुषिकता का दौर शुरू हुआ। निरपराध नागरिक मौत के घाट उतारे जाने लगे। उनकी बहू-बेटियों को उन भूखे भेड़ियों ने सार्वजनिक रूप से बेइज्जत किया। इतना ही नहीं, उनकी पाशविकता राजभवनों तक पहुँची। रेवती की दो छोटी बहनों पर उसके पिता के समक्ष ही बलात्कार किया गया।” इतना कहते-कहते आचार्यजी क्रोध से काँपने लगे।

“और पिता देखता रह गया?” अब तक चुप बैठे भैया बोल पड़े।

“देखता न तो क्या करता!” आचार्यजी ने बताया—“वह एक स्तंभ में लौह जंजीरों से जकड़ दिया गया था। उन नीच राक्षसों ने उसकी हत्या नहीं की। यदि चाहते तो बड़ी सरलता से उसकी हत्या कर सकते थे; पर उन नीचों ने पता नहीं किस जन्म का प्रतिशोध लेने के लिए ककुद्मिन को जीवित रखा था। इस युद्ध में उसके तीस भाई और सात पुत्र भी मारे गए। जब उसकी लौह जंजीरें खोली गईं तब वह विक्षिप्त हो चुका था।”

“फिर रेवती कैसे बच गई?” यह प्रश्न भी भैया का ही था।

“उसके शौर्य ने उसकी रक्षा की।” इस समय आचार्य की शिराओं में जैसे रक्त दौड़ने लगा था। “वह चंडी की तरह असि लेकर पुण्यजन राक्षसों पर टूट पड़ी थी। अनेक को यमलोक पहुँचाया और जब उसकी असि टूट गई थी तब उसने गदा उठाई। गदायुद्ध में तो उसके समक्ष राक्षसों का ठहरना मुश्किल हो गया। वे अपना प्राण लेकर भागे। भागते हुए राक्षसों को कुंत प्रक्षेप से मारा। यह अकेली वीरांगना थी, जिसने अपना राजभवन शत्रुओं से मुक्त कराया। पिता के बंधन खोले और ककुद्मिन ने पूरे राजभवन में आग लगा दी।”

हम सब चकित थे—“आग लगा दी! आखिर क्यों?”

“मैंने कहा न, वह विक्षिप्त हो चुका था।” आचार्यजी बोले, “एक ओर राजभवन धू-धू कर जल रहा था, प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही थी और दूसरी ओर ककुद्मिन अट्टहास कर रहा था और चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था—‘जलो, मेरे पाप, तुम जलो। प्रजाजनो! तुम मरते हो, मरो। यह ककुद्मिन तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता। इसका पुंसत्व इसके पाप में भस्म हो गया। देखो, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण देखो। राजा का पाप प्रजा को चबा जाता है। यह तो मेरे पूर्वजन्म का कोई पाप है। भोगो, तुम्हें भोगना है। मैं भी तुम्हारे साथ भोगूँगा।’ रेवती कह रही थी कि इतना कहने के बाद पिताजी इस जलती हुई अग्नि में कूदने जा रहे थे, तब मैंने अपने दोनों हाथ उनकी कमर में डालकर अपना पूरा बल लगाकर उन्हें खींचा।”

“तब रेवती के सामने बड़ा संकट हो गया होगा।” उद्धव बोला, “स्वयं की रक्षा करना, पिता को सँभालना—वह भी एक विक्षिप्त पिता को।”

“कुछ मत पूछिए, जिस विपत्ति से वह गुजरी है!” आचार्यजी बोले, “यह तो कहिए, उस महाविनाश में राजवैद्य दीर्घतपा किसी तरह बच गए थे। रेवती अपने पिता को वहीं ले गई। राजवैद्य ने एक मास तक उन्हें अपने यहाँ रखा। पिता-पुत्री यहाँ नितांत गोपनीय जीवन जीते रहे। दीर्घतपा की चिकित्सा चलती रही। जब महीने भर बाद ककुद्मिन कुछ शांत हुआ, सामान्य जीवन जीने लगा तो अचानक एक असामान्य बात हो गई।” इतना कहने के बाद आचार्यजी के गले में कुछ अवरोध-सा आ गया। वह क्षण भर के लिए रुके और मुख काष्ठीवन (थूक) निगलते हुए बोले, “रेवती बता रही थी कि एक प्रातः सोकर उठने के बाद वे फूट-फूटकर रो पड़े। हम लोगों ने सोचा, कोई सपना देखा होगा। बहुत पूछा गया, पर कुछ नहीं बोले। शांत करने की चेष्टा की गई; पर रोते रहे। घंटों यह क्रम चलता रहा। राजवैद्य भी घबरा गए। जब उन्हें शामक ओषधि दी जाने लगी तब उन्होंने सिसकते हुए कहा, ‘मेरा रोग ओषधि से दूर नहीं होगा।’

“‘तब क्या किया जाए, राजन्?’ राजवैद्य बोले। ककुद्मिन एकदम फफक पड़ा—‘आप मुझे राजन् मत कहिए। अब मैं राजा नहीं वरन् आपकी प्रजा हूँ।’

“‘पर मैंने तो आपका नमक खाया है।’

“‘वह नमक तो भस्म हो गया है!’

“‘यह कैसे हो सकता है?’

“‘हो सकता है। वह नमक तो भस्म हो सकता है। देखा नहीं, राजपथ पर रक्त बनकर बह गया।’ ककुद्मिन बोला।

“‘तब क्या कहूँ आपको? क्या करूँ आपके लिए?’

“‘केवल बंधु कहो। मेरे लिए भगवान् से प्रार्थना करो कि मैं इस महानाश का प्रतिशोध ले सकूँ।’ ”

आचार्यजी ने आगे बताया—“अब ककुद्मिन के पश्चात्ताप की ज्वाला ने प्रतिशोध का रूप ले लिया। ‘अब मैं कैसे प्रतिशोध लूँगा, दीर्घतपा? मेरे पास तो कुछ भी नहीं रहा।’

“‘तब रेवती ने पिता को सांत्वना दी—‘कैसे आपके पास कुछ नहीं है? अभी तो मैं हूँ ही।’

“‘तो तू मेरा प्रतिशोध लेगी?’

“‘अवश्य लूँगी।’ रेवती बोली।

“‘जब तक तू प्रतिशोध नहीं लेगी तब तक मैं संसार को अपना मुँह नहीं दिखाऊँगा।’ इतना कहकर वे दीर्घतपा के आवास से जैसे थे वैसे ही चल पड़े।”

“और सीधे यहाँ चले आए।” उद्धव ने आचार्यजी की बात पूरी की।

“पर ऐसा नहीं हुआ।” आचार्य की वाणी गंभीर बनी रही—“वे यहाँ नहीं आए। जंगल-जंगल भटकते रहे। फल-फूल खाकर एक आदिवासी की तरह वे रेवती के साथ शूर्पक पहुँचे। वहाँ परशुराम के आश्रम में जाकर अपनी पुत्री को शस्त्र विद्या सिखाने की महाभारगव से प्रार्थना की।

“सुना है, पहले आचार्य ने मुसकराते हुए कहा, ‘हम क्षत्रियों को तो शिक्षा नहीं देते।’

“फिर ककुद्मिन ने अपनी सारी स्थिति बताई और कहा, ‘मुझे तो राक्षसों के विनाश के लिए आपकी विद्या चाहिए। अनीति और अत्याचार के प्रतिशोध के लिए आपकी विद्या चाहिए।’

“रेवती बता रही थी कि प्रतिशोध का नाम सुनते ही महाभारगव अट्टहास कर बैठे और बोले, ‘प्रतिशोध तो वह

अग्नि है, वत्स, जिसमें हम पहले जलते हैं और हमारे शत्रु बाद में। इस अग्नि में हम पीढ़ियों से जलते रहे हैं। मेरा अनुभव तो यही है, वत्स, कि प्रतिशोध की अग्नि कभी मत जलाओ।’

“ ‘तो क्या उन आततायियों को छोड़ दूँ?’ ककुद्मिन का प्रतिशोध अब उसकी आँखों से टपकने लगा था।

“ ‘यह तुम्हारा प्रतिशोध ही है, जो तुम्हारी आँखों से पिघलकर बह रहा है। इसीलिए कहता हूँ न कि प्रतिशोध को थूक दो।...संकल्प करो, उन आततायियों के विनाश का संकल्प।’ महाभारग्व बोले, ‘संकल्प और प्रतिशोध का अंतर समझते हो, वत्स?’

“ककुद्मिन ने नकारात्मक ढंग से सिर हिला दिया। तब महाभारग्व ने उसे समझाया कि ‘प्रतिशोध प्रतिक्रियात्मक होता है, संकल्प क्रियात्मक। प्रतिशोध में बदले की भावना है, संकल्प में हमारा कर्तव्यबोध। प्रतिक्रियात्मक होने से प्रतिशोध का लक्ष्य किसी व्यक्ति या समुदाय तक ही होता है; पर संकल्प का लक्ष्य उदात्त है।’

“इसके बाद आचार्य परशुराम ने दूसरा प्रश्न किया—‘तब तुम क्यों नहीं संकल्प करते? बेटी को अपने संकल्प का दायित्व क्यों सौंपते हो?’

“कहते हैं, ककुद्मिन सिसकने लगा। वह केवल इतना ही कह पाया—‘मैं तो अब किसीको मुँह दिखाने के योग्य भी नहीं हूँ। मैं टूट चुका हूँ, आचार्य! मेरी अस्मिता पापाग्नि में जल चुकी है, आचार्य।’

“ ‘किस पाप में?’

“ ‘पूर्वजन्म के पाप में। यदि मैंने पूर्वजन्म में पाप न किया होता तो मेरी प्रजा मेरे सामने ऐसी दुर्दशा न सहती।’

“ ‘हो तो तुम क्षत्रिय, पर चिंतन के स्तर पर ब्राह्मण हो। राजा के पाप और पुण्य का परिणाम प्रजा भोगती है, यह एक ब्राह्मण ही सोच सकता है।’ महाभारग्व बोले, ‘मैं तुम्हें अपनी विद्या दूँगा; क्योंकि तुम आततायियों के वध के लिए संकल्पबद्ध हो। आततायियों के वध का समर्थन तो स्मृतिकारों ने भी किया है; पर मेरे सामने एक संकट है कि मैंने आज तक किसी नारी को अपना शिष्य नहीं बनाया।’

“अब रेवती बोली, ‘क्या नारियों के लिए आश्रम प्रवेश वर्जित है?’

“ ‘वर्जित तो नहीं है, पर नारी को शिष्यत्व प्रदान करते हुए मुझमें एक हिचक है।’

“ ‘तो उस हिचक को तोड़िए, तात! प्रश्न मात्र मेरे संकल्प का नहीं है वरन् आततायियों के विनाश का है।’

“आचार्यजी रेवती की इस तेजस्विता से बड़े प्रसन्न हुए और उसे अपनी शिष्या स्वीकार कर लिया।

“ककुद्मिन जंगलों में चला गया। रेवती वर्षों वहाँ रही। इस बीच दोनों एक-दूसरे की स्थिति-परिस्थिति से अनजान रहे। न रेवती आश्रम से कभी बाहर निकली और न ककुद्मिन फिर कभी आश्रम में आया।

“धीरे-धीरे दो वर्ष बीत गए। रेवती की शिक्षा पूरी हुई। जब दीक्षांत समारोह में महाभारग्व रेवती को आशीर्वाद दे रहे थे और जब उन्होंने यह कहा कि बेटी, तेरा संकल्प पूरा हो, तो उसी समय—ठीक उसी समय ककुद्मिन आश्रम के द्वार पर से पागलों-सा नाचते हुए चिल्लाया—‘आज मैं कुछ शांति का अनुभव कर रहा हूँ।’

“‘लोगों को आश्चर्य था कि इतने दिनों से जो अदृश्य था, आज दृश्य कैसे हो गया? लगता है, वह पागल होकर भी एक सचेत की तरह रेवती की सुधि लेता रहा। वह संसार को अपना मुख नहीं दिखा सकता, पर संसार को देख तो सकता ही है।

“इसके बाद महाभारग्व ने दोनों को एक पत्र के साथ मेरे यहाँ भेजा।”

इतनी कथा सुनाकर आचार्यजी चुप हो गए। हम लोग बड़े कुतूहल से उन्हें सुनते रहे। और उनकी बात समाप्त होते ही लगा, पुराण का कोई अध्याय समाप्त हुआ।

हमारी जिज्ञासा चरम बिंदु पर थी, अतएव मैंने एक बात ऐसी पूछी, जो मुझे नहीं पूछनी चाहिए थी—“आप मुझे

क्षमा करेंगे, मैं एक नितांत व्यक्तिगत बात पूछना चाहता हूँ। उस पत्र में महाभारत ने लिखा क्या था?”

मेरे पूछने के ढंग पर आचार्यजी हँस पड़े—“वह व्यक्तिगत नहीं था, कन्हैया। मात्र एक परिचयात्मक पत्र था। उसमें कोई विशेष बात भी नहीं लिखी थी। केवल दो बातों पर जोर दिया गया था। एक यह कि मेरे जीवन में यह पहली नारी है, जिसे मैंने अपना शिष्य बनाया है। क्योंकि मुझे पूरा विश्वास है कि यह अपने ही नहीं वरन् मेरे भी संकल्प को पूरा करने में किसी पुरुष की अपेक्षा कम नहीं है। दूसरी बात उन्होंने यह लिखी थी कि नारी के लिए अपने आश्रम का द्वार खोल देने के बाद इसका प्रवेश लेने में तुम्हें किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होगी।”

मैंने कहा, “यदि आचार्य परशुराम ने यह न लिखा होता तो आप रेवती के संबंध में क्या करते, आचार्यजी?”

“रेवती ही क्यों, वासवी के संबंध में भी कहो।” उद्धव बोला।

“रेवती और वासवी, दोनों की अलग-अलग समस्याएँ थीं।” आचार्यजी ने बताया—“यदि महाभारत ने लिखा न होता तो मैं अवश्य सोच में पड़ जाता। जहाँ तक वासवी का प्रश्न है, एक तो यह कि रेवती ने उसका मार्ग साफ कर दिया। वासवी रेवती के बाद यहाँ आई थी। दूसरे, वासवी अपने भाई की खोज में आई थी और तुम्हारी माँ का दुःख बँटाने के लिए रह गई।”

माताजी का उल्लेख आते ही आचार्य की बातों का संदर्भ बदल गया। “हम लोग अपनी ही बातों में उलझे रहे। तुम्हारी माताजी अपने पुत्र और भाई का समाचार जानने के लिए उत्सुक होंगी।”

“क्या उन्हें करवीरपुर का समाचार अभी नहीं मिला है?” मैंने कहा।

“शृंगलव की मृत्यु के समाचार से तो वह अवगत हैं; पर पुनर्दत्त और रुद्राचार्य का क्या हुआ, यह वह नहीं जानती।”

“तब तो बहुत बड़ी बात नहीं जानती।” मैं कुछ सोचने लगा। आचार्यजी से तो मैंने मार्ग में बताया था, पर माताजी से न बता सका; क्योंकि मिलते ही उनकी प्रसन्नता में मेरा मन डूब गया था। अब जब उन्हें बताऊँगा तो वह और भी प्रसन्न होंगी।

मैं यह सोचकर वहाँ से उठने वाला था कि माताजी ने द्वार में प्रवेश किया।

“अरे, माताजी आ गई! मैं इसे संयोग कहूँ या मन का खिंचाव?”

“मन का खिंचाव कहो, बेटा।” वे एकदम आकर हम लोगों के पास बैठ गई।

“सचमुच तुम्हारी आयु बड़ी लंबी है। अभी ही तुम्हारी चर्चा हो रही थी।” आचार्य ने कहा।

“पर लंबी अवस्था की आवश्यकता नहीं है। यह युग जीने योग्य नहीं रहा।”

माताजी किसी विषाद की मनःस्थिति में आएँ, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—“एक सुखद समाचार तो आपको बताना ही भूल गया था, माँ।”

“क्या?”

“आपका पुत्र करवीरपुर का सेनानायक हो गया है और भाई वहाँ का राजगुरु।”

“सच!” उनका मुख खुला-का-खुला रह गया। आह्लाद का यह क्षण उनकी मानसिकता ने किस प्रकार झेला, सो कैसे बताऊँ!

वह विह्वलता में नाच उठीं और मुझे अपनी छाती से लगाते हुए बोलीं, “तू सचमुच मेरे लिए भगवान् है!”

□

रेवती के लिए भैया का आकर्षण ज्वार के सिंधु की तरह बढ़ता जा रहा था। पर वह अराजक नहीं हुआ था। न मुख से, न मुद्रा से—वह किसी प्रकार भी इसका उद्घाटन होने देना नहीं चाहते थे; पर भीतर-ही-भीतर पिघलते जा रहे थे। नारी की ऐसी स्फीत शिराओंवाली काया उन्होंने क्या, हम लोगों ने भी कभी नहीं देखी थी। यों गोमांतक की

पहाड़ियों पर भैया का परिचय कुछ कन्याओं से हुआ था; पर वे सिंधु की सतह पर ही लहराकर चली गई थीं। उनमें से किसीमें भी उनके जीवन की अंतर्धारा बनने की योग्यता न थी।

यह भी सत्य है कि रेवती भैया से अवस्था में बड़ी थी, पर वय की बाँध प्रेम के प्रवाह को कब तक रोक पाती है! हाँ, ककुद्मिन से मिलने की इच्छा भैया ने आचार्यजी से कई बार व्यक्त की थी। आचार्यजी इतना ही मुसकराते हुए कहते थे—“समय की प्रतीक्षा कीजिए। उस असंसारी से मिलना उतना आसान नहीं है।”

“पर आचार्यजी, वह असंसारी कैसा, जिसमें बदले की भावना हो?” मैंने कहा, “जब तक प्रतिशोध की भावना ककुद्मिन के मन में है तब तक संसार उससे लगा है।”

आचार्यजी के मौन ने मेरे कथन को स्वीकारा। बड़ी गंभीरता से मुसकराते हुए उन्होंने कहा, “प्रतिशोध की भावना तो उसमें अवश्य है।”

“क्यों?”

“यदि प्रतिशोध की उसमें भावना न रहेगी तो बलराम से उसका परिचय कैसे होगा?” आचार्यजी ने बड़ा तीखा व्यंग्य किया और हम लोग मन-ही-मन मुसकराकर रह गए।

मुसकराते हुए ही आचार्यजी ने बताया—“कल मैंने आश्रम में गदायुद्ध की प्रतियोगिता रखी है; पर रेवती उसमें भाग लेना नहीं चाहती, वह मात्र सजग दर्शक रहेगी।”

“रेवती भाग नहीं लेगी, तब शायद भैया भी भाग न लें।” यह पहला अवसर था, जब उद्धव ने भैया को गुदगुदाया और हम सब हँस पड़े।

“पर बलराम को अभी निराश नहीं होना चाहिए। मैंने रेवती को बहुत समझाया है, वह आज अपने पिताजी से प्रतियोगिता में सम्मिलित होने के लिए अनुमति लेने जाने वाली है।” आचार्यजी ने कहा।

उसी संध्या आश्रम के उद्यान के बीच बैठे हुए हम लोगों के बीच भैया बोले, “तुम लोग कुछ और सोचते हो; पर मैं कुशस्थली के संबंध में सोचता हूँ और उसीके संबंध में ककुद्मिन से भी मिलना चाहता हूँ।” उन्होंने अपने कथन का विस्तार करते हुए बताया—“ककुद्मिन ने स्वयं कुशस्थली में आग लगा दी थी। इसका तात्पर्य यह है कि राजसत्ता से अब उसका कोई लगाव नहीं है। उसकी सारी छटपटाहट पुण्यजन राक्षसों से बदला लेने की है। यदि हमने उसकी इस प्रबल आकांक्षा को पूरा करने में सफलता पाई तो हो सकता है, कुशस्थली हमें मिल जाए।”

उद्धव और मैं चुपचाप सुनते रहे। उद्धव मेरी ओर देखकर आँख की कोर से मुसकराया। शायद वह सोच रहा था कि कुशस्थली चाहे मिले या न मिले, पर रेवती अवश्य मिल जाएगी।

मैंने उद्धव का हाथ दबाया; क्योंकि भैया को और अधिक गुदगुदाना अच्छा नहीं था। मैं उनका बड़ा लिहाज करता था। उनके प्रति मेरे मन में बड़ा सम्मान भाव था। मैं यह सदैव सोचता था कि हर जगह उनके रहते हुए मैं सम्मानित होता हूँ, मुझपर ईश्वरत्व लादा जाता है, मैं पूजा जाता हूँ; पर वे बड़े सहजभाव से देखते रहते हैं। उनका अहं हम दोनों भाइयों की आत्मीयता के बीच में कभी आड़े नहीं आया।

वे बोलते जा रहे थे—“हम लोगों के पास कुछ सैनिक भी हैं। अब कोष भी हो गया है; पर कहीं हमारा राज्य नहीं है, कन्हैया! हो सकता है, कुशस्थली में हमारा राज्य भी स्थापित हो जाए। शायद प्रभु की यही इच्छा हो।”

भैया का तर्क तो जोरदार था। जहाँ राज्य होने और राजा बनने का सवाल आता था, रुक्मिणी मेरे सामने आकर खड़ी हो जाती थी और हमारे मन में राज्य-स्थापन की अनिवार्यता को झकझोरती थी। मन में बैठाए रेवती को भैया ने मुझे अपने मन में झाँकने के लिए विवश किया।

इसी बीच सामने से रेवती आती दिखाई दी। लगता है, आश्रम में अरण्य की ओर खुलनेवाले द्वार से चली आ रही

थी। एकदम हम लोगों की बगल से जाती हुई उसने एक जलती दृष्टि हमारी ओर डाली और बड़ी गंभीर गति से बिना कुछ कहे-सुने चुपचाप चली जा रही थी। मैंने ही उसे टोका—“कल आप गदायुद्ध की स्पर्धा में भाग ले रही हैं न?”

“नहीं।” मृगचर्म में लिपटी हुई बाधिनी की तरह गुर्गई।

“क्या मैं इसका कारण जान सकता हूँ?”

“मेरे पिताश्री की अनुमति नहीं है।” वह बोली और आगे बढ़ गई। जाते समय भी उसके नेत्र भैया के नेत्र से टकराए।

“अद्भुत है इसका पिता!” भैया के मुख से निकला।

“जिसने अपनी आँखों के सामने अपना सबकुछ नष्ट होते देखा हो, जो स्वयं को संसार के सामने मुँह दिखाने योग्य न समझता हो, उसकी मनःस्थिति का अनुमान लगाना सहज नहीं है।” मैंने कहा।

भैया कुछ सोचने-से लगे। थोड़ी देर में हम लोग उद्यान से चल पड़े। शुक्लपक्ष की चतुर्दशी का चंद्रमा पूर्व क्षितिज से झाँकने लगा था। आचार्यजी यज्ञशाला की ओर जा रहे थे। भैया ने उन्हें रोककर कहा, “लगता है, कल गदा स्पर्धा नहीं होगी।”

“क्यों?”

“रेवती भाग नहीं लेगी।”

“लेकिन तुम क्या समझते हो कि इस स्पर्धा का आयोजन मैंने केवल उसके लिए किया है!” आचार्यजी हँसते हुए बोले। यद्यपि बात यही थी, फिर भी भैया झेंप गए। कुछ बोल न सके।

रात्रि में भोजन पर हम लोग साथ ही बैठे। हमने जानबूझकर स्पर्धा की बात छोड़ी। आचार्यजी ने रेवती से स्पष्ट पूछा, “आखिर स्पर्धा में भाग लेने के लिए तुम्हारे पिताजी ने अनुमति क्यों नहीं दी?”

उसने छूटते ही कहा, “इसका उत्तर तो पिताजी ही दे सकते हैं।”

“तब हमें तुम्हारे पिताश्री से मिलना चाहिए।” आचार्यजी ने कहा।

“आप तो जानते ही हैं कि वे किसीसे मिलते नहीं हैं; पर आपसे मिल सकते हैं।”

“इसीलिए तो तुम्हें लेकर चलना चाहता हूँ; क्योंकि मेरे साथ और लोग भी चलेंगे।” इसके बाद आचार्यजी ने पुण्यजन राक्षसों से हम लोगों के युद्ध की विस्तार से चर्चा की और बताया—“इन्हीं लोगों ने उन राक्षसों के चंगुल से पुनर्दत्त को छुड़ाया था।

रेवती मौन रह गई और निश्चय हुआ कि प्रातः हवन-पूजन से निवृत्त होकर हम लोग चलेंगे।

रात्रि में ही नाविक को सूचना दे दी गई थी। क्षिप्रा के तट पर नौका तैयार थी। हम लोग नदी पार कर चलते रहे। लगभग दो घड़ी तक अरण्य और पहाड़ी रास्ते से चलने के बाद एक पहाड़ी गुफा दिखाई दी।

“आप यहीं ठहरने की कृपा करें। मैं पिताजी को आपके आगमन की पूर्व सूचना देती हूँ।” रेवती इतना कहकर गुफा में चली गई। हम लोग गुफा के एक प्रवेश द्वार के बाहर ही एक शिलाखंड पर बैठ गए। रेवती के लौटने में अपेक्षा से अधिक देर हुई।

“लगता है, वह हम सबसे मिलना नहीं चाहता।” आचार्यजी ने आशंका व्यक्त की। फिर बोले, “पता नहीं, यह व्यक्ति इतना जिद्दी और चिड़चिड़ा क्यों है?”

“आप तो सब जानते ही हैं,” मैंने कहा, “परिस्थितियों की मार व्यक्ति को कुछ भी बना सकती है।”

तब तक रेवती आई। उसने आचार्यजी से कहा, “पिताजी पहले आपसे मिलना चाहते हैं।”

आचार्यजी ने कुछ संकोच का अनुभव किया। पर हम लोगों के सम्मिलित आग्रह पर वे उठे और चलते हुए बोले, “मैंने जो शंका व्यक्त की थी, शायद बात वही है।”

रेवती भी आचार्यजी के साथ चली और साथ ही रेवती से चिपकी भैया की दृष्टि भी।

हम लोगों को अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। आचार्यजी शीघ्र ही लौटे। उन्होंने बताया कि “वे हम लोगों से मिलने के लिए राजी नहीं हो रहे थे; पर जब मैंने आप लोगों का परिचय दिया और पुण्यजन राक्षसों को परास्त करनेवाली बात कही, तो वे किसी प्रकार राजी हो गए।...पर उनकी दो शर्तें हैं। एक तो इस स्थान का आप किसीको पता नहीं देंगे। उनके विचार से इसे आप लोगों को बताकर मैंने अच्छा नहीं किया। दूसरे, वह आपसे कम-से-कम बात करेंगे।...और यदि वे आपके किसी प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाहेंगे तो आप उनपर दबाव नहीं देंगे।”

सारी बातें स्वीकार कर हम लोगों ने आचार्यजी का अनुसरण किया।

ककुद्मिन का व्यक्तित्व मेरी कल्पना में उभरे ककुद्मिन से कोई मेल नहीं खाता था। मैंने तो सोचा था कि एक हारा-थका प्राणहीन-सा कोई दिखाई देगा; पर ऋषियों-से बड़े केश में उसके ऊर्जस्वित् व्यक्तित्व में यदि जीवन की निराशा कहीं दिखाई देती थी तो उसके प्रशस्त ललाट पर उभरी हुई रेखाओं में लुकी-छिपी या सदा बंद पलकों के नीचे दबी हुई।

जहाँ वे बैठे थे, उससे कुछ ही दूरी पर जलता हुआ एक दीप गुफा के धुँधलके पर प्रकाश की एक झीनी चादर डाल रहा था। हम लोगों के अभिवादन का उत्तर उन्होंने केवल हाथ जोड़कर दिया। न वे कुछ बोले और न उन्होंने अपनी बंद आँखें खोलकर हमें देखा।

हम लोग चुपचाप एक-दूसरे का मुँह देखते हुए यह सोचते रहे कि देखें, इस मौन को भंग करने का जोखिम कौन उठाता है!

अंततः आचार्यजी ने भैया की बाँह पकड़ी। उन्हें आगे किया और बोले, “ये बलराम हैं, वसुदेव के बड़े पुत्र। गदायुद्ध में निष्णात। इन्हींके आगमन पर आज संध्या को गदा स्पर्धा का आयोजन किया गया है।”

वे कुछ नहीं बोले। उनका व्यक्तित्व प्रतिक्रियाशून्य, जड़वत् ज्यों-का-त्यों था। रेवती भी बड़ी गंभीरता से अपने पिता को देख रही थी।

आचार्यजी के संकेत पर भैया बोले, “सुना है, आपने अपनी पुत्री को इस स्पर्धा में भाग लेने की अनुमति नहीं दी है?”

“हाँ, नहीं दी है।” यह ककुद्मिन की धीर-गंभीर पहली आवाज थी, जो हम सबको सुनाई पड़ी।

“हम इसका कारण जान सकते हैं?”

“यदि कहीं हार गई तो?” ककुद्मिन बोले, “तब तो उसका उत्साह भंग हो जाएगा। उसका स्वप्न चूर हो जाएगा। शायद वह अपने संकल्प से भी डिग जाए।”

“आपकी इसी आशंका ने आपको पराजित किया है।” अब भैया चालू हो चुके थे—“पराजय का आधा कारण तो जीत के प्रति आशंका ही होती है। लगता है, इसी आशंका ने आपकी यह दशा कर रखी है।”

“चुप रहो! यहाँ से चले जाओ।” ककुद्मिन तड़पा—“मैं अपने बारे में किसीसे कुछ सुनना नहीं चाहता। जलते हुए शव को जलने दो। यह श्मशान है। इससे दूर रहो।”

वह सचमुच भभक रहा था। ऐसी आग में जल रहा था, जो हमें दिखाई नहीं दे रही थी। भैया ने पता नहीं उसके किस घाव पर अँगुली रखकर उस आग में घृत छोड़ दिया।

अब बातों की डोर मैंने पकड़ी—“हम क्षमा प्रार्थी हैं, तात! आपको किसी प्रकार का कष्ट देने का हमारा

अभिप्राय नहीं था। हम तो आपकी बेटी के संकल्प के साथी बनना चाहते थे।”

मेरी बात सुनकर उनकी मुद्रा चिंतन में डूब गई। मैंने अनुभव किया कि उनका तनाव ढीला पड़ा।

“यह कैसे संभव है?” उन्होंने पूछा।

भैया उसी क्षण बोल पड़े—“रेवती जैसा ही संकल्प लेकर।”

“आखिर तुम क्यों संकल्प लेना चाहते हो? यह समस्या तो हमारी है। इससे तुम्हारा क्या वास्ता?”

अब भैया क्या उत्तर देते! मैं भी कुछ बोला नहीं। मन-ही-मन भैया पर कुड़बुड़ाने लगा—‘हड़बड़ी में धड़ से बोल बैठे। अब दीजिए उत्तर।’ फिर मेरे मन ने ही मुझे समझाया कि भैया की हड़बड़ी उत्तर देने की नहीं थी वरन् रेवती के निकट पहुँचने की थी।

“वस्तुतः बात यह है कि हमें आचार्य ने सारी बातें विस्तार से बताई हैं। आपके प्रति उनकी सहानुभूति है। आचार्यजी के ही आशीर्वाद से हम लोगों ने एक बार पुनर्दत्त को उन राक्षसों से मुक्त कराया था। आज हम कुशस्थली को मुक्त कराने में अपनी शक्ति लगाना चाहते हैं।”

“तो जाओ मुक्त कराओ, इसके लिए तुम्हें रोकता कौन है?” ककुद्मिन ने फिर बड़ी उपेक्षा से कहा।

“हम तो जाएँगे ही; पर हम चाहते हैं कि महाभारगव का जिसे आशीर्वाद मिला है, हम उसके साथ चलें।”

“तो तुम रेवती के नेतृत्व में जाना चाहते हो?”

“नेतृत्व में कौन किसके साथ जाएगा, इसीकी तो स्पर्धा होनी है।”

“तब रेवती स्पर्धा में भाग लेगी।”

“साधु-साधु!” हम सब एक साथ बोल पड़े और अभिवादन कर वहाँ से चल पड़े।

हम लोगों में सबसे प्रसन्न भैया थे। उन्हें लगा जैसे हाथ से निकला कोई रत्न पुनः उछलकर हाथ में आ गया हो।

□

लौटते समय मार्ग में कुशस्थली के संबंध में ही बातें होती रहीं। अब रेवती कुछ तनावमुक्त लगी। वह हमारी बातों में खुलकर हिस्सा ले रही थी और ऐसा लग रहा था कि रेवती और भैया एक-दूसरे को कुछ समीप पा रहे हैं। दोनों की शरीरयष्टि को देखने से ऐसा लगता भी था कि दोनों एक-दूसरे के लिए ही बनाए गए हैं।

किसी प्रसंग में रेवती ने भैया से कहा, “आपको देखकर कुछ विचित्र-सा लगता है।”

यह बात कुछ ऐसे ढंग से कही गई थी कि हम सबके कान खड़े हो गए। आखिर क्या कहना चाहती है रेवती? मैंने मुसकराते हुए ही पूछा, “क्या विचित्र लगता है?”

“यही कि ये स्वयं हलधर कहलाते हैं और प्रवीण हैं गदायुद्ध में।”

“तो इसमें विचित्र क्या है? हल हमारा प्रतीक अस्त्र है और गदा हमारा प्रिय अस्त्र।”

“जब गदा आपका अस्त्र है तो आपने उसे ही अपना प्रतीक अस्त्र क्यों नहीं बनाया?”

“क्योंकि उसे हनुमानजी ने अपना प्रतीक अस्त्र बना लिया था।” भैया बोले, “गदा को देखकर लोगों की आँखों के सामने हनुमान की ही छवि उतरती है और भविष्य में भी उतरती रहेगी; जैसे धनुष को देखकर राम की छवि। संसार में अनेक धनुर्धारी हुए हैं और होंगे; पर धनुष के माध्यम से राम ही याद किए जाएँगे। वैसे मैं गदा के माध्यम से कभी याद नहीं किया जाऊँगा। मेरी पहचान जब भी बनेगी, वह हल के ही माध्यम से बनेगी।”

“जैसे कन्हैया की पहचान चक्र से।” भैया की बात बीच से लपकते हुए रेवती बोली।

“नहीं, यह चक्र से नहीं पहचाना जाएगा और यदि पहचाना भी जाएगा तो चक्री या कुचक्री के रूप में।” भैया का इतना कहना था कि हँसी का विस्फोट जैसा हो गया। रेवती तो ऐसा खुलकर हँसी जैसे हिमगिरी से अचानक कोई झरना फूटा हो।

जब हँसी का वह ज्वार रुका, तब मैंने अपनी सहज मुसकराहट के बीच कहा, “मैंने किसी अस्त्र को अपना प्रतीक अस्त्र नहीं बनाया है; क्योंकि अस्त्रों में मेरा विश्वास नहीं है। मुझे तो जब आवश्यकता का अधिक अनुभव होता है और देखता हूँ कि अस्त्र के बिना अब काम नहीं चलेगा, तभी अस्त्र उठाता हूँ।...वस्तुतः जब मैं युद्ध का आकांक्षी नहीं तो अस्त्र में आस्था भी नहीं। अस्त्र हमारी महत्वाकांक्षा के प्रतीक बन सकते हैं, पर वह हमारी शांति के प्रतीक कभी नहीं बन सकते। शांति की प्रतीक बनेगी तो हमारी यह!” इतना कहते हुए मैंने कटि से अपनी बाँसुरी निकाली और वहीं, मार्ग में चलते हुए, जंगल में बजाना शुरू किया।

हमारी बातों का क्रम तो टूटा ही। हमारी मानसिकता भी बदल गई। रेवती ने ही प्रस्ताव किया—“क्यों नहीं थोड़ा समय किसी वृक्ष की छाया में और किसी शिलाखंड पर बैठकर बिताया जाए।”

यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से मान्य हुआ और हम एक घने पीपल की छाया में एक स्फटिक शिला पर बैठ गए।

सूर्य आकाश पर चढ़ने लगा था। दिवस का यौवन उभार पर था और मैं सारंग बजाने लगा। वंशी पर मेरी अँगुलियाँ नाचने लगीं और हम राग-रस में डूबने लगे।

कुछ समय के लिए ऐसा वातावरण बना कि मृगों के झुंड-के-झुंड खिंचे चले आए और मंत्रमुग्ध होकर तब तक सुनते रहे जब तक वंशी बजती रही। पहाड़ियों से प्रतिध्वनित होकर गूँजता यह सरस संगीत जब थमा तब एक विचित्र रिक्तता का अनुभव हुआ। जैसे कोई सुखद सपना टूटा हो, जैसे कोई स्वर्गिक नृत्य अचानक अदृश्य हो गया हो।

मनुष्य तो मनुष्य, मृग भी उदास हो गए; पर वहीं खड़े हमें देखते रहे। जब हम लोग चलने लगे तब मृगों को मनुष्य और अपने बीच की दूरी का भान हुआ। वे छलौंगें भरते जंगल की ओर उड़ गए।

“मेरी पहचान तो वंशी से ही बनेगी और यही मेरा प्रतीक होगी।” चलते हुए मैंने कहा।

“क्योंकि तू कलाकार है।” भैया द्वारा अनजान में किए गए इस ‘कलाकार’ शब्द की ध्वनि विचित्र थी। लोग मुसकराने लगे।

बातें आगे बढ़ती गईं। भैया बोलने लगे—“मैंने हल को अपना प्रतीक अस्त्र इस प्रयोजन से बनाया है कि यह इस देश की धरती से जुड़ा है। यह सारे देश का प्रतीक अस्त्र है और रहेगा; क्योंकि इस कृषिप्रधान देश की कोई भी लड़ाई बिना इस हल के नहीं लड़ी जा सकती।” मैंने अनुभव किया कि इतनी बड़ी बात भैया कितने सहजभाव से कह गए।

भैया की आज सरस्वती फूट पड़ी थी। वे बोलते चले जा रहे थे—“मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार ही अपने प्रतीक का निर्माण करता है। अब देखिए, महर्षि परशुराम ने अपना प्रतीक अस्त्र परशु को बनाया। परशु तो हड्डी तोड़ श्रम करनेवालों का प्रतीक है, वही उनका प्रतीक अस्त्र बना। आखिर क्यों? क्योंकि उनकी प्रकृति मजदूरों की प्रकृति के निकट है। उन्होंने अनेक क्षत्रियों का विनाश किया; पर कोई राज्य स्थापित नहीं किया। वे और उनकी परंपरा राजमहलों में नहीं, आश्रमों में रही। उन श्रमिकों से अपनी पहचान स्थापित की, जो दूसरों के लिए अपने खून को पसीने की तरह बहा देते हैं और केवल उदरपूर्ति भर से अपने को संतुष्ट समझते हैं।”

भैया की यह व्याख्या बौद्धिक भी थी और व्यावहारिक भी। यह तो मैं जानता हूँ कि भैया का बौद्धिक स्तर किसीसे कम नहीं, पर यह नहीं सोचता था कि सदा क्षोभ में डूबे रहनेवाला यह व्यक्ति इस संदर्भ में भी सोचता है। पर इससे एक बात अवश्य हुई। रेवती पर इस चिंतन का प्रभाव हुआ। अब वह भैया को एक योद्धा ही नहीं, एक चिंतक के रूप में भी देखने लगी।

संध्या होते ही स्पर्धा की तैयारी होने लगी। ब्रह्मचारियों ने आश्रम के प्रशस्त प्रांगण को बहोरना शुरू किया। बाहर

का कोई योद्धा बुलाया नहीं गया था। यह स्पर्धा मात्र स्पर्धा के लिए हो रही थी। पश्चिम में ढुलकता सूर्य भी अस्ताचल की ओट से मुसकरा रहा था।

पहले आश्रम के ब्रह्मचारियों ने अपने गदा-कौशल का प्रदर्शन किया। बाद में उद्धव और रेवती की जोड़ी उतरी। काफी देर तक दोनों एक-दूसरे से जूझते रहे; पर बाद में रेवती बीस पड़ने लगी। उसके प्रहार को सँभाल पाना उद्धव के लिए कठिन-सा हो गया। तब मैं बोल पड़ा—“अरे बस कीजिए, आचार्य, अभी कई लोग अपना कौशल दिखाने के लिए शेष हैं।”

आचार्यजी ने मुसकराते हुए यह गुत्थमगुत्था बंद कराई। उद्धव हाँफते हुए मेरी बगल में बैठ गया। वह काफी थक चुका था। उधर रेवती अपना गदा कंधे पर रखे अब भी मुसकरा रही थी। यह मुसकराहट उसके विजयोन्माद पर थी या मेरी चालाकी पर, इसे तो वही जाने।

अब आचार्यजी ने मेरा नाम पुकारा। मैंने मुसकराते हुए कहा, “गदा से मेरा क्या लेना-देना है?”

“हर योद्धा का हर अस्त्र से लेना-देना होता है।” आचार्यजी बोले।

मैं गदायुद्ध के कौशल से अपरिचित होऊँ, ऐसी बात नहीं थी। वस्तुतः मैं इस स्पर्धा में भाग लेना नहीं चाहता था; क्योंकि यह स्पर्धा मेरे लिए नहीं थी। फिर भी आचार्य की आज्ञा थी, मैंने उद्धव की ही गदा ली और रेवती के सामने आ गया।

मैंने गदा के सभी गुर अपनाए। उसने भी जमकर उत्तर दिया। स्पष्ट लगा कि अभ्यास अच्छा किया है। मैंने शीघ्र ही प्रतियोगिता से स्वयं को हटाते हुए कहा, “बस-बस, हो चुका। मैंने अपनी पराजय स्वीकार कर ली।”

रेवती हँस पड़ी और साथ ही अन्य लोग भी।

अब भैया की बारी थी। आचार्यजी उनका नाम पुकारें, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—“अरे, अब रेवती को भी साँस ले लेने दीजिए। बेचारी एक के बाद एक कई का सामना करते-करते थक चुकी है।”

मेरे कथन का समर्थन फूफाजी (दमघोष) ने भी किया। स्पर्धा कुछ समय के लिए स्थगित कर दी गई।

थोड़ी ही देर बाद आचार्य पुनः प्रांगण में पधारे और बोले, “अब संध्या घनी हो रही है। मैं चाहता हूँ कि संध्या-पूजन के पहले इस स्पर्धा का अंतिम अंश भी पूरा हो जाए।”

इतना सुनते ही भैया और रेवती दोनों प्रांगण में आ गए और एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। पहले तो भैया ने हलके हाथ चलाए। जब उन्होंने देखा कि रेवती प्रहार पर प्रहार करती जा रही है, तब उन्होंने भी अपना कौशल दिखाना आरंभ किया।

बनावटी होने पर भी यह युद्ध अद्भुत था। एक ओर नील वस्त्रों में भैया का गौरवर्ण लंबा-चौड़ा शरीर और दूसरी ओर वैसी ही गोरी, ऊँची कद और पुष्ट देहवाली रेवती। जैसे सिंह से सिंहनी जूझ रही हो। भैया के प्रहार को जब रोकती हुई वह हुंकार भरती, तब सिंहनी का क्रोध साकार होता दिखाई देता। अंत में भैया ने एक ऐसा हाथ मारा कि रेवती की गदा दूर जा गिरी।

अब भैया मुसकराते हुए खड़े थे और रेवती दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई, भभकती हुई अग्निशिखा की तरह काँप रही थी। मैंने देखा कि वह पसीने से लथपथ क्रोध में आ गई है। संध्या के धुँधलके में नील आवरण के पीछे रक्त कमल जैसे लग रहे उसके तमतमाए चेहरे की अरुणिमा पर कोई भी लट्टू हो सकता था।

उसी समय आचार्यजी ने स्पर्धा की समाप्ति की। रेवती ने लपककर अपनी गदा उठाई और दहाड़ते हुए बोली—“नहीं, मैं अभी लड़ूँगी।”

“क्यों, यह लड़ाई हो रही थी क्या?” मैंने हँसते हुए कहा और सब हँस पड़े। वह समवेत खिलखिलाहट रेवती का

क्रोध उड़ाती चली गई।

हमारे स्वर में स्वर मिलाते हुए आचार्यजी ने कहा, “स्पर्धा एक क्रीड़ा है और क्रीड़ा की भावना से ही उसमें भाग लेना चाहिए। इससे यदि आप कुछ सीख सकें तो आपको सीखना चाहिए।”

तब मैं रेवती से बोला, “भैया से आपको यह कौशल सीखना चाहिए।”

“जब भैया ही साथ रहेंगे तब सीखने की आवश्यकता क्या!” उद्धव ने बात पर बात जड़ी। निश्चय ही भैया कटकर रह गए।

“सीखने-सिखाने के लिए तो अभी सारा जीवन पड़ा है।” आचार्यजी बोले। वे स्पर्धा समाप्त करने की जल्दी में थे; क्योंकि अँधेरा घिर आया था।

स्पर्धा समाप्त हुई। ब्रह्मचारियों को मशालें जलाकर संध्या-पूजन के लिए उपस्थित होने का आदेश हुआ। हम लोग भी पूजनस्थल पर चलने का मन बनाने लगे।

भैया और रेवती अब भी प्रांगण में थे। अब वे दूर नहीं, बिल्कुल पास-पास थे। भैया रेवती से कह रहे थे —“गदायुद्ध का प्रधान नियम है कि शत्रु पर कभी भी कटि से नीचे प्रहार नहीं करना चाहिए और जब कटि के नीचे प्रहार हो तो इसी कौशल से रोकना चाहिए, जिससे मारनेवाले की गदा टूटकर धरती पर गिर जाए।”

“शत्रु को कटि के नीचे नहीं मारना चाहिए।” रेवती कुछ सोचने लगी।

उद्धव अपने चुहुल से बाज नहीं आया। वह रेवती से बोला, “आप किस सोच में पड़ गई? अरे, शत्रु को न कटि के नीचे नहीं मारना चाहिए; पर मित्र को तो आप मार ही सकती हैं।”

फिर एक दमदार खिलखिलाहट उस धुँधलके को प्रकंपित करती निकल गई।

□

संध्या-पूजन के बाद रेवती से हमारी निकटता और बढ़ी। आचार्यजी ने स्पर्धा ही इस उद्देश्य से रखी थी कि रेवती को भैया का यह कौशल प्रत्यक्ष देखने का अवसर मिले। फिर उसे हम लोगों का अपने संकल्प में सहभागी होने का विश्वास हो चुका था।

रात्रि में वह भोजनोपरांत हम लोगों के शयनकक्ष में अचानक आ गई। इस अप्रत्याशित आगमन पर हमारा हड़बड़ा उठना स्वाभाविक था।

“बिना पूर्व अनुमति के यहाँ चले आने के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे।” वह बड़े सहजभाव से बोली, “केवल एक जिज्ञासा शांत करने आई हूँ।”

“पहले आप बैठिए तो सही।” मैंने कहा और भैया के आस्तरण की ओर संकेत किया। बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के वह भैया की बगल में बैठ गई। सच कहता हूँ, मुझे बड़ा अच्छा लगा। भैया को कितना अच्छा लगा होगा, सो कैसे बताऊँ!

“अब बताइए, आपकी क्या जिज्ञासा है?”

“आप लोगों ने जब पंचजन राक्षस को परास्त किया था तब आपकी क्या शक्ति थी?”

“बात कुछ समझ में नहीं आई।” उद्धव बोला।

“मेरे पूछने का तात्पर्य है कि आपके पास कितनी सेना थी, कितनी नावें और नाविक थे।”

“बस, हम यही तीन थे।” मुसकराते हुए मैंने दमघोष की ओर देखा—“उस समय तो फूफाजी भी नहीं थे।”

“बस!” इतना कहकर वह आश्चर्यचकित-सी हम लोगों को देखने लगी।

“इसमें चकित होने की कोई बात नहीं।” मैंने कहा, “उन्हें परास्त करना हमारा उद्देश्य भी नहीं था और न हम लोगों ने ऐसा किया। हमारा उद्देश्य तो पुनर्दत्त को उनके चंगुल से छुड़ाकर गुरु के चरणों में अर्पित करना था। इस

कार्य में शक्ति से अधिक युक्ति की आवश्यकता थी। पर अब तो पुनर्दत्त जैसे एक व्यक्ति को नहीं वरन् पूरी कुशस्थली को मुक्त कराना है। इसके लिए हमें युक्ति के साथ ही शक्ति और सामर्थ्य की अधिक आवश्यकता पड़ेगी।”

“उस समय से अब वे अधिक शक्तिशाली भी हो गए होंगे।” उद्धव बोला।

“शक्तिशाली तो नहीं हुए हैं, वरन् उनकी शक्ति घटी ही होगी।” रेवती बोली।

“इसे आप कैसे कह सकती हैं?”

“अपने अनुभव के आधार पर।” वह मुसकराई। संध्या के गुलाबी बादलों के बीच कोई तड़ित रेखा अचानक उभरकर लुप्त हो गई। वह बोलती रही—“बात यह है कि जिस समय आप लोगों ने सर्प के उस बिल में हाथ डाला था, उस समय उसमें एक नहीं, दो विषधर थे; पर आज दोनों अलग-अलग हो गए हैं।” उसने विस्तार से बताया—“पहले पंचजन और पुण्यजन एक थे। उनकी सम्मिलित शक्ति का आप लोगों को सामना करना पड़ा है; पर अब वे दो हैं।”

“किंतु अलग होने से क्या हुआ? हमारे आक्रमण के समय वे एक हो जाएँगे।”

“ऐसा कभी नहीं होगा। दोनों एक-दूसरे के खून के प्यासे हैं। दोनों में गंभीर युद्ध हुए हैं। पुण्यजनों ने पंचजनों को कई बार हराया है। उनके भतीजों का विनाश किया है। हाँ, अकेले पुण्यजनों की शक्ति में काफी वृद्धि हुई है।” रेवती ने बताया।

इस सूचना से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। मुझे लगा कि नियति ने पहले से ही हमारा मार्ग सरल कर दिया। मैंने कहा, “यह स्थिति तो हमारे अधिक अनुकूल है। हो सकता है, हमें युक्ति से ही सफलता मिल जाए। शक्ति की आवश्यकता कम पड़े।”

“नहीं, शक्ति की आवश्यकता तो पड़ेगी ही।” रेवती बोली।

“तो हम पंचजनों की शक्ति से पुण्यजनों से लड़ेंगे। यह सर्वमान्य नियम है कि शत्रु का शत्रु मित्र। जहाँ हम लोगों ने कहा कि हम पुण्यजन राक्षसों के विनाश के लिए संकल्पबद्ध हैं, वहीं पंचजन राक्षसों की सारी शक्ति हमारे साथ हो जाएगी। उनकी नावें और नाविक हमारी नावें और नाविक हो जाएँगे।”

“पर पंचजनों की शक्ति पुण्यजनों की अपेक्षा बहुत कम है।”

“इससे क्या होता है! हमें कहीं खड़े होने का आधार तो मिला। अब पंचजनों को शक्तिशाली बनाना हमारा काम है।”

रेवती बड़ी प्रसन्न हुई। उसकी निराशा की दीवार अब उसे हिलती दिखाई दी। अपने सपनों के साकार होने की संभावना उसे बढ़ती प्रतीत हुई।

“पर एक बात अवश्य है।” मैंने सोचते हुए कहा।

“क्या?”

“यही कि इस युद्ध में आपके पिता की उपस्थिति अनिवार्य रूप से आवश्यक है।”

“किंतु उनका तो कहना है कि मैं संसार त्याग चुका हूँ। अब मैं कहीं नहीं जाऊँगा।”

“पर उनका रहना परम आवश्यक है।” मैंने कहा, “आखिर हम किसके लिए युद्ध करेंगे? जिस राज्य के लिए हम लड़ें, उसका राजा ही हमारे साथ न हो।” रेवती सोच में पड़ गई। “और यदि बिना राजा के ही हमें लड़ना पड़ा तो लोग क्या सोचेंगे?...तब लुटेरे दस्यु के अतिरिक्त हमारी क्या स्थिति होगी?” मैंने कहा, “तुम्हारे पिताजी यदि कुछ न करें, केवल साथ ही रहें तो उनकी उपस्थिति का भी लाभ मिलेगा। आखिर ऐसे लोग अब भी कुशस्थली में होंगे,

जिनकी सहानुभूति तुम लोगों के साथ होगी।”

“क्यों नहीं होंगे! बहुत सारे ऐसे लोग हैं।” रेवती बोली।

“ऐसे लोग जब तुम्हारे पिताजी को देखेंगे तो कुछ भी करने को तैयार हो जाएँगे।” मैंने कहा, “और पिताजी के अभाव में, वे ही लोग बहुत होगा, तटस्थ हो जाएँगे। अन्यथा हमारा विरोध ही करने लगेंगे।”

“विरोध तो नहीं करेंगे।”

“यह तुम कैसे कह सकती हो?” मेरे कथन में विश्वास और चिंतन था—“तुम युद्ध की कला जानती हो, रेवती, राजनीति की नहीं। राजनीति और युद्ध महत्वाकांक्षा के दो शिशु हैं। अंतर यही है कि राजनीति प्रिय शिशु है और युद्ध शिशु होकर भी अप्रिय। कोई भी युद्ध नहीं चाहता। कुशस्थली के निवासी भी युद्ध नहीं चाहते होंगे और इसी युद्धक स्थिति से मुक्त होने के लिए वह हमसे निर्णायक युद्ध कर सकते हैं।”

अब रेवती को मेरी बात समझ में आने लगी थी। उसने बड़ी गंभीरता से स्वीकार किया कि इसके लिए पिताजी को भी समझाना पड़ेगा।

दूसरे दिन प्रातः पूजास्थल पर हम लोग फिर मिले। इस बार रेवती ने ही बड़े विस्तार के साथ परिस्थिति समझाते हुए आचार्यजी से आग्रह किया कि वे पिताजी को हम लोगों के साथ चलने को राजी करें।

पर आचार्यजी स्वयं चलने के लिए राजी नहीं हुए। उनका कहना था कि तुम लोग स्वयं जाओ और उन्हें समझाओ। तुम्हारे तर्क इतने प्रबल हैं कि उन्हें सहमत हो जाना चाहिए।

“यदि न सहमत हुए तो?”

“तो उनसे मेरी ओर से कहना कि बिना प्रयत्न का संकल्प बिना प्राण का शरीर होता है। आप शव की तरह यहाँ पड़े रहिए और संकल्प पर संकल्प किए जाइए। कहीं कुछ होने वाला नहीं है।”

आचार्य का आशीर्वाद लेकर उसी समय हम लोग ककुद्मिन से मिलने चल पड़े।

गुफा में प्रवेश कर ज्यों ही भैया ने प्रणाम किया, उनका पहला प्रश्न था—“कौन जीता?”

“कोई नहीं।” भैया बोले।

“यह कैसे हो सकता है? युद्ध हो और कोई जीते नहीं, हारे नहीं?”

“पर यह युद्ध तो था ही नहीं, स्पर्धा थी।”

“इसका कुछ परिणाम तो हुआ होगा।”

“परिणाम यही था कि हम दोनों जीते। हम दोनों ने अनुभव किया कि हमें सीखने के लिए अभी बहुत कुछ है।”

फिर रेवती ने मुख्य बात छोड़ी। वे छूटते ही बोले, “मैं अब यहाँ से कहीं नहीं जाऊँगा।”

फिर भैया ने अपने तर्कों से उन्हें खूब समझाया। बहुत कहने-सुनने पर वे चलने को तैयार हो गए और कहा कि “तुम लोग कहते हो तो मैं चल सकता हूँ—अपने मुख में लगी कालिख को दिखाने पर युद्ध नहीं करूँगा।”

अब मुझसे रहा नहीं गया—“आपको अपने मुख में लगी कालिख ही दिखानी है तो आप मत चलिए। यदि इस कालिख को धोने की इच्छा हो तो चलिए और बिना अस्त्र उठाए यह कालिख धुल नहीं सकती।”

ककुद्मिन मौन हो गए।

हम लोगों ने इस मौन को स्वीकृति माना। भैया ने कहा, “प्रयाण के पूर्व हम आपको लेने आएँगे।”

वे कुछ नहीं बोले।

□

अब हम यात्रा की तैयारी में लग गए थे। हमने अवंतिराज से सहायता माँगी। जरासंध की पराजय के बाद से वे इतने प्रभावित थे कि हम लोग उनसे जो भी चाहें, ले सकते थे; किंतु हमने कुछ रथ और सैनिकों तक ही अपनी

याचना सीमित रखी; क्योंकि लोगों का कहना था कि कुशस्थली पर स्थल की ओर से आक्रमण नहीं किया जा सकता। पुण्यजनों ने इधर कई दृढ़ परकोटे बना लिये हैं। समुद्र के मार्ग से ही आक्रमण संभव भी था और हम लोगों के अनुकूल भी; क्योंकि हम पंचजन के सैनिकों और उनकी नावों का अधिक उपयोग करना चाहते थे।

तैयारी लगभग पूरी थी। आचार्यजी किसी शुभ मुहूर्त की खोज में थे। उन्हें दो मुहूर्त चाहिए थे—एक तो ककुद्मिन को कंदरा के बाहर निकालने का; क्योंकि उनके विचार से यह उनके दूसरे जीवन में प्रवेश का क्षण था और दूसरा मुहूर्त हम सबकी यात्रा के लिए।

मेरे लिए बड़ा धर्मसंकट था। छंदक की योजना के अनुसार, मुझे अब तक मथुरा पहुँच जाना चाहिए था। मैं मथुरा जाने के लिए मन भी बना चुका था। उधर दमघोष का भी दबाव था कि मैं उनके साथ मथुरा चलूँ। वे स्वयं इस विजय यात्रा में जाना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहीं से सुन रखा था कि पुण्यजन राक्षस क्रूर और बड़े असभ्य होते हैं। वे अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ में बालकों और गुलामों के रक्त की हवि देते हैं।

अब मैं भैया से कैसे कहूँ कि मैं उनके साथ जा नहीं सकूँगा। आज तक हम दोनों कभी किसी भी स्थिति में एक-दूसरे से अलग नहीं हुए। यद्यपि वे मुझसे तीन माह ही बड़े थे, फिर भी मैं उनका बड़ा आदर करता था। विनोद में चाहे जो कह दूँ, पर सामान्य रूप से न तो कभी मैंने उन्हें आदेश दिया और न उनके आदेश की अवहेलना की। आज यदि वे कह ही बैठें कि तुम्हें मेरे साथ चलना ही होगा, तो मैं क्या कहूँगा?

मुझे किसी युक्ति से रास्ता तो निकालना ही था। मैं संध्या होते ही भैया को लेकर अरण्य की ओर निकल पड़ा। हम लोगों के साथ उद्धव भी था।

वायु के झोंकों से जब जंगल खड़खड़ाता तब मुझे हमेशा की तरह वृंदावन की याद आती। यमुना के कुंजों में मन राधा के साथ अठखेलियाँ करने लगता और मैं सपनों में खो जाता। जब मैं लोगों के साथ रहता तब ऐसी स्थिति में अधिक देर तक न होने देता। पर इस बार का यह मूक अंतराल कुछ लंबा हो गया।

“क्या सोचने लगे?” भैया ने टोका।

“सोच रहा हूँ कि शायद कुछ दिनों के लिए मुझे आपसे अलग होना पड़े।”

“क्यों, ऐसी कौन सी स्थिति आ गई है?” भैया एकदम भड़के। मुझे मौका मिला। मैंने मथुरा की स्थिति से अवगत कराया और बताया कि किस प्रकार मेरा वहाँ उपस्थित रहना परम आवश्यक है।

“तुमने इसके पूर्व कभी भी इसका संकेत नहीं किया था।” भैया भी सोच में पड़ गए। उद्धव की मुद्रा भी गंभीर हो गई।

मथुरा के संदर्भ में आप लोगों से बातें करने का कभी अवसर ही नहीं मिला। सही स्थिति का पता तो मुझे कल चला है, जब छंदक का भेजा चर आया। यदि मैं मथुरा शीघ्र नहीं पहुँचता तो वहाँ अराजक स्थिति हो जाएगी और इसका लाभ जरासंध को मिलेगा।

“तो मैं भी इस कुशस्थली का विचार त्यागता हूँ।”

“आप ऐसा नहीं कर सकते; क्योंकि आप संकल्पबद्ध हैं।” भैया की मुद्रा और अधिक गंभीर हुई। उनकी आकृति पर खिंचाव स्पष्ट दिखाई देने लगा। मैंने तनाव ढीला करने की नीयत से कहा, “भैया, मैं तो रेवती के संदर्भ का भागीदार नहीं।”

उद्धव हँस पड़ा।

“तुम्हें इस स्थिति में भी विनोद सूझता है। मैं सोच रहा हूँ—क्या, कैसे होगा?” भैया बोले।

“अरे होगा क्या! जो होना है वही होगा।” मैंने कहा, “हम-आप तो कुछ कर नहीं रहे हैं। हम तो मात्र निमित्त बनते

हैं। कर्ता तो कोई और है। यदि उसकी यही इच्छा है कि हम संप्रति दो मार्ग पर चलें, तो उसकी इच्छा को हमें शिरोधार्य करना चाहिए।”

“तो तुम नहीं जाओगे?”

मैं मौन ही रह गया।

“और उद्धव को भी लेते जाओगे?”

“नहीं।” मैंने कहा।

“तो मैं तुम्हें अकेला नहीं छोड़ सकता।”

“मैं कभी अकेला नहीं होता। मेरी वंशी मेरे साथ रहती है।” मैंने मुसकराते हुए कहा। भैया को बात कुछ अच्छी नहीं लगी। इसके पहले कि वे झुंझलाएँ, मैंने बता दिया कि फूफाजी (दमघोष) मेरे साथ जा रहे हैं।

अब मैं स्वयं को बहुत हलका अनुभव कर रहा था। मैं भैया को उस स्थिति के लिए ऐसे सहजभाव से सहमत कर चुका था, जिसे मैं असंभव नहीं तो कठिन अवश्य समझता था। अब मेरे और भैया के मार्ग अलग-अलग थे। संध्या काली पड़ने लगी थी और अँधेरा होने के पहले हमें आश्रम में पहुँचना था। फिर भी हमारी गति में कोई अधिक तेजी नहीं आई। अचानक भैया गंभीर हो बोले, “तुम्हारी उपस्थिति ही बहुत से कार्यों को आसान कर देती है।”

“यह चमत्कार तो मेरी उपस्थिति का नहीं वरन् मुझपर लादे गए ईश्वरत्व का था।”

“तब तुम अपना ईश्वरत्व उतारकर भैया को देते जाओ।” उद्धव ने मुसकराते हुए कहा।

“यही तो मेरे वश में नहीं है।”

“तब किसके वश में है?”

“जनता जनार्दन के।” मैंने कहा, “यदि जनता चाहे तो भैया पर भी ईश्वरत्व लाद सकती है। इसके लिए युक्ति करनी पड़ेगी।” मैंने कहा और भैया हँसने लगे। शायद हमारी बात को वे गंभीरता से नहीं ले रहे थे।

“यह हँसने की बात नहीं है, इसे आप गंभीरता से लें।” मैंने पुनः कहा, “यदि आपका ईश्वरत्व जनता पर छा गया तो आप विश्वास करें, हारी हुई लड़ाई भी जीती जा सकती है।”

भैया गंभीर हुए—“तो मुझे करना क्या पड़ेगा?”

“आपको पहले स्वयं को ईश्वर का अवतार घोषित करना पड़ेगा।”

“शृंगलव ने ऐसा ही किया था और उसका उसे परिणाम भी भोगना पड़ा।”

“उसने अपनी अनीति और अत्याचार का परिणाम भोगा।”

“पर मैं स्वयं को शृंगलव की तरह घोषित करना नहीं चाहता।”

“आपको घोषित करने की आवश्यकता भी नहीं है। पिताजी ने स्वयं घोषित कर दिया है।”

भैया और उद्धव दोनों सोच में पड़ गए कि मैं क्या कह रहा हूँ। मैंने उनकी स्मृति को कुरेदने की चेष्टा की—“भैया, आपको याद है?”

“क्या?”

“उन दिनों की बात है, जब हम छोटे-छोटे थे। पिताजी एक दिन ब्रज पधारे थे। उन्होंने नंद और यशोदा के सामने आपको गोद में लेकर प्यार करते हुए कहा था।”

मैंने सोचा शायद भैया को खुद याद आ जाए, पर वे मुझसे ही पूछ बैठे—“क्या कहा था?”

“आपको याद नहीं है, पर मुझे तो याद है।” और मैंने बताना आरंभ किया—“उन्होंने कहा था—‘बलराम मेरा राम

नहीं, लक्ष्मण है। वैसा ही गोरा और आकर्षक, शेषनाग का अवतार। इसके फन पर पृथ्वी विराजमान है। जहाँ एक करवट ली कि सब स्वाहा।” मैंने पुनः भैया को संबोधित किया—“याद है न, भैया! इतना सुनते ही नंद और यशोदा दोनों हँस पड़े थे?”

“याद तो है, पर पिताजी की दृष्टि ने मुझे शेषनाग का अवतार ही देखा हो।”

“जब पिताजी की दृष्टि आपको शेषनाग का अवतार देख सकती है, तब औरों की दृष्टि क्यों नहीं देख सकती?”

“क्योंकि औरों के पास पिताजीवाली दृष्टि नहीं है।”

“वह दृष्टि लोगों को हमें देनी होगी। आपको स्वयं प्रचार करना होगा कि हम शेषनाग के अवतार हैं। हम धरती को उलट-पलट कर सकते हैं। जरासंध ने गोमांतक को घेरा। उसके चारों ओर आग लगा दी। हमने सिंधु को आज्ञा दी। उसकी उत्ताल तरंगें जरासंध को निगलने के लिए आगे बढ़ीं और जरासंध अपने प्राण लेकर भीगी बिल्ली की तरह भागा।...यह सबकुछ प्रचारित करना होगा।”

भैया हँसने लगे।

“आप हँसते हैं।” मैंने उन्हें कूटनीति बताई—“आज का युद्ध पराक्रम से कम और प्रचार से अधिक जीता जाता है।”

“तो क्या जनता प्रचार से हमें शेषनाग का अवतार मान लेगी?”

“एक बार नहीं मानेगी, दो बार नहीं मानेगी; पर जब उसके विश्वास पर हजार बार चोट पड़ेगी तो एक ऐसी आस्था जागेगी, जो आपको मानना तो दूर रहा, आपको शेषनाग का अवतार देखने लगेगी। तब किसका साहस है, जो आपके सामने टिके?”

भैया अब गंभीरता से सोचने लगे थे—“पर यह कार्य है कठिन!”

“कोई कठिन नहीं है। यदि छंदक होता तो ऐसा माहौल खड़ा कर देता कि यहाँ से कुशस्थली तक का सारा मार्ग आपके पूजकों से भरा होता, लोग आपकी जय-जयकार करते।”

“विजय के पूर्व ही जय-जयकार।” भैया फिर हँसने लगे—“तू है बड़ा चक्री, कन्हैया।”

“अच्छा, आप कुछ मत कीजिए। मैं स्वयं योजना बनाता हूँ।” मैंने कहा और उन्हें बड़ी गंभीरता से चेताया—“पहले आप दृढ़तापूर्वक स्वयं को शेषनाग का अवतार सोचना आरंभ कीजिए। इस संदर्भ में यदि आपने दृढ़ता नहीं दिखाई तो याद रखिए, खोखली नींव पर भवन नहीं खड़ा होता।”

“पर किस आधार पर यह दृढ़ता पैदा करूँ?” भैया अब भी डगमगा रहे थे।

मैंने फिर जोर देकर कहा, “आप आधार की बात करते हैं? पिताजी की आँखें क्या धोखा खा सकती हैं? आपको उनकी आँखों का विश्वास नहीं! माता-पिता के वचन झूठे नहीं होते, भैया।”

मैंने अनुभव किया, भैया पर मेरे कहने का प्रभाव पड़ा। अब उनकी दृष्टि अपने शेषनाग को खोजने लगी थी। हम लोग अब आश्रम के द्वार पर आ गए थे। काफी देर हो चुकी थी। मशालें जलाई जा चुकी थीं। लोग पूजास्थल पर एकत्र हो गए थे; पर अभी पूजा आरंभ नहीं हुई थी। रेवती ने देखते ही पूछा, “कहाँ चले गए थे आप लोग?”

“अपनी खोज करने।”

“अपनी खोज! मैं कुछ समझ नहीं पाई?”

“समय आने दीजिए, आप सब समझ जाएँगी।” मैंने कहा।

पूजन आरंभ हो चुका था। आचार्यजी ने आचमन मंत्र पढ़ना आरंभ किया—“ओ३म्। शत्रो देवीर भिष्टये। आपो भवन्तु पीतमे। शंयोरमिस्त्र वन्तुनः।”



अभी सूर्य निकला नहीं था, ब्राह्म मुहूर्त का अग्निहोत्र चल ही रहा था कि मैं उद्धव को एकांत में ले गया और उससे कहा, “तुम अभी ककुद्मिन के यहाँ जाओ और उनसे भैया के शेषनाग के अवतारवाली बात बताओ। इस शुभ कर्म का आरंभ मैं चाहता हूँ, तुम्हींसे हो।”

वह हिचकिचाया—“आखिर मैं कहूँगा तो कैसे कहूँगा?”

“कहना कि मैं एक रहस्य की बात बताने जा रहा हूँ, जिसे आप बिल्कुल नहीं जानते।...और फिर अपनी नाटकीय मुद्रा में कहना आरंभ करना।”

“यदि वह यह पूछे कि तुमने इसको अभी तक क्यों नहीं बताया था, तब क्या कहूँगा?”

“कहना कि मुझसे यह बात छिपाने के लिए कही गई थी। स्पष्ट कहना कि कन्हैया का सोचना है कि लोग अब भगवान् समझ लेते हैं तो अपने से एक प्रकार की दूरी बना लेते हैं। इससे उसे पूजा तो मिलती है, पर जनता की आत्मीयता नहीं मिलती। ऐसे भगवान् का जीना दूभर हो जाता है। फिर आपसे एकांत में मिलने का अवसर भी तो नहीं मिला था, जो मैं सारी बातें आपसे बताता।”

मैंने उद्धव को अच्छी तरह समझाकर ककुद्मिन के यहाँ भेज दिया। फिर आचार्य के कक्ष में गया। वे अपने पाँच शिष्यों के साथ बैठे मंत्रणा कर रहे थे। मैंने उनसे कहा, “मैं मथुरा जा रहा हूँ। कोई शुभ मुहूर्त बताइए।”

वह अवाक् रह गए—“अरे, तू बलराम के साथ युद्ध पर नहीं जाएगा?”

“नहीं। मथुरा से संदेश आया है कि मेरा वहाँ पहुँचना अत्यंत आवश्यक है।”

“आवश्यक तो तेरा बलराम के साथ जाना भी है।”

“भैया के साथ जाने में या न जाने में उन्हें कोई अंतर नहीं पड़ेगा।”

“क्यों नहीं पड़ेगा? मैं तुम्हारी और बलराम की सामर्थ्य को जानता हूँ।”

“आप क्षमा करें तो कहूँ कि आप बलराम भैया को नहीं जानते।”

“तुम क्या कहते हो? वह मेरा शिष्य है और मैं ही उसे न जानूँ!” आचार्यजी थोड़े आवेग में आए—“एक गुरु अपने शिष्य को जितना पहचानता है, कदाचित् उससे अधिक उसके माता-पिता भी उसे नहीं जान सकते।”

मैंने देखा कि अवसर अब मेरे अनुकूल आ रहा है—“हाँ, तो बात यही है। उसके संबंध में उसके पिता की पहचान आप तक नहीं आई है।”

“तुम कहना क्या चाहते हो?”

“यही कि भैया के पास शक्ति अपार है। वे शेषनाग के अवतार हैं।”

आचार्यजी चकित थे—“शेषनाग के अवतार! यह तुम्हें कैसे मालूम?”

“पिताजी ने बताया था और उनकी यह घोषणा कोई गोपनीय नहीं थी। उन्होंने पिता नंद और माता यशोदा के सामने कहा था।” इस अवसर पर मेरी नाटकीयता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। “मैंने भी अनेक अवसरों पर भैया का चमत्कार प्रत्यक्ष देखा है। अभी-अभी जब गोमांतक को जरासंध ने घेर लिया था, भैया ने उसके स्वामी की तरह सिंधु को आदेश दिया था, वह पालतू श्वान-सा लपक पड़ा।”

“तुमने इतनी महत्वपूर्ण बात आज तक क्यों नहीं बताई?”

“केवल यह देखने के लिए कि आचार्य की आँखें अपने शिष्य को किस सीमा तक पहचानती हैं!” मुसकराती हुई मेरी नाटकीयता ने एक करवट और ली—“फिर यह बात किसीसे कहने को मना किया गया था और आज भी विलग होने की बात न होती तो मैं शायद यह रहस्य उद्घाटित न करता।”

मैंने आचार्यजी की आकृति पर चमत्कारी प्रभाव देखा। वे दोनों हाथ ऊपर की ओर उठाते हुए कुटी के ऊपर छाए

पर्ण के छिद्र से आकाश की ओर देखकर बोल पड़े—“हे प्रभु! तू कितना कृपालु है, मुझे शेषनाग के गुरु होने का अवसर दिया!”

मैंने देखा, रेवती द्वार पर खड़ी आचार्यजी को बड़े गौर से देख रही है।

“मैं तो नहीं जा पा रहा हूँ; पर चाहता हूँ, यदि आश्रम के चार-पाँच शिष्य उनकी सेवा में भेज दिए जाते, तो बड़ी कृपा होती।”

पास बैठे पाँच शिष्यों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने छूटते ही कहा, “इन पाँचों को लेते जाओ। यह आश्रम का ही सौभाग्य नहीं, इनका भी सौभाग्य है।”

जब मैं आचार्यजी के चरण स्पर्श कर उनके कक्ष से निकला, वे पाँचों शिष्य मेरे साथ चले। मैंने मुड़कर देखा, रेवती भी डग भरती चली आ रही थी।

उसने निकट आकर मुझसे धीरे से कहा, “यदि इस तथ्य को पिताजी जान पाते तो वह बड़े उत्साह से युद्ध का नेतृत्व करते।”

मैंने मुसकराते हुए ही उसे सुन लिया।



छह

जीवन की यह निर्णायक घड़ी थी; जैसे मैं बँट रहा हूँ, मेरा एक अंश मथुरा जाने की तैयारी कर रहा है और दूसरा कुशस्थली की ओर। इस बँटवारे का निमित्त भी मैं था और कर्ता भी मैं। फिर भी मन उद्धिग्न था। यों भी जिस दिन मुझे कहीं से प्रयाण करना होता, उसके पूर्व की रात मेरी व्यग्रता और व्यस्तता की रात रहती। योजनाओं की कल्पना और परिकल्पनाओं में मेरी आधी-अधूरी नींद सपने बुनती और मैं मध्य रात्रि के बाद ही बिस्तर छोड़ देता।

आज भी जब मैं मध्य रात्रि के बाद उठा तो देखा, उद्धव बाहर टहल रहा है। उसकी गति से स्पष्ट लगा कि आज उसकी नींद उसकी व्याकुलता को सुला नहीं पाई है। मैंने सोचा, शायद वह मुझे छोड़ने में व्यग्र हो गया हो और कुशस्थली न जाना चाहता हो।

मैं धीरे से अपने प्रकोष्ठ से बाहर निकला। सारा आश्रम सो रहा था। मुझे देखते ही उद्धव एकदम टूटे दर्पण-सा बिखर गया और मेरे चरणों पर गिरते हुए बोला, “मैं बड़ा पापी हूँ, कन्हैया।”

मैं कुछ समझ नहीं पाया। उसे धरती से उठाकर, सीने से लगाकर कुछ क्षणों तक केवल उसकी धड़कन सुनता रहा। “क्या बात है? तुम क्या भैया के साथ नहीं जाना चाहते?” मैंने बड़े सहजभाव से कहा, “पर तुम्हारे बिना वह विजय प्राप्त नहीं हो सकती।”

“मैं आपके साथ ही चलना चाहता हूँ।” उसने कहा। मुझे लगा कि मेरा संदेह ठीक है।

“पर यह परिस्थिति का आग्रह है कि तुम भैया के साथ जाओ।” मैं बोला, “यदि मथुरा अपने घर पर कोई संदेश भेजना चाहते हो, तो कहो। मैं कह दूँगा।”

वह चुप था। उसकी आँखें कुछ कहना चाह रही थीं और मुख पर संकोच की अदृश्य पट्टी बँधी थी। पूरे व्यक्तित्व पर एक प्रकार के अपराधबोध की छाया थी, जो उस अँधरे में भी स्पष्ट दिखाई दे रही थी।

वह बोलना चाहकर भी बोल नहीं पा रहा था। मैंने उद्धव को इतने असमंजस में इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। इतना स्पष्टवादी, चुहुलप्रधान उद्धव के निकट इतना संकोच कैसे पहुँच गया?

उसके कंधे पर बाँहें डालते हुए मैंने उससे स्पष्ट पूछा, “आखिर बात क्या है, उद्धव? मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।”

“मैं भी समझ नहीं पा रहा, कन्हैया!” अब उद्धव खुला—“मेरा मन जो वृंदावन में चट्टान की तरह अडिग रहा, उन गोपियों के हिलाए नहीं हिला, वह शैव्या के सामने मोम की तरह पिघल कैसे गया?” इसके बाद वह और भी स्पष्ट हुआ—“मैं शैव्या के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, गोपाल।”

अब मैंने समझा कि शैव्या के सौंदर्य का जादू इसपर भी चल गया है। यह बड़ी विषम स्थिति है। उद्धव फिसला भी तो बड़े कुसमय फिसला। मैंने उसे सँभालने की नीयत से पूछा, “क्या शैव्या भी तुम्हारे बिना नहीं रह सकती है?”

“यह मैं नहीं जानता।”

“तुमने उससे कभी पूछा नहीं?”

“उसने कभी यह अवसर ही नहीं दिया।”

“तुमने चेष्टा की थी?” मैंने पूछा।

उसने बताया—“मैंने कई बार चेष्टा की थी। अनुविंद के साथ राजभवन भी गया था। जब भी उससे मिला, वह एक बार दृष्टि डालती अवश्य थी। मेरी शिराओं में जैसे बिजली कौंध जाती थी।...फिर अचानक आँखें फेर लेती थी। ऐसा लगता था कि वह मुझसे स्वयं को अलग कर रही है।”

“वह नारी होकर भी तुमसे स्वयं को अलग करती रही और तुम उससे जुड़ते गए।”

“यही तो मेरी लाचारी थी।”

“लाचारी नहीं, दुर्बलता कहो।” मैंने कह तो दिया, फिर लगा कि यह समय गिरे को और गिराने का नहीं है वरन् उसे सँभालने का है। मैंने एकदम बात बदल दी—“यह दुर्बलता तुम्हारी ही नहीं वरन् हर पुरुष की है। मेरी भी है। आक्रामक कामदेव होता है, रति नहीं। यह प्रकृति का नियत है। आक्रामक बैल होता है, गाय नहीं। आक्रामक श्वान होता है, श्वानी नहीं।” इतना कहते-कहते मैं उसे हलका करने के लिए हँसा; पर उसपर कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं हुई।

“इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मनुष्य को खुली छूट मिलनी चाहिए। ऐसा होता तो मनुष्य और जानवरों से अलग कैसे होता! लाखों वर्षों की हमारी सभ्यता की यात्रा ने हमारी इसी आक्रामकता पर तो अंकुश लगाया है।”

मैंने फिर उसे गुदगुदाया—“इसका मतलब है कि तुम्हीं उसकी ओर बढ़ते रहे और वह तुमसे दूर भागती रही। तुम एक ही हाथ से ताली बजाते हुए इस स्थिति तक आ गए; पर तुमने कभी यह सोचा है कि तुम जिसे अपना बनाना चाहते हो, वह पहले से किसीकी हो चुकी है और वह भी तुम्हारा गुरुभाई है।”

“इसीसे तो मैं स्वयं को पापी समझता हूँ।” उद्धव का अपराधबोध मुखर हुआ—“मेरा मन ऐसा विचलित कैसे हो गया?”

“मन विचलित होने से क्या हुआ, तन तो विचलित नहीं हुआ! अपराध तो तन करता है। मन तो अपराध की परिधि में आता ही नहीं।”

“पर मैं मन को कैसे समझाऊँ? मन तो उसे हर क्षण देखना चाहता है।”

“तो देखते रहे। मन से देखते रहो। किसी सौंदर्य का रस लेना अपराध नहीं है। अपराध है उसे अपना बनाने की इच्छा करना।...और उसे क्या अपना बनाओगे, जो दूसरे की है और एक दृष्टि से तुम्हारी बहन भी होगी।”

‘हमारी! वह कैसे?’ वह बोला नहीं, पर उसकी दृष्टि ने पूछ दिया।

“जब वह हमारी बहन है तब क्या वह तुम्हारी नहीं हुई?” इतना सुनना था कि उद्धव की मुखमुद्रा एकदम बदल गई। “तुम गर्व करो, उद्धव, कि तुम्हारी बहन अप्रतिम सुंदरी है। अपनी सारी आत्मीयता एक भाई की तरह उसपर उड़ेल दो।”

मैंने अनुभव किया कि मेरी दवा काम कर रही है।

मैंने उसकी दूसरी मात्रा दी—“तुमने उसका बाह्य ही देखा है, क्या उसका अंतरंग देखा है? कितनी अहम्मन्यता, गर्व और हठ से भरी हुई है वह! जब वह श्वेतकेतु की न हो सकी तब वह तुम्हारी क्या होगी! उसने तो अपना सबकुछ उस सौंदर्य के समक्ष समर्पित कर दिया था। वह नागिन है, नागिन। जब वह काटती है तब मनुष्य न तो मर पाता है और न जी पाता है। केवल छटपटाता रह जाता है।”

उद्धव अब कुछ सामान्य हो चला था—“फिर भी लोग नागिन तो पालते ही हैं।”

“वे या तो नाग होते हैं या जादूगर। वह तुम्हारे जैसे मात्र भावुक नहीं होते।” इस बार की मेरी हँसी ने लगता है, उद्धव का भी स्पर्श किया। मैं बोलता जा रहा था—“मैं भी उसे यहाँ तक ले आया हूँ और मथुरा भी ले जा रहा हूँ। इसलिए नहीं कि मुझे नागिन पालने का शौक है, वरन् इसलिए कि वह संप्रति करवीरपुर से दूर रहे, अन्यथा वह पद्मावती के आँचल में ही अपना विष उगलने लगेगी।”

समय सरकता गया। इसके पहले कि लोग आश्रम में जागें, मैं उद्धव को अपने कक्ष में ले आया। अपने आस्तरण पर लिटाते हुए बोला, “अब एक नींद ले लो। तुम्हें लंबी यात्रा पर जाना है।”

मैंने उसे फिर गुदगुदाया—“तुम सो तो रहे हो, पर स्वप्न मत देखना, अन्यथा उसीमें डूबते हुए चिल्लाओगे कि मैं पापी हूँ।”

उसने झेंपकर मुँह फेर लिया और करवट घूम गया।

□

दूसरा कोई होता तो इन अप्रत्याशितताओं से उद्विग्न हो उठता, पर मैंने उनके साथ रहना और जीना सीख लिया था। मेरे मन के पुरइन के पात से उद्धव का प्रसंग जाने कब टुलक गया और मैं चलने की तैयारी करने लगा।

इधर नींद ने उद्धव को भी अपने आँचल में ले लिया और वह खरटे भरने लगा। मुझे विश्वास नहीं था कि काम का उद्वेलित ज्वार इतनी शीघ्र शांत हो जाएगा। व्यग्रता इतनी सहजता से सो जाएगी।

मैं अब उन सैनिकों की ओर गया, जिन्हें करवीरपुर ने मुझे सौंपा था। मैंने उन्हें दूर से आवाज लगाई और वे एक ही आवाज में हड़बड़ाकर उठ बैठे। उन्हें विश्वास ही नहीं था कि जगाने के लिए मैं स्वयं पहुँच जाऊँगा।

मैं बड़े सहजभाव से बोला, “मैं तो आपको एक शुभ समाचार देने आया हूँ।”

सबके कान खड़े हो गए।

“आपको भैया के साथ युद्ध में नहीं जाना है, क्योंकि आप हमारे क्रीत दास नहीं हैं।” इतना कहने के साथ ही मेरी नाटकीय मुसकराहट उभरी। वे यह सोचकर लज्जित हुए कि मुझे उनकी बातों का पता चल गया है।

मैं कहता गया—“वरन् आप मेरे पास करवीरपुर के महाराज की धरोहर हैं और हम उसी तरह आप लोगों को अपने पास रखेंगे।”

इसी क्रम में मैंने उनसे यह भी कहा, “अब उद्धव आपका सेनानायक नहीं है। आप सब अपने सेनानायक स्वयं हैं; वरन् यह सेनानायकों की सेना है, जो मेरे साथ रहेगी और आश्रम का अग्निहोत्र समाप्त होते ही चल पड़ेगी।”

इतना सुनते ही सब एक साथ ही चिल्ला पड़े—“भगवान् वासुदेव की जय!”

मैंने उनका यह अभिवादन स्वीकार तो किया, पर बोल पड़ा—“आदत जल्दी नहीं छूटती।” यह व्यंग्य शृंगलव के संदर्भ में था; पर मेरे मन ने इसका विरोध किया और कहा कि अभिवादन का यह उत्तर उचित नहीं है। मैंने शीघ्र ही बात बदल दी—“पर यह अच्छी आदत है, यह छूटनी भी नहीं चाहिए।”

इतना कहकर बिना उनकी प्रतिक्रिया जाने मैं उन पाँच शिष्यों की ओर गया, जिन्हें भैया के साथ जाने का आदेश आचार्य दे चुके थे। लगता है, वे उठने ही वाले थे; पर मेरी आवाज से वे एकदम उठ बैठे और अभिवादन के बाद उनकी मुद्रा प्रश्नवाची हो गई।

“आज का कार्यक्रम तो आपको मालूम ही है?”

“हाँ, बड़े भैया के साथ कुशस्थली की ओर जाना है।”

“पर मेरी राय है कि आप शीघ्र तैयार होकर प्रस्थान कर दें; यद्यपि भैया के चलने का मुहूर्त मध्याह्न में है। आप मगवासियों को यह विश्वास दिलाते जाइए कि पुण्यजन की पराजय को अब कोई रोक नहीं सकता। ककुद्मिन को शेषनाग के अवतार का सहयोग मिल गया है।”

“यदि मार्ग के लोग इस संबंध में कुछ और जानना चाहें तो?”

“तो उन्हें स्पष्ट बता देना कि बलरामजी शेषनाग के अवतार हैं। उन्हींके आदेश पर सिंधु ने जरासंध को निगल लिया था। वह तो मेरे (कृष्ण के) आग्रह पर उसने जरासंध को छोड़ दिया। फिर सारी कथा तो आपको मालूम ही है।”

“मालूम तो है; पर वे मेरी बात का विश्वास न करें तो?”

“विश्वास करना और न करना उनका काम है तथा प्रचार करना तुम्हारा और, तुम विश्वास करो, वायु में छोड़ा

हुआ वाणी का एक बाण भी व्यर्थ नहीं जाता। वह कहीं-न-कहीं असर करता ही है।”

मुझे जल्दी थी। मैंने उनसे कहा, “और कुछ पूछना है?”

वे मौन हो सोचते रह गए।

मैंने उन्हें मार्ग का निर्देश करते हुए कहा, “देखना, गिरनार की ओर से जाना। यदि आप लोग वहाँ पहले पहुँच जाएँ तो गिरनार की तलहटी के जंगलों में बसे आदिवासियों से भैया के आगमन की विशेष चर्चा करना। यह याद रखना कि नागजाति के ये लोग भगवान् परशुराम के भक्त हैं। उन्हींकी पूजा करते हैं। कभी इनके पूर्वजों को भगवान् परशुराम ने ही शर्याति क्षत्रियों की दासता से मुक्त कराया था। हो सकता है, ये लोग ककुद्मिन का विरोध करें; क्योंकि वह भी शर्याति वंश का है।”

“तब तो बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी।” उनमें से एक बोला।

“कोई कठिनाई नहीं होगी।” मैंने मुसकराते हुए कहा और एक कूटनीतिज्ञ प्रसंग बताया—“सुना है, कभी भगवान् परशुराम ने इन नागों को आश्वासन दिया था कि भविष्य में किसी समय भगवान् राम यहाँ पधारेँगे और आप लोगों का उद्धार करेंगे।...इसी संदर्भ का स्मरण कराकर कहना कि वही आप लोगों के त्राता बलराम पधार रहे हैं। आप सबकी सारी कठिनाई मंत्रग्रसित सर्प की तरह भाग जाएगी।”

“तो आप हमारा कूटनीतिक संदर्भ में ही प्रयोग करेंगे!” उनमें से एक मुसकराते हुए बोला।

“जी हाँ, क्योंकि आप हमारे सैनिक नहीं हैं और न हमारे प्रयाण के अंग हैं। आप तो आचार्यजी के आशीर्वादस्वरूप हमारे पाथेय हैं।” मैंने हँसते हुए कहा और वे सब भी मुसकराने लगे।

उन्हें शीघ्र चल पड़ने का निर्देश देकर मैं सीधे अपने कक्ष की ओर आया। भैया अब भी सो रहे थे। लगता है, रात्रि में काफी मैरेय ले ली थी।

अब मैं अपने रथ की ओर चला। सारथि पूर्व निर्देश के अनुसार पहले से तैयार था।

“रथ अवंतिराज के प्रासाद की ओर बढ़ाओ।” मंद समीरण को चीरता हमारा रथ चल पड़ा।

द्वारपाल मुझे पहचानता ही था। उसने मेरा रथ अतिथिशाला की ओर भेजकर अभिवादन कर मेरे अप्रत्याशित आगमन का कारण जानना चाहा।

“मुझे अवंतिराज से मिलना है।”

“पर इस समय तो वे सो रहे होंगे। आप भी अतिथिकक्ष में विश्राम करें।” इतना कहकर उसने दो प्रहरियों को मेरे साथ लगाया। वे अतिथिकक्ष की ओर मुझे ले चले।

मार्ग में मैं प्रहरियों को सुनाते हुए बड़बड़ाने लगा—“जब संसार सोता है तब भी राजा की आँखों को जागना चाहिए; क्योंकि सत्ता के लिए दिन से अधिक रात खतरनाक होती है।”

अब उन प्रहरियों का ध्यान मेरे आगमन की गंभीरता पर गया। मैं बोलता रहा—“शास्त्रों में राजा के लिए श्वान निद्रा का ही प्रावधान है। मेरा विचार है कि जयसेन भी वैसी ही नींद ले रहे होंगे।”

“तो क्या आपके आगमन की सूचना उन्हें दे दूँ?” अब उन प्रतिहारियों में से एक बोला।

“यदि आपकी ऐसी कृपा होती तो मैं अनुगृहीत होता।” मैंने कहा।

वे लोग मुझे अतिथिगृह की ओर पहुँचाकर अंतःपुर की ओर चल पड़े।

अतिथिकक्ष में आते ही मेरी मानसिकता वर्तमान राजनीति के संदर्भ में डूबने लगी। कुशस्थली को तो भैया मुक्त करा ही लेंगे और यह भी हो सकता है कि वहाँ की सत्ता पर पुनः ककुद्मिन न विराजे। फिर उसकी आज की मानसिकता में क्या परिवर्तन संभव नहीं? सत्ता के आकर्षण और महत्त्वाकांक्षा के सपनों को मानसिकता बदलने में

देर नहीं लगती। ककुद्मिन भी आखिर मनुष्य ही है। रेवती को भैया को सौंपकर कहीं वह सबकुछ अपना ही न बना ले; क्योंकि मैं भैया की प्रकृति जानता था। उनके मन में राज्य-स्थापना की ललक तो थी; पर यह ललक रेवती के साथ मैरेय में डूब सकती थी। वे सोच सकते थे कि जब शृंगलव का वध करने के बाद करवीरपुर की सत्ता शक्रदेव को सौंप दी गई, तब संकल्प पूरा करने के बाद ककुद्मिन को ही गद्दी देने में अनुचित क्या है?

इस स्थिति के लिए अभी मुझे उद्भव को तैयार करना था और भैया को इतना शक्तिशाली बनाना था कि उनके सामने ककुद्मिन गद्दी पर बैठने का साहस तक न कर सके। इसीलिए मैंने ब्रह्मचारियों को गिरनार के नागों को मिलाने का कार्य सौंपा था। वे भैया के भक्त भी रहेंगे और ककुद्मिन के विरोधी भी। वे कभी नहीं चाहेंगे कि भैया के होते हुए ककुद्मिन को सत्ता सौंपी जाए।

मन यह भी कहता था कि हो सकता है, यह सबकुछ न हो। ककुद्मिन तो कुशस्थली को फूँक चुका है। अब वह उसके लिए राज्य नहीं, श्मशान है। पर हमें तो हर स्थिति के लिए तैयार होना था।

मेरे आगमन की सूचना से जयसेन एकदम हड़बड़ाकर उठा और अंतःपुर से सीधे अतिथिकक्ष में मुझसे मिलने चला आया। यद्यपि उसे ज्ञात था कि आज मेरे प्रयाण का दिन है; पर मेरी उपस्थिति की यह आकस्मिकता उसकी व्यग्रता का कारण बनी। मैंने उसे शांत करते हुए कहा, “आप मुझे क्षमा करें। मैंने कुसमय आपको जगाया।” मैंने अपनी प्रकृति के अनुसार सहजता की धूल में भी रहस्य की डोरी बटनी आरंभ की—“याचक को अपनी नहीं, दाता की सुविधा देखनी चाहिए। इस कुसमय में आपसे मिलने के दो कारण हैं। एक तो मेरे पास समय का अभाव है; जैसा आप जानते हैं, मुझे दो घड़ी के बाद ही प्रयाण कर देना है। दूसरे एकांत में स्वयं मिलकर याचना करना मैंने इसलिए भी उचित समझा कि यदि मेरी प्रार्थना असफल होगी तो भी बात हमारे और आपके बीच ही रहेगी। किसीको किसी प्रकार का संकोच नहीं होगा और दूसरे इसका राजनीतिक लाभ भी नहीं उठाएँगे।”

वह मेरा मुख देखने लगा। फिर बड़े विनय के साथ बोला, “आप याचना नहीं, निर्देश दीजिए।” अब मैंने बड़े सहजभाव से कहा, “मुझे आपके कुछ सशस्त्र सैनिक और रथों की आवश्यकता है।” “जो चाहिए, जितना चाहिए, ले जाइए।” वह मुसकराते हुए बोला, “इतनी मामूली सी बात के लिए आपने ऐसी भूमिका बनाई कि मैं सकते में आ गया था।” मैं कुछ बोला नहीं। केवल मुसकराता रहा और सोचता रहा कि जो व्यक्ति एक रथ देने में कभी हिचक रहा था, आज कितना उदार हो गया है।

“आपकी यह सहायता मैं अपने लिए नहीं, भैया के लिए ले रहा हूँ।”

“तो क्या मेरी सेना महाराज शेषनाग की सेवा में रहेगी?” वह परम प्रसन्न हुआ। मेरे साथ उसकी सेना मथुरा जाए, इसमें उसे कुछ हिचकिचाहट होती; क्योंकि वहाँ पहचान लिये जाने का डर था। जरासंध तक खबर पहुँच जाती। व्यर्थ रक्त लगाकर बलिदानी बनने से वह हिचक रहा था।...पर अब तो कोई बात नहीं थी।

उसने तुरंत अपने प्रधान सेनापति को आदेश दिया कि वह मुझसे मिले। मुझे यह भी अनुभव हुआ कि शेषनागवाला प्रचार काम कर रहा है।

मैं शीघ्रता में न तो दमघोष से मिला और न शैव्या से। सीधे आश्रम में लौट आया।

□

भैया के सोकर उठते-उठते अवंती की सुसज्जित सेना की एक टुकड़ी रथों के साथ आश्रम में आ गई थी। जब मैंने भैया से कहा कि यह आपके साथ जाएगी और इसका नेतृत्व उद्भव करेगा, तब वे परम प्रसन्न हुए। उनके लिए यह आपात सहायता उनकी दैवी शक्ति का परिणाम बनी।

अग्निहोत्र समाप्त होते ही मैं मथुरा के लिए चल पड़ा। हमारे साथ करवीरपुर की संपत्ति थी, करवीरपुर के सैनिक

थे और थे फूफाजी तथा उनके रथ पर बैठी शैव्या। आश्रमवासियों के साथ रेवती, भैया, उद्धव आदि ने बहुत दूर तक पैदल चलकर हमें बिदाई दी। मैंने अनुभव किया कि उद्धव के हिलते हाथ हमारी ओर हैं, आँखें पीछे आ रही शैव्या की ओर। उद्धव अब भी शैव्या से स्वयं को अलग करने में कठिनाई का अनुभव कर रहा था; जबकि शैव्या स्वतः उससे अलग होती चली जा रही थी।

यों तो यहाँ से मथुरा का मार्ग मुश्किल से सात-आठ दिनों का था, पर वर्षा ने हमें कठिनाई में डाल दिया था। यद्यपि आश्विन के दस दिन बीत गए थे। दम तोड़ती ऋतु की भभकती यह आखिरी साँसें थीं। हमें बीच-बीच में विश्राम लेना पड़ा। कई बार तो जब यह ज्ञात हुआ कि आगे का मार्ग जलाच्छादित है, तो हमें दो-दो दिनों तक यात्रा स्थगित करनी पड़ी।

इस स्थगन में सबसे अधिक परेशानी शैव्या को होती थी। एक बार तो उसने झुँझलाते हुए कहा, “अभी चातुर्मास समाप्त नहीं हुआ और आप चल पड़े, तो भोगिए इस विपदा को!”

“यह भोग भी जीवन का एक अनुभव है, शैव्या।” मैंने उसे समझाते हुए कहा।

“होगा आपके लिए अनुभव! मुझे ऐसे अनुभव से क्या लेना-देना!” उसकी झुँझलाहट में एक दूसरा उबाल आया — “आज बादलों से इतने परेशान हो रहे हो, कहाँ है इंद्र का प्रकोप झेलनेवाली तुम्हारी शक्ति?”

पहले तो हँसकर मैंने बात टालने की कोशिश की; पर जब मैंने देखा कि शैव्या की झुँझलाहट शांत नहीं हो रही है, तब मैंने कहा, “कोप और प्रकोप के समक्ष तो शक्ति का प्रयोग अनिवार्य है; पर प्रकृति के सहज नियम को अपनी शक्ति का लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए। यदि हमें यात्रा करने का नैसर्गिक अधिकार है, तो वर्षा ऋतु को बरसने का भी नैसर्गिक अधिकार है।”

“यदि तुम ऋतु को उसके नैसर्गिक अधिकार से वंचित नहीं कर सकते थे, तो तुम्हें भी यात्रा नहीं करनी चाहिए थी।”

“तुम्हारी दृष्टि में यह भूल हुई, पर मेरे लिए उस दिन आश्रम से चल पड़ना एक आवश्यकता थी।”

“ऐसी बाध्यता क्या थी?”

“इसका उत्तर समय आने पर स्वयं मिल जाएगा।” मैंने ऐसी दीवार खड़ी कर दी कि उसके बहस के प्रवाह को रुकना पड़ा।

मनोरम स्थिति थी। हम लोग विवाद में उलझे थे; पर किसीने इस बहस में हिस्सा नहीं लिया। अधिकांश वर्षा का आनंद ले रहे थे। फूफा दमघोषजी भी चुपचाप वर्षा की झड़ी देख रहे थे। उनका गंभीर मौन बता रहा था कि वे परिस्थिति की गंभीरता को समझते हैं।

दो दिनों तक आगे बढ़ने के बाद हम लोग रात्रि विश्राम के लिए एक गाँव में रुके। हमें पता चला कि हमारी खोज करता छंदक भी आज ही आया है।

ज्यों ही हम लोग ग्राम के शिव मंदिर में पहुँचे, छंदक वहाँ मिल गया— “आपके लिए मथुरा व्यग्र है और आप वर्षा मंगल मना रहे हैं।”

“तुम्हारी सूचना मुझे आश्रम में ही मिल गई थी। इसीसे चातुर्मास समाप्त किए बिना ही मैं चल पड़ा।” फिर मैं शैव्या की ओर देखकर मुसकराया। मुझे लगा कि मेरी जल्दबाजी का उत्तर उसे मिल गया।

फिर छंदक अचानक पूछ बैठा— “क्या उद्धव नहीं है?”

“क्यों? उद्धव के लिए इतने परेशान क्यों हो?”

“उसकी माँ ने मथुरा में तूफान खड़ा कर दिया है।” इसी संदर्भ में छंदक ने मथुरा की विषम स्थिति की विस्तृत

चर्चा की और बताया—“हालत नाजुक है। आपकी मौसी कंसा अपने पुत्र बृहद्बल को युवराज बनाने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर रही है। वातावरण भी उसके अनुकूल है। मागधी सैनिकों के साथ यादवों का भी उसे समर्थन है। अब तो उसने सात्यकि को भी मिला लिया है।”

“कौन सात्यकि?”

“अरे वही! सात्यकि युयधान।”

“वह तो हमारा मित्र है!” हमें आश्चर्य था कि वह कैसे इस षड्यंत्र में शामिल हो गया।

“पर उसे तो यह विश्वास ही नहीं है कि आप जीवित हैं।” छंदक बोला और उसने बताया—“मैंने गोमांतक और करवीरपुर की सारी घटना बताई; फिर भी उसने विश्वास नहीं किया। उसका कहना था कि यदि वे दोनों जीवित होते तो अवश्य आते। इतने दिनों तक मथुरा की गद्दी खाली न पड़ी रहती।”

“इसका मतलब है कि तुम्हारे प्रचार में अब वह दम नहीं रहा।”

“आप चाहे जो समझें, पर इतना सत्य है कि मेरे कहने का कोई असर सात्यकि पर नहीं पड़ा। वह कंसा के प्रभाव में ही है।”

“तुम भी तो शांत बैठे न रहे होगे?”

“कैसे बैठा रहता! एक दिन महाराज उग्रसेन प्रकट हो गए।...” इतना कहते हुए वह मुसकराया।

मुझे भी हँसी आ गई—“कहनेवाले भले ही मुझे चक्री कहें, पर तू भी कम चक्री नहीं है, छंदक!”

“पर इससे भी तो काम नहीं चला। आपकी मौसी अब उनपर भी दबाव डालने लगी। उन्हें समझाने लगी—‘जीवन का कोई ठीक नहीं है। जाने कब प्राण-पखेरू उड़ जाए। इसके पहले ही आप गद्दी का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दें, जिससे प्रजा को रिक्तता का बोध न हो।’

“‘किंतु इतने दिनों तक तो मैंने सिंहासन खाली कर दिया था, पर जनता ने किसी प्रकार की रिक्तता का बोध नहीं किया!’

“‘यह आप कैसे कह सकते हैं?’ कंसा ने उनसे कहा, ‘प्रजा तो सोच ही रही थी कि महाराज गद्दी त्यागकर चले गए हैं। यह तो हम थे, जो उसे विश्वास दिलाते रहे कि वे तीर्थाटन पर गए हैं। एक-न-एक दिन तो आएँगे ही।’”

यहीं से मैंने बातों का क्रम बदला—“अच्छा यह बताओ, छंदक! महाराज के जाने और फिर प्रकट होने के बीच मथुरा की क्या स्थिति रही?”

“इसका संकेत तो मैं आपको पहले दे चुका हूँ।” छंदक बोला, “तरह-तरह की अफवाहें उड़ती रहीं—महाराज ने संन्यास ले लिया; गद्दी से विरक्ति तो उन्हें आरंभ से थी। पर हो सकता है, यह मागधी लोगों का षड्यंत्र हो, उन्हें यमलोक भेज देने का। कुछ लोग यह भी सोचते थे कि हो सकता है, प्रजा की प्रतिक्रिया जानने के लिए महाराज ने गुप्तवास ले लिया हो।”

“जब वे प्रकट हुए तब प्रजा से उन्होंने क्या कहा?” मैंने छंदक से मुसकराते हुए पूछा। और उसने भी मुसकराते हुए बताया—“सुना है, उन्हें बड़ा संकोच हो रहा था उपस्थित होने में।...पर जब वे उपस्थित हुए तो उन्होंने किसी राजनीतिज्ञ का सिखाया मात्र दो वाक्यों का वक्तव्य दिया—‘मेरे जाने और आने के रहस्य के संबंध में कुछ भी कहना इस समय जनहित में नहीं है। हमारी प्रजा ने हमारी अनुपस्थिति को जिस व्यग्रता से झेला और अपना संतुलन स्थिर रखते हुए मेरे प्रति अपनी आस्था और आत्मीयता बनाए रखी है, उसका मैं आभारी हूँ।’”

मुझे हँसी आ गई और मेरे साथ ही वह भी हँसा। मैंने कुछ कहा तो नहीं, पर समझ गया कि इस सारे नाटक के पीछे इसी छंदक का हाथ है।

“इसका तात्पर्य है कि मात्र तुम्हारे प्रयत्न से मेरी मौसी महाराज को प्रभावित न कर सकी।”

“यह बात नहीं है। यदि गर्गाचार्य सहायक न होते तो बृहद्बल अब तक युवराज बन गया होता।...यद्यपि महाराज बराबर कह रहे थे कि कृष्ण के होते हुए मैं किसी और को अपना उत्तराधिकारी कैसे बना सकता हूँ!

“इसके लिए उनके पास दो शक्तिशाली तर्क थे। एक तो कृष्ण ने कंस का वध किया। नैसर्गिक न्याय के अनुसार, यह गद्दी उसकी है। दूसरी बात, मैं तो सिंहासन से कब का हटाया जा चुका था। मैंने स्वप्न में भी न तो इसके पुनः प्राप्त करने की इच्छा की और न मैं इसपर पुनः बैठना चाहता था। यह तो कन्हैया था, जिसने कहा, ‘जब तक आपकी इच्छा हो, विराजें और जब हटना चाहें, मुझे स्मरण करें।’ ”

मुझे हँसी आ गई—“पर मैंने तो ऐसा नहीं कहा था!”

“आपने भले ही न कहा हो, पर महाराज ने तो यही कहकर एक बार कंसा का मुँह बंद कर दिया था।” छंदक बोला, “पर कंसा भी चुप बैठनेवाली नहीं थी। वह सीधे आपके पिता के पास पहुँची और ऐसा नाटक किया कि उन्हें कहना ही पड़ा कि मुझे बृहद्बल के युवराज बनने में कोई आपत्ति नहीं है।”

“आश्चर्य है!” मैं सोचने लगा कि पिताजी ने ऐसा कैसे कहा। “क्या उन्होंने कोई सार्वजनिक घोषणा की थी?”

“नहीं। उन्होंने कंसा से क्या कहा, यह तो मालूम नहीं; पर उन्होंने मुझसे कहा था।”

“तब क्या हुआ?”

“महाराज बड़े धर्मसंकट में पड़े। वह तो स्थिति गर्गाचार्य ने सँभाली। उन्होंने अपनी व्यवस्था दी कि अभी तो सूर्य दक्षिणायन है। युवराज घोषित करने का उचित समय नहीं है। फिर ऐसी जल्दी क्या पड़ी है? गद्दी पर महाराज तो हैं ही।”

छंदक का कहना था कि “मामला इतने से शांत नहीं हुआ। यह आग लगाई जरासंध की थी। जरासंध ने ही मथुरावासियों को विश्वास दिलाया था कि एक बृहद्बल के कारण ही मथुरा मेरे कोप से बच रही है। यदि इसे युवराज बना दिया गया तो मथुरा का भला होगा और कंस की नीति के कारण यादवों के जो कुल—अंधक और शूर अलग हो गए हैं, पुनः एक हो सकते हैं। जरासंध ने ही बृहद्बल के भीतर राजसत्ता की महत्वाकांक्षा भी भरी।”

“इसका तात्पर्य है कि बृहद्बल भी अत्यधिक प्रयत्नशील होगा?”

“उसे मैरेय पीने और उपवन में प्रमदा-प्रमोद करने से फुरसत कहाँ?”

अब मेरे समक्ष मथुरा की स्थिति स्पष्ट थी। मैंने अनुभव किया कि हमें शीघ्रातिशीघ्र वहाँ चलना चाहिए।

□

छंदक ने पहले से ही पहुँचकर मेरे आगमन की सूचना दे दी। इसीका परिणाम था कि मथुरा में प्रवेश करते ही मेरा विराट् स्वागत हुआ। ऐसी भीड़ उमड़ी जैसी कंस की शवयात्रा के समय भी नहीं थी। लोग छज्जों और मुँडेरों तक पर खड़े थे। वातायनों से झाँकते हुए मुंड किसी चौखट में जड़े जान पड़ते थे। रथ का आगे बढ़ना कठिन हो गया था। चौराहे के प्रशस्त मार्ग पर रथ रोक देना पड़ा। तब मैं उठा और सारथि की बगल में आकर खड़ा हो गया वंशी लिये, मुसकराता हुआ, सिर पर मोर मुकुट, कटि में पीतांबर और कंधे से लटकता मेरा चमकीला उत्तरीय मुझे ज्ञात था कि मेरी इसी छवि पर मथुरा दीवानी है।

यों तो फूलों की वर्षा की जा रही थी, फिर भी लोग मुझे हार पहनाने के लिए व्यग्र थे। जो निकट नहीं पहुँच पा रहे थे, वे दूर से ही फेंक दे रहे थे। कुछ मालाएँ मेरे पीछे के रथ पर चली जा रही थीं। फूफाजी और शैव्या भी फूलों की इन बौछारों से भीग चले थे।

इसी बीच गुंजों की एक माला कहीं से आकर ठीक मेरे गले में गिरी। माला भी विचित्र और निशाना भी अचूक। इसके निर्माण में भी आत्मीयता और जिस लक्ष्य को इसने पाया था, वह भी बिना आत्मीयता के पाया नहीं जा

सकता।

अब मेरी दृष्टि उधर जानी स्वाभाविक थी जिधर से माला आई थी। मैंने देखा कि दूर, भीड़ से एकदम दूर खड़ी मालिनी अपनी लक्ष्य-प्राप्ति पर मुसकरा रही थी। उसके पास ही कर्मा लगता है, थककर बैठ गया था। केवल उसका सिर और उसकी लंबी लकुरी दिखाई दे रही थी।

मैंने यह भी अनुभव किया कि मालिनी की मुसकराती दृष्टि मेरे पीछे के रथ पर जाकर शैव्या पर अटक जा रही थी। मुझे उसके मन का संदेह समझते देर नहीं लगी। उसकी ईर्ष्या प्रसन्नता के आच्छादन को फाड़कर बड़ी व्यग्रता से झाँक रही थी।

अब मेरी दृष्टि भीड़ से दूर उत्तर की ओर गई। उधर से कुछ विशिष्ट लोग आते दिखाई दिए। पिताजी, माताजी, उपदेव, गुणवंती, कंसा आदि सभी साथ ही थे। मैं रथ से एकदम कूद पड़ा और भीड़ को चीरता उस ओर बढ़ा। मेरे साथ आए सैनिक भी रक्षार्थ अपने-अपने अश्वों से उतरकर मेरे साथ आए। मैं पहुँचते ही माँ के वक्ष से चिपक गया। उसकी धड़कती हुई छाती में न जाने कब की प्यास थी। फिर मैंने बड़ों के चरण छुए और अन्यो का सोचित अभिवादन किया।

चारों ओर दृष्टि दौड़ाते हुए कंसा ने पूछा, “उद्धव कहाँ है?”

“वह तो यहाँ नहीं है।” मैंने कहा और उसे सारी स्थिति बताई। वह एकदम भभक पड़ी—“अच्छा, तो तू उसे युद्ध पर भेजकर स्वयं मथुरा का उत्तराधिकारी बनने आया है!”

“नहीं मौसी, आप गलत समझ रही हैं।” मैंने उसे समझाने की चेष्टा की।

“नहीं-नहीं, मैं सब समझ रही हूँ। मैं तेरी चाल जानती हूँ। तुझे समझती हूँ।” इतना कहते हुए वह आँसू बहाती चिनगारी की तरह वहाँ से छिटक गई।

मैंने बात बढ़ाना उचित नहीं समझा; पर इतना अनुभव किया कि मुझे महाराज से शीघ्र मिलना चाहिए। छंदक भी इसी पक्ष में था। मेरे सामने समस्या थी कि करवीरपुर से आई सेना और संपत्ति कहाँ ठिकाने लगाऊँ!

तब तक मथुरा का द्वारपाल शंकु आता दिखाई पड़ा। उसके समक्ष मैंने अपनी समस्या रखी। उसने बेहिचक कहा, “प्रासाद का अतिथिभवन तो है ही।”

“पर क्या हम वहाँ सुरक्षित रहेंगे?”

“मेरे विचार से तो कोई खतरा नहीं है।” शंकु बोला।

“पर विक्षर (मागधी सेनापति) अपनी दुष्टता से बाज नहीं आएगा।” मैंने कहा।

“विक्षर!” शंकु जोर से हँसा और उसने छंदक की ओर देखकर कहा, “गरुडध्वज के फहराने की सूचना पाते ही यहाँ के सारे विषधर या तो मथुरा छोड़कर भाग गए थे या फिर किसी अनजान विवरों में छिप गए।”

विकट्रु ने भी शंकु का समर्थन किया। तब मैंने अपने सैनिकों और संपत्ति से लदी गाड़ियों को राजप्रासाद की ओर बढ़ने का संकेत किया।

अब भीड़ लगभग छूट चुकी थी। लोग बड़े उत्साह से लौट रहे थे। मैं अपने चाचा (उद्धव के पिता) देवभाग को एक किनारे ले जाकर उद्धव के संबंध में सारी स्थिति बताने लगा, जिससे वे कंसा मौसी को समझाएँ। पर मुझे पूरा सुनने के पहले ही वे बोले, “मैं सारी स्थिति जानता हूँ, वत्स! मुझे छंदक ने सब बताया है; पर तुम्हारी मौसी को मैं क्या, भगवान् भी नहीं समझा सकता। वह पुत्र-प्रेम में धृतराष्ट्र की तरह अंधी है।”

धृतराष्ट्र का एक ऐसा संदर्भ उन्होंने मेरे सामने उछाल दिया कि कुछ क्षणों तक मैं सोच में पड़ गया; पर शीघ्र ही इस संदर्भ को मन के कोने में ढकेलकर सामने आई परिस्थितियों पर विचार करने लगा।

तब तक फूफाजी और शैव्या भी रथ से उतरकर मेरे पास आ चुके थे। मैंने शैव्या का सबसे परिचय कराया और उसे माँ को सौंपते हुए बोला, “इसे सुभद्रा जैसी ही समझना।”

“वह तो है ही।” माँ ने उसे छाती से लगाते हुए कहा, “इसे मैंने पैदा होने के बाद देखा था। फिर आज दिखाई पड़ी।” उसकी ठुड्डी को ऊपर उठाते हुए आँखों में आँखें गड़ाकर बड़ी आत्मीयता से माँ बोली, “कितनी सुंदर है तू, अद्भुत!”

मैंने अपने सारथि के लिए जब पीछे दृष्टि घुमाई तब देखा कि मुँह लटकाए मालिनी खड़ी है। मुझे उसकी दृष्टि पढ़ते देर नहीं लगी। मैंने झट माँ से कहा, “शैव्या को एक सहेली की भी जरूरत पड़ेगी। आखिर उसका मन कैसे लगेगा?”

“सो तो है ही।”

“तो मेरी यह मालिनी उसके साथ रहेगी।” मैंने जानबूझकर मालिनी के साथ ‘मेरी’ शब्द का प्रयोग किया था और उसका हाथ पकड़कर मालिनी की बगल में खड़ा कर दिया।

इसके बाद मैं सीधे राजप्रासाद की ओर बढ़ा।

प्रासाद के मुख्य द्वार से भीतर घुसते ही नानाजी आते दिखाई पड़े। लगता है, वे मेरे स्वागत के लिए चले आ रहे थे। उनकी बगल में कंसा थी।

“तू कैसे चला आया, बेटा?” चकित होते हुए नानाजी ने मुझे वक्ष से लगा लिया।

“मुझे लगा कि आप पुकार रहे हैं, मथुरा पुकार रही है और मैं दौड़ा हुआ चला आया।” मैं बड़े नाटकीय ढंग से बोला, “मैंने कहा था न, जहाँ से भी मेरे लिए हृदय से पुकार होती है, मैं वहीं उपस्थित हो जाता हूँ।”

“पर कंसा तो कह रही थी...”

नानाजी का शेष वाक्य मैंने पूरा किया—“वह यमलोक चला गया है।” और मुसकराते हुए कंसा मौसी की ओर देखा। वह झेंप गई। पर मैं बोलता रहा—“पर गया था यमलोक भी; किंतु रहने नहीं, अपने गुरुपुत्र पुनर्दत्त को छुड़ाने।”

गुरुपुत्र का संदर्भ उठते ही नानाजी झट बोल पड़े—“अरे, तेरे गुरु भी आए हैं।”

“कौन? आचार्य सांदीपनि?”

“हाँ, अभी कल ही तो पधारे हैं।” नानाजी बोले।

मुझे आश्चर्य था कि गुरुजी मुझसे पहले कैसे चले आए! “कहाँ हैं वे?” मैंने पूछा।

“अतिथिकक्ष में विश्राम कर रहे हैं।...तेरे आने का समाचार तो उन्होंने ही मुझे दिया है।”

पर वे विश्राम नहीं, कमरे में टहलते हुए मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। पहुँचते ही उन्होंने पहला प्रश्न किया—“तुमने बड़ी देर कर दी, कन्हैया?”

“यही तो आश्चर्य है कि आप मुझसे पहले कैसे चले आए?” मैं बोला।

“तुम रथ से आ रहे थे। तुम्हारे लिए प्रशस्त मार्ग आवश्यक था। इसीलिए वर्षा के कारण तुम्हें अवरोधों का सामना करना पड़ा। बीच-बीच में रुक-रुककर आना पड़ा; पर मेरे सामने ऐसा कोई अवरोध नहीं था। पहले तो मैं अश्व से चला। संक्षिप्त रास्ता पकड़ा और जहाँ यमुना मिली, नौका से यात्रा आरंभ कर दी। फिर क्या था! बाढ़ की सरिता और मथुरा की ओर बहाव। किसी रथ से कम मेरी गति नहीं रही।”

मैं क्षण भर के लिए उनका उत्साह देखता रह गया। मेरे मुख से निकला—“आप और अश्वारोहण!”

“क्यों, तुम्हें आश्चर्य होता है?...जिस देश का आचार्य केवल आश्रम की परिधि में रहता है, उस देश की विद्या

सड़ने लगती है। मैं अपनी विद्या किसी परिधि में बाँधना नहीं चाहता।”

मैंने उस समय उनका संदर्भ नहीं समझा और बात दूसरी ओर बदल गई—“पर चलते समय आपने यहाँ आने का कोई संकेत नहीं किया था, तात।”

“क्या करता! उस समय इधर आने की कोई योजना थी ही नहीं।” आचार्य ने कहा, “वह तो तुम्हारे चले आने के बाद मुझे एक विचित्र रिक्तता का अनुभव हुआ। मुझे लगा कि मैं आश्रम की सीमा में खालीपन की एक बंदी आत्मा हूँ, जो मात्र अपनी सामान्य दिनचर्या में भटकती रह जा रही है। मैं अपने से ही घबरा गया। मेरी व्यग्रता तुम्हारी ओर दौड़ने लगी। ऐसा व्यग्र तो मैं पुनर्दत्त के अपहरण के बाद भी नहीं हुआ था। तेरा आकर्षण तो था ही, साथ में मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मथुरा को मेरी भी आवश्यकता है।”

मैं इस समय विस्तार से बात करने के पक्ष में नहीं था। मैंने लगभग उनकी बात काटते हुए पूछा, “अच्छा, यह बताइए कि भैया का प्रयाण कैसा था?”

“अद्भुत! हमारी सोच से परे। जयसेन ने भरपूर मदद भेजी थी। यहाँ तक कि वे अपने बेटों में से भी एक को भेजने को तैयार थे। उन्होंने मुझसे स्पष्ट कहा कि आप चाहें तो विंद और अनुविंद में से किसी एक को भेज सकते हैं। एक मेरी सेवा में रह जाएगा।...पर मैं बलराम की विजय में किसीको भागीदारी देने के पक्ष में नहीं था। मैंने उनसे कह दिया कि आप अपने बच्चों को अपनी सेवा में रखिए।”

मैंने मन-ही-मन आचार्यजी की समझदारी को सराहा। राजा या युवराज को साथ रखने का तात्पर्य था, विजय और पराजय में उनके अधिकार को स्वीकार करना; पर उनकी सेना रखने में ऐसा कोई खतरा नहीं था। मैंने बड़ी प्रसन्नता से पूछा, “तो आप भैया की विजय में अभी से आश्वस्त हैं?”

“मैं ही नहीं, उस प्रयाण का एक-एक व्यक्ति आश्वस्त था। भला शेषनाग के अवतार को कौन पराजित कर सकता है!”

“पर ककुद्मिन की क्या स्थिति थी?”

“वह तो सबसे प्रसन्न था। तुम उसे देखकर पहचान ही नहीं सकते थे कि यह वही जीवन से निराश, संसार से दूर, कंदरा में बैठा टूटा हुआ ककुद्मिन है। अरे, उसका तो संकल्प और उपसंकल्प दोनों पूरा होने जा रहा था।”

“उसके संकल्प को तो जानता हूँ, पर उसके उपसंकल्प तक मेरी पहुँच नहीं है।”

आचार्यजी हँस पड़े—“अरे, तुमको उसके उपसंकल्प का भी अनुमान नहीं! उसको अपनी बेटी के लिए योग्य वर की खोज थी, जिसे गुफा में बैठे-ही-बैठे उसने पा लिया।”

मुझे भी हँसी आ गई; पर मेरे नानाजी का सहज व्यक्तित्व इस संदर्भ से दूर था।

□

राजभवन की सीढ़ियों पर मेरी भेंट माया से हो गई। वह ऐसी छहछहाकर मुझसे मिली कि क्या बताऊँ! उसने अपने वक्ष से लगाकर प्रसन्नता के जो आँसू बहाने शुरू किए कि उसकी धारा थमना ही नहीं जानती थी। मुझे पूछना पड़ा—“आखिर तू इतनी विह्वल क्यों है, माया?”

“मुझे विश्वास ही नहीं था कि अब तुमसे भेंट होगी।”

“क्यों? तेरा स्वास्थ्य तो ठीक है न? तू मरनेवाली भी नहीं थी, जो मुझसे भेंट न हो पाने की कल्पना कर बैठी।” मैं जोर से हँसा।

अब उसने बताया कि “मुझे विश्वास दिला दिया गया था कि अब तुम जीवित नहीं हो।

“मुझे तो निश्चित रूप से विश्वास था।” वह कहती जा रही थी—“तेरी मौसी कहे और उसपर मैं विश्वास न करूँ! पर कभी महाराज ने अपनी पुत्री कंसा के कथन पर विश्वास नहीं किया। वे बराबर कहते रहे कि कन्हैया इस धरती

पर कहीं-न-कहीं है अवश्य। वह मारा नहीं जा सकता।

“‘तब वह आता क्यों नहीं?’ कंसा के साथ-साथ सात्यकि ने भी यह प्रश्न उठाया था।

“महाराज ने तब स्पष्ट कहा था कि जब उसको मेरी पुकार लगेगी तब वह अवश्य आ जाएगा।...लगता है, आज उनकी पुकार लग गई और तू आ गया!”

माया की इस प्रसन्नता में दिखावा कम और वास्तविकता अधिक थी। वस्तुतः वह कंसा से अप्रसन्न थी। वह किसी भी स्थिति में यह नहीं चाहती थी कि बृहद्बल मथुरा का युवराज बने। बृहद्बल से उसकी कोई व्यक्तिगत घृणा नहीं थी, वरन् वह उसके बड़े भाई चित्रकेतु को चाहती थी; पर वह उद्धव की तरह मेरे प्रभाव में था। सुना है, चित्रकेतु ने जरासंध से स्पष्ट कहा था कि कृष्ण भैया के रहते इस पद के संबंध में सोचा भी नहीं जा सकता।

जब जरासंध चित्रकेतु की ओर से निराश हो गया था, तब उसने बृहद्बल को अपना शिकार बनाया। उसने उसमें महत्वाकांक्षा की वह अग्नि सुलगाई, जो दिन दूनी व रात चौगुनी बढ़ती रही और जिसने कंसा मौसी को भी अपने अंक में लपेट लिया। अब वह न अपने पति के कहने में थी और न पुत्रों के। मेरे माता-पिता की तो बात ही छोड़िए। उन्हें तो वह अपना शत्रु समझने लगी थी। मुझे तो ऐसा आभास लगा कि मेरे परिवार से उसकी लगभग बोलचाल भी बंद है।

फिर भी इस समय मैंने माया को कुछ और खोलने की नीयत से कहा, “कौन सा आसमान फट पड़ेगा, यदि बृहद्बल ही मथुरा का युवराज बन जाएगा? आखिर वह भी महाराज का नाती है, मेरा भाई है।”

“तू भी ऐसा कहता है!” माया के नेत्र विस्फारित हुए—“कंस भी तो तेरी माँ का भाई ही था। सत्ता की ललक को रिश्ते की दीवारों को गिराते देर नहीं लगती।” इतना कहते हुए वह मेरी दाहिनी भुजा पकड़कर सीढ़ी से नीचे की ओर खींचते ले चली और बोली, “तू चल मेरे साथ और देख ले कि कौन सा आसमान फट रहा है उसके युवराज बनने के पहले ही!”

मैंने बार-बार कहा कि मुझे इस समय महाराज से मिलना आवश्यक है, पर उसने एक न सुनी। मुझे खींचती हुई उद्यान की ओर ले गई और पश्चिम की ओर लता-प्रकोष्ठ की तरफ संकेत करते हुए बोली, “देख, उधर देख। आसमान फट रहा है!”

मैंने देखा, बृहद्बल लगभग बेसुध होकर पड़ा है। निकट ही चषक और मदिरा के पात्र ढुलके हैं। दो-तीन युवतियाँ उसे उठाकर पुष्पकरिणी के निकट स्फटिक शिला पर लाने का असफल प्रयत्न कर रही हैं।

हम उन्हें देखते रह गए; पर वे युवतियाँ हमें देख नहीं पाईं। मैंने माया से ही अपनी जिज्ञासा व्यक्त की—“ये युवतियाँ कौन हैं?”

“मुझे नहीं मालूम।”

“आप महाराज की प्रधान सेविका हैं। प्रासाद और अंतःपुर में ऐसी युवतियाँ रहें और आपको मालूम न हो?”

“अब ऐसा ही होता है, कन्हैया! अब तो कंस के समय की पवित्रता भी इस अंतःपुर में सपना हो गई। ये युवतियाँ भी मथुरा की नहीं लगतीं। इनका पहनावा देखो, बिल्कुल मागधी है।...और ऐसी कई मागधी युवतियों की विक्षर ने अंतःपुर में नियुक्ति की है।”

“आखिर अनुमति तो आपने ही दी होगी या आपके माध्यम से महाराज ने दी हो।”

“तुम भी कैसी बातें करते हो, कन्हैया! अब मेरी यहाँ कौन सुनता है और महाराज को भी सुननेवाला यहाँ कौन रहा! उन्होंने सिंहासन छोड़कर अदृश्य रहने के बाद अपनी स्थिति और भी हास्यास्पद बना ली। गद्दी से विरक्त राजा अंधड़ में वृक्ष से टूटी डाल की तरह हो जाता है, जिसके अपना होने पर वृक्ष स्वयं विश्वास नहीं करता। आज

यहाँ की भी ऐसी ही स्थिति है। राजा पर किसीका विश्वास नहीं। अधिकारी स्वयं अपने मन के राजा हैं।”

बातों के इस क्रम में दो बातें स्पष्ट मालूम हुईं। एक तो ऐसी अनेक युवतियों की नियुक्ति उस समय की गई, जब महाराज अदृश्य थे। दूसरी यह कि अंतःपुर और राजघराने पर माया की वह पकड़ अब नहीं रही, जो पहले थी। इसीसे वह अधिक क्षुब्ध और निराश दिखाई पड़ी। मेरे प्रति उसकी आत्मीयता के मूल में भी यही कारण था।

मैंने इसी बिंदु को पकड़ा और माया की दुखती नस पर अँगुली रखते हुए बोला, “चाहे जो हो, पर विक्षर को तुम्हारे अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए था। महाराज नहीं थे तो क्या हुआ, तू तो थी। तूने बड़ी लंबी सेवा इस प्रासाद को अर्पित की है। उसका तो उसे कुछ ध्यान रखना चाहिए था।”

अपने कथन पर उसकी प्रतिक्रिया सुनूँ, इसके पहले ही मैं उस लता-प्रकोष्ठ की ओर बढ़ चला। मेरे पीछे बढ़बढ़ाती हुई माया भी चली।

हम लोगों को आता देखकर उनमें से दो युवतियाँ तो फुर्र से उड़ गईं, पर तीसरी की गोद में बृहद्बल का सिर था। शायद इसीसे वह वहाँ से हट न सकी। मुझे देखती रह गई।

उस युवती के साथ मैंने भी बृहद्बल को हटाया। माया ने भी मेरा साथ दिया। हम लोग किसी प्रकार से उसे पुष्करिणी तक ले आए और वहीं एक स्फटिक शिला पर उसे सुला दिया और उस युवती को सुनाते हुए माया से कहा, “कुछ प्रतिहारियों की व्यवस्था की जाए, जिससे भैया को विश्रामकक्ष में ले जाया जा सके।”

इस बीच उपवन से अठखेलियाँ करता मंद समीरण बृहद्बल को सहलाता रहा। उसकी कुछ चेतना लौटी। उसने आँखें खोलीं। सामने मुझे देखकर बोला, “आखिर तुम आ ही गए। इस विशाल धरती पर तुम्हें और कहीं आश्रय नहीं मिला! नीच कहीं का!” इतना कहने के बाद वह फिर अचेतनता में चला गया।

मैंने अब उस युवती को डाँटते हुए कहा, “क्या हालत बना दी है इनकी तुम लोगों ने! इस सीमा तक पिलाना चाहिए?”

युवती काँपने लगी। वह रुआँसी होकर बोली, “हम तो मना कर रहे थे, पर इन्होंने हमारी एक न सुनी। ये बलात् पीते गए।”

“क्यों?”

“यह तो ये ही जानें; पर इतना कहते रहे कि आज मैं इतना पीऊँगा कि होश में न रहूँ।”

“क्यों?”

“इनके कथनानुसार आज इन्हें वह देखना पड़ेगा, जिसे ये देख नहीं पाएँगे।”

मुझे मन-ही-मन हँसी आ गई। परिस्थिति का सामना करने का यह ढंग अच्छा है कि उससे आँखें ही मूँद ली जाएँ। पर मैं कुछ बोला नहीं।

तब तक परिचरों को लेकर माया आ गई। बृहद्बल विश्रामकक्ष में ले जाया जाने लगा। इधर माया के साथ मैं भी महाराज से मिलने चल पड़ा।

“अच्छा एक बात बताओ।” चलते हुए माया बोली।

“क्या?”

“यह बृहद्बल तुमसे वय में छोटा है या बड़ा?”

“छोटा तो नहीं होगा। कुछ बड़ा ही होना चाहिए; क्योंकि यह उद्धव से बड़ा है।” मैं कुछ सोचते हुए बोला।

“फिर भी उसे तुम्हें गाली नहीं देनी चाहिए थी।”

“उसने कहाँ गाली दी थी! वह तो मैरेय का प्रभाव था। जब नशा उतरेगा तब वह आशीर्वाद देगा।”

“इस भ्रम में मत रहना।” माया बोली।

अब हम महाराज के कक्ष में आ चुके थे। माया शायद जानबूझकर पीछे रह गई और मैंने अकेले ही कक्ष में प्रवेश किया। विकट्ट और शंकु वहाँ पहले से बैठे थे।

“क्षमा करेंगे, मैं बिना अनुमति के घुस आया।” मैंने काष्ठ मंचक स्वयं खींचकर बैठते हुए कहा, “लगता है, कोई मंत्रणा हो रही है।”

“मथुरा में नया जीवन आया है, इसलिए गतिविधियाँ कुछ तेज हो गई हैं।” विकट्ट ने मुसकराते हुए मेरी ओर लक्ष्य करके कहा और बताया—“आचार्यजी कुछ दिनों के लिए यहीं रहेंगे। उनके लिए आश्रम की एक योजना पर हम विचार कर रहे हैं।”

“इसके लिए तो आचार्य से स्वयं उनकी राय जाननी चाहिए।” मैंने कहा।

“उनका तो विचार है कि आश्रम यमुना के किनारे आम्रकुंज में बनाया जाए, जहाँ वे यादवपुत्रों को प्रधानतः शस्त्र की शिक्षा देंगे।” विकट्ट ने बताया।

मैं मन-ही-मन सोचने लगा, यह तो बड़ा अच्छा हुआ। प्रभु ने सांदीपनि जैसे आचार्य को यह प्रेरणा दी। यद्यपि आचार्यजी ‘बँधे पानी’ का जीवन जीने के कभी पक्ष में नहीं थे। फिर भी परिस्थितियों ने उन्हें सदा आश्रम तक ही सीमित रखा। इस बार मथुरा में उन्होंने आश्रम बनाने की इच्छा व्यक्त की। अवश्य उनकी इस बदली हुई मानसिकता के मूल में नियति की कृपा थी।

अतएव मैंने उन लोगों से कहा, “आचार्यजी की इच्छानुसार उन्हें पूरी सहायता देनी चाहिए।”

“ऐसा मैं भी चाहता हूँ।” नानाजी ने कहा और आश्रम की विस्तृत रूपरेखा बनाने और उसे अंतिम रूप देने के लिए शंकु को तुरंत आचार्यजी के पास भेजा गया।

शंकु अभी बाहर निकला ही था कि पूज्य पिताश्री का प्रवेश हुआ।

“आओ वसुदेव, आओ।” नानाजी की वाणी ने उनकी अगवानी की—“मेरे अदृश्य होने का इतना लाभ तो अवश्य हुआ कि सत्ता में आपकी रुचि बढ़ी।”

“मेरी रुचि सत्ता में नहीं वरन् सत्ता की सुरक्षा में बढ़ी है, महाराज!” पिताजी ने नाना का भ्रमभंजन करते हुए कहा, “सत्ता में किसीकी रुचि बढ़ी है तो वह है कंसा। सारी मथुरा एक ओर और वह एक ओर।”

“यदि ऐसा न होता तो आपकी रुचि सत्ता की सुरक्षा में भी न होती।” विकट्ट मुसकराते हुए बोला।

“पर आपने बृहद्बल को युवराज बनाने की सहमति कैसे दी?” नानाजी ने पुरानी बात उधेड़ी और कहा, “उस समय तो मैं बड़ी विपत्ति में पड़ गया था।”

“मैंने सहमति नहीं दी थी। विमति व्यक्त करते हुए भी, आपत्ति न व्यक्त करने का आश्वासन दिया था; क्योंकि जरासंध के दूतों ने उसे घेर रखा था।”

“उसे घेर रखा था, आपको तो नहीं।” नानाजी बोले।

अब विकट्ट ने स्थिति सँभाली—“उसके दूतों ने उसे ही नहीं, पूरी मथुरा को घेर रखा था।”

“इसीका परिणाम था कि मेरे जैसे तटस्थ लोगों केभीतर भी प्रतिहिंसा की आग सुलगने लगी।” पिताजी ने कहा, “मथुरा के दो रूप स्पष्ट हो गए थे। एक वह मथुरा, जो बाहर से भयाक्रांत दिखाई देती थी, दूसरी वह मथुरा, जो भीतर से सुलग रही थी।”

“पर मैंने एक मथुरा देखी है।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“यह तो तुम्हारे आने पर एक हो गई है।” पिताजी बोले, और शायद जो सूचना देने वे आए थे, हम लोगों का ध्यान

उस ओर खींचते हुए उन्होंने बताया—“मैंने नगर प्राचीर की मरम्मत का काम शुरू करा दिया है। उसके बाहर की खाइयों को थोड़ी और चौड़ी एवं गहरी करके उसमें जल भरवाना भी आरंभ कर दिया है।”

इसी क्रम में विकट्ट ने भी नानाजी को बताया कि “मैंने आपसे आज्ञा लिये बिना ही मल्लयुद्ध, रथ-संचालन और शस्त्र विद्या का अभ्यास प्रारंभ करा दिया है।”

“पर किसके नेतृत्व में?” नानाजी ने पूछा।

“अभी तक तो शंकु ही उसे देख रहा है; पर सुना है कि अब उसमें सात्यकि बड़ी रुचि ले रहा है। पता नहीं उसकी मंशा क्या है।”

“कुछ भी उसकी मंशा हो।” मैंने कहा, “अविश्वास से अविश्वास बढ़ता है। विश्वास कीजिए और दूसरे का विश्वास जीतिए।...मेरे विचार से तो उस शिविर की सारी देखरेख सात्यकि को ही दे दीजिए।”

“पर वह तो बृहद्बल के साथ है।”

“इसकी चिंता आप मुझपर छोड़िए।”

“तुझपर तो सारी चिंता छोड़े बैठा हूँ, वत्स!” महाराज बोले।

□

मैं अनुभव कर रहा था कि मथुरा का जो चित्र छंदक ने खींचा था, मथुरा उससे बहुत बदली हुई थी। यहाँ आए कई दिन हो गए, पर विक्षर से मेरा खुलकर सामना नहीं हुआ। आते-जाते सामान्य अभिवादन के अतिरिक्त वह कटा-कटा-सा ही था।

मागधी सैनिक भी पस्त ही लगे। मैंने भी करवीरपुर से आए सैनिकों को उन्हीं की देखरेख में रखा। मेरा मुख्य उद्देश्य यह जानना था कि इनके भीतर क्या हो रहा है। मागधी सैनिक भी मेरी इस चाल को समझ गए थे। अब वे अधिक सजग रहने लगे थे।

जो संपत्ति मुझे पद्मावती ने दी थी, अब मैं उसे अधिक ढोना उपयुक्त नहीं समझता था। फूफाजी से राय लेकर मैंने उससे रथ, अश्व और शस्त्र क्रय करने की व्यवस्था की। वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए मेरी मानसिकता धन-संचय से अधिक शक्ति-संचय पर थी।

इस बार कई दिन प्रासाद में रह गया। इस बीच आचार्य से दो बार लंबी वार्ता भी हुई। उनका विचार था कि यदि यादवों को सँभाला नहीं गया तो वे आपस में ही लड़ मरेंगे।...और ऐसे समय में, जब जरासंध अपनी शक्ति का प्रभामंडल विस्तृत कर रहा है, यह स्थिति बड़ी घातक होगी। आचार्यजी ने यह भी बताया कि “तुम्हें तो मालूम ही होगा कि यादवों को आपस में लड़ाने के लिए बाहरी प्रयत्न हो रहे हैं।”

वस्तुतः मुझे कुछ मालूम नहीं था; पर उनके कहने के ढंग से स्पष्ट लगा कि आचार्यजी को मिली सारी सूचना छंदक की है। मैंने अनुभव किया कि एक बार फिर छंदक की लगाई पौध फलने लगी है।

मैंने आचार्यजी से जिज्ञासा की—“आप अकेले ही इतनी बड़ी योजना का कैसे संचालन करेंगे?”

आचार्यजी मुसकराए और बड़े विश्वास से बोले, “कोई भी आचार्य कभी अकेला नहीं होता, उसकी लंबी शिष्य परंपरा उसके साथ होती है। आखिर तुम लोग किस दिन काम आओगे!”

मैंने आचार्यजी को इस समय अधिक छेड़ना उचित नहीं समझा; क्योंकि मुझे अपनी माँ से मिलना था। पिताजी से तो प्रासाद में भेंट हो जाती थी, पर तीन-चार दिनों से माँ से नहीं मिला था।

मैं सीधे घर की ओर चला जा रहा था। कुछ ही बढ़ा होऊँगा कि सात्यकि दिखाई पड़ा। मैंने रथ रोककर उसे भी बैठा लिया और उसके कंधे पर हाथ रखने के लिए बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से बोला, “सुना है, आजकल मेरे विरुद्ध षड्यंत्र यज्ञ के लिए तुम समिधा जुटाने में लगे हो?”

बिना किसी भूमिका के इतना कहना था कि उसे जैसे काठ मार गया। वह बड़े संकोच से बोला, “आपने ऐसा कैसे सोच लिया?”

“मैंने सोचा नहीं, लोगों ने मुझसे कहा।”

“आप मेरे मित्र तो हैं ही, साथ ही गुरु भी हैं। आपसे मैंने धनुर्विद्या सीखी है। भला मैं आपके विरुद्ध सोच भी सकता हूँ!”

“यही तो मैं भी सोच रहा था।”

अब वह धीरे-धीरे खुलने लगा—“मैं तो मथुरा में था ही नहीं, कुछ दिनों से आया हूँ। एक बार मैं आपके पिताजी से आपके बारे में जानने गया था। उनसे कुछ स्पष्ट आपके बारे में पता नहीं चला। वहीं कंसा मिल गई। वह मुझे अपने आवास पर ले आई। बड़ी आवभगत की और बताया कि वह तो यमलोक गया। इसके बाद वह इतना रोई कि उसके आँसू उसके कथन के प्रमाण बन गए। मैंने समझ लिया कि अब आप इस धरती पर नहीं हैं।”

मैं चुपचाप सुनता रहा।

वह कहता गया—“मुझे आज तक याद है। आपने एक बार कहा था कि सात्यकि, मनुष्य नियति का एक ऐसा सुंदर पुष्प है, जिसके खिलने का उसका एक निजी कारण होता है, उसे परमात्मा कोई-न-कोई कार्य सौंपता है और कार्य के समाप्त होते ही वह स्वयं झर जाता है।”

“तो तुमने समझ लिया कि मेरा कार्य समाप्त हो गया!”

“कंस के वध के बाद तो मैंने ऐसा ही समझ लिया था।”

“वह तो अधर्म का नाश था; पर धर्म की स्थापना कहाँ थी!” मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, “मुझे ऐसा लगता है कि मैं धर्म की स्थापना के लिए आया हूँ।...और इस कार्य को मैं भरसक पूरा करने की कोशिश करूँगा। इस बीच यदि मुझे यमलोक भी जाना पड़ेगा तो मैं वहाँ से भी लौट आऊँगा।”

मेरी मुद्रा में इतनी गंभीरता और ध्वनि में इतनी गरिमा थी कि वह मेरा मुख देखता रह गया।

मैंने उसे बताया—“युद्ध के पूर्वाभ्यास का नेतृत्व तुम्हें सौंपा गया है।”

“शंकु तो उसमें मेरी उपस्थिति पर ही आतंकित था।”

“पर अब ऐसा नहीं होगा।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “आज इस संबंध की राजाज्ञा प्रसारित कर दी जाएगी।”

वह इससे प्रसन्न नहीं हुआ, वरन् उदास ही दिखा। बोला, “कर दी न मेरे सामने आपने समस्या खड़ी!”

“क्या?”

“यदि वहाँ बृहद्बल आ गया तो?”

“तो उसे भी अभ्यास में उसका उचित स्थान देना होगा। मेरा उससे कोई विरोध नहीं है।”

“पर उसका तो आपसे गहरा विरोध है।”

“होगा।” मैंने बड़े सहजभाव से कहा, “अग्नि मेघों को अपना विरोधी समझती रहे तो क्या हुआ! मेघ अपना बरसना तो छोड़ नहीं देंगे। मेघ की प्रकृति है बरसना, वह बरसेगा ही। अग्नि की प्रकृति है जलना, वह जलेगी ही। किसीकी प्रकृति को न तो दबाना चाहिए और न छोड़ना चाहिए। हाँ, उसका सामना करने की तैयारी अवश्य रखनी चाहिए।” इतना कहते हुए मैंने रथ रुकवाया; क्योंकि अक्रूर चाचा का घर आ गया था।

रथ से उतरते-उतरते मैं बोला, “देखो, अभ्यास में किसी प्रकार की कमी न रहने पाए; क्योंकि पंद्रह-बीस दिनों के बाद ही मैं रथ प्रतियोगिता आयोजित करूँगा।”

घर में प्रवेश करते ही उपदेव की मुसकराहट ने मेरा स्वागत किया। यह तो आपको ज्ञात ही होगा कि मेरे माता-

पिता का मथुरा में आवास यहीं था। यह व्यवस्था कंस मामा के समय से चली आ रही थी; क्योंकि यहाँ उन्हें सुरक्षा भी मिलती थी और शांति भी।

चाचा नहीं थे। चाची के चरण छूते हुए सीधे माँ के कक्ष में गया। माँ के साथ ही मालिनी (त्रिवक्रा) और शैव्या वहीं थीं। माँ चाँदी के पालने में रखकर मेरी बालमूर्ति झुला रही थी और मगन मन कुछ गुनगुना रही थी। उसकी तन्मयता ने मेरे आने का उसे आभास तक होने नहीं दिया।

सबसे पहले शैव्या ने देखा। वह बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से बोली, “लो, तुम्हारा लाडला आ गया!” मालिनी को शैव्या का ऐसा कहना अच्छा नहीं लगा। उसने तुरंत प्रतिवाद किया—“क्या यह माताजी का ही लाडला है, हम सबका नहीं?”

“होगा तेरा लाडला, पर मेरे बारे में तुझे कुछ कहने का क्या अधिकार है?”

“मैं अधिकार से नहीं, विश्वास से कह रही हूँ।”

“आग लगे तेरे विश्वास में!” शैव्या अपनी प्रकृति के अनुसार एकदम भभक पड़ी। जाने कब का आक्रोश कब निकल पड़ा।

मैंने बीच-बचाव किया। माँ ने बताया—“दोनों किसी-न-किसी बहाने रोज लड़ती रहती हैं। मैं तो परेशान हो गई हूँ।”

“कोई अपनी बेटी से भी परेशान होता है, माँ!” मैंने शैव्या का सिर सहलाते हुए कहा।

“तो तुम अपनी त्रिवक्रा से कहो, मेरे बीच में न बोला करे।” शैव्या बोली, “कन्हैया ने इसे ठीक-ठाक क्या कर दिया कि कुब्जा से मालिनी हो गई और सिर चढ़कर नाचने लगी। बड़ा गुमान करती है अपनी सुंदरता का। पर जानती है, यह सुंदरता किसने दी है? मेरे भाई ने।”

“इसीलिए तो आपके भाई को भगवान् समझती हूँ।”

“होगा तेरा भगवान्!”

“तेरा ही नहीं, बेटी, यह मेरा भी है।” अब माँ ने मुझे छाती से लगाते हुए कहा।

शैव्या कुछ बोल न पाई। वह चाँदी के पालने में बैठी मेरी बालमूर्ति को देखती रही। पता नहीं क्यों, उसे भी इस बालमूर्ति ने आकर्षित कर लिया था।

माँ बताती थी कि जब पूजन करती हूँ, तो वह भी बड़ी एकाग्रता से देखती है। शायद उसे अपने भाई के प्रति की गई आराधनाएँ स्मरण हो आती थीं।

“मैं इतना बड़ा हो गया हूँ, माँ, पर तुझे मेरी बालमूर्ति ही भाती है?” मैंने माँ से हँसते हुए कहा।

“क्योंकि मुझे तेरे बचपन को बचाने के लिए जो साधना और तपस्या करनी पड़ी है, वह इसी मूर्ति में दिखाई देती है।” माँ कुछ रुककर पुनः बोली, “तेरे प्रति मेरी ममता, तपस्या और साधना की त्रयाग्नि में तपकर जो बालछवि मुझे मिली है, वह मेरा भगवान् है। उसीके प्रति मैं समर्पित हूँ। मैं स्वयं नहीं जानती कि ऐसा क्यों है!”

“यही तो ऐकांतिक साधना है, भाभी! इसकी बड़ी महिमा है।” मेरे पीछे से अचानक अक्रूर चाचा बोले। वे अभी-अभी हस्तिनापुर से आए थे और सीधे माँ के कक्ष में प्रणाम करने पहुँच गए थे। उन्होंने मुझे भी प्रणाम किया।

“अरे, चाचाजी, आप यह क्या कर रहे हैं?” इतना कहते हुए मैं उनके चरणों में झुका।

उन्होंने एकदम मुझे उठाकर अपने वक्ष से लगा लिया—“तू मेरा प्रणम्य है, कन्हैया, और उसी समय से प्रणम्य है, जब से मैं तुझे लेकर गोकुल से मथुरा आ रहा था। उस समय यमुना में खड़े होकर विष्णु की आराधना के लिए जब-जब ध्यान लगाया, तेरी ही छवि सामने आई।”

“जो छवि मन में रहेगी, वही न सामने आएगी।” पर मैं कुछ बोला नहीं; क्योंकि उनके मन में बनी अपनी धारणा को मैं आघात पहुँचाना नहीं चाहता था। “पर आपका मेरे प्रति यह भाव मुझे अच्छा नहीं लगता।”

“इस मूर्ति के प्रति तेरी माँ का वह भाव तुझे अच्छा लगता है?” उन्होंने उलटे मुझसे ही यह प्रश्न किया और बोले, “प्रश्न तेरे अच्छा लगने और न लगने का नहीं है। प्रश्न है मेरे समर्पण का।” इसी प्रसंग में उन्होंने बताया—“हस्तिनापुर से लौटते समय महर्षि वेदव्यास के भी दर्शन करने गया था। संयोगवश वे इसी प्रकार की भक्ति की चर्चा कर रहे थे—‘यह ऐकांतिक भक्ति है। इसमें प्रेम अहेतुक होता है। प्रेमी न स्वर्ग की कामना करता है और न मुक्ति की। उसकी आकांक्षा केवल भगवान् में तल्लीन रहने की होती है। यही तल्लीनता ही उसका प्रेम है, उसकी भक्ति है, उसका भगवान् है। प्रेम ही उसकी साधना है, प्रेम ही उसका साध्य। ऐसा प्रेम मूर्ति पर भी आरोपित हो सकता है और किसी व्यक्ति पर भी। व्यक्ति और मूर्ति तो मात्र माध्यम हैं।’ ”

चाचाजी बोलते जा रहे थे—“महर्षि का कहना था कि ‘ऐसी भक्ति की महिमा अनादिकाल से गाई गई है। इसी ऐकांतिक भक्ति की चर्चा प्रजापति ने विवस्वान्, मनु और इक्ष्वाकु से की थी।’ ”

माँ चाचा के इस उपदेश पर गद्गद थी। मालिनी की श्रद्धालु दृष्टि सचमुच भगवान् देख रही थी और मैं गंभीर खड़ी शैव्या को देख रहा था। सोच रहा था—‘तब यह शृंगलव में भगवान् के दर्शन कर रही हो तो आश्चर्य क्या!’

□

मैं यह समझ नहीं पाया कि आखिर अक्रूर चाचा ने हस्तिनापुर की यात्रा क्यों की थी; क्योंकि उनकी प्रकृति स्वयं को किसी झमेले में डालने की नहीं थी। वे जीवन को बड़े तटस्थभाव से जीते थे और हर परिस्थिति को ईश्वर की कृपा मानकर स्वीकार करते थे।

उनके हस्तिनापुर जाने के पीछे कोई कारण अवश्य था। हो सकता है, महाराज ने उन्हें भेजा हो। उन्होंने स्वयं तो कहा नहीं होगा। गर्गाचार्य से कहलाया होगा या यह छंदक की ही कोई राजनीति हो।

मैं सोच ही रहा था कि बाद में पता चला कि पिताजी ने ही उन्हें भेजा था। मैंने पिताजी से इसका कारण पूछा था। उन्होंने कुछ चिंतित होकर बताया कि तुम्हारी बुआ कुंती कुछ घबराई हुई थी।

“यह आपको कैसे मालूम?”

“उसीने संदेश भेजा था कि हस्तिनापुर की हालत अच्छी नहीं है। उसीका समाचार लेने मैंने अक्रूर को भेजा था।”

“पर मैं तो समझ रहा था कि चाचा की यह यात्रा राजनीतिक है। वह वहाँ समर्थन जुटाने गए हैं!”

“जो स्वयं जल रहा है, वह दूसरे को क्या बुझाएगा!”

इसी बीच अक्रूर चाचा वहाँ आ गए। पिताजी ने पूछा, “तो कुंती बहुत दुःखी लगी?”

“हाँ, दुःखी तो थी ही।” चाचा ने बताया—“उसके विचार से हर क्षण पांडवों पर खतरा मँडरा रहा है। उनके जीवन के लिए भी संकट उत्पन्न हो गया है। धृतराष्ट्र के पुत्र-प्रेम की अग्नि शकुनि और दुर्योधन की महत्वाकांक्षा के घृत से दिन-रात भभकती रहती है।...इसी संदर्भ में कुंती ने यह भी बताया कि एक दिन भीम को विष देकर गंगा में बहा दिया गया था।”

इस घटना को सुनते ही लोग बहुत चिंतित हो गए। उन्होंने उसी चिंता में पूछा, “आखिर पितामह क्या कर रहे हैं?”

“उनकी स्थिति बड़ी विचित्र है।” चाचा ने बताया—“मैं उनसे भी मिला था। उनकी दशा नख-दंतहीन वृद्ध सिंह जैसी है, जिसकी दहाड़ पर भी कोई कान नहीं देता। उन्होंने बड़ी वेदना से मुझसे कहा था—‘देख रहा हूँ कि हस्तिनापुर का क्षितिज मेघाच्छन्न है। हो सकता है, ये मेघ वज्रपात भी करें। मैंने बार-बार इस संबंध में धृतराष्ट्र को सावधान भी किया है; पर वह कुछ सुनता ही नहीं है।’ ”

“फिर महामंत्री विदुर क्या सोचते हैं?” पिताजी बोले।

“मैं उनके यहाँ भी गया था। मुझे कुंती उनके यहाँ ही मिली थी। उन्होंने भी अपनी असमर्थता व्यक्त की। उनका तो कहना था कि ‘मैंने धृतराष्ट्र का ध्यान बार-बार आसन्न अनिष्ट की ओर खींचा; पर लगता है कि उनकी आँखों की तरह कानों ने भी सुनने की शक्ति खो दी है, या उनपर दुर्योधन की महत्वाकांक्षा का परदा पड़ गया है।’ ” चाचा ने बताया—“इतना सुनने के बाद मेरे मुँह से अचानक निकला, ‘महाराज सचमुच अंधे ही हैं क्या?’

“ ‘अंधे तो हैं ही।’ विदुर बोले, ‘अंधे को यदि कुछ नहीं सूझता तो अँधेरा तो सूझता ही है; पर हमारे महाराज को अँधेरा भी नहीं सूझता।’ ”

“इसका तात्पर्य है कि पांडुपुत्र अधिक परेशान हैं।” पिताजी बोले।

“वे कौरवों से जो परेशान हैं, वह तो हैं ही, उनकी परेशानी का मुख्य कारण शकुनि और वह सूतपुत्र कर्ण है।”

“इस निष्कर्ष पर आप कैसे पहुँचे?” पिताजी ने पूछा।

“विदुरजी ने कहा और वहाँ के लोगों से भी यही पता चला।”

“पर कुंती ने क्या कहा?”

“शकुनि के बारे में अनेक बातें बताई उसने, पर कर्ण के संबंध में एक बार भी कुछ नहीं कहा।”

“ऐसा क्यों?”

“यह तो वही जाने।”

हमने कर्ण के संबंध में बुआ की चुप्पी का रहस्य नहीं समझा। इसके बाद उन्होंने पुनः वेदव्यास की चर्चा की और कहा, “लौटते समय मैं सरस्वती में स्नान कर वेदव्यास के दर्शन के लिए गया था। उस समय हस्तिनापुर के संबंध में विस्तृत बातें हुईं। उन्होंने बताया कि ‘तत्काल पांडवों पर कोई आपत्ति आने वाली नहीं है; पर कुछ दिनों बाद उनपर कठिनाइयों के बादल छाने वाले हैं।’

“मैंने पूछा, ये बादल कब छँटेंगे?” चाचा बोलते जा रहे थे—“तब उनकी आँखें मुँद गईं। वाणी और गंभीर हो गई। उन्होंने कहा, ‘ये छँटेंगे नहीं, वरन् और गंभीर होते जाएँगे और अंत में हस्तिनापुर पर कालमेघ बन बरसेंगे।’

“ ‘फिर इन कालमेघों से बचने का कोई उपाय?’

“ ‘उपाय तो तब होता जब यह प्रकृति का प्रकोप होता।’ वेदव्यास ने कहा, ‘यह प्रकृति का प्रकोप नहीं, हस्तिनापुर के भाग्यलिपि की विडंबना है और भाग्यलिपि बदलना मनुष्य के वश की बात नहीं है।’ ”

“तुमने शकुनि और कर्ण के व्यवहारों की चर्चा वेदव्यास से की थी?” पिताजी ने पूछा।

“हाँ, की थी। इसपर महर्षि ने कहा था—‘निर्माण हो या विनाश, कुछ लोग तो माध्यम बनेंगे ही। शकुनि और कर्ण कर्ता नहीं, मात्र करण हैं। माध्यम हैं।’ ”

अक्रूर चाचा ने बताया—“मैंने यह भी पूछा कि ‘महाराज शकुनि की दुष्टता के संबंध में तो कुंती ने बहुत कुछ बताया, पर वह कर्ण के संबंध में मौन क्यों रह गई?’

“ ‘वह मौन ही रह जाएगी।’ इतना कहते हुए महर्षि बड़ी गंभीरता से मुसकराए।”

अक्रूर चाचा ने कहा, “जब मैंने इस रहस्य का कारण जानना चाहा तब वे हँसते हुए बोले, ‘सब मुझसे ही जानना चाहोगे? कुछ कालदेवता के लिए भी छोड़ दो।’ फिर उनकी मुद्रा अचानक गंभीर हो गई—‘समय की प्रतीक्षा करो, सबकुछ स्पष्ट हो जाएगा।’ ”

अक्रूर चाचा के अनुसार, “वे इतना कहकर एकदम मौन हो गए। मथुरा के संबंध में पूछना चाहकर भी मैं कुछ नहीं पूछ पाया।”

□

बहुत चेष्टा करने पर भी शैव्या स्वयं को मथुरा के वातावरण के अनुकूल बना नहीं पाई थी। उसका व्यक्तित्व

शृंगलव के वध के बाद एकदम असामान्य हो गया था—कभी बरसते बादलों की तरह और कभी कड़कती बिजली की तरह। उसका यह असंतुलन भीतर-ही-भीतर उसे विभाजित कर रहा था। उसका क्रोध स्थायी होता जा रहा था। हमारा प्रयत्न उसे शांत करने का था; पर हम सुलगते ज्वालामुखी पर केवल हरियाली बिछाते गए और उसका अंतर्मन धधकता रहा।

और जब वह धधकन बाहर निकलती तो शैव्या एकदम आक्रामक हो जाती। तब उसके सामने न मेरी माँ होती, न पिता होते, न मैं तथा न कोई और। केवल उसकी धधकती आग होती और उसमें जलती हुई वह होती।

क्रोध की घनीभूत स्थिति ही वैर है। क्रोध तो मिटाया जा सकता है, पर वैर समाप्त करना बड़ा कठिन है। मेरे प्रति शैव्या की घृणा वैर का रूप ले, इसके पहले ही मुझे कुछ करना चाहिए।

एक दिन माँ मेरे ही बाल रूप की पूजा कर रही थी। सदा की भाँति त्रिवक्रा (मालिनी) और शैव्या भी वहाँ थीं। संयोग कुछ ऐसा कि कंसा मौसी भी आ गई। पर शैव्या ध्यानावस्थित थी। ऐसा लगा कि वह भी पूजा में तन्मय है। उसी समय मैंने सोचा, क्यों न शैव्या भी अपने प्रिय को अपना आराध्य बना ले!

पूजा समाप्त होते ही मैं शैव्या की बगल में आ गया और उससे बड़े प्रेम से बोला, “मेरी इच्छा है कि तेरे लिए भी ऐसा ही एक छोटा सा रजत पालना ला दूँ।”

“क्यों?” लगा कि उसके भीतर का धुआँ अचानक बाहर निकला।

“मैं चाहता हूँ कि तू भी ऐसी आराधना शुरू करे।”

“आराधना!” उसमें एक बार फिर उबाल आया—“आराधना! पर किसकी?”

“माँ अपने वासुदेव की करती है, तू अपने वासुदेव की कर।”

बस मेरा इतना कहना था कि उसके ज्वालामुखी में विस्फोट हो गया—“तू नीच है, कमीना है, चालबाज है! तूने जिसकी हत्या की, अब उसीकी आराधना करने को कह रहा है। मैं तेरी सारी चाल समझती हूँ। मुझे फुसलाकर तू अपने हत्या के कलंक को धोना चाहता है। तू हत्यारा है और मेरी दृष्टि में सदा हत्यारा रहेगा। मैं तुझे कभी भी क्षमा नहीं करूँगी।” इतना कहते-कहते शैव्या मेरे सामने कराला काली की तरह खड़ी हो गई।

उसकी इस मुद्रा के समक्ष मैं तो कुछ बोल नहीं पाया। मालिनी भी सन्न रह गई। माँ ने उसके क्रोध को संभालने की चेष्टा की—“तुझे ऐसा नहीं सोचना चाहिए।”

पर वह भभकती गई।

कंसा ने इस अवसर का लाभ उठाया—“चल बेटी, चल, तुझे यहाँ शांति नहीं मिलेगी।” और उसे अपने साथ ले गई।

चलते समय भी शैव्या की आँखों में मुझपर चिनगारियाँ बरसती रहीं और कंसा भी मुझे चुनौती की मुद्रा में देखती रही।

मालिनी को यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। वह कुछ कह तो नहीं पाई, लेकिन इतना अवश्य कहा, “उसका वश चले तो वह तुम्हें कच्चा चबा जाए।”

इतना सुनते ही माँ पता नहीं किस आशंका से काँप उठी—“तुझपर भी कैसे-कैसे बादल छा रहे हैं, वत्स!” वह बोली और उसने मुझे एकदम छाती से लगाकर आँचल ओढ़ा लिया, जैसे सारी विपदाओं से वह मुझे छिपा रही हो।

उधर नगर की राजनीति और गरम हो गई थी।

जब से मैंने सात्यकि को युद्ध के पूर्वाभ्यास का नेतृत्व सौंपा था तब से तरह-तरह की अफवाहों को पंख लग गए थे। कोई कहता कि सात्यकि को बृहद्बल से अलग करने की यह एक चाल है। कोई कहता, मथुरा पर संकट है,

इसलिए कृष्ण ने उदार नीति अपनाई है। जितने लोग उतनी बातें। इससे बृहद्बल एकदम अशांत हो चला था। उसके विचार से मैं युद्ध की तैयारी में लगा था और यह स्थिति उसके लिए घातक थी।

इसके बाद मुझे पता चला कि सत्यभामा का पिता सत्राजित् भी आजकल मथुरा में है। मुझे आश्चर्य था कि उसकी उपस्थिति की सूचना मुझे इतने विलंब से कैसे मिली! मैंने शीघ्र छंदक को बुलवाया —“लगता है, तुम्हारी गुप्तचर व्यवस्था असफल हो रही है।”

“क्यों?”

“तुम्हें मालूम है या नहीं कि इस समय सत्राजित् भी मथुरा में है?”

“मालूम है, और अच्छी तरह मालूम है।” छंदक ने बड़े विश्वास के साथ कहा, “जिस दिन से वह आया है, उसी दिन से मालूम है।”

“तब यह जानकारी तुमने मुझे क्यों नहीं दी?”

“सारे विरोधियों की सूची यदि आपको एक साथ थमा देता तो रणछोड़जी का आत्मबल शायद डगमगा जाता!”

छंदक का यह व्यंग्य बड़ी गहराई तक मुझे चुभा। फिर भी मैं मुसकराता रहा।

छंदक ने भी मेरी मनःस्थिति समझ ली और तुरंत अपना वक्तव्य बदला—“मैंने सोचा था कि उसकी सूचना आपको मिल गई होगी। सात्यकि ने अवश्य ही आपको बताया होगा।”

“पर सात्यकि ने सत्राजित् के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा।”

“इसका तात्पर्य है कि उसके मन में अब भी आपके प्रति दुराव है और आप उसे अपना समझते हैं।”

“क्यों नहीं उसे अपना समझूँ! वह मेरा मित्र ही नहीं, शिष्य भी है। गुरु कभी अपने शिष्य पर अविश्वास नहीं कर सकता, शिष्य भले ही अविश्वास करे।” मैंने कहा।

कुछ समय के लिए वह मौन हो गया और मैं भी।

“तब तो उसने वसुमति के पुत्र भद्रक के संबंध में भी कुछ नहीं कहा होगा?”

“हाँ, बिल्कुल कुछ नहीं। क्या वह भी इस समय मथुरा में है?”

“अवश्य है।”

‘तो फिर मेरे विरोध में एक व्यूह रचना कर ली गई है।’ मैं सोचने लगा,

“लगता है, यह जरासंध की कूटनीति है।”

“जरासंध की नहीं। इसके मूल में मात्र बृहद्बल और कंसा हैं।”

“आखिर बृहद्बल चाहता क्या है?”

“मथुरा का युवराज होना।”

“तो हो जाने दो उसे।”

“अरे, आप भी ऐसा कहते हैं!” छंदक आश्चर्य में पड़ गया।

मैं मुसकराता रहा। उसके विवेक ने मेरी मुसकराहट में से रहस्य और तथ्य को छानकर अलग करने की चेष्टा की; पर उसे सफलता नहीं मिली। तब मैंने उसे समझाया—“तुम तो देख रहे हो कि यादवों के बीच ऐसी खाई पड़ती जा रही है कि उसे पाटना कठिन है। यदि ये आपस में ही लड़ मरे, तब तो सर्वनाश हो जाएगा। हमें सबको मिलाकर चलना चाहिए।”

“मिलाने का यह अर्थ नहीं कि मथुरा का युवराज पद फिर कंस जैसे महत्वाकांक्षी और अत्याचारी के हाथ में दे दिया जाए।”

“इसके लिए परेशान होने की क्या आवश्यकता है! यदि बृहद्बल दूसरा कंस निकला तो उसका भी वही परिणाम होगा, जो कंस का हुआ।”

छंदक चुप हो गया। वह सोचता रहा। पर वह मेरी राजनीति को समझ नहीं पाया।

मैंने उसे सावधान करते हुए कहा, “यह मात्र मेरी मंशा है, पूरे यादव समुदाय की नहीं। अभी तुम इसे गोपनीय ही रखना। फिर तुम्हें तो मालूम ही है कि मैंने सभी यादवों की एक सभा चार दिनों बाद अर्थात् शुक्रवार को राजभवन में बुलाई है। हो सकता है, मथुरा के युवराज पद के संबंध में अंतिम निर्णय भी उसी सभा में हो जाए।”

“संदेह है कि उसमें सभी लोग उपस्थित होंगे।” छंदक बोला।

“क्यों?”

“क्योंकि लोगों का कहना है कि यह सभा आपकी ओर से बुलाई गई है, महाराज की ओर से नहीं। स्थिति आप देख ही रहे हैं। अनेक यादव सरदार ऐसे हैं, जो आपको यादव प्रमुख नहीं मानते। इसी आधार पर कुछ लोग इस सभा को असफल करने की चेष्टा में लगे हैं।”

सचमुच यह विचार का विषय था। “मुझे यह बात पहले बतानी चाहिए।” मैंने कहा, “पर अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। मैं तुरंत उस सभा के लिए राजकीय घोषणा करवाने की चेष्टा करता हूँ।”

छंदक को बिदा कर मैं राजभवन की ओर चला।

मेरा रथ कुछ आगे बढ़ा ही होगा कि एक यादव सरदार ने मुझे रोकते हुए सत्राजित् का एक पत्र थमाया, जिसका आशय था कि आप अभी, इसी समय राजकीय उद्यान में उपस्थित होइए। क्यों और किसलिए, इसका कोई उल्लेख नहीं था। पत्र की भाषा भी मेरी गरिमा के अनुकूल नहीं थी। फिर भी मैंने कुछ नहीं कहा। केवल मुसकराता रहा। हाँ, एक बार यह अवश्य पूछा, “क्या होने जा रहा है उद्यान में?”

सरदार ने इसके संबंध में अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की। तब मैं बड़े सहजभाव से बोला, “सबको मेरा अभिवादन कहना और बताना कि मैं एक आवश्यक कार्यवश अभी तो नहीं आ पा रहा हूँ, पर यथाशीघ्र उपस्थित होने की चेष्टा करूँगा।”

उधर सरदार चला और इधर मेरा रथ भी।

मैं सीधे नानाजी के पास पहुँचा और उनसे शुक्रवार को संपन्न होनेवाली यादवों की सभा के लिए राजकीय उद्घोषणा कराने की प्रार्थना की।

उन्होंने पूछा, “क्या तेरी उद्घोषणा पर्याप्त नहीं है?”

“यदि पर्याप्त होती तो मैं यह प्रार्थना क्यों करता!” इतना कहते ही मैं वहाँ से चलने को हुआ।

“इतनी जल्दी क्या है?” नानाजी ने पूछा और मैंने अपने आमंत्रण का वह पत्र नानाजी को थमा दिया। नानाजी पत्र पढ़ते ही सोच में पड़ गए—“इसकी भाषा आदेशात्मक होते हुए भी रोष से भरी है।”

“यह तो पत्र लिखनेवाले की मनःस्थिति का द्योतक है। मैं तो इसे सहजभाव से ही लेता हूँ।”

“पर मैंने सुना है, सत्राजित् की धारणा तेरे प्रति अच्छी नहीं है!”

“धारणा तो मेरे प्रति मामाजी (कंस) की भी अच्छी नहीं थी; क्या मैं उनके बुलाने पर गोकुल छोड़कर मथुरा नहीं आया?”

नानाजी कुछ बोले नहीं, केवल मेरा मुँह देखते रह गए। उनकी चेतना दैवी शक्ति के दर्शन में उलझ गई और मैं चरण छूकर चल पड़ा।

धड़ाधड़ सोपान उतरता हुआ मैं अंतःपुर के गलियारे से आगे बढ़ा कि पश्चिम से माया आती दिखाई दी। मैं एकदम

रुक गया। कुछ आगे बढ़कर वह भी रुक गई। “आखिर तुमने रास्ता काट ही दिया। यदि कोई अनिष्ट न होनेवाला भी होगा तो अब हो जाएगा।”

“मैं कोई बिल्ली थोड़े ही हूँ कि मेरा रास्ता काटना अशुभ होगा!” वह हँसते हुए बोली, “मेरा रास्ता काटना भी शुभ होता है।”

“तब तो तू नागिन होगी, क्योंकि नागिन का ही रास्ता काटना शुभ होता है।” इसपर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी और मैं भी हँसने लगा।

बातों के क्रम में मैंने बताया कि मुझे अभी-अभी राजकीय उद्यान में जाना है।

इतना सुनते ही उसे जैसे कुछ याद हो आया। वह एकदम घबरा गई—“वहाँ मत जाना, कन्हैया। मैं तुमसे कहने ही वाली थी, पर एकदम भूल गई थी।”

“क्यों?”

“आज वहाँ तुम्हारे जीवन पर संकट आने वाला है।”

मेरी नाटकीय हँसी अपने पूरे रूप में उभरी। “संकट से खेलना मेरे जीवन की नियति बन गई है, माया। जब कालीदह में कूदा था तब क्या संकट नहीं था? जब यमलोक की यात्रा की थी तब क्या संकट नहीं था?” इतना कहते हुए मैं एकदम निर्भयभाव से वायुतप्त झोंके-सा प्रासाद के बाहर चला और वह महाराज के कक्ष की ओर लपकी।

“देख, मेरी सहायता में किसीको भिजवाना नहीं।” मैंने उसे रोकते हुए कहा।

“क्यों?”

“तब मेरा संकट और गहरा हो जाएगा।”

□

हिंस्र-से-हिंस्र के समक्ष भी यदि सहजभाव से जाया जाए तो एक बार अवश्य ही उसकी हिंसा हतप्रभ हो जाती है। इस बार भी ऐसा ही हुआ। देखने में तो मैं एकदम निरस्त्र था, पर मेरा चक्र मेरे पीतांबर में छिपा किसी संभावित खतरे के लिए तैयार था।

यों मैंने अपने रथ से देख लिया था कि राजकीय उद्यान में लोग अपने अस्त्रों से सज्जित हैं। इसीलिए मैंने अपने सारथि को धड़धड़ाते हुए रथ भीतर ले चलने का आदेश दिया था, जिससे यदि कोई बात हुई तो मैं धड़ से रथ पर आ जाऊँ और निकल चलूँ।

भीतर पहुँचते ही रथ से उतरकर मैंने सबका अभिवादन किया और सीधे जाकर बृहद्बल को छाती से लगाया। सारे-के-सारे सशस्त्र तैयार लोग मेरे इस व्यवहार से सकते में आ गए। सात्यकि के मुँह से तो निकल पड़ा—“मैंने कहा था न कि तुम लोगों ने कन्हैया को गलत समझा है!”

“आखिर क्या समझते हैं, ये लोग मुझे?” मैंने मुसकराते हुए पूछा।

सभी चुपचाप एक-दूसरे का मुँह देखते रह गए। सात्यकि की दृष्टि एकदम सत्राजित् पर गड़ी रही; जैसे वह पूछ रहा हो—कहो, क्या कहा जाए?

“कहो न, जो तुम कहना चाहते हो।” सत्राजित् कड़कती आवाज में बोला।

“लोगों का विचार है कि आप मथुरा में युवराज बनने पधारे हैं।” सात्यकि की आवाज सम्मान से दबी और अनुशासित थी। पर सत्राजित् और भद्रक की मुखमुद्राओं से लगा कि वे ‘आप’ और ‘पधारने’ जैसे सम्मानसूचक शब्दों के विरुद्ध थे।

फिर भी उनके व्यवहारों के प्रति मैंने अपनी प्रतिक्रिया प्रकट नहीं होने दी, वरन् सात्यकि की बात पर बड़ी जोर से

हँसा—“यदि मुझे युवराज ही होना होता तो मैं मथुरा छोड़कर जाता क्यों?”

“मथुरा तो तुमने जरासंध के भय से छोड़ी थी।” भद्रक बोला।

“और उसी जरासंध को गोमांतक में मैंने बंदी बनाकर छोड़ दिया!”

“यह तुम्हारा प्रचार मात्र है।” सत्राजित् ने कहा।

“प्रचार बवंडर में उड़ते पत्ते की तरह होता है, सत्राजित्, जिसका न कहीं वृक्ष दिखाई देता है और न जड़।...और बवंडर के थमते ही उस पत्ते का अस्तित्व भी अदृश्य हो जाता है; पर सत्य तो निरंतर प्रवहमान समीकरण है, जो दिखाई तो नहीं पड़ता, पर जिसकी अस्मिता अपना अनुभव कराती रहती है।”

मैंने इतने प्रभावशाली ढंग से कहा था कि सत्राजित् का उभरा आवेग म्यान में तलवार की तरह चुपचाप भीतर चला गया।

फिर मौन का एक संक्षिप्त अंतराल रहा।

“हम लोग चाहते हैं कि होनेवाली रथ-स्पर्धा बंद कर दी जाए।” इस बार भद्रक ने मौन भंग किया।

“पर इसमें मैं क्या कर सकता हूँ? यह तो राजाज्ञा है।” मेरी वाणी रंच मात्र भी असहज नहीं हुई। “आखिर आप इसे बंद करना क्यों चाहते हैं?”

“क्योंकि इस स्पर्धा के पीछे युद्ध की तैयारी है।” सत्राजित् बोला।

“पर मुझे तो ऐसा नहीं लगता।” मैंने कहा, “यदि युद्ध की तैयारी भी हो तो चिंता किस बात की?”

“चिंता इसीकी कि हम युद्ध नहीं चाहते।”

“युद्ध तो हम भी नहीं चाहते; पर युद्ध यदि हमपर लादा गया तब तो हमें लड़ना ही पड़ेगा और पूरी शक्ति तथा सामर्थ्य के साथ लड़ना होगा।”

“युद्ध लादा नहीं जाएगा, पर युद्ध के कारण तुम होगे।”

“मैं और युद्ध का कारण! यह कैसी बात करते हैं आप लोग?” अब मैंने अपनी आवाज को और भी प्रभावशाली बनाया—“मैं कभी भी युद्धवादी न रहा और न हूँ।”

“पर हमेशा तुम्हारा जीवन युद्ध करते ही बीता है।” सत्राजित् ने कहा।

“यही तो मेरे प्रति नियति की विडंबना है।” मैंने कहा, “यदि मैं युद्ध में विश्वास करता तो स्यमंतक मणि के लिए तुमसे आग्रह न करता।...और वह भी तुमसे अपने लिए नहीं माँग रहा था।”

“तब किसके लिए माँग रहे थे?”

“अपने नाना के लिए, मथुरा के सिंहासन के लिए—और स्पष्ट कहूँ तो मथुरा के लिए; क्योंकि मथुरा को उस मणि की बड़ी आवश्यकता है।”

“मथुरा क्या करेगी वह मणि लेकर?”

मुझे हँसी आ गई—“सबकुछ जानते हुए भी तुम मुझसे पूछ रहे हो। आज जो कुछ तुम हो, उस मणि की बदौलत हो।” इतना सुनते ही सत्राजित् की आकृति अस्वाभाविक रूप से लाल हो गई। स्पष्ट लगा कि वह आक्रोश में आ रहा है। मैंने अब अपना स्वर नीचा किया—“तुम अन्यथा मत समझना। मथुरा की स्थिति अच्छी नहीं है। उसका कोष खाली है। हम सैनिकों को वेतन तक नहीं दे पा रहे हैं, फिर सैनिक शक्ति बढ़ाने की बात तो दूर की है। ऐसे में यदि स्यमंतक मणि मथुरा के पास होती तो उससे बननेवाले प्रतिदिन आठ भार स्वर्ण से हमारी आर्थिक स्थिति में बड़ा सुधार आता।”

“और उस संपन्न हुई मथुरा का युवराज तू होता!” भद्रक फिर बीच में बोला।

मुझे बड़ा बुरा लगा। मेरी आवाज फिर तेज हो गई—“जब मैंने एक बार कह दिया कि मैं युवराज बनना नहीं चाहता तब आप विश्वास क्यों नहीं करते?”

“यदि तू युवराज नहीं बनना चाहता तो बृहद्बल के युवराज बनने में बाधा क्यों डाल रहा है?” सत्राजित् बोला। स्यमंतक मणि की बात आपसे आप संदर्भ से दूर चली गई।

“मैं कहाँ बाधक हूँ?” मैंने कहा, “तुम सबकी मानसिकता अपने अविश्वास और संशय में बंदी है। स्वयं भगवान् भी समझाना चाहे तो तुम्हें नहीं समझा सकते।”

भले ही ये लोग न मानें, पर मेरा व्यक्तित्व अब तक भगवान् का पर्याय बन चुका था। उससे निकली यह वाणी इन दो-तीन व्यक्तियों को छोड़कर अन्यो पर भारी पड़ी। लोग अब बात बढ़ाने के पक्ष में नहीं थे।

“चलो अब साफ हो गया। अब कन्हैया की ओर से बृहद्बल का विरोध नहीं होगा।”

सात्यकि भी बोला, “मैं तो पहले ही कह रहा था कि मैं कृष्ण को जानता हूँ। उनका बृहद्बल से कोई विरोध नहीं। अन्यथा वे युद्ध के पूर्वाभ्यास में उसे कभी आने न देते।”

“जब बृहद्बल का विरोध नहीं तो युद्ध के पूर्वाभ्यास की आवश्यकता क्या?” भद्रक पुनः बोला।

“पूर्वाभ्यास इसलिए कि जरासंध आक्रमण करने वाला है और हमें उसका विरोध करना है।” मैंने कहा।

“यदि बृहद्बल युवराज बन जाता है तो जरासंध आक्रमण नहीं करेगा।”

“तब हम उसपर आक्रमण करेंगे; क्योंकि वह अन्यायी है, अधर्मी है। उसका विनाश आवश्यक है।”

“तुम भी कैसी बात करते हो, कन्हैया!” सात्यकि बोला, “युद्ध और प्रेम के बीच धर्म की क्या आवश्यकता है?”

“आपको आवश्यकता मालूम हो या न हो, पर धर्म तो सार्वभौम है। वह युद्ध में भी रहता है और प्रेम में भी; और उसीकी रक्षा करना हमारा संकल्प है।” मैंने जरा लंबा वक्तव्य दिया और कहा, “मैं चाहूँगा कि इस संकल्प को आप सब स्वीकार करें।”

“और हम न स्वीकार करें तो?” सत्राजित् बोला।

“हम सब भाई बृहद्बल को स्वीकार कर सकते हैं, तब आप हमारे संकल्प को स्वीकार नहीं कर सकते!”

मुझसे इतना सुनते ही सात्यकि उछल पड़ा—“अब तो समस्या हल हो गई। कृष्ण ने बृहद्बल को स्वीकार कर लिया। अब हम लोगों को भी उनके संकल्प को स्वीकार करना चाहिए। धर्म की स्थापना में उनका साथ देना चाहिए।”

लोगों ने करतल ध्वनि की। ‘साधु-साधु’ का स्वर गूँजा। ऐसा लगा जैसे समस्या हल हो गई; पर सत्राजित् कुछ समझ नहीं पाया कि क्या हो गया। यही दशा भद्रक की भी थी। उधर बृहद्बल भी किंकर्तव्यविमूढ़-सा था। उसे लगा, वह मेरे किसी अदृश्य जाल में फँसता जा रहा है, जिसे वह स्वयं नहीं समझ पा रहा है।

मैंने लोगों को और सोचने का मौका दिया ही नहीं। इस स्थिति का लाभ उठाया और हाथ उठाकर उनकी प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता मिलाते हुए सबका अभिवादन किया तथा रथ पर चढ़ते हुए बोला, “राजप्रासाद में यादवों की आहूत सभा में तो आप सबके दर्शन होंगे ही।”

जब मेरा रथ राज उद्यान से बाहर निकला तब मैंने देखा, दूर पर छंदक कुछ सैनिकों के साथ टहल रहा था। शायद वह किसी भी स्थिति का सामना करने की तैयारी से आया था; पर मुझे हँसता देखकर वह भी हँसने लगा।



सात

मथुरा के राजनीतिक क्षितिज ने अचानक रंग बदल दिया। मेरी उदारता की चर्चा घर-घर होने लगी। कंसा के विरोध का आधार ही लुप्त हो गया था। अब वह जिधर जाती, उधर ही लोग उसे धिक्कारते।

“तू तो व्यर्थ कृष्ण पर शंका किए बैठी थी। देख, तेरे बेटे का समर्थन उसने कितना जी खोलकर किया! यदि तू उसको (कृष्ण को) युवराज बनाने का प्रस्ताव करती तो शायद वह भी उसे स्वीकार न करता और तेरा बड़कपन बना रहता।” यह बात कंसा से किसी और ने नहीं वरन् उसके पति देवभाग ने औरों के सामने कही थी।

वह कुछ बोली नहीं। उसकी वाणी कछुए की तरह लज्जा के खोल में दुबक गई। पर शैव्या चुप रहने वाली नहीं थी। उसने तुरंत कहा, “कृष्ण को समझना बड़ा कठिन है, चाचाजी! इसमें उसकी कोई चाल हो सकती है!”

“कृष्ण को समझना कठिन अवश्य है, बेटी! शायद तुम लोगों के लिए और भी कठिन है; क्योंकि तुम्हारी आँखों पर संशय का परदा पड़ा है—और उस परदे के रंग में ही तुम्हें कृष्ण भी दिखाई देता है।”

मैंने सुना कि शैव्या इस समय भी अपनी प्रकृति के अनुसार चाचा से उलझ गई थी। उन्होंने उसे डाँटते हुए बहुत सी बातों के साथ यह भी कहा था—“शृंगलव की मृत्यु के बाद भी तुम लोगों ने सोचा होगा कि कन्हैया यहाँ की गद्दी हड़प लेगा। क्यों, सोचा था न?”

शैव्या जो चुप हुई कि चुप ही रह गई।

जनता पुनः मुझे अपने त्राता के रूप में देखने लगी थी; पर छंदक इस स्थिति से बहुत अधिक संतुष्ट नहीं था। उसकी आँखें सत्राजित्, भद्रक आदि के पीछे लगी थीं; क्योंकि इन दोनों की उद्दंडता सदा मेरे विरुद्ध रही और इस समय भी थी। पर ये सब खूँटे के चारों ओर नाचते थे और बृहद्बल अब शांत था।

अभी यादव सरदारों की सभा के दो दिन बाकी थे। नानाजी उसकी तैयारी में लगे थे और मैं उसकी राजनीति के संदर्भ में सोच रहा था कि विस्फोट के साथ एक समाचार मथुरा की धरती पर बिखर गया—बलराम और उद्धव विजयी होकर आ रहे हैं।

विरोधियों का रहा-सहा मनोबल भी धराशायी हो गया और ऐसी हवा बही कि हर जगह मेरा व्यक्तित्व ही उड़ता दिखाई दिया। मथुरा में भैया के स्वागत की तैयारियाँ होने लगीं। सबसे अधिक प्रसन्न नानाजी थे। वे राजकीय स्तर पर कुछ करना चाहते थे; पर राजभवन पूरी तरह यादवों की सभा की तैयारी में लगा था। आसपास के यादव सरदारों ने आना भी आरंभ कर दिया था। अतिथिभवन में उनके ठहराए जाने की व्यवस्था हो रही थी।

मैंने नानाजी को समझाया कि घर लौटने पर भला कोई अपने बेटे का स्वागत करता है!

“पर बलराम का यह आगमन साधारण ढंग से किसी बेटे का घर लौटना नहीं है। वह सुदूर सागर तट पर अपनी ध्वजा फहराकर आ रहा है, विजयी होकर आ रहा है। उसका स्वागत तो ऐसा होना चाहिए जैसा राम का अयोध्या में हुआ था।”

“राम तो निर्वासित थे, पर आपने हम लोगों को निर्वासित तो किया नहीं था।”

“हम लोगों ने तो कुछ नहीं किया था, पर तुम स्वयं अपने को निर्वासित कर चुके थे।” इस बार गर्गाचार्य बोले, “और एक निर्वासित की तरह जीवनयापन भी किया। अनजान डगरों पर घूमते रहे; पर जहाँ भी गए, वहीं अपनी पहचान स्थापित की।”

“यह सब आपके चरणों की कृपा है।” इतना कहते हुए मैं आचार्य के चरणों की ओर झुका कि मुझे कंसा की आवाज सुनाई पड़ी।

“पिताजी, अब मथुरा के दिन पुनः लौट आए हैं।” वह नानाजी से कह रही थी।

“पर तू तो पता नहीं क्या-क्या सोच रही है!”

कंसा ने सफाई दी—“न उद्धव था, न चित्रकेतु। बच्चों के अभाव में ममता की गुफा में संभावनाओं के प्रकाश से आशंकाओं का अँधेरा कहीं अधिक होता है। उसीमें भटक गई थी।”

“यह सब विश्वास के अभाव का परिणाम है।” नानाजी बोले, “मैं तो नहीं भटका।”

कंसा कुछ कह न सकी। लगता था, संकोच ने उसके अधरों पर अँगुली धर दी थी। मेरी उपस्थिति उसे और भी भारी पड़ रही थी। मैंने वहाँ से हट जाना ही उचित समझा।

“पर आपमें और कंसा मौसी में अंतर भी तो है।” चलते-चलते मेरे मुख से निकल पड़ा। उसका छटपटाता हुआ संतप्त मौन बहुत दूर तक मेरा पीछा करता रहा।

निश्चय यही हुआ था कि किसी प्रकार के राजकीय स्वागत की तैयारी नहीं होगी; पर जब वे मथुरा की सीमा रेखा में आए तो जनता ने बढ़कर उनका स्वागत किया। और नगर में तो जैसे जन-समुद्र ही उमड़ पड़ा। भीड़ को सँभालने की यदि राजकीय व्यवस्था न होती तो शायद उनके रथ को राजप्रासाद तक पहुँचने में संख्या हो जाती।

व्यवस्था ऐसी थी कि राजप्रासाद में ही मेरे चाचा-चाची, माता-पिता आदि सारे संबंधी पहले से उपस्थित थे। हम लोगों ने सत्राजित् और भद्रक आदि को भी यहीं बुलाया था; पर वे नहीं आए थे। चाचा देवभाग तो थे, पर चाची कंसा और बृहद्बल नहीं थे। हो सकता है, दोनों अगवानी के लिए नगर में ही रह गए हों।

सबसे बड़ी बात यह थी कि राजप्रासाद में छंदक भी नहीं था। उसकी सजगता सदैव सत्राजित् और भद्रक का पीछा करती रहती थी। उसे आशंका थी कि ये लोग कहीं भी और कुछ भी कर सकते हैं।

राजभवन में भैया और उद्धव का भरपूर स्वागत हुआ। सबसे अधिक प्रसन्न नानाजी थे। केवल इसलिए नहीं कि उनके नाती आए थे, वरन् उन्हें लग रहा था कि शक्ति कोत चारों ओर से उनकी ओर बहता चला आ रहा है। वृद्ध सिंह के नए दंत और नख निकल आए हैं।

बड़ी जल्दी-जल्दी भैया व उद्धव ने अभिवादन की सारी औपचारिकता पूरी की और थकावट के बहाने वे मुझे लेकर सीधे विश्रामकक्ष की ओर चले। चलते-चलते उन्होंने महाराज से निवेदन किया कि मेरे साथ आए सैनिकों की भी विश्राम की व्यवस्था करा दें।

विश्रामकक्ष की ओर बढ़ते हुए मैं भैया और उद्धव के बीच में आया। मेरी एक भुजा भैया और दूसरी उद्धव के कंधे पर पहुँची। मैंने पहले उद्धव से कहा, “तुम अपनी माँ से मिले? तुम्हें साथ न लाने पर वह बड़ी नाराज थी।”

“नाराज तो वह तुमपर सदा रहती है।”

“आखिर बात क्या है? उसको तो मुझपर प्रसन्न रहना चाहिए; क्योंकि सुना है, माँ से मौसी अधिक प्यार करती है।”

“पर वह मौसी के साथ-साथ चाची भी तो है।” उद्धव बोला, “और कंसा भी। आखिर नाम का कुछ तो प्रभाव होना चाहिए।” कंस मामा के वैरभाव का अपनी ही माँ को उत्तराधिकारी बताकर उद्धव हम लोगों को झकझोरते हुए इतनी जोर से हँसा कि हमारी उस हँसी में यह संदर्भ ही उड़ गया।

हमारा अट्टहास उस गलियारे के सन्नाटे को ढकेलता हुआ हमारे साथ ही आगे बढ़ता चलता रहा। मैंने भैया के कान में धीरे से कहा, “आपके साथ जिसे विश्राम में जाना चाहिए, उसे तो आप ले ही नहीं आए।”

वह उद्धव की ओर देखकर चिंतातुर हो बोले, “हाँ, भाई, उसे तो मैं रथ में ही छोड़ आया।”

मनुष्य की समझ पर उसकी मानसिकता सदैव छाई रहती है। मैंने कहा था रेवती के संबंध में और उन्होंने सोचा आसव के संबंध में। उनकी मुद्रा और चेष्टाओं से लगा कि अब वह आवश्यकता से कुछ अधिक ही पीने लगे हैं। पर जब मैंने रेवती के अभाव को लेकर दूसरा व्यंग्य किया, तब वह हँसने लगे।

“आपने उन्हें छोड़कर अच्छा नहीं किया।”

“अब वह छूटती कहाँ है! पहले मैं उसके साथ लगा था, अब वह मेरे गले पड़ी है।”

“कुछ समझ में आया तुम्हारे!” इतना कहते हुए उद्धव ने एक धौल मेरी पीठ पर जमाया और बताया—“ज्यों ही ककुद्मिन अपने खोए हुए सिंहासन पर बैठा त्यों ही रेवती का हाथ उसने तुम्हारे भैया के हाथ में थमा दिया।”

“तो क्या भैया का विवाह हो गया?” मेरे विस्मय में व्यंग्य अधिक था—“और वह भी मेरी अनुपस्थिति में!...इसका मतलब है कि मेरी अनुपस्थिति मेरी याद से पूरी कर ली गई।” मैंने चोट पर एक चोट और की।

“क्या करता! तू यही समझ कि एक नितांत भूखे के मुख में किसीने इच्छित भोजन का कौर डाल दिया। ऐसे में मेरी भूख तेरे आने की कब तक प्रतीक्षा करती?”

“भूख भोजन देखे और प्रतीक्षा करे, यह कैसे हो सकता है!” हम सब काफी देर तक हँसते रहे।

“पर आपने यह शुभ समाचार किसीको नहीं सुनाया।”

“तुझे तो मालूम हो ही गया। अब यह हर कान तक पहुँच जाएगा।”

विश्रामकक्ष में पहुँचते ही वहाँ के परिचरों की उपस्थिति ने हमें गंभीर बना दिया। कुछ क्षणों की शांति के बाद मैंने सबको वहाँ से हट जाने का संकेत किया और सब चले गए।

“आपने एक काम अच्छा नहीं किया।” मेरी दृष्टि अब मुख्य विषय की ओर गई।

“क्या?”

“आपने कुशस्थली के सिंहासन पर ककुद्मिन को पुनः बैठा क्यों दिया?” मैंने कहा, “और वह वहाँ बैठा कैसे? वह तो वीतरागी हो गया था।”

“बड़े प्रेम से बैठा।” और फिर उन्होंने हँसते हुए बताया—“अरे भाई, वह दृश्य देखने योग्य था। गद्दी पर बैठते ही उसका मरा हुआ व्यक्तित्व एकदम जी उठा। बेरहमी से कुचली गई उसकी स्फीत शिराओं में अद्भुत रक्त संचार होने लगा। उसकी अहम्मन्यता पागलों-सी बड़बड़ाने लगी। उस समय उसे देखकर तुम्हें विश्वास ही नहीं होता कि वह कंदरा में खोया वही ककुद्मिन है।”

मैं एकदम गंभीर हो गया। मुझे ऐसा लगा कि हमारा सारा सपना चूर हो गया। मैरेय के प्रभाव में भैया ने केवल रेवती को पाकर सारा किया-कराया गुड़ गोबर कर दिया।

शीघ्र ही भैया को मेरी गंभीरता चुभने लगी। उन्होंने पूछा, “क्या सोचने लगे?”

“सोच रहा हूँ कि गया था अपना राज्य स्थापित करने और मिली एक भाभी।”

“यह क्या उलटी-सीधी बातें सोचने लगे! भाभी के साथ ही सिंहासन भी हमारा ही है।” उन्होंने विस्तार से बताया—“ककुद्मिन तो स्वयं गद्दी पर नहीं बैठ रहा था। वह तो स्पष्ट कह रहा था कि अब हमारा संकल्प पूरा हो गया। गद्दी का अधिकारी तो बलराम ही है। जिस राज्य को मैं अग्नि को समर्पित कर चुका हूँ, उसे क्या ग्रहण करूँ? उसे तो हम लोगों ने उसके अहं की संतुष्टि के लिए सिंहासन पर बैठाया।”

“क्या गिरनार के लोगों ने उसे बैठने दिया?”

“वे तो उसके जन्मजात विरोधी हैं। वे कैसे बैठने देते! पर जब मैंने उन्हें समझाया कि यह स्थायी व्यवस्था नहीं है,

तब वे किसी तरह मान गए।”

“मेरी राय तो यही थी कि आपको गद्दी पर बैठना चाहिए था।” मैंने कहा, “सत्ता मिल जाने के बाद उसका मोह ऐसा चिपकता है कि फिर कोई भी गद्दी छोड़ना नहीं चाहता।”

“यह बात सब पर लागू नहीं होती।” भैया बोले, “आखिर भरत ने राम के लिए गद्दी कैसे छोड़ दी थी?”

“भरत के सामने छोड़ने का प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने गद्दी को पकड़ा ही कहाँ था?...और न गद्दी का साहस था कि उन्हें पकड़ सकती।”

भैया क्षण भर के लिए चुप हो गए। फिर बात टालते हुए बड़े अहं से बोले, “तुम क्या सोचते हो, कन्हैया, शेषनाग का अवतार होकर मैं उस छोटे से सिंहासन पर विराजूँ! अरे, हमारे लिए तो सारे संसार का सिंहासन भी काफी नहीं है।”

इतना सुनते ही मुझे भी हँसी आ गई और उद्धव को भी। “अच्छा तो आप अपने को शेषनाग का अवतार समझने लगे!”

“समझता नहीं हूँ, वरन् हूँ।” इस बार की हमारी हँसी की प्रगल्भता विश्रामगृह की दीवारों से टकराती हुई बहुत दूर तक निकल गई।

□

कल होनेवाली यादवों की सभा की व्यवस्था और संभावनाओं पर विचार करने के लिए मैं और भैया राजभवन में ही रह गए थे। दिन में कई बार हमें मंत्रणाएँ करनी पड़ीं, क्योंकि सत्राजित् और भद्रक इस पक्ष में थे कि यह सभा संपन्न न हो सके। यही एक अच्छी बात थी कि उनकी गतिविधि की सूचना हमें मिलती जाती थी।

आज प्रातः ही उद्धव आया। बड़ा प्रसन्न दिखाई दे रहा था। आकृति से एक अद्भुत उल्लास फूट रहा था। आखिर भैया ने पूछ ही दिया—“क्या बात है जी, आज बड़े खिले-खिले हो?”

“कोई बात नहीं है।” उसने कहा तो अवश्य, पर आँखों से सलज्ज लालिमा झाँकने लगी। फिर थोड़ा और कुरेदने पर उसने रुक-रुककर शरमाते हुए जो कुछ बताया, उसका सारांश था कि आजकल शैव्या उसीके घर में रह रही है। माँ से उसकी खूब पटती है। इस बार तो उसने मुझसे भी बड़े प्रेम से बातें की हैं।

मुझे यह समझते देर न लगी कि उद्धव का यह उल्लास शैव्या से हुई वार्ता का परिणाम है। पर भैया उद्धव के इस संदर्भ को समझ न सके। उन्हें क्या पता था कि अपनी स्वप्नसुंदरी की ‘बतरस’ छककर उद्धव आया है। उसकी इस परिवर्तित मानसिकता की समझ भैया की पकड़ के बाहर थी।

मैंने उसकी मस्ती में बाधा डालना उचित नहीं समझा; फिर भी मैंने पूछा, “शैव्या से ही तेरी बातें हुई या बृहद्बल से भी?”

“भैया मिले अवश्य थे, पर कुशलक्षेम के अतिरिक्त कोई बात नहीं हुई। न उन्होंने कुछ पूछा और न मैंने कुछ बताया।”

“शैव्या से कुछ पूछा था?”

“उसने तो बहुत सारी बातें पूछी थीं। युद्ध की चर्चा सुनते हुए तो वह अघाती ही नहीं थी। उसे विश्वास नहीं था कि हम लोग विजयी होंगे।”

“अब तो उसे विश्वास हो गया?”

“केवल विश्वास ही नहीं हुआ वरन् वह हमारी दैवी सत्ता में भी विश्वास करने लगी।”

मैंने मन-ही-मन सोचा, हो सकता है, अब मेरे प्रति घृणा कुछ कम हुई हो। मैंने व्यंग्य करते हुए कहा, “चलो अच्छा हुआ। कभी-कभी अभाव भी आक्रोश को अनुराग में बदल देता है। हो सकता है, अब तेरा स्वप्न साकार हो

जाए।”

वह मौन हो कुछ सोचने लगा।

“किस सोच में पड़ गए?”

“उस स्वप्न को मैंने आपके कहने पर चूर कर दिया था। अब उसके साकार होने का प्रश्न ही नहीं।”

मैंने फिर उसे छेड़ा—“आखिर किसी-न-किसीको तो शैव्या अपना बनाएगी ही।”

“वह तो बहुत पहले से ही बना चुकी है। अब क्या बनाएगी!” उद्धव ने इसी सिलसिले में बताया—“वह मुझसे कई बार श्वेतकेतु के बारे में पूछ चुकी है। अब वह उसके यहाँ आने की संभावना पर भी विचार कर रही है।”

मेरे और उद्धव की कानाफूसी से ऊबते हुए भैया बोल पड़े—“तुम लोग क्या खुसर-फुसर कर रहे हो?”

मैंने तुरंत बात बदली—“सोच रहा था कि कुशस्थली के संदर्भ में क्या किया जाए?”

“जो कुछ किया जाना है, उसे मैंने सोच लिया।”

“क्या सोचा है आपने?”

“यही कि भस्म हुई कुशस्थली अब हमारे काम की नहीं रही।” भैया ने कहा, “उसका पुनर्निर्माण करना होगा। नगर को नए सिरे से बसाना होगा।”

“यही तो मैं भी सोच रहा था।” मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, “किसीकी राजधानी को स्वीकार करने से कहीं अच्छा है, अपनी राजधानी का स्वयं निर्माण करना।”

तब भैया ने उसकी भौगोलिक स्थिति बताकर कहा, “कुशस्थली के पश्चिम ओर बारह योजन लंबा और आठ योजन चौड़ा एक भू-खंड है। संप्रति वह जंगलों से भरा है। यदि हम उसे अपनी राजधानी बनाएँ तो किसी प्रकार की सुरक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।”

मैंने अभी तक उसे देखा तो नहीं था, फिर भी भैया के बताने के अनुसार मेरे मस्तिष्क में उसका मानचित्र स्पष्ट हो गया। मुझे भी लगा कि चारों ओर समुद्र से घिरे स्थान में राजधानी बनाना निरापद होगा।

अब समस्या थी कि यह काम किस वास्तुशिल्पी को सौंपा जाए? भैया का विचार था कि इसे मय के वंशजों से कराया जाए। उनके पूर्वजों ने ही रावण की लंका बनाई थी। वास्तुकला उनके परिवार में पिछली अनेक पीढ़ियों से चली आ रही थी। इसी कला के कारण मय के वंशज भी मय के नाम से ही संबोधित किए जाते थे। उनमें से कई मिल भी जाते हैं। पर मैं इस पक्ष में नहीं था। इस विषय में मेरा और भैया का गहरा विवाद हुआ।

भैया का तर्क था कि समुद्र के बीच राजधानी बनाने का मयबंधुओं का अच्छा अनुभव है। उनका कौशल भी उच्च कोटि का है। इस भू-खंड की स्थिति भी लगभग लंका जैसी ही है।

“उसकी स्थिति लंका जैसी भले ही हो, पर हम रावण नहीं हैं।” मैंने कहा, “रावण राक्षस था। मय भी राक्षस है। हमारे विरोधी पड़ोसी पुण्यजन भी राक्षस हैं। हमारे स्थायी विरोधी जरासंध का राक्षसों से अच्छा संपर्क है। ऐसी स्थिति में किसी राक्षस से अपनी राजधानी का निर्माण कराना, उसकी गोपनीयता को निर्माण के पहले ही उद्घाटित कर देना है।”

मेरा तर्क प्रबल पड़ा। उद्धव ने भी मेरे विचारों का समर्थन किया। मैं बोलता रहा—“जिस भू-खंड की आपने चर्चा की है, मैंने उसे देखा तो नहीं है; पर आपके मानचित्र से मैंने सबकुछ समझ लिया है। वह स्थान केवल हमारे लिए ही नहीं, संपूर्ण आर्यावर्त के लिए महत्वपूर्ण है। मेरी यह राजधानी समुद्र की ओर खुलनेवाला आर्यावर्त का द्वार होगा। ‘द्वार’ का निर्माण पूरी सजगता से होना चाहिए। अन्यथा जीवन भर पछताना पड़ेगा।”

“फिर तुमने सोचा क्या है?”

“मैं आज ही विश्वकर्मा से मिलता हूँ। वह स्वयं जाकर उस भू-खंड का सर्वेक्षण करें या अपने व्यक्तियों को भेजें। हमें शीघ्रातिशीघ्र उस भूमि का सर्वेक्षण कर अपनी भावी राजधानी की रूपरेखा बनानी चाहिए।”

“तुम्हारा सोचना तो ठीक है।” भैया बोले। पर वे मेरे स्वयं जाने के पक्ष में नहीं थे; क्योंकि कल यादवों की महत्वपूर्ण सभा थी। उसमें मेरा रहना आवश्यक था।

पर मेरा विचार था कि राजधानी के निर्माण में जितनी गोपनीयता और शीघ्रता बरती जाएगी, उतना ही हमारे हित में होगा। मैंने स्पष्ट कहा, “मैं नहीं चाहता कि यह संदर्भ हम तीन के अतिरिक्त और कोई जाने।”

“और किसीने जान ही लिया तो क्या कर लेगा?” भैया बोले।

“वही, ‘आओ बैल मुझे मार’ वाली कहावत होगी। हमसे द्वेष रखनेवालों का मस्तिष्क अभी से सक्रिय हो जाएगा और हमें तब उनके विरुद्ध भी व्यूह-रचना करनी होगी। हमारी गोपनीयता एक ओर हमारे निर्विघ्न निर्माण में सहायक होगी और दूसरी ओर राजधानी चुपचाप निर्मित हो जाएगी, तब हमारे चमत्कारी व्यक्तित्व पर एक पानी और चढ़ जाएगा।”

“तब जैसा तुम उचित समझो, करो।” भैया की अनुमति मिलते ही मैं बिना किसीसे कुछ कहे चल पड़ा।

□

सुना है, मध्याह्न तक तो किसीको कुछ पता नहीं चला, पर मध्याह्न के बाद ही मथुरा में एक हलचल पैदा हो गई। कुंडिनपुर से श्वेतकेतु आ धमका। वह मुझे से ही मिलना चाहता था। बस मेरी खोजाई शुरू हो गई। बलराम भैया और उद्धव से भी मेरे बारे में पूछताछ हुई। पूर्व निश्चित योजना के अनुसार उन्होंने अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की। राजभवन से मालिनी के घर तक मेरे सारे अड्डे खोज डाले गए। कहीं होऊँ, तब तो मिलूँ।

अरण्य अग्नि की तरह चारों ओर यह खबर फैल गई कि कृष्ण मथुरा में नहीं है। फिर क्या था? लोग अपने मन से मेरी अनुपस्थिति का अर्थ लगाने लगे।

सत्राजित् ने बृहद्बल से कहा, “कहीं गुम होकर वह कल की सभा के लिए किसी षड्यंत्र की योजना बना रहा होगा। उसने कह तो दिया है, पर वह कभी तुम्हें युवराज होने नहीं देगा।”

“मुझे भी ऐसा ही लगता है।” भद्रक बोला, “वह अधिक-से-अधिक अपने पक्ष के यादवों को जुटाने में लगा होगा।”

मेरे नाना की प्रतिक्रिया एकदम इसके विपरीत थी—“ऐसे समय उसका अदृश्य हो जाना अवश्य रहस्यमय है। इसके पीछे कोई बहुत बड़ी चाल हो सकती है।”

नानाजी काफी घबरा गए थे। उन्होंने मंत्रणा के लिए विकट्ट को बुलाया और कहा, “ऐसा तो नहीं कि कृष्ण के अदृश्य होने के पीछे मागधी लोगों का षड्यंत्र हो?”

“कुछ नहीं कहा जा सकता, महाराज!” विकट्ट बोला और उसने कुछ सोचकर बताया कि प्रातः तो वे विश्रामकक्ष में बलराम और उद्धव से मंत्रणा में व्यस्त थे।...पर शंकु का कहना है कि उन लोगों को उनका कोई पता नहीं है।”

“तब क्या हुआ? धरती निगल गई या आकाश उन्हें उठा ले गया?” नानाजी की व्यग्रता अपनी चरम सीमा पर थी। उन्होंने यथाशीघ्र आचार्यजी को बुलाने का आदेश दिया।

शंकु आचार्यजी के आवास की ओर दौड़ा और विकट्ट ने छंदक की खोजाई शुरू की। उधर छंदक की व्यग्रता मुझे खोज रही थी। मेरे अदृश्य होने से ऐसा भूकंप आया कि पूरी मथुरा हिलने लगी थी।

आचार्यजी भी सुनते ही घबरा गए; क्योंकि शंकु के पहुँचने के पहले वहाँ छंदक पहुँच चुका था। कोई बात जरूर है। हो सकता है, इन सबके पीछे जरासंध का हाथ हो।

सुना है, आचार्यजी ने महाराज से यही कहा, “कन्हैया को गुम करने के पीछे आपके शत्रुओं का हाथ हो सकता

है। हो सकता है, वह कल की यादवों की सभा को असफल करना चाहते हों।”

महाराज एकदम सन्न रह गए। वे बोले, “सुना है, छंदक का भी कहीं पता नहीं है।”

“वह तो मुझसे मिला था। कृष्ण की खोज में ही कहीं गया है।”

“चलिए, एक बात और पता लग गई। छंदक को भी कृष्ण का पता नहीं।” महाराज बोले। उनकी घबराहट और बढ़ी।

लगता है, पिताजी और माताजी को भैया ने कुछ संकेत दे दिया था। वे कुछ शांत थे। पर कंसा और बृहद्बल अत्यधिक व्यग्र थे। उन्हें विश्वास हो गया था कि कल की सभा में कुछ होने वाला है।

अंत में भैया को नानाजी ने बुलाया। भैया ने बड़े सहजभाव से कहा, “आप लोग व्यर्थ ही व्यग्र हो रहे हैं। चुपचाप गुम हो जाने की कन्हैया की पुरानी आदत है। चाहे पूतना वध हो या कालीदह का कांड, उन सबमें वह चुपचाप गया था और अंत में परिणाम से सबको चमत्कृत कर दिया था। इस समय भी देखिएगा, वह कोई चमत्कार करके ही आएगा।”

“पर कल की सभा का क्या होगा?” नानाजी ने समस्या रखी।

“कन्हैया के अभाव में कल की सभा नहीं होगी।” गर्गाचार्य का यह अंतिम निर्णय था और यही प्रचारित हो गया।

अब सत्राजित् ने तुरंत कहना आरंभ किया—“देखा, मैंने क्या कहा था, कन्हैया चाल खेल गया न! अब न कल यादवों की सभा होगी और न बृहद्बल के युवराज पद की घोषणा।”

भैया बता रहे थे कि अफवाहों के सागर में उतराने का यह मेरा अद्भुत अनुभव था। ज्यों-ज्यों थपेड़े लगते त्यों-त्यों मेरी मस्ती बढ़ती जाती।

उधर श्वेतकेतु भी काफी निराश था। वह मेरे लिए ही आया था और जो समाचार लाया था, उसे देकर तुरंत लौट जाना चाहता था। वह वर्तमान स्थिति से अपरिचित था। उसके लिए चित्रकेतु, बृहद्बल, उद्धव और भैया में अंतर समझना मुश्किल था। उसने सबके सामने बताया कि कुंडिनपुर की स्थिति विषम है। रुक्मिणी का स्वयंवर होने जा रहा है। निमंत्रण भेजे जा रहे हैं।

“तब तो निमंत्रण मथुरा भी आएगा।” बृहद्बल बोला।

“यदि यहाँ निमंत्रण आना होता तो मैं क्यों आता?” श्वेतकेतु ने बड़ी वितृष्णा से कहा, “न मथुरा निमंत्रण आएगा और न हस्तिनापुर जाएगा। निमंत्रण वहीं जाएगा, जहाँ रुक्मी चाहेगा।”

“क्यों?”

“क्योंकि वहाँ स्वयंवर नहीं, स्वयंवर का नाटक हो रहा है।” श्वेतकेतु ने कहा, “इस नाटक की सारी योजना जरासंध ने बनाई है। रुक्मी तो उसकी कठपुतली है।”

“जरासंध! वह रुक्मिणी के स्वयंवर में ऐसी रुचि लेगा, बात मेरी समझ में नहीं आती।” बृहद्बल बोला, “फिर रुक्मी अपनी बहन के विवाह में जरासंध की बात माने, यह भी मुझे विचित्र लगता है। अभी तो उसके पिता भीष्मक और पितामह कौशिक भी जीवित हैं।”

“यही विचित्र और असंभव कुंडिनपुर में संभव होने जा रहा है।” श्वेतकेतु ने बताया—“ज्यों ही रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से हो जाएगा, जरासंध अपनी पौत्री का विवाह रुक्मी से कर देगा।”

“इन सबके पीछे आखिर जरासंध की मंशा क्या है?”

“मंशा साफ है, हर शक्तिशाली से अपने रिश्ते की एक ऐसी शृंखला बना लेना, जिसमें मथुरा को घेरा जा सके। जरासंध जब से गोमांतक से पराजित होकर लौटा है तब से उसकी प्रतिहिंसा पागल हो उठी है। वह कुछ भी करने

को तैयार है।”

“यदि जरासंध का कुछ भी चला तो मैं स्वयंवर में अवश्य आमंत्रित किया जाऊँगा।” बृहद्बल ने कहा।

“पर यह निश्चित है कि मथुरा आमंत्रित नहीं हो रही है।” श्वेतकेतु ने और जोर देकर कहा, “उसने शिशुपाल को रुक्मिणी परिणय का वचन दे रखा है। एक बार पहले भी शिशुपाल से उसका विवाह होते-होते रुक चुका है।”

“क्यों?”

“क्योंकि रुक्मिणी शिशुपाल को बिल्कुल नहीं चाहती।”

“तब यह स्वयंवर नहीं होगा।” सत्राजित् गरजा—“यह मथुरा का अपमान है। हम सबका अपमान है।”

“आप लोग तो ठीक सोचते हैं; पर हमें देखना है कि मथुरा का अधिष्ठाता क्या सोचता है?”

लोगों का ध्यान उस समय उग्रसेन की ओर गया—“अरे, उस बूढ़े का स्वयंवर से क्या लेना-देना?”

“मैं बूढ़े की नहीं, कृष्ण की बात कर रहा हूँ।” श्वेतकेतु बोला।

मेरा नाम सुनते ही सबके सब एकदम उबल पड़े—“कृष्ण कब से मथुरा का अधिष्ठाता हुआ?”

अब भी श्वेतकेतु समझ नहीं पाया था कि वह हमारे विरोधियों के बीच है। उसके मुख से निकला—“कृष्ण तब से मथुरा के अधिष्ठाता हैं जब से उन्होंने कंस का विरोध किया।”

इतना सुनते ही सब पागल हो गए। उनका आक्रोश तो श्वेतकेतु को चबा जाता, यदि भैया और उद्धव ने बीच-बचाव न किया होता। वे उसे लेकर सीधे राजभवन में आ गए और उसे मथुरा की वर्तमान स्थिति से अवगत कराया। विस्तार से हर बात जान लेने के बाद श्वेतकेतु ने कहा, “मुझसे बड़ी भूल हो गई।”

“कोई भूल नहीं हुई।” उद्धव ने उसे ढाढ़स दिलाया—“जिस बात को प्रचारित करने में हमें समय लगता, वह तुम्हारे मुख से निकलकर चर्चा में आ गई। अब लोग देखें कि जिस जरासंध को वे अपना समझ रहे हैं, वह मथुरा की कैसी उपेक्षा कर रहा है!”

अब श्वेतकेतु मेरे लिए व्यग्र हुआ।

“कन्हैया को इस सारी स्थिति का पता है।” भैया ने उसे आश्वस्त किया।

“स्थिति का तो पता है, यह मुझे भी मालूम है।” श्वेतकेतु बोला, “पर उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि ऐसी विषम स्थिति इसी पखवारे में आने वाली है। फिर...” श्वेतकेतु कुछ कहते-कहते रुक गया।

भैया ने उसे फिर समझाया—“कहो, निर्भय होकर कहो! और मुझमें तथा कृष्ण में कोई अंतर मत समझो।”

तब श्वेतकेतु ने बताया कि रुक्मिणी ने कृष्ण के लिए एक पत्र भेजा है। वह पत्र निकालकर भैया को देने लगा। पत्र बंद था। भैया ने कहा, “इसे अपने ही पास रखो। कन्हैया के आने पर उसे देना। पर इसकी चर्चा किसीसे मत करना।”

“यही बात तो रुक्मिणी ने भी कही थी।” श्वेतकेतु ने बताया।

□

संध्या के झुटपुटे के साथ ही मैं लौट आया। राजकीय उद्यान के समीप आते-आते सत्राजित् अपने साथियों के साथ दिखाई दिया। उसने मेरा रथ रुकवाया और बड़े आक्रोश के साथ बोला, “तुमने कुछ सुना? रुक्मिणी के स्वयंवर में मथुरा आमंत्रित नहीं की जा रही है।”

मैंने मुसकराते हुए कहा, “इसमें मैं क्या कर सकता हूँ! यह तो आमंत्रित करने वाले का दृष्टिकोण है।”

“इसमें तुम अपना अपमान नहीं समझते?” भद्रक बोला।

“मैं तो अपमान और सम्मान से परे हूँ।” मैंने बड़े तटस्थ भाव से कहा, “कोई बुलाए तो मैं स्वयं को सम्मानित नहीं समझता और न बुलाए तो अपमानित नहीं होता।”

“तुम इसमें मथुरा का भी अपमान नहीं समझते?” सत्राजित् ने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से कहा, “तुम तो मथुरा के अधिष्ठाता हो!”

पर मैंने इस व्यंग्य को बड़ी सहजता से झेला—“मथुरा की अधिष्ठाता तो मथुरा की जनता है। यह उसका अपमान अवश्य है और उसके अपमानित होने में मैं भी उसके साथ हूँ।”

“तो हम लोगों को इसके संबंध में क्या करना चाहिए?” इस बार सात्यकि ने बड़े संयतभाव से पूछा।

“हम लोगों को सावधानीपूर्वक विचार करके ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए।” मैंने कहा, “कल यादवों की सभा में हमें यह विषय भी रखना चाहिए।”

“पर कल की सभा की कोई विषय सूची तो है नहीं। मैं तो इसी आधार पर उस सभा का विरोध करूँगा।” सत्राजित् बोला।

“राजा द्वारा बुलाई गई सभा की कोई विषय सूची नहीं होती। उसमें विचार के लिए प्रस्तुत हर विषय राजाज्ञा की तरह स्वीकार्य होता है। मैं तो यही समझता हूँ, फिर आप जैसा उचित समझें। आपका अनुभव जो कहता हो।” इतना कहकर मैंने बात खत्म की और सबका अभिवादन करता आगे बढ़ा।

मैंने अनुभव किया कि मेरे अदृश्य हो जाने पर संशय में डूबी मथुरा रुक्मिणी स्वयंवर के समाचार से अचानक उबलने लगी है। मैं सीधे घर न जाकर राजप्रासाद गया। वहीं मुख्य द्वार के निकट ही भैया और उद्धव मेरी प्रतीक्षा करते मिले। मुझे देखते ही वे बोले, “तुम्हारे अदृश्य हो जाने का तात्पर्य मथुरा के हर व्यक्ति ने अपनी मानसिकता के अनुसार लगाया। तरह-तरह की अफवाहें उड़ती रहीं।”

मैंने मुसकराते हुए कहा, “यह ऊहापोहात्मक स्थिति कल की सभा के लिए मेरे अनुकूल रहेगी। एक तो विरोधी मेरे अज्ञात हो जाने की समस्या में ही उलझे रहेंगे, वह कोई योजना न बना सके होंगे। दूसरे मैंने सुना है कि मेरे न रहने से कल की सभा ही संदिग्ध हो गई है।”

“यही तो। तुम जल्दी नानाजी से मिल लो। वे काफी घबराए हुए हैं।” भैया बोले और मुझे लेकर सीधे नानाजी के कक्ष की ओर चले।

मार्ग में धीरे-धीरे द्वारका के निर्माण के संबंध में बातें होने लगीं। मैंने बताया कि विश्वकर्माजी ने तत्काल तीन शिल्पियों को अपने सहायकों के साथ वहाँ भेजा है।

“आखिर कब तक नगर निर्मित हो जाएगा? क्योंकि विलंब होने से और समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं।”

“विश्वकर्माजी का कहना है कि सप्ताह के भीतर ही सर्वेक्षण पूरा हो जाएगा और एक मास के भीतर निर्माण।”

“अरे, इतना शीघ्र निर्माण!” भैया को जैसे विश्वास ही नहीं हुआ। मैंने जब बताया कि विश्वकर्माजी ने अपनी सारी शक्ति और सामर्थ्य उसी निर्माण पर लगाने का आश्वासन दिया है, तब उन्होंने कहा, “तब तो कुछ भी हो सकता है।”

भैया बड़े प्रसन्न हुए, साथ में उद्धव भी।

नानाजी मिलते ही बरस पड़े—“बिना कहे-सुने तुम कहाँ चले जाते हो जी?”

मैं चुपचाप अपराधी की तरह सिर नीचा किए खड़ा रहा; क्योंकि मैं कुछ बताने की स्थिति में नहीं था। उनकी फटकार सुनता रहा। अंत में उनका स्वर पिघला। उन्होंने मुझे वक्ष से लगाकर कहा, “ऐसे में तेरा गायब होना बड़ा भारी पड़ रहा था, कन्हैया।”

रात्रि के प्रथम प्रहर तक पूरी मथुरा जाग गई कि मैं लौट आया हूँ; पर किसीको यह आभास न लगा कि मैं कहाँ गया था। मेरे माता-पिता को भी नहीं। यद्यपि भैया ने मेरे सुरक्षित होने का संदेश दे दिया था।

मेरी माँ ने सोचा कि मैं गोकुल में राधा से मिलने गया था। उसने मुझे देखते ही कहा, “मिल आए, बेटा? राधा बड़ी व्याकुल थी तुमसे मिलने के लिए। है बड़ी भोलीभाली लड़की। तुम्हारे बिना वह रह नहीं सकती।”

मैंने माँ को उसी भुलावे में रखा—“आज भी वह मेरे बिना कहाँ है!”

“तू तो उसके बिना है।”

“मैं भी उसके बिना नहीं हूँ।” मैंने कहा और मुसकरा दिया। माँ भी हँसने लगी।

मुझे तो श्वेतकेतु के आने की बात भैया ने बताई थी। इस समय माँ ने भी कहा कि वह तुमसे मिलने के लिए व्याकुल है।

“कहाँ है वह?”

“वह तो कंसा के यहाँ ही ठहरा है।”

मैं माँ से अनुमति लेकर कंसा के घर चल पड़ा।

रात्रि के सन्नाटे को चीरता मेरा रथ चला जा रहा था। शीत जमने लगी थी। गुदगुदी हवा के झोंकों में रुक्मिणी की अनेक मुद्राएँ आँखों में तैरने लगीं।

जब मैं कंसा मौसी के यहाँ पहुँचा तब श्वेतकेतु भोजन करके शयनकक्ष में जा चुका था। मुझे देखते ही कंसा बोली, “लो, तुम आ गए। तुम्हारे लिए तो श्वेतकेतु व्याकुल हो रहा था। वह इतना निराश था कि कह रहा था कि लगता है, मेरा आना ही व्यर्थ हुआ।”

“क्यों, मेरे आने की सूचना तो आप लोगों को मिल ही गई होगी?”

“कैसे मिलती? तू तो अभी आ रहा है।”

“अरे बृहद् भैया तो मार्ग में ही मिल गए थे।”

“वह अभी लौटा कहाँ है, जो बताता!” मौसी का इतना कहना बृहद्बल के षड्यंत्रकारी व्यक्तित्व का आभास दिलाने के लिए काफी था। मैंने समझ लिया कि वह अपनी चंडाल चौकड़ी में कल की सभा के लिए कोई योजना बुन रहा है।

शयनकक्ष में प्रवेश करते ही श्वेतकेतु हड़बड़ी में उठ खड़ा हुआ; जैसे उसे कल्पना ही न थी कि मैं इस समय भी उपस्थित हो सकता हूँ।

“क्षमा करना, मैं तुम्हारी अनुमति के बिना ही शयनकक्ष में चला आया।” मैंने बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से कहा। पर वह सहज मस्तिष्क मेरे व्यंग्य तक पहुँच नहीं पाया। फिर मैंने अपने कथन को और स्पष्ट करते हुए कहा, “अरे यार, यहाँ आकर भी तुम इस शयनकक्ष में अकेले हो!”

उसकी अचंभित दृष्टि अब भी मुझे देखती रह गई। तब मैंने उससे पूछा, “शैव्या कहाँ है?”

अब उसने समझा। जोर से हँसा और बोला, “यह तो आप उससे ही पूछें।”

“क्यों, तुमसे उसका मिलना नहीं हुआ? वह तो आजकल यहीं विराज रही है।”

“मिलना तो हुआ, पर...” वह अपनी बात पूरी कर पाता, इसके पहले ही मैं बोल पड़ा—“पर और कुछ नहीं हुआ।” इतना कहते ही एक विस्फोटक हँसी बहुत देर तक हम दोनों को घेरे रही।

फिर वह शीघ्र ही अपने विषय पर आया। उसने कुंडिनपुर की सारी कहानी बताई और रुक्मिणी का दिया हुआ बंद पत्र मेरी ओर बढ़ा दिया।

मैं वहीं पत्र खोलकर पढ़ने लगा।

‘मेरे प्राणनाथ,

‘सारी स्थिति का ज्ञान श्वेतकेतु से हो गया होगा। उस गर्दभ (शिशुपाल) की काली छाया मुझपर मँडराने लगी है। इस बार जरासंध ने मेरे भाई से मिलकर मुझपर ऐसा घेरा डाला है कि मैं शायद ही उससे मुक्त हो पाऊँ। पिताजी को तो भैया ने एकदम मिला लिया है। पितामह किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। मैं क्या करूँ, कुछ समझ नहीं पा रही हूँ? आपने तो कहा था कि जब भी तुम हृदय से पुकारोगी, मैं उपस्थित हो जाऊँगा। रात-दिन मेरा हृदय आपको पुकार रहा है; पर आपने अभी तक कृपा नहीं की। अब मैं क्या करूँ? यदि आत्महत्या करना पाप न होता तो मैं स्वयं को अब तक अग्नि को समर्पित कर चुकी होती।

‘मेरा उद्धार करो नाथ! शीघ्र करो। ऐसा न हो कि तुम्हें पछताना पड़े।

तुम्हारी अपनी रुक्मिणी’

इन सारी स्थितियों की जानकारी तो मुझे पहले से ही थी। फिर भी पत्र ने उद्धेलित कर दिया। कुछ-न-कुछ तो करना ही पड़ेगा। पर मैंने श्वेतकेतु से कुछ विशेष नहीं कहा, वरन् उससे पूछा, “तुम कब जाओगे?”

“जब आपका आदेश हो।”

“मेरी इच्छा तो यही है कि तुम आज प्रभात के पूर्व ही निकल जाओ।”

“पर बृहद्बल तो कल की सभा में उपस्थित रहने के लिए कह रहा था।”

“तुम क्या करोगे यहाँ रहकर? यहाँ से कहीं अधिक रुक्मिणी की स्थिति गंभीर है। उसे तुम्हारी अधिक आवश्यकता है।”

“तब ठीक है, प्रभात के पूर्व ही मैं निकल जाऊँगा।” उसने कहा।

अब मैंने उसे गंभीरता से समझाया—“तुम अच्छी तरह रुक्मिणी को समझाना कि तुम्हारी पुकार उन तक बहुत पहले ही पहुँच चुकी है। वे गर्दभ की काली छाया से तुम्हें मुक्त करने ऐन मौके पर आ जाएँगे। विश्वास रखो और प्रतीक्षा करो।”

उसने पूरा संदेश ध्यान से सुन लिया, तब मैंने उसे सावधान करते हुए कहा, “देखो, मेरे और रुक्मिणी के संदर्भ की बात किसीको भी मालूम न हो। जो भी करना, पूरी गोपनीयता के साथ और मुझे वहाँ की परिस्थिति की बराबर सूचना देते रहना—किसी और से नहीं, जहाँ तक हो, तुम अवश्य आना।”

उसने परिस्थिति की गंभीरता को समझते हुए सिर हिलाकर मेरी बात स्वीकार की और बड़े सहजभाव से बोला, “यह गर्दभ कौन है?”

मुझे हँसी आ गई। मैंने उसी मुद्रा में कहा, “विश्वास रखो और प्रतीक्षा करो। गर्दभ को भी पहचान जाओगे।”

□

आज यादवों की सभा थी। प्रातः से ही अपने पूरे सजधज के साथ प्रासाद का प्रशस्त प्रांगण उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। आज जब भैया और उद्धव के साथ नानाजी से मिला तो वहाँ विकट्ट, शंकु, गर्गाचार्य और छंदक पहले से उपस्थित थे। लगता है, आज की सभा के लिए मंत्रणा हो रही थी।

“आइए, आइए, आप ही लोगों की तो प्रतीक्षा हो रही थी।” हमें देखते ही कुछ और लोगों ने विकट्ट के साथ हमारी अगवानी की।

पता चला कि महाराज आज सभा में दिए जानेवाले अपने वक्तव्य पर विचार कर रहे हैं। अपनी शक्ति वृद्धि के संदर्भ में जरासंध के शक्ति संतुलन पर चर्चा हो रही है।

हम लोग चुपचाप लोगों को सुनने के लिए बैठ गए और कुछ समय तक सुनते रहे। फिर नानाजी स्वयं मुझे संबोधित करते हुए बोले, “तुम बड़े मौन हो, कन्हैया! आखिर तुम भी कुछ कहो।”

“मैं क्या कहूँ!” मैं मुसकराते हुए बोला, “मेरी समझ में तो बस एक ही बात आती है। हमारी वास्तविक शक्ति न

तो अस्त्र है, न शस्त्र है, न सेना है, न नगर की मरम्मत हो रही प्राचीर है, न हमारा कोष है। वास्तविक शक्ति तो हमारी प्रजा है। हमें उसीको एकजुट रखकर उसीका मनोबल बढ़ाए रखना है।”

“यही तो मेरा भी विचार है।” गर्गाचार्य ने कहा।

पर छंदक का विचार था कि “स्थिति इससे एकदम विपरीत है। यादव ही आपस में एक-दूसरे के रक्त के प्यासे हो रहे हैं। मेरी सूचना है कि सत्राजित् और भद्रक दोनों की मंशा आज की सभा को असफल करने की है।”

“आखिर वे क्यों असफल करना चाहते हैं?” मैंने पूछा।

“क्योंकि वे आपके घनघोर वैरी हैं। वे आपको फूटी आँख भी नहीं देखना चाहते।”

“यदि ऐसी बात है तो कहिए, मैं सभा में रहूँ ही नहीं।”

“तब तो वे अपनी मंशा में सफल ही हो जाएँगे।” छंदक बोला, “और उन्हें एक बहाना मिल जाएगा। वे स्पष्ट कहेंगे कि कन्हैया के न रहने पर यह सभा कैसी?”

“ऐसी बात है तो मैं रहूँगा, पर बोलूँगा नहीं।”

“यह ठीक है।” छंदक ने कहा, “आपके बोलने पर ही हड़कंप की आशंका है।”

मुझे हँसी आ गई। मैंने छंदक से कहा, “इतने दिनों से तुम मेरे निकट हो, छंदक! तुम मुझे इतने पास से जानते हो। कुछ लोग तो तुम्हें मेरा दूसरा रूप ही कहते हैं। फिर भी तुम जान नहीं पाए कि मैं जब बोलूँगा, तब हड़कंप नहीं, चमत्कार होगा। कल भी देखना, मैं सभा में एक चमत्कारी सूचना दूँगा।”

“चमत्कारी सूचना!” नानाजी की जिज्ञासा जागी—“वह कौन सी सूचना होगी, भाई? जरा मैं भी तो जानूँ।”

“वह सूचना भी अभी आपको नहीं दी जाएगी; अन्यथा उसका सारा चमत्कार नष्ट हो जाएगा।”

मैं उस विचार-विमर्श को रहस्य में डालकर एकदम उठ खड़ा हुआ और चलने लगा। लोगों ने मुझे रोका भी। स्वयं महाराज बोले, “इतनी जल्दी क्या है, कन्हैया?”

“दूसरे आनेवाले अतिथि अब प्रासाद में आने लगे होंगे।” मैंने कहा, “उनकी व्यवस्था करना हमारा धर्म है।”

इसके बाद मैं चल पड़ा और छंदक का हाथ पकड़कर उसे भी लेता आया।

बाहर निकलकर देखा, कुछ लोग सचमुच प्रासाद प्रांगण में जुटने लगे थे। मैंने छंदक के कान में धीरे से कहा, “तुम मुझे भले ही न पहचानो, पर एक चीज तो पहचानते ही हो।”

“क्या?”

“चिनगारियाँ! उनको बोलने और दूसरे की बोई चिनगारियों को पहचानने का तुम्हारा पुराना अनुभव है। तुम आगंतुकों पर पूरी दृष्टि रखो और देखो, कौन कैसी चिनगारियाँ अपने उत्तरीय में छिपाकर लाया है।” मैंने छंदक को काम में लगाया और मन-ही-मन सोचने लगा कि देखता हूँ, कौन सभा में व्यवधान उत्पन्न करता है।

छंदक अपने काम में लगा। इधर देखते-ही-देखते प्रांगण लोगों से भरने लगा। मैंने अपने बैठने के स्थान के आसपास कुछ मंचक पहले से खाली रखवाए थे। बृहद्बल के आते ही मैंने उसे ससम्मान ले जाकर अपनी बगल में बैठाया। यही व्यवहार मैंने सत्राजित् और भद्रक के साथ भी किया।

अपने सारे विरोधियों को अपने पास बैठाने की मेरी योजना के मुख्य दो उद्देश्य थे—एक तो मेरे सारे विरोधी उनसे दूर रहेंगे, जिन्हें वे भड़काते और दूसरे निकट रहने पर मैं इन्हें अपने प्रभाव से मुक्त नहीं होने दूँगा।

और हुआ भी कुछ ऐसा ही। ज्यों ही महाराज पधारे, मैं, उद्धव और बलराम भैया तो खड़े हुए, साथ ही बृहद्बल और सात्यकि भी उठे। पर सत्राजित् उठना नहीं चाहता था। अगल-बगल की यह स्थिति देखकर वह भी उठ खड़ा हुआ। फिर भी भद्रक अंत तक बैठा ही रहा।

नानाजी ने आते ही अपना भाषण आरंभ किया—

“मेरे सहयोगियो, यादव सरदारो और प्रजाजनो!

“आप सबको अपने समीप पाकर हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। मैं आप सबका स्वागत तथा अभिनंदन करता हूँ और हमारे प्रति व्यक्त किए गए आपके सम्मानभाव के प्रति हम अपनी अपार आत्मीयता आपको समर्पित करते हैं।”

“देखिए, शुरू किया न वह पुराना नाटक!” इधर भाषण चल रहा था, उधर भद्रक बोला। पर उसकी आवाज अपने ही तक सिमटकर रह गई।

इस बीच महाराज ने अपने प्रति प्रजा की आस्था और विश्वास के लिए बड़े सम्मानजनक शब्दों का प्रयोग किया और कहा, “मैं तो ऐसे सिंहासन पर आसीन हूँ, जो अपने पूर्वजों के समय से ही अभिशापित रहा है। शायद इसीलिए मुझे सत्ता से अधिक कारावास में रहना पड़ा और मेरे अभाव में जो रहे, वे भी शांति से रह न सके। अब जब मैं पुनः सिंहासन पर आया तो विराग की मनःस्थिति लेकर।”

“पर विराग के बल पर सिंहासन सँभाला नहीं जा सकता।” मेरे पास ही बैठे भद्रक ने जोर से आवाज लगाई। मैंने उसकी ओर देखा। मेरी दृष्टि में आग और अधरों में मुसकराहट थी। शीतलता और ताप से उठे वाष्प में उसकी मानसिकता उलझ गई। इसके बाद वह कुछ नहीं बोला। पर उसने तो अगुआई कर ही दी थी। लोग बीच-बीच में महाराज से सिंहासन का मोह छोड़ने के लिए आवाज उठाते रहे।

“विरागी को सिंहासन का मोह कैसा?” आखिर महाराज को बोलना ही पड़ा।

“तब आप अपने युवराज की घोषणा क्यों नहीं करते?” भीड़ से छूटी यह दूसरी आवाज थी।

“इसपर भी आपको ही निर्णय लेना है; क्योंकि मैं सिंहासन पर सही अधिकार प्रजा का मानता हूँ। मेरे लिए तो यह सिंहासन वैसा ही है जैसे भरत के लिए राम का सिंहासन। आपका कोई भी निर्णय हमें शिरोधार्य होगा।” करतल ध्वनि के बीच प्रजा ‘साधु-साधु’ चिल्लाई। मुझे लगा, महाराज ने बड़ी चतुराई से भीड़ को अपनी मुट्ठी में कर लिया।

नानाजी बोलते रहे—“मेरा आप सभी यादव सरदारों को बुलाने का एक उद्देश्य और भी है।”

इस समय यहाँ यादवों की कई शाखाओं और उपशाखाओं के लोग उपस्थित हैं। इसी क्रम में उन्होंने यादवों की कई शाखाओं के नाम भी लिये; जैसे—अंधक, वृष्णि, शूर, भोज आदि। अब मुझे मौका मिला। मैंने खड़े होकर कहा, “इतना ही नहीं, महाराज, शर्याति वंश का भी प्रतिनिधित्व करनेवाले लोग यहाँ उपस्थित हैं।”

शर्याति का नाम सुनते ही सारी सभा पर सन्नाटा छा गया। शर्याति का राज्य तो कुशस्थली है। एकदम समुद्र के किनारे। वहाँ से यहाँ कौन आ गया? पूरी सभा ही नहीं, महाराज भी आश्चर्यचकित हो मुझे देखने लगे।

अब भी मैं नहीं खुला—“इसमें चकित होने की कोई बात नहीं है। कुशस्थली के महाराज ककुद्मिन ने अपने जामाता को प्रतिनिधि बनाकर आज की इस विशेष सभा के लिए भेजा है।”

अब रहस्य और भी घना हो गया। महाराज बोले, “दुर्भाग्य है कि उस सौभाग्यशाली से मैं अभी तक परिचित नहीं हो पाया। उस महानुभाव को स्वयं खड़े होकर अपना परिचय देना चाहिए।”

अब मैंने भैया का हाथ पकड़कर उस सभा में खड़ा किया और रेवती से उनके विवाह की सारी कहानी संक्षेप में कह सुनाई। भैया के शौर्य की ऐसी धाक जमी कि सारी सभा सकते में आ गई। मैंने प्रकारांतर से यह भी बता दिया कि ककुद्मिन तो यों ही कुशस्थली की गद्दी की देखभाल कर रहे हैं। सत्ता पर तो अब हमीं लोगों का अधिकार है।

इस घोषणा से हमारे सारे विरोधी एकदम ठंडे पड़ गए। सत्राजित् तो भौंचक्का-सा हमें देखता रह गया। नानाजी

अपने सहयोगियों से हँस-हँसकर कुछ कहते दिखाई दिए। शायद वह यही कह रहे थे कि कन्हैया ने हमें पहले ही सूचित कर दिया था कि मैं सभा में कुछ चमत्कारी घोषणा करूँगा।

अब मेरी दृष्टि हर एक को तौलने में लगी थी। मेरे पिता और चाचा गणों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। उन्हें आश्चर्य था कि इतनी महत्वपूर्ण बात उसने हम लोगों को अब तक क्यों नहीं बताई।...किंतु महाराज के पीछे नारियों की दीर्घा में बैठी कंसा अब भी गंभीर थी। उसकी आकृति पर आह्लाद का एक छींटा भी नहीं पड़ा था।

“देखा रणछोड़ का कमाल!” यह आवाज मेरे पीछे बैठे सात्यकि की थी। वह भद्रक से कह रहा था।

इसके बाद महाराज ने पुनः बोलना आरंभ किया—“इस आनंददायक समाचार के बाद तो मेरा मन करता है कि मैं आप सबको एक विराट् भोज दूँ।”

फिर करतल ध्वनि हुई। लोगों ने ‘साधु-साधु’ की आवाज लगाई।

महाराज ने यह भी बताया कि शीघ्र ही उस सामूहिक भोज की व्यवस्था की जाएगी। यह दिन सचमुच मथुरा के बड़े गौरव का दिन है, जब हमारा कोई सपूत आर्यावर्त के सुदूर पूर्व प्रांत पर अपना झंडा गाड़कर आया है।

इस हर्षातिरेक में डूबी सभा को एक बार फिर झकझोरते हुए नानाजी बोले, “एक ओर हमारे सपूतों के शौर्य की गाथा जहाँ हमारा मस्तक ऊँचा करती है, वहीं दूसरी ओर जब आपके आपसी वैमनस्य तथा आपसी फूट की बातें सुनता हूँ तो मेरा मन बड़ा दुःखी होता है। वह भी एक ऐसे समय में, जब हमें शक्ति की बड़ी आवश्यकता है, जब हमपर किसी भी समय युद्ध के बादल मँडरा सकते हैं।”

उन्होंने जरासंध का नाम लिये बिना कहा, “ऐसी शक्तियाँ चारों ओर से हमें घेरने का प्रयास कर रही हैं, जिनकी युद्धपिपासा शीघ्र शांत होने वाली नहीं है। ऐसे में अब आप ही बताइए, हमें क्या करना चाहिए?”

“आपसी वैमनस्य भूलकर हमें एकजुट होना चाहिए।” यह भीड़ से उभरी पहली आवाज थी।

“हम एकजुट हों, यह तो सही है; पर सिंहासन को अनिश्चय की स्थिति में नहीं रखना चाहिए। महाराज को शीघ्रातिशीघ्र अपने उत्तराधिकारी की घोषणा करनी चाहिए।”

महाराज ने पहले विकट्र की ओर देखा। फिर उनकी दृष्टि आचार्यजी की ओर गई। आचार्यजी ने खड़े होकर कहा, “सूर्य दक्षिणायन हो चुका है। उसके उत्तरायण होने पर ही यह शुभ कार्य संपन्न होना चाहिए।”

“भगवान् करे कि कहीं ऐसा न हो; पर कल्पना कीजिए, यदि महाराज के प्राण-पखेरू अचानक उड़ गए तो क्या मथुरा का सिंहासन सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा में खाली पड़ा रहेगा?” भद्रक बोला।

“शिव-शिव! ऐसी अशुभ कल्पना नहीं करनी चाहिए।” भीड़ से कई आवाजें एक साथ उभरीं और लगा कि भद्रक की यह बात अनेक लोगों को अप्रिय लगी है।

पर महाराज ने पुनः स्थिति सँभाली—“बात आपको अप्रिय लग सकती है, पर भद्रकजी के तर्क में प्राण है। उसकी अवहेलना हम नहीं कर सकते।”

आचार्यजी ने पुनः खड़े होकर अपनी व्यवस्था दी—“भद्रक की आशंका की स्थिति में हमें युवराज बनाना अनिवार्य होगा।...शास्त्रानुसार अनिवार्य कर्म और शुभ कर्म में अंतर है। मृत्यु कोई मुहूर्त देखकर नहीं आती, पर शुभ कर्म के लिए मुहूर्त देखना पड़ता है।”

“आप मुहूर्त देखिए!” अब मेरी बगल में सत्राजित् खड़ा हुआ—“मुहूर्त के अनुसार ही युवराज बनाइए; पर उसके नाम की घोषणा तो हो सकती है, जिसे आप युवराज बनाना चाहते हैं।”

“हाँ-हाँ, नाम की घोषणा तो कर ही सकते हैं आप।” भीड़ चिल्लाई।

महाराज सोच में पड़ गए। तब तक दूसरी आवाज उछाली गई—“बृहद्बल को युवराज बनाने की बात चल रही

थी, उसका क्या हुआ?" यह एक आवाज थी।

"नहीं-नहीं, इस समय स्थिति बृहद्बल को युवराज बनाने की नहीं है। इस समय मथुरा पर संकट आसन्न है। युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं। कृष्ण को युवराज बनाइए।"

"जिससे कि युद्ध की संभावना होते ही मथुरा को अधर में छोड़कर भाग खड़े हों!" यह व्यंग्य भद्रक का था और इसपर कई अधरों से हँसी भी उभरी।

युवराज की घोषणा के संबंध में सभी एक थे; पर कौन युवराज हो, इसपर भीड़ स्पष्ट रूप से बैठी हुई दिखाई दे रही थी। पूरा राजपरिवार और मंत्रिमंडल मेरे पक्ष में था। जनता में भी मेरे पक्षधर कम नहीं थे। मैंने देखा कि विकट्रु मेरे नाम की तुरंत घोषणा करने के लिए दबाव भी डाल रहा था।

एक समय तो ऐसा भी आया, जब बृहद्बल घबरा गया और सभा से उठकर जाने भी लगा। उसकी देखा-देखी सत्राजित् और भद्रक भी उठे। मैंने सबको पुनः बैठाया और बड़ी आत्मीयता से बोला, "जब आप ही लोग चले जाएँगे तो रहेगा कौन?"

इसी बीच महाराज ने कहा, "सभा की धारणा तो स्पष्ट हो गई। अब मैं कन्हैया से ही पूछना चाहता हूँ कि इस संबंध में वे क्या सोचते हैं?"

"मैंने अपनी राय अनेक अवसरों पर व्यक्त की है।" मैंने खड़े होकर जरा ऊँची आवाज में कहना शुरू किया। सभी लोग एकदम शांत हो गए। "कई बार मेरे सामने युवराज बनने का प्रस्ताव आया है और मैंने हर बार अनिच्छा व्यक्त की है। मैं नहीं चाहता कि लोगों को मेरे संबंध में यह कहने का मौका मिले कि मैंने मामा की हत्या राज्य पाने के लिए की थी।" मेरे इतना कहते ही मेरे विरोधियों की बड़े जोर की तालियाँ बजीं। भद्रक तो मुझे देखता रह गया।

मैं बोलता जा रहा था—"मेरा उद्देश्य तो धर्म की स्थापना करना है, राज्य जीतना या राज्य लेना नहीं। यदि मैं चाहता तो गोमांतक की सत्ता स्वीकार करता, करवीरपुर के सिंहासन पर आसीन होता; पर हमारा आदर्श तो राम का आदर्श है। लंका जीतकर भी लंका का सिंहासन स्वयं स्वीकार नहीं किया।...इस दृष्टि से मथुरा का शासन भी मेरे लिए स्वीकार करना उचित नहीं है। इससे आप यह कदापि मत सोचिएगा कि मथुरा के प्रति मेरी आत्मीयता में कोई कमी है। मथुरा मेरी है और मैं मथुरा का हूँ।" इतना कहकर मैं बैठ गया।

तुमुल कोलाहल और करतल ध्वनि से आकाश गूँज उठा। लोगों ने मेरी निस्पृहता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। सत्राजित् के मुख से भी निकला—"तुम्हारे प्रति तो मेरी धारणा ही बदल गई।"

मैंने लोगों के इस सम्मानभाव को मुसकराते हुए स्वीकार किया।

"फिर आप ही बताइए, ऐसी स्थिति में क्या किया जाए?" महाराज ने मुझे संबोधित करते हुए पुनः कहा।

"स्थिति तो स्पष्ट है। यदि यादव सरदारों को एकजुट रखना है, तब उनकी भी आवाज सुननी पड़ेगी। उनकी राय है कि आप युवराज का अभिषेक चाहे जब करें, पर युवराज की घोषणा तो इसी सभा में होनी चाहिए।" मैं बोलता गया—"और इसके लिए भाई बृहद्बल का नाम भी आया है। दूसरा और कोई नाम सामने है नहीं। मेरे विचार से तो उन्हींको युवराज घोषित करना चाहिए।" मेरे विरोधी तो अब बाँसों उछलने लगे। मेरी दृष्टि नारी दीर्घा की ओर भी गई। कंसा हर्षातिरेक में एकदम खड़ी होकर ताली बजाए जा रही थी। पर देवभाग काफी गंभीर दिखे। वे मेरे पिताश्री के कान में कुछ कह रहे थे।

जब कोलाहल कुछ थमा तब मैंने बृहद्बल की प्रशंसा आरंभ की। मेरी प्रशंसा वह राजनीतिक डोर थी, जिससे मैं उसे अच्छी तरह बाँध देना चाहता था।

मैंने कहा, “बृहद्बल के युवराज होने से हमारी एकता को बल मिलेगा। सत्राजित्, भद्रक और सात्यकि जैसे महारथी मथुरा की मर्यादा के लिए अपने प्राण न्योछावर करने के लिए सदा तैयार रहेंगे। स्वयं मैं बृहद्बल के शौर्य से प्रभावित हूँ। जैसा नाम है वैसा ही उनका गुण है। उन्होंने धर्मयुद्ध में मेरा साथ देने का भी वचन दिया है।”

इस प्रकार मैंने वह जड़ ही काट दी, जहाँ से मेरा विरोध पनपने वाला था। फिर भी मैं बोलता रहा—“आज स्थिति भयंकर है। एक ओर मथुरा का क्षितिज रक्ताभ हो रहा है, दूसरी ओर हम हर तरह से अपमानित किए जा रहे हैं। हमने सुना है कि विदर्भराज भीष्मक अपनी बेटी का स्वयंवर करने जा रहे हैं और हमें निमंत्रण तक न भेजने का षड्यंत्र रचा गया है।...मथुरा इस योग्य भी नहीं समझी गई कि उनके स्वयंवर में वह अपना प्रतिनिधि भी भेज सके। इससे बड़ा हमारा अपमान और क्या हो सकता है?”

“हमें इसका प्रतिकार करना चाहिए।” एक समवेत स्वर उद्घोष बन गया।

“अवश्य प्रतिकार करना चाहिए; पर इसके प्रतिकार के लिए आप सबको बृहद्बल का हाथ मजबूत करना चाहिए।” इतना कहकर जब मैं बैठा तो हर कंठ में मेरे लिए अभिनंदन स्वर था। हर ओर से मेरी जय-जयकार हुई और ऐसे गले मिलती भीड़ लौटी जैसे कहीं कोई विरोध ही न हो।

सभा विसर्जन के बाद सबसे पहले भद्रक मुझे गले मिला। उसने अपने किए पर क्षमा माँगी और बड़ी विनम्रता से बोला, “मैं आपको गलत समझ रहा था।”

पर मैं मुसकराता रहा और मन-ही-मन कहता रहा कि तुमने न कभी मुझे समझा है और न आज समझ रहे हो।

भीड़ धीरे-धीरे चली गई। मैं चुपचाप अंतःपुर की ओर चला। मुझे देखना था कि मेरी मामियों की प्रतिक्रिया क्या है?

देखते ही अस्ति मामी ने मुझे अपने वक्ष से लगा लिया। जीवन में पहली बार मुझे उनकी धड़कन सुनने का अवसर मिला।

उस पूरे महिला समुदाय में यदि कोई सबसे प्रसन्न थी तो वह कंसा मौसी थी और यदि कोई सबसे दुःखी थी तो वह परिचारिका माया थी। उसने कुछ और तो नहीं कहा, पर मुझे थोड़ा किनारे ले जाकर बोली, “नाम तो माया मेरा है, पर मैं तेरी माया समझ नहीं पाई।”

मैं मुसकराते हुए बाहर निकला। मैंने देखा, आचार्य सांदीपनि चिंतन मुद्रा में टहल रहे हैं। हो सकता है, वे मेरी प्रतीक्षा कर रहे हों। एकमात्र वे ही व्यक्ति ऐसे थे, जो पूरी सभा में शांत बैठे रहे। न कभी उनके चेहरे पर उल्लास उभरा और न विषाद की रेखा दिखाई दी।

जब मैंने उनके चरण छुए, उन्होंने तत्क्षण मुझे अपने वक्ष से लगाते हुए बधाई दी—“तुमने भयंकर ज्वालामुखी को अपनी योग्यता की हरीतिमा से ढक दिया। संप्रति विस्फोट टला, आगे देखा जाएगा।”

उन्हींकी बातों से पता चला कि यह सत्राजित् और भद्रक हमारी रथ स्पर्धा का विरोध करने वाले थे।

“अब तो नहीं करना चाहिए।”

“करना तो नहीं चाहिए; पर सत्राजित् का कोई ठिकाना नहीं।” आचार्यजी बोले और मेरे ही साथ चले। उन्होंने अपना राजकीय रथ छोड़ दिया और मेरे ही रथ पर आ गए। मैं उन्हें आश्रम तक छोड़ने आया।

“यह तो तुम जानते हो, कृष्ण, कि आश्रम राज्य का एक ऐसा परोक्ष दर्पण है, जिसमें राज्य की प्रत्यक्ष एवं प्रच्छन्न गतिविधियों का बिंब पड़ता रहता है।”

मैंने इस तथ्य को स्वीकार किया और हँसते हुए कहा, “इसीलिए आश्रम कभी-कभी राज्य की कूटनीति के गोपनीय स्थल भी हो जाते हैं।”

आचार्यजी हँसे—“तुम्हारा कथन आधुनिक संदर्भ में भी आंशिक रूप से ही सत्य है। क्योंकि यह बहुत कुछ आचार्य और उसकी नियति पर निर्भर करता है।”

मेरा रथ आगे बढ़ता चला जा रहा था। अब आश्रम का द्वार मेरी दृष्टि सीमा में आ गया था। मैंने देखा, वाममार्ग से आकर एक रथ आश्रम में प्रवेश कर रहा है। मैंने आचार्यजी को भी दिखाया।

“लगता है, बृहद्बल और सत्राजित् भीतर गए हैं।” वे बोले और उन्होंने रथ रुकवा दिया।

इसके बाद आचार्यजी मेरे रथ से उतर गए और मुझे चुपचाप लौट जाने का निर्देश देते हुए बोले, “आजकल सत्राजित् की शक्ति काफी बढ़ गई है।”

“शक्ति नहीं, संपत्ति कहिए, अत्र भवान्!”

“अरे, जो कहो, पर आजकल संपत्ति ही शक्ति का मूलाधार है।”

“शक्ति का मूलाधार तो सदा से विवेक और बुद्धि रही है और रहेगी।” मैंने कहा। आचार्य का मन मेरी बात स्वीकारने में लगा ही था कि मैंने उन्हें दूसरी सूचना दी—“फिर सुना है, आजकल सत्राजित् की संपत्ति का मूलोत भी गायब हो गई है।”

“तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आई।” आचार्य बोले। हमने खड़े-खड़े ही स्यमंतक मणि की चर्चा की और बताया कि “उसने उससे अकूत धन प्राप्त किया था। पर अब पता चला है कि वह कहीं लुप्त हो गई है।”

“लुप्त हो गई!” आचार्यजी ने आश्चर्य व्यक्त किया—“आखिर ऐसी बहुमूल्य वस्तु उसने बड़े यत्न से रखी होगी। फिर लुप्त कहाँ हो गई?”

“उसकी शंका तो मुझपर ही है।” मैंने हँसते हुए बताया—“उसका कहना है कि मैं स्यमंतक मणि का चोर हूँ।”

आचार्यजी ने गंभीर ठहाका लगाया—“तभी वह तुम्हें अपना सबसे बड़ा शत्रु समझता है।...चलो, तुम भी पक्के चोर ही निकले। गोकुल की गोपियों के लिए माखनचोर और सत्राजित् के लिए मणिचोर।”

□

अनेक प्रयत्न करने पर भी शैव्या का मेरे प्रति विद्वेष कम नहीं हुआ। एक तो स्वभाव से तीक्ष्ण, दूसरे कंसा का साथ। करेला चढ़ा नीम पर। उसके विद्वेष की अग्नि पर कंसा की घृत आहुति। वह भभकती गई, भभकती गई।

मेरे प्रति उसका घृणाभाव बढ़ता गया। अपने भाई की मृत्यु के बाद उसका असामान्य होना स्वाभाविक था। सोचा था कि मथुरा चलेगी तो सामान्य हो जाएगी। मुझे लगता था कि शैव्या की सारी परेशानी उसकी ‘क्षणिक रुष्टा क्षणिक तुष्टा’ प्रवृत्ति के कारण है; क्योंकि मैंने देखा था कि कभी वह मुझपर भयंकर क्रोध उगलती थी और स्वयं पश्चात्ताप भी करती थी। उसकी घृणा के घने मेघों के बीच आत्मीयता की तड़ित रेखाएँ भी दिखाई देती थीं। मुझे क्या पता था कि यहाँ आकर भी मेरी मौसी कंसा यहाँ मिल जाएगी और मेरे अच्छे-से-अच्छे कार्य के पीछे भी उसे षड्यंत्र की गंध आएगी।

यद्यपि बृहद्बल को युवराज बनाने के लिए मौसी ने मुझे बधाई दी थी। मेरी पीठ ठोंकी थी; पर रात भर में ही स्थिति बदल गई।

दूसरे दिन ही प्रातःकाल जब मैं टहलते हुए घर पहुँचा तो वहाँ मुझे सबसे पहले शैव्या ही मिली। वह देखते ही बोली, “तुमने चल दी न कल एक चाल!”

“क्या?”

“बृहद्बल को आग में झोंक दिया न!”

मैं समझ तो गया, क्योंकि बृहद्बल को युवराज बनाने के मूल में मेरी गहरी कूटनीति थी, फिर भी मैं अनभिज्ञ-सा बोला, “बहन, हमारी समझ में तुम्हारी बात नहीं आई।”

“देख, सबकुछ जानकर भी अनजान मत बन।” शैव्या बोली। उसकी आवाज इतनी रुक्ष और तेज थी कि उसे सुनकर कंसा भी आ गई। वह भी कुछ कहना चाहती थी। उसके कहने के पहले ही मेरे चेहरे पर वह रहस्यमय मुसकराहट उग आई, जिसमें लोगों को अलौकिकता दिखाई देती थी।

मैंने उसी मुसकराहट के बीच कहा, “किसी वस्तु को देखने और समझने का हर व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण होता है, बहन! उसपर मेरा कोई नियंत्रण नहीं। मैं तो यह अनुभव करता हूँ कि जो मुझे जिस रूप में देखता है, मैं उसे उसी रूप में दिखाई देता हूँ।” फिर मैं हँसने लगा और बड़ी देर तक मायावी हँसी हँसता रहा।

जब मैं चलने को हुआ तब तक उद्धव की आवाज सुनाई पड़ी—“रुकिए, रुकिए, मैं भी चलता हूँ।” इतना कहते हुए उसने झट से अपनी माँ के पैर छुए और उसके आशीर्वाद की प्रतीक्षा किए बिना ही मेरे रथ की ओर लपका।

मेरा रथ चल पड़ा था। उद्धव ने कहा, “लगता है, शैव्या ने आपका अपमान किया?”

“उसकी मानसिकता अपमान और सम्मान करने की स्थिति में ही नहीं थी।” मैंने कहा।

“क्यों?”

“क्योंकि वह विक्षिप्त है। कुंठा के आवेग में जीती है। तुमने देखा नहीं, उद्धव! करवीरपुर से लेकर यहाँ तक उसने कितनी बार मेरा अपमान किया और कितनी बार मेरा सम्मान?”

“फिर भी तो आप उसे ले आए।”

“ले न आता तो क्या करता!” मैंने कहा, “वहाँ उसकी विक्षिप्तता पद्मावती को चबा जाती और एक विक्षिप्त नागिन की तरह असंतोष की शिला पर अपना सिर पटक-पटककर स्वयं मर जाती।”

उद्धव की जिज्ञासा बढ़ती गई—“उसका असंतोष कैसा?”

“तुमने दमित वासना का कभी असंतोष देखा नहीं है, उद्धव! वह जिसे अपना हृदय दे चुकी थी और जो उसका होने के लिए सदैव लालायित था, उसे कभी अपने वक्ष से लगा न सकी। एक झूठे अहं की प्राचीर अपने चारों ओर खड़ी करके स्वयं को उसमें बंदी बना रखा। इस स्थिति ने ही उसे इतना असामान्य बना दिया है।”

“पर कभी-कभी बातें बड़े सामान्य ढंग से करती है।”

“वह तो करेगी ही। हर पागल अनेक संदर्भों में बड़ी समझदारी की बात करता है।”

“अभी कल रात माँ से कह रही थी कि ‘तू समझती है कि बृहद्बल को युवराज पद दिलाकर कृष्ण ने तेरे प्रति एहसान किया है। यदि ऐसा है तो तू भूल में है। वस्तुतः उसने तेरे पुत्र को राजनीति के ऐसे गर्त में डाल दिया है, जहाँ से उसका निकलना कठिन है।’ ”

उद्धव के कथनानुसार, उसने माँ को समझाया कि कहीं सचमुच रुक्मिणी के स्वयंवर का निमंत्रण मथुरा नहीं आया तो इस अपमान का बदला लेने की सारी जिम्मेदारी बृहद्बल की होगी।

“‘निमंत्रण यदि नहीं आएगा तो वह नहीं जाएगा।’ माँ ने कहा।

“‘अरे वाह रे, नहीं जाएगा! उसे जाना पड़ेगा और रुक्मिणी को हरकर लाना पड़ेगा।’ शैव्या बोली।”

“तब मौसी ने क्या कहा?” मैंने उद्धव से पूछा।

“वह कुछ नहीं बोली वरन् सोच में पड़ गई।” उद्धव ने बताया—“तब शैव्या ने पुनः कहा, ‘इससे यह मत समझ लेना कि यदि रुक्मिणी को तुम्हारा लड़का हर कर लाएगा तो वह उससे विवाह ही कर लेगी। क्योंकि रुक्मिणी कृष्ण को अपना हृदय दे चुकी है। वह उसके अतिरिक्त किसीको भी अपना पति वरण नहीं करेगी।’

“‘जब रुक्मिणी ने कृष्ण को पहले से ही वरण कर लिया है तब यह स्वयंवर क्यों?’ माँ ने पूछा।

“ ‘एक नाटक है।’ शैव्या बोली, ‘रुक्मिणी की दृष्टि से भी और रुक्मी की दृष्टि से भी।...रुक्मी नाटक रच रहा है अपनी बहन को शिशुपाल के खूँटे से बाँध देने के लिए और रुक्मिणी इसे नाटक इसलिए समझती है कि वह पहले से ही कृष्ण से बँध चुकी है।’

“ ‘क्या यह सारी बातें बृहद्बल जानता है?’ माँ ने बड़ी व्यग्रता से पूछा।

“ ‘यदि नहीं जानता तो उसे जानना चाहिए।’ शैव्या ने बड़े व्यंग्य से कहा, ‘क्योंकि उसे ही रुक्मिणी को हरना पड़ेगा और लाकर सादर कृष्ण को समर्पित करना पड़ेगा।’

“ ‘यदि वह ऐसा नहीं कर सका तो?’

“ ‘वह अपने मुख में कालिख पोतकर मथुरा में घूमेगा।’ शैव्या बोली।”

उद्धव ने बताया कि “इस संदर्भ में माँ और शैव्या की लंबी बातें हुईं। शैव्या ने उसे राजनीति का दूसरा पक्ष भी समझाया—‘यह तो जग-जाहिर है कि शिशुपाल से रुक्मिणी के विवाह की योजना जरासंध ने बनाई है। स्वयंवर का नाटक भी उसीकी देखरेख में रचा जा रहा है। इधर जरासंध ही बृहद्बल का सबसे बड़ा समर्थक है। अब देख, कृष्ण कितना धूर्त कूटनीतिज्ञ है कि एक ओर तुम्हारे बेटे से रुक्मिणी का हरण करवाएगा और दूसरी ओर जरासंध को विरोधी बनाकर बृहद्बल की शक्ति ही जड़ से काट देगा।...क्या मिलेगा युवराज होने से तेरे बेटे को?’ ”

उद्धव ने बताया—“माँ बहुत ही गंभीर हो गई। पर उसने मुझे कुछ कहा नहीं। मैंने उससे उसके चिंतित होने का कारण पूछा भी, तो वह एकदम भड़क उठी और बोली, ‘यदि तू ही किसी काम का होता तो रोना क्या था! तुझसे कुछ कहना तो कुएँ में पानी डालना है।’ ”

उद्धव के अनुसार, “जब बृहद्बल आया तो माँ उसे सीधे शैव्या के कक्ष में ले गई और द्वार बंद कर तीनों बड़ी देर तक मंत्रणा करते रहे।”

□

मैं घर पर ही था। माँ मेरी बाल प्रतिमा की आराधना में तन्मय थी कि अचानक बृहद्बल आ गया। घबराया हुआ, व्यग्र-सा। मैंने उसका ससम्मान स्वागत किया। मेरे माता-पिता और चाचाजी को नितांत औपचारिक ढंग से प्रणाम करता हुआ वह मुझे उद्यान की ओर खींच ले गया। मुझे उसकी मनःस्थिति का अनुमान तो लग ही गया था। वह कुछ कहे, इसके पहले ही मैंने कहा, “आपके युवराज पद की सार्वजनिक मान्यता तो प्राप्त हो गई है। उसका औपचारिक संस्कार विधिपूर्वक करने की योजना शीघ्र बनवाई जाएगी।”

उसने मेरी बात को एकदम अनसुनी करते हुए कहा, “अभी तक तो कुंडिनपुर से स्वयंवर का निमंत्रण नहीं आया है।...और यदि अंत तक निमंत्रण न आए तो?”

“तो यह मथुरा का और विशेष रूप से आप जैसे योग्य तथा अविवाहित युवराज का अपमान है। इसके लिए आपको सक्रिय होना होगा।” मैंने बड़ी गंभीरता से कहा।

“क्या करना पड़ेगा?”

“कुंडिनपुर जाकर रुक्मिणी का हरण।”

“अनिमंत्रित होने पर भी स्वयंवर में उपस्थित होना और इस तरह का कार्य करना क्या धर्म-विरुद्ध नहीं है?”

“बिल्कुल नहीं। धर्म-विरुद्ध तो ऐसी स्थिति में चुपचाप बैठ जाना है।”

“मेरे विचार से तो चुपचाप बैठ जाना ही धर्म की रक्षा करना है।” बृहद्बल बोला और तर्क दिया—“हम अपने को और मथुरा को क्यों इस झंझट में डालें?... झंझट और विपत्ति से बचने के लिए तुम तो मथुरा छोड़कर चले गए थे। मैं भी इस प्रसंग को छोड़ दूँ तो क्या आपत्ति है?”

“आपत्ति है और गहरी आपत्ति है। मेरे चले जाने से मथुरा के सम्मान पर आँच नहीं आई थी। जो लोग कुछ कहते

थे, मुझे ही कहते थे।...अब यह प्रश्न तो मथुरा के सम्मान का है। यादवों की उस महती सभा के सम्मान का है, जिसमें इस बिंदु पर विचार हुआ था और आपको युवराज घोषित किया गया था।” मैंने कहा और वह चुप होकर मेरा मुँह देखता और सोचता रह गया।

फिर वह गंभीर चिंतन में डूब गया। वह उसी मुद्रा में बोला, “यह कहाँ का न्याय है कि स्वयंवर में से किसी नारी का हरण किया जाए?”

“और यह कहाँ का न्याय है कि स्वयंवर का नाटक रचकर किसी नारी को उसके अनचाहे के गले में बाँध दिया जाए?...याद रखिएगा, यह नारी का हरण नहीं है वरन् उसे अनिच्छित पाश से मुक्ति दिलाने का प्रश्न है।” मैंने कहा और समझाया—“अपराध तो तब होगा जब आप उस नारी को हरकर उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे अपना बनाना चाहेंगे।”

“इसका तात्पर्य है कि रुक्मिणी को हरने के बाद मैं उससे विवाह नहीं कर सकता?”

“आप अवश्य कर सकते हैं, यदि वह आपको चाहे तो।”

मेरे इतना कहते ही बृहद्बल गंभीर सोच में डूब गया। अब उसकी दृष्टि धरती की ओर थी। अपने पैर के अँगूठे से वह कुछ देर तक भू कुरेदता रहा; जैसे उसके भीतर कोई विचार-मंथन चल रहा हो। फिर वह चुपचाप वहाँ से चला गया।

अचानक दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में ही नानाजी का बुलावा आया। आज मध्याह्न के बाद रथ स्पर्धा आयोजित थी। पिछले कई दिनों से तैयारी हो रही थी। मथुरा से बारह योजन तक की यह रथ स्पर्धा निश्चित रूप से बड़ी आकर्षक होगी। मैंने सोचा, हो न हो, इसीलिए महाराज ने बुलाया हो।

मैं यथाशीघ्र राजप्रासाद में पहुँचा। मार्ग में ही माया मिल गई। उसने दौड़कर मुझे घेरा।

“आपने कुछ सुना?” वह बोली।

“क्या?”

“कल मध्य रात्रि के बाद अचानक बृहद्बल आया था और सीधे महाराज से मिलने जा रहा था। मैंने उसे रोका और कहा कि महाराज को जगाने का यह उचित समय नहीं है, तो वह एकदम भड़क उठा बोला, ‘जिसे देखो वही मुझे रोक रहा है। लगता है, यहाँ मेरा कोई अधिकार ही नहीं है।’ फिर वह अत्यंत विक्षिप्तों-सा बोला, ‘जानती हो, मैं युवराज हूँ!’ ”

“तब तुमने क्या कहा?” मैंने पूछा।

“कहती क्या, चुपचाप खड़ी रही। भय था कि कहीं मैरेय के नशे में न हो। कहीं दो-चार हाथ जड़ देगा तो क्या करूँगी!”

मुझे हँसी आ गई—“इसका मतलब है कि तू युवराज से डर गई।” मैंने कहा, “तुझे डरना ही चाहिए, वह तुझे राजकीय चाकरी से अलग कर सकता है।”

“मुझे चाकरी की चिंता नहीं है। चिंता तो है मथुरा की, महाराज की। ऐसा युवराज पता नहीं किस समय क्या कर डाले!...अब तो मैं स्वयं प्रासाद की सेवा से मुक्त हो जाना चाहूँगी।”

“मुक्त होकर क्या करेगी?”

“तीर्थयात्रा पर चली जाऊँगी।”

“अच्छा जा, इस समय आराम कर, फिर तीर्थयात्रा पर जाने की सोचना।” मैंने हँसते हुए कहा और महाराज के कक्ष में आगे बढ़ गया।

महाराज मुझे देखते ही बड़े आश्चर्य से बोल पड़े—“तुमने सुना? आधी रात को बृहद्बल आया था।”

“हाँ, मुझे माया ने बताया है।”

“तब तो उसने यह भी बताया होगा कि क्यों आया था?”

“यह तो उसने नहीं बताया। शायद उसे मालूम भी नहीं है।”

“तो वह आया था यह कहने कि मैं युवराज बनना नहीं चाहता।...मैं चकित रह गया। मैंने कहा, ‘युवराज पद के लिए तो तुमने और तुम्हारी माँ ने जमीन-आसमान एक कर दिया था। अब भरी सभा में इसकी घोषणा हो गई तो तुम कहते हो कि मैं होना नहीं चाहता।’

“‘वह परिस्थिति और थी, जब मैं युवराज होना चाहता था।’

“‘तब अब कौन सी परिस्थिति बदल गई है?’ मैंने पूछा। इसपर वह एकदम चुप हो गया। बहुत घबराया हुआ दिखाई दे रहा था। उसके मस्तक पर प्रस्वेद चुभचुभा आए थे। मैंने फिर पूछा, ‘कोई विशेष बात हो तो बताओ, मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ?’

“‘मेरी असली सहायता यही हो सकती है कि आप मुझे युवराज पद से मुक्त कीजिए। वह मुझे दुःस्वप्न की तरह भयावह दिख रहा है।’”

महाराज ने बताया कि “मेरे मुँह से निकला—‘जब तक ऊँट पहाड़ पर नहीं चढ़ता तब तक वह बहुत बलबलाता है।’

“बस इतना सुनना था कि वह क्रोध से काँपने लगा। बोला, ‘आप चाहे जो समझें। आप यदि मुझे मुक्त नहीं करते तो मैं स्वयं इस पद से मुक्त होता हूँ। आप चाहें तो कृष्ण को ही युवराज बना दें।’

“इतना कहकर वह जाने लगा। मैंने उसे रोका।” महाराज बोलते रहे—“मेरी आत्मीयता ने उसके क्रोध को सहलाया, उसे बैठाया। मैंने जल पिलवाया और उसे शांत करते हुए बोला, ‘तुम्हारे युवराज पद की घोषणा यादव सरदारों की महासभा में हुई थी। बड़े विचार-विमर्श के बाद यह उस सभा का निर्णय था।...अब मैं तुम्हें युवराज पद से हटाकर यदि कृष्ण को युवराज बनाता हूँ तो सारे यादव सरदार नाराज हो जाएँगे और कहेंगे कि आखिर किया महाराज ने अपने मन का ही। सभा बुलाने और विचार-विमर्श करने का इतना बड़ा नाटक करने की क्या आवश्यकता थी!...और फिर तुम्हारे मित्रगण—सत्राजित् आदि—भी नाराज होंगे।’

“‘वे नहीं नाराज होंगे।’

“‘तो तुमने उनसे राय ले ली है?’ मैंने पूछा। इसपर उसने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।”

महाराज कह रहे थे—“मैंने बार-बार पूछा कि ‘आखिर इन दो दिनों में क्या हो गया?’ पर वह कुछ नहीं बोला। बार-बार पूछने पर उसने बस इतना कहा, ‘मैं बुरी तरह फँसा दिया गया।’

“‘पर मैं उन यादव सरदारों को क्या उत्तर दूँगा?’ बोला, ‘और फिर तुम्हारा भी ठिकाना नहीं। तुम्हारी भी मनःस्थिति पता नहीं कब फिर बदल जाए।...इसके लिए अब एक ही उपाय है कि तुम जो कुछ कह रहे हो, उसे लिखकर दो। मैं आज मध्याह्न हो रही रथ स्पर्धा में सबके सामने पढ़कर सुना दूँगा।...मैं तो अपने दोष-पाप से मुक्त रहूँगा।’”

“तब क्या किया उसने?” मैंने पूछा।

“करता क्या, उसने लिखकर दिया।”

और नानाजी ने वह कागज निकालकर मुझे थमा दिया।

मैं उसे मुसकराते हुए चुपचाप पढ़ने लगा। फिर नानाजी से बोला, “रथ स्पर्धा के समय इसकी घोषणा की क्या

आवश्यकता है? ”

“तब लोग वस्तुस्थिति जानेंगे कैसे? ”

“आप क्या समझते हैं कि राजप्रासाद में जो घटता है, उसे जनता नहीं जानती? ” इसके बाद मुझे हँसी आ गई और मैं मन-ही-मन हँसता रहा।



आठ

प्रासाद से निकलते ही मेरी भेंट छंदक से हो गई। मुझे लगा, कुआँ प्यासे के पास स्वयं चला आया। मैंने बृहद्बल का सारा संदर्भ उसे बता दिया। वह बड़ा प्रसन्न हुआ और केवल इतना ही बोला, “यही होना ही था।”

फिर तो छंदक का व्यक्तित्व गंधमय धूम की तरह हवा के एक झोंके के साथ उड़ चला और देखते-देखते सारे मथुरा पर छा गया।

अब मथुरा की हर जबान पर बृहद्बल की असमर्थता की चर्चा थी। कोई कहता, ‘वह क्या युवराज पद सँभालेगा! उसमें इतनी योग्यता ही नहीं है।’ कोई कहता, ‘वह कायर है, कायर। जरा सी विपरीत परिस्थितियाँ दिखाई दीं, भाग खड़ा हुआ।’

कोई कहता, ‘युवराज पद दाल-भात का कौर तो है नहीं, जो उठाया और मुँह में डाल लिया। अरे, उस पद की मर्यादा की रक्षा के लिए लोहे के चने चबाने पड़ते हैं। इतना साहस उसमें कहाँ!’

‘नाम तो उसका बृहद्बल है!’ किसीने व्यंग्य किया।

‘केवल नाम का बृहद्बल है, काम का तो बिल्कुल निर्बल है।’ दूसरा बोला।

‘तब कंसा उसके लिए इतनी प्रयत्नशील क्यों थी?’

‘यह तो वही जाने।’ कोई बोला, ‘अरे, माँ है। माँ की सहज ममता अपने बच्चे की अयोग्यता देख नहीं पाती।’

इस प्रकार जितने मुँह उतनी चर्चाएँ। सारे मथुरा में बृहद्बल की थू-थू हो रही थी। उद्धव ने जब सुना तभी वह मुझसे मिलने चल पड़ा। उसे स्वयं आश्चर्य था कि यह क्या हो गया।

“तुमने अपने भाई और माँ से नहीं पूछा?” मैंने कहा।

“दोनों मुझे मिले ही नहीं।”

“क्या आवास पर नहीं हैं?”

“नहीं, हैं तो; पर सवेरे सत्राजित् आया था। उससे बड़ी गरमागरम बातें हो रही थीं। उसके चले जाने के बाद माँ-बेटे ने एक ही कक्ष में जाकर भीतर से बंद कर लिया और परिचर से कहला दिया कि यदि कोई आए तो कह देना कि अस्वस्थ हैं। विश्राम कर रहे हैं। आज किसीसे मिलेंगे नहीं।”

“क्या शैव्या से भी नहीं?”

“अरे, वह भी नहीं दिखाई पड़ी। हो सकता है, आपके घर आई हो।” उद्धव बोला।

शैव्या का नाम आते ही उद्धव की आँखों में एक विशेष प्रकार का रंग उतरने लगता है। उसे मुझसे बहुत छिपाने की चेष्टा में वह आँखें नीची कर लेता है; पर मैं उन्हीं नीची आँखों से उसके मन तक प्रवेश कर जाता हूँ।

“आजकल तुमसे शैव्या की बातें होती हैं या नहीं?”

“कभी-कभी होती हैं।” उद्धव ने सलज्ज वाणी में कहा, “पर वह बड़े उखड़े-उखड़े ढंग से बोलती है। लगता है, वह मुझसे घृणा करती है।”

“वह बड़ी विचित्र नारी है। यदि वह तुमसे घृणा करती होती तो तुमसे बोलती नहीं।”

“फिर इतना रूखा व्यवहार क्यों करती है?”

“क्योंकि वह मुझसे घृणा करती है।...और वही घृणा तुमपर आरोपित हो जाती है; क्योंकि तुम मेरे मित्र हो।” मैंने कहा।

फिर कुछ सोचकर वह बोला, “मैं सोच नहीं पाता कि वह आपसे इतनी घृणा क्यों करती है; जबकि आपने पूरी आत्मीयता उसपर उड़ेल दी है।”

“मेरी आत्मीयता ने, लगता है, उसके गहरे पैठी घृणा का स्पर्श तक नहीं किया है।” मेरी मुद्रा चिंतनप्रधान हो गई।

“तब उसकी घृणा कैसे दूर होगी?”

“जब तक वह अपना प्रतिशोध नहीं ले लेती। जब तक वह अपने भाई की प्रतिहिंसा में मेरी हत्या नहीं कर देती।”

इतना सुनना था कि उद्धव एकदम चौंक उठा। उसे लगा जैसे कोई देखा हुआ दुःस्वप्न उसे याद हो आया। उसके उद्वेलित मन का आंदोलन झलककर उसके मुख से मात्र इतना आया—“तभी वह...” और इसके आगे वह कुछ कह नहीं पाया।

मैंने कहा, “बोलो-बोलो, क्या कह रहे थे?”

फिर भी वह चुप था। बहुत पूछने पर ही उसने बताया—“वह कई बार आपकी हत्या की योजना बनाती रही है।”

“यह तुम्हें कैसे मालूम?”

“माँ से एक बार कह रही थी कि देखना, मैं उसे एक-न-एक दिन समाप्त करके ही रहूँगी। तब न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।”

“बाँसुरी तो बजती रहेगी, उद्धव।” मैं मुसकराया—“चाहे बाँस रहे या न रहे। बाँस बाँसुरी की अस्मिता नहीं है, वह तो केवल आधार है।...आधार के न रहने पर भी अस्मिता रहेगी। शरीर के न रहने पर भी आत्मा तो रहती ही है।”

ऐसे संदर्भों में दार्शनिकों की तरह सोचने लगना मेरी प्रकृति हो गई थी। ज्यों ही मुझे इसका भान हुआ, मेरा चिंतन धरातल पर आया। मैंने एकदम बात बदली—“लेकिन इसके पहले तुमने मुझे इसका संकेत भी नहीं दिया।...पर तुम दे भी कैसे सकते थे; मैं तुम्हारे हृदय की दुर्बलता जानता हूँ।”

उद्धव एकदम झेंप गया।

फिर मेरी नाटकीयता ने परदा बदला—“तुम मेरे मित्र हो। हमारा-तुम्हारा हृदय एक है। तब भला मैं तुम्हारे हृदय के भाव का अनुभव न कर सकूँ, यह कैसे हो सकता है?”

“लेकिन शैव्या से सावधान रहने की आवश्यकता है।” उद्धव थोड़ा प्रकृतिस्थ हुआ—“आखिर उसका उपचार तो करना ही होगा।”

“उसका एक उपचार यह हो सकता है कि उसकी घृणा को खेलने के लिए एक सुंदर खिलौना दे दिया जाए। एक ऐसा खिलौना, जिसे वह चाहती है।” उद्धव ने शायद मुझे नहीं समझा। मैंने बताया, “आज रथों की स्पर्धा में कुंडिनपुर के रथों का नेतृत्व करते हुए श्वेतकेतु आएगा। मैं चाहूँगा कि शैव्या और श्वेतकेतु का एक एकांत मिलन हो जाए।”

हम लोगों की बातें हो ही रही थीं कि छंदक अनाहूत विपत्ति की तरह आ धमका—“मुझे लगता है कि आज की रथ स्पर्धा कदाचित् सफल नहीं होगी।”

“क्यों?”

“सारी मथुरा और आसपास के राज्य भी बृहद्बल के संदर्भ में ही उलझे हैं।...सभी लोग उसकी आलोचना कर रहे हैं।”

“पर इस स्थिति से और रथ स्पर्धा से क्या संबंध?” मैंने पूछा।

“बृहद्बल के लोगों की निराशा तटस्थता में बदल चुकी है। भद्रक यह कहता हुआ अपनी सेना और रथों को लेकर चला गया कि जिस नीच का हमने साथ दिया, जब वही इतना कायर निकला तब अब हमें मथुरा से क्या लेना-देना

है।”

“तुमने उसे रोका नहीं?” मैंने पूछा।

“केवल रोका ही नहीं वरन् समझाया भी कि मथुरा का तात्पर्य केवल बृहद्बल नहीं है, हम लोग भी हैं। आप इस तरह हमें अधर में छोड़कर मत जाइए। आप कन्हैया का साथ दीजिए।”

“तब उसने क्या कहा?”

“कहा तो कुछ नहीं, पर लगा कि वह भीतर-ही-भीतर जल उठा और घर से रुष्ट हुए व्यक्ति की तरह चुपचाप चला गया।”

“चलो अच्छा ही हुआ।” मेरे मुख से निकला—“शत्रु जितना दूर चला जाए उतना ही अच्छा।...पर अभी सत्राजित तो होगा ही?”

“वह तो है, पर उसके भी रथ और सैनिक मथुरा से प्रस्थान कर चुके हैं।”

“मुझे आश्चर्य है कि वह बिना सैनिकों के है।”

“एक ठंडे लोहे की तरह एक जगह गड़ा हुआ वह स्पर्धा का निरपेक्ष दर्शक रहेगा।” छंदक बोला।

“यह तुम्हें कैसे मालूम?”

“सात्यकि से उसकी बात हो रही थी। उसने तो स्पष्ट कहा, ‘तुम व्यर्थ ही बृहद्बल के चक्कर में पड़े हो। मैं तो पहले से ही कह रहा था कि तुम कन्हैया का साथ दो।’

“‘यही तो मैं नहीं कर सकता।’ सत्राजित् ने अपनी असमर्थता व्यक्त की। यही असमर्थता उसे बृहद्बल से जोड़े है।”

इस संबंध में छंदक ने बताया कि “सात्यकि ने पुनः पूछा, ‘आपकी असमर्थता क्या है?’

“‘तुम्हारा कन्हैया चोर है। उसने मेरी स्यमंतक मणि चुराई है।...तुम उससे मेरी मणि दिला दो तो मैं उसका साथ देने पर विचार कर सकता हूँ।’ सत्राजित् का यह उत्तर था।”

छंदक स्पष्ट तो पूछ नहीं सका कि आपने सचमुच उसकी मणि चुराई है या नहीं; पर उसने इतना कहा जरूर—“हो सकता है, सात्यकि आपसे मणि के बारे में पूछे।”

“इसे तो समय ही बताएगा कि सत्य क्या है।” मैंने कहा, “मेरे कहने से तो किसीका भ्रम दूर नहीं हो सकता।”

□

अपराह्न होते-होते रथ स्पर्धा शुरू हुई। जैसा छंदक ने बताया था और जैसी मुझे भी आशंका थी, इस रथ स्पर्धा को अभीप्सित सफलता नहीं मिली। यह तो कहिए, कुंडिनपुर से कुछ रथ लेकर श्वेतकेतु आ गया था, जिससे इस रथ स्पर्धा को अंतरराज्यीय स्पर्धा की संज्ञा मिल गई, अन्यथा यह मथुरा और उसके आसपास के यादव सरदारों की ही रथ स्पर्धा होकर रह जाती।

महाराज भी संतुष्ट नहीं दिखे। सबसे अधिक असंतोष तो इस स्पर्धा के निर्णायक आचार्यों—सांदीपनि और गर्ग को था। यहाँ तक कि मैंने अपने सारथि दारुक को भी निर्देश दिया कि जितने रथ हों, सबको दौड़ा दो। मैंने उसके कान में धीरे से कहा, “देखना, विदर्भ के रथों के आगे मत निकलना। इस बार जीत का मुकुट श्वेतकेतु को ही पहनने दो।”

दारुक को यह बात अच्छी नहीं लगी। वह बोला तो नहीं, पर उसकी आकृति के भाव से स्पष्ट लगा जैसे वह कह रहा हो कि किसी भी मनस्वी सारथि से यह कहना कि इस बार की रथ स्पर्धा में पराजित हो जाओ, ठीक नहीं है। पर उसने अपना विरोध यह कहकर व्यक्त तो कर ही दिया कि “मैं नट नहीं हूँ। नाटक करने का मेरा अभ्यास नहीं है।”

“पर सफल जीवन के लिए इसका अभ्यास तो करना ही पड़ेगा।” मैंने कहा और हँसते हुए उसकी पीठ ठोंकी।
वह मन मारकर चला गया।

वस्तुतः मथुरा की जनता यह स्पर्धा देखने के लिए उतावली थी। पहर भर दिन चढ़ते ही लोग राजपथ के दोनों ओर इकट्ठा होने लगे थे।

मध्याह्न तक श्वेतकेतु कुंडिनपुर से रथों का समूह लेकर आ गया था। आते ही वह पहले मुझसे मिला और किनारे ले जाकर उसने पुराने समाचार पर विश्वसनीयता की मुहर लगाई—“अब यह निश्चित हो चुका है कि निमंत्रण मथुरा नहीं भेजा जाएगा; यद्यपि पितामह कौशिक ने अपनी ओर से बड़ा दबाव डाला था, पर जरासंध ने एक न सुनी। उसका बस यही एक तर्क था कि राजाओं के स्वयंवर में ग्वालों के छोकरों का क्या काम!”

“इसका तात्पर्य है कि स्वयंवर की तिथि भी निश्चित हो गई होगी?”

“हाँ, निश्चित हो गई है—माघ शुक्ल पंचमी।”

“चलिए, कोई बात नहीं। अभी काफी दिन हैं।” मैंने कहा और सीधे महाराज के पास पहुँचा। महाराज चिंतित थे।

“लगता है, विरोधियों की योजना सफल हो गई।” वे मुझे देखते ही बोले।

“क्यों?”

“देखते नहीं हो, स्पर्धा में कितनी कम प्रविष्टियाँ हैं!”

“यह तो होता ही रहता है।” मैंने उन्हें ढाढ़स बँधाते हुए कहा, “यह देखिए न, कितनी शांति है! कहीं कोई विरोध नहीं, कहीं कोई झंझट नहीं।”

महाराज चुप तो हो गए, पर संतुष्ट नहीं दिखे।

कुछ समय बाद मैंने उनके कान में धीरे से कहा, “स्पर्धा की समाप्ति की उद्घोषणा के पहले एक घोषणा करनी पड़ेगी।”

“हाँ-हाँ, मुझे स्मरण है।” वे बोले और विकट्रु से वह पत्र निकालने के लिए कहा, जिसमें बृहद्बल ने अपनी असमर्थता व्यक्त की थी।

“उसकी घोषणा करके आप क्या करेंगे? इस सत्य को तो सारी मथुरा जानती है।”

“मैं जो तुम्हें युवराज घोषित करना चाहता हूँ।”

“इससे क्या लाभ होगा? मैं तो अघोषित युवराज हूँ ही।” मैंने उन्हें समझाया—“युवराज पद को अभी खाली ही रहने दीजिए। तभी मेरे विरोधी ऊहापोह में अपने सपने बुनते रहेंगे। जरासंध भी सोचता रहेगा कि इस पद पर किसको बैठाया जाए; और आपकी उपस्थिति भी तटस्थ बनी रहेगी।...जहाँ मैं युवराज हुआ वहाँ स्थिति साफ हो जाएगी।”

“तब तू किस बात की घोषणा के लिए कह रहा था?”

“मेरा विचार था कि आप इस स्पर्धा का परिणाम घोषित करते समय इस रथ स्पर्धा में लोगों की सराहना करते हुए माघ शुक्ल प्रतिपदा को दूसरी रथ स्पर्धा की घोषणा करें।”

“अरे, माघ शुक्ल प्रतिपदा को अभी तो बहुत दिन हैं।” वे बोले।

“तभी तो मैं कह रहा हूँ कि अभी से आप घोषणा करें और स्पष्ट कहें कि शीघ्रता के कारण न तो इस स्पर्धा की सूचना अच्छी तरह प्रचारित की गई और न लोग स्पर्धा के लिए उचित तैयारी ही कर पाए। अतएव अगली स्पर्धा के लिए पर्याप्त समय दिया जा रहा है और सूचनाएँ भी दूर-दूर तक भेजी जाएँगी। ऐसी विराट् रथ स्पर्धा का आयोजन किया जाएगा, जैसा मथुरा के इतिहास में कभी नहीं हुआ होगा।”

महाराज मेरे प्रस्ताव पर सोचने लगे। उनका विचार था कि मंत्रियों से भी इस विषय पर परामर्श कर लिया जाए; पर

अब समय नहीं था। स्पर्धा भी समाप्त होने की ओर थी। मैंने फिर जोर दिया—“आप उद्घोषणा कीजिए। बाद में देखा जाएगा।”

“देखा क्या जाएगा!” महाराज बोले, “इस बीच यदि जरासंध का आक्रमण हो गया तो?”

“मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इस बीच आक्रमण नहीं होगा।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“तू तो नारद की तरह भविष्यवाणी कर रहा है।” महाराज मुसकराए—“तेरी माया कुछ जानी नहीं जा सकती, कन्हैया।”

□

सूर्य ढलते-ढलते प्रतियोगिता समाप्त हो चली थी। संध्या के उभरते सन्नाटे ने रथों की घरघराहट पी ली थी। घोड़ों के टापों से उठी धूल लोहित आकाश में जमने लगी थी। प्रतियोगिता का परिणाम सुनने के लिए भीड़ राजभवन के बाहर दम साधे खड़ी रही। ज्यों ही आचार्य सांदीपनि ने परिणाम की घोषणा की कि विदर्भ रथ प्रथम आया है, मैं मंच पर ही प्रसन्नता से उछल पड़ा। मेरे साथ ही पूरे जन-समुदाय ने करतल ध्वनि की।

जब पुरस्कार वितरित होने लगा तब मैंने अपनी ओर से श्वेतकेतु को माला पहनाई। स्पष्ट कहूँ तो मैं उतना प्रसन्न नहीं था जितना प्रसन्नता का नाटक कर रहा था। इस नाटक का मेरे विरोधियों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। छंदक ने बताया कि सत्राजित् सात्यकि से कह रहा था—“यार, कृष्ण भी विचित्र व्यक्ति है। वह अपनी पराजय पर भी इतना प्रसन्न है।”

“उसकी पराजय कैसी? वह किसी रथ का तो संचालन कर नहीं रहा था।” सात्यकि ने शंका की।

“तो वह गरुडध्वजवाला रथ किसका था?”

छंदक का कहना था कि इस प्रश्न पर सात्यकि ने बड़ी गंभीरता से कहा, “तुमने कृष्ण को कभी समझा नहीं, सत्राजित्! और वह भद्रक तो और भी नहीं समझ सका। वह कल ही अपने रथयूथ को लेकर चला गया।”

दूसरी ओर मैंने अपने सारथि की पीठ थपथपाई। मैं जानता था कि वह अवश्य दुःखी हुआ होगा। मैंने उससे धीरे से कहा, “मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ।”

“आपकी आज्ञा-पालन करना तो मेरा कर्तव्य था।” उसने कहा।

“यह तो ठीक है।” मैंने कहा, “पर अपनी विजय का मुकुट किसी और के सिर पर रखने का कार्य तुम्हारे जैसा निस्पृह सेवक ही कर सकता है। सफलता का समर्पण सबसे बड़ा त्याग है, दारुक, और मैं इसे जानता हूँ।”

दारुक गद्गद हो गया।

इधर महाराज का भाषण चल रहा था। वे वर्तमान रथ स्पर्धा के संदर्भ में भावी रथ स्पर्धा के संबंध में बोल रहे थे। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि माघ शुक्ल प्रतिपदा को यह रथ स्पर्धा होगी। यह तिथि भी मेरी बताई हुई थी। लोगों को विश्वास था कि इस अवसर पर मेरे युवराज पद की घोषणा होगी; पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। बहुत लोग निराश हुए। औरों की बात मैं क्या करूँ, स्वयं मेरे पिताश्री अक्रूर चाचा से कह रहे थे—“लगतता है, मेरे पुत्र को मथुरा का युवराज पद अब नहीं मिलेगा।”

“आपके पुत्र को मैंने परम पद पर बैठे देखा है। उसके लिए युवराज पद क्या है!” चाचा बोले और आँखें बंद कर पता नहीं किस दृश्य में खो गए।

पिताजी शांत हो गए।

पुरस्कृत हो जाने के बाद मैंने श्वेतकेतु को अपने रथ पर बैठाया। मथुरा का चक्कर लगाते हुए उसे अपने आवास पर ले आया। मेरे साथ उद्धव भी था। मैं सीधे अपनी माँ के कक्ष में पहुँचा। वह मेरी बाल प्रतिमा झूले में झुलाकर आराधना कर रही थी। शैव्या भी वहीं थी। मुझे पता चला कि आज प्रातः ही वह यहाँ आई है और मेरी प्रतीक्षा कर

रही है।

“मुँह मीठा कराओ, माँ! देखो, आज की रथ स्पर्धा में श्वेतकेतु प्रथम आया है।” मैंने माँ को पूजा पर ही झकझोरते हुए कहा।

वस्तुतः वह कहना चाहती थी कि सब भगवान् की कृपा है; पर उसके मुख से निकला—“सब तेरी कृपा है।” बस इतना सुनते ही शैव्या लाल हो गई—“इसकी क्या कृपा है? किसीके पराक्रम का श्रेय भी इसीकी कृपा को दिया जाएगा?”

“नहीं, बिल्कुल नहीं।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “यह सब श्वेतकेतु का पराक्रम है।...और किसीकी कृपा है तो वह तुम्हारी शुभकामना की।” इतना कहते हुए मैंने श्वेतकेतु को लाकर शैव्या की बगल में खड़ा कर दिया और माँ से हँसी करते हुए बोला, “देख माँ, जोड़ी कितनी अच्छी लगती है!” माँ हँस पड़ी। शैव्या छिटककर थोड़ी दूर हट गई। दूर न होने की इच्छा होते हुए भी उसने श्वेतकेतु से अपनी दूरी बनाए रखी।

“सुना है, आप मुझे खोज रही थीं?” मैंने शैव्या से कहा।

“हाँ, खोज तो रही थी। शायद तुमसे उद्भव ने कहा होगा।” उसने कहा।

“पर किसलिए?”

“और यदि कारण न बताऊँ तो?”

“जैसी आपकी इच्छा।” मैं मुसकराता ही रहा।

इसके बाद शैव्या ने बड़े ध्यान से श्वेतकेतु की ओर देखा। ऐसा लगा कि उसकी दृष्टि अपने चिर परिचित प्रिय की शरीररूपि के हर भाग का बड़ी गहराई से स्पर्श कर रही है। श्वेतकेतु ने भी शैव्या को बड़ी निकटता से देखा। नयनों के इस संभाषण में हम बाधक बनना नहीं चाहते थे। मैंने उद्भव से कहा, “चलो, हम लोग उद्यान की ओर चलते हैं।”

हमारे बाहर निकलते ही उन दोनों ने हमारा अनुसरण किया।

उद्यान में जाकर शैव्या ने श्वेतकेतु की कमर में बैथी एक छोटी कटार की ओर संकेत किया और कहा, “तुम्हारी यह कटार बड़ी सुंदर है।”

“भला मेरी कोई वस्तु तुम्हें सुंदर तो लगी।” श्वेतकेतु बोला।

“सुंदर तो तुम इसे पूरे-के-पूरे लगते थे; पर पता नहीं क्यों, इसकी दृष्टि फिर बदल गई थी।” मैं हँसते हुए कहता रहा—“खैर, सुबह का भूला शाम को यदि लौटकर आए तो वह भूला नहीं कहलाता।”

उद्भव के साथ-ही-साथ श्वेतकेतु के मुख पर भी मुसकान उभरी; पर शैव्या की गंभीरता में जरा भी कमी न हुई।

“क्या यह कटार मैं ले सकती हूँ?”

“अवश्य।” श्वेतकेतु परम गद्गद था। उसे लग रहा था कि दूर हुआ सपना परिस्थितियों के तूफान में बहता पुनः उसके पास चला आ रहा है।

शैव्या ने बढ़कर उसकी कटि से वह कटार निकाल ली।

“यह कटार मैंने इसलिए नहीं निकाली कि यह कटार सचमुच बहुत सुंदर है, वरन् यह रक्त की प्यासी भी है और इसकी प्यास मैं ही बुझा सकती हूँ।” उसने बड़े विचित्र ढंग से कटार को चमकाते हुए कहा और उसे अपनी कटि में खोंस लिया।

श्वेतकेतु कुछ समझ नहीं पाया। उद्भव की प्रश्नवाचक दृष्टि मेरी ओर लग गई।

क्षण भर के मौन के बाद मैंने उन लोगों से बिदा ली। चलते हुए शैव्या से बोला, “आज तो आप यहीं रहेंगी?”

“तुम्हारी इच्छा है तो यही होगा।”

मेरे साथ उद्धव भी वहाँ से चल पड़ा। उद्यान के द्वार के निकट आकर उसने कहा, “आपने देखा, शैव्या की प्रतिहिंसा कितनी प्रगाढ़तम हो उठी है!”

मैंने अनुभव किया कि वह कुछ भी कर सकती है; पर मैंने उद्धव से कुछ नहीं कहा। केवल मुसकराता रहा। मेरा मुसकराना उसे बोझिल लगा।

“आप कुछ बोल नहीं रहे हैं।”

“क्या बोलूँ? जो कुछ होगा, देखा जाएगा।” मैंने कहा। मैं तो रथ पर बैठकर राजभवन की ओर चल पड़ा, पर उद्धव को निर्देश दिया कि “यदि हो सके तो तुम उन लोगों की बातें जरा छिपकर सुनते रहो। तुम्हें बड़ा आनंद आएगा।”

“क्यों?”

“क्योंकि दो पुराने प्रेमी आज एकांत में मिले हैं।...और उनकी बातों से तुम्हारा भी बहुत कुछ रंजन हो जाएगा।” मैं हँसा और उद्धव झेंप गया।

“और देखो।” रथ की ओर बढ़ते हुए मैंने कहा, “स्वयं उस बतरस में डूब मत जाना। थोड़ा-बहुत मुझे भी उसका आस्वाद कराना।”

मेरा रथ चला जा रहा था। मैंने मुड़कर देखा, जब तक वह मुझे दिखाई पड़ता रहा, वह वहीं खड़ा था।

घड़ी भर बाद ही उद्धव मुझसे राजभवन में मिला और विस्तार से उन दोनों की बातों का विवरण सुनाया।

उद्धव के अनुसार, “हम लोगों के वहाँ से हटते ही श्वेतकेतु ने पूछा, ‘तुम अब भी मुझसे घृणा करती हो, शैव्या?’

“‘मैंने तो तुमसे कभी घृणा नहीं की।’ शैव्या बोली, ‘मेरी घृणा का पात्र तो सदा कृष्ण रहा है, जिसने मेरे भाई का वध किया।...और तुम उसके मित्र हो, इसलिए उसकी घृणा अनायास तुमपर आरोपित हो जाती है।’

“‘पर मेरे मन में तो तुम्हीं रहती हो। जीवन का ऐसा कोई पल नहीं, जब तुम्हारा ध्यान मुझे छोड़ता हो। यही समझो कि सोता हूँ तो तुम्हारी विभिन्न काल्पनिक मुद्राओं की थपकियों के साथ और जागता हूँ तो तुम्हारी खिलखिलाहट की आहट पाकर।’

“‘सुना है, अब तो तुम आश्रम चलाते हो। आचार्य हो गए हो। वह भी सैन्य शिक्षाचार्य।’ बड़े इठलाते हुए शैव्या बोल रही थी—‘तुम्हें नारी की वासना में ऐसा लिप्त नहीं होना चाहिए।’

“‘तुम्हारे रूपजाल में जब फँसा था तब भी मैं आश्रमवासी था। तुम्हें याद है? मैंने नैष्टिक ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था। मैं कितना संकल्पबद्ध था! पर सबकुछ तोड़ा तुम्हारे लिए। आज भी जी रहा हूँ केवल तुम्हारे लिए।’

“‘जब भी पुरुष किसी नारी से प्रेम निवेदन करता है तब ऐसी ही बातें करता है—मैं तुम्हारा हूँ, केवल तुम्हारा। ऐसा वह कितनों से कहता है, कितनों को धोखे में रखता है।’

“‘पर विश्वास करो, मैंने किसीको भी धोखे में नहीं रखा। केवल तुम्हारा होकर रहा हूँ और रहूँगा।’

“‘धोखे में तो मैंने भी किसीको नहीं रखा।’

“‘इसका तात्पर्य है कि तुम्हारे पास तुम्हारा होने कोई आया था।’

“‘अवश्य।’ इसके बाद शैव्या बड़ी मादकता के साथ इठलाई जैसे कोई नागिन डसकर उलट जाए—‘जब रूपजाल है तब मछलियाँ तो फँसेंगी ही। तड़पेंगी ही। भले ही वह जाल उन्हें फिर जल में छोड़ दे।’

“‘भला सुनूँ तो, ऐसा कौन अभागा है, जो फँसने के बाद भी छोड़ दिया गया?’

“‘अरे रहा होगा कोई, उसी तुम्हारे मित्र का भाई, बंधु, सखा, और...’ ”

शैव्या का कथन दुहराते-दुहराते उद्धव एकदम लज्जित हो गया। कुछ समय तक मौन धरती देखता रहा।

“लगता है, तुम अपने संदर्भ में खो गए।” अब मैंने उद्धव को झकझोरा और उसे सचेत किया—“इसी प्रकार यदि तुम बार-बार अपने अतीत में खोते रहे तो तुम वर्तमान को उसके पूरे रस के साथ भोग नहीं सकोगे और न अपने सुखद एवं गौरवशाली भविष्य की संरचना ही कर सकोगे।...तुम्हें तो वहाँ निरपेक्ष द्रष्टा ही रहना चाहिए था।”

“मैं निरपेक्ष द्रष्टा ही था।” उद्धव बोला और फिर अपने मार्ग पर आ गया। उसने बताया—“शैव्या की इस एकनिष्ठता से श्वेतकेतु खिल उठा। उसे लगा कि वह सचमुच अपना अभीष्ट पा गया है। उसने शैव्या का हाथ पकड़ते हुए कहा, ‘तब तो तुम हमारी हो।’

“‘तुम्हारी तो हूँ, पर अभी भी तुमसे दूर रहूँगी।’

“‘क्यों?’

“‘क्योंकि मेरा संकल्प है कि जब तक मेरी प्रतिहिंसा शांत नहीं हो जाती तब तक तुम्हारे निकट नहीं आऊँगी।’

“‘आखिर वह कब शांत होगी?’

“‘प्रतीक्षा करो। केवल प्रतीक्षा करो।’ इतना कहकर शैव्या श्वेतकेतु का हाथ झटककर चली गई। श्वेतकेतु मूढ़-सा खड़ा रहा जैसे वह कुछ समझ न पाया हो।”

“वह बेचारा क्या समझ पाएगा! यह उसकी समझ के बाहर है।” मैंने मुसकराते हुए कहा और ऐसे उसकी पीठ थपथपाई जैसे मैं उससे कह रहा हूँ, ‘घबराओ मत मित्र, सब देखा जाएगा।’

□

हम लोग मथुरा को एक युद्धक नगर बनाने में लगे थे। नगर प्राचीर का निर्माण लगभग पूरा हो चुका था। नगर के सारे लौहकारों की धमनियाँ पुराने अस्त्रों की मरम्मत और नए के निर्माण में लगी थीं। उधर आचार्य सांंदीपनि का आश्रम अभिमंत्रित अस्त्रों की अधिक-से-अधिक व्यवस्था कर रहा था।

नानाजी को राजकोष की चिंता थी; क्योंकि सारा राजकोष लगभग खाली हो गया था। जब मैं नानाजी से मिला तो वे चिंता में डूबे थे। उन्होंने मुझे देखते ही कहा, “अभी कोषाधिपति आया था। बता रहा था कि मास भर का खर्च किसी प्रकार चलाया जा सकता है।”

“यह वाणिज्य और कृषि कर की उगाही का समय है। इस समय राजकोष की बहुधा यही दशा होती है।”

“पर इस वित्तीय वर्ष में क्या वाणिज्य की चर्चा करें? हमारा सारा वाणिज्य तो चौपट हो गया। मागधी सैनिकों ने हमारे वणिकों को जिस तरह लूटा है, उसे देखते हुए उनसे किसी प्रकार के ‘कर’ की आशा करना व्यर्थ है।...कृषि कर की उगाही भी समुचित हो पाएगी, इसमें संदेह है।”

“फिर आप क्यों इतनी चिंता करते हैं?”

“राज्य की चिंता यदि राजा नहीं करेगा तो और कौन करेगा?”

“किंतु आपने तो कहा है कि राज्य का राजा मैं नहीं, जनता है। आपने अदृश्य होकर देख लिया कि मथुरा की जनता ने किस धैर्य के साथ शासन सूत्र सँभाला था। यह राजकोष भी उसीका है। यदि खाली है तो उसका है। यदि भरा है तो उसका है।”

मेरी बात नानाजी गंभीरता से सुनते रहे। उन्हें लगा कि अंधकार सागर में डूबते हुए उन्होंने प्रकाश की कोई किरण पकड़ ली है।

मैंने कहा, “आप मंत्रिपरिषद् बुलाकर एक निर्णय ले लीजिए।”

“किस संदर्भ में?”

“यही कि करों की उगाही रोक दी जाए और जनता को वस्तुस्थिति से अवगत कराते हुए कहा जाए कि आप स्वयं

यथाशक्ति मुक्तहस्त से राजकोष में दें।”

“यह तो सीधे-सीधे जनता से दान माँगना हुआ।” महाराज बोले, “राजसत्ता के गौरव की रक्षा दान देने में है, कन्हैया, दान माँगने में नहीं।”

“आप इसे दान समझते हैं!” मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, “यह तो जनता की भागीदारी है। आप शासन में जितनी जनता की भागीदारी बढ़ाएँगे उतनी ही सत्ता शक्तिशाली होगी और आपका दायित्व भी कम होगा।...यदि जरासंध का आक्रमण भी हुआ, जनता स्वयं उससे निपट लेगी।”

उसी समय यादव सरदार गड़ भी आ गया। उसने मेरी बात का समर्थन किया और निश्चय हुआ कि आज अपराह्न मंत्रिपरिषद् आहूत की जाए।

ज्यों ही मैं राजभवन से निकला, श्वेतकेतु मिला।

“आपको आचार्यजी ने स्मरण किया है।”

“किस आचार्यजी ने?”

“आचार्य सांदीपनि ने।”

“अरे, तुमने उनका सामना किया!...मैं तो सोचता था कि आश्रम को तिलांजलि देने के बाद शायद तुम्हारे कदम अब आश्रम की ओर न बढ़ें।”

मुझे लगा कि विगत संदर्भों का स्मरण कराकर मैंने श्वेतकेतु को लज्जित ही किया है। फिर भी वह स्वयं को सँभालते हुए बोला, “आश्रम से ही आ रहा हूँ।” फिर उसने बड़े संकोच के साथ कुछ शब्दों और कुछ संकेतों का सहारा लेते हुए बताया—“पहली बार तो सचमुच मेरे चरण आश्रम की ओर बढ़ नहीं रहे थे। मैं सोच रहा था कि किस मुँह से अब आचार्य के समक्ष जाऊँगा; पर पुनर्दत्त ने मेरा संकोच तोड़ा और मुझे बलात् आश्रम में ले गया।” इसके बाद उसने आचार्यजी से पुनर्मिलन की रंगीन कहानी विस्तार से बताई। पर इस समय उसमें मेरा कोई रस नहीं था। मैं तो जानना चाहता था कि आचार्यजी ने स्मरण क्यों किया है? क्योंकि मैं उनकी प्रकृति से परिचित था, बिना किसी कार्य के वे कभी किसीको बुलाते न थे।

मैं श्वेतकेतु को अपने रथ पर बैठाकर सीधे आश्रम पहुँचा।

“अरे, तुम श्वेतकेतु के साथ ही चले आए!...अब तुम इसे बहुत साथ मत रखा करो, यह खूँटे से बँधा पशु है।”

“पर मैं तो अब भी इसे पशु नहीं समझता।”

“यह तुम्हारी महानता है।” आचार्यजी बोले, “इसने अपनी मनुष्यता को जानबूझकर आश्रम में उतारकर फेंक दिया था और नग्न वासना के पीछे वैसे ही भाग गया जैसे चारा देखकर भूखा पशु भाग जाता है।”

मैंने अनुभव किया कि श्वेतकेतु पसीने-पसीने हुआ जा रहा है। मैंने संकेत से उसे वहाँ से हट जाने के लिए कहा। वह चुपचाप आचार्यजी के चरण स्पर्श कर चला गया। लगता है, आचार्यजी भी यही चाहते थे।

उसके चले जाने के बाद आचार्यजी ने मुझसे कहा, “मेरी राय है कि तुम अगले दो दिनों तक आश्रम में ही रहो।”

“यदि यह आपकी आज्ञा होती तो मैं अनिवार्य रूप से शिरोधार्य करता; पर आपने राय दी है, जिज्ञासा होती है कि क्या बात है?”

उन्होंने कोई विशेष बात नहीं बताई। उनका कहना था—“मैं आज राजकीय उद्यान की ओर गया था। वहीं अपने बूढ़े पिता कर्मा के साथ मालिनी (त्रिवक्रा) मिल गई। उसीने प्रार्थना की कि आप कृष्ण कन्हैया को अपने आश्रम में ही रख लें। मैंने बहुत पूछा, तब उसने बताया कि कन्हैया के जीवन के लिए खतरा है। वह बहुत घबराई हुई दिखाई दे रही थी। हो सकता है, सत्राजित् आदि कोई षड्यंत्र रच रहे हों।”

मुझे हँसी आ गई; क्योंकि कारण की तह में मैं आचार्यजी से अधिक पहुँच चुका था। आचार्यजी तो कल्पना कर रहे थे, पर मेरे मन की आँखें यथार्थ देख रही थीं। फिर भी मैं हँसता रहा।

“आखिर इतना हँस क्यों रहे हो?”

“मालिनी की नादानी पर हँस रहा हूँ। अपने उस जीवन पर हँस रहा हूँ, जो खतरे में ही जनमा और आज तक खतरे में ही है।...आचार्यजी! अब तो मैं खतरे को ही जीने लगा हूँ।”

इसके बाद उन्होंने संदर्भ ही बदल दिया। शायद उनके मन ने सोचा, जो यमपुर से लौट आ सकता है, उसे मैं क्या सुरक्षा दे सकता हूँ!

फिर वर्तमान राजनीतिक संदर्भ की बातें होने लगीं। मैंने उन्हें महाराज की आज की मानसिकता और उनसे हुई अपनी बातों का संक्षिप्त विवरण दिया और कहा, “आज अपराह्न मंत्रिपरिषद् बुलाई जा रही है। उसमें आप भी विशेष रूप से आमंत्रित होंगे।”

“मंत्रिपरिषद् तो बस तुम्हारे सुझाव पर मुहर लगाएगी।” उन्होंने कहा, “स्थिति तो यही है कि अब मथुरा को उसकी प्रजा को ही सौंप दिया जाए।...और जनता को भी इसे महाराज की असमर्थता न समझकर उदारता ही समझनी चाहिए।”

फिर पता नहीं कैसे संदर्भ बदला कि उन्होंने बताया कि “मालिनी से मिलने के बाद मैं तुम्हारे आवास पर भी गया था; पर तुमसे भेंट तो नहीं हुई, शैव्या मिल गई। वास्तव में उसने ही द्वार खोला था। पहली दृष्टि में तो मैं उसे पहचान न सका। वह बड़े ध्यान से मुझे देखती रही। ‘आप मुझे पहचानते नहीं हैं। मैं वही हूँ, जिसके नरक में आपके पुत्र और उसके मामा बंदी थे।’ मैंने अनुभव किया कि वह सामान्य नहीं है। कहीं-न-कहीं उसका चोट खाया अहं छटपटा रहा है। मैं भी उसकी बात सुनकर स्वयं पर नियंत्रण रख नहीं पाया। मैं उससे अधिक ऊँचे स्वर में बोला, ‘तुम भी कदाचित् मुझे नहीं पहचानती हो। मैं वह आचार्य हूँ, जिसके शिष्य ने उस नरक के निर्माता का वध कर नरक को तहस-नहस कर दिया था।’...मेरा इतना कहना था कि वह नारी एकदम धधकने लगी। हवि के लिए बुभुक्षित अग्नि को तो मैंने देखा है, पर प्रतिहिंसा के लिए ऐसी बुभुक्षिता नारी को मैंने कभी नहीं देखा था।

“‘तो आप मुझे क्या समझते हैं?’ उस समय शैव्या बोली, ‘मैं उस उजड़े नरक की छटपटाती ज्वाला हूँ, जो आपके शिष्य को भी निगलकर रहेगी।’ फिर उसने बड़े भयानक रूप से अपनी आँखें नचानी आरंभ कीं। मुझे तो एकदम विक्षिप्त लगी। मैं द्वार से ही लौट आया।”

“लगता है, आप डर गए।” मैंने आचार्य से कहा और जोर से हँसने लगा।

□

रात्रि का प्रथम प्रहर अंधकार की काली चादर ओढ़कर ठिठुरने लगा था। हिम की शीतलता से भीगी हवा तीर-सी लग रही थी। मेरे रथ की घरघराहट उस सन्नाटे में तैरती काफी दूर तक निकल जा रही थी। तभी तो मेरे घर पहुँचने के पहले ही मेरी माँ द्वार खोलकर बाहर खड़ी थी। उसकी आत्मीयता मेरी पग ध्वनि ही नहीं, मेरे रथ की आहट भी पहचान लेती है।

रथ से उतरते ही मैं माँ की छाती से चिपक गया। मैंने अनुभव किया कि आज उसकी धड़कन में आत्मीयता से अधिक आशंकाओं की व्यग्रता है। फिर भी मैं कुछ बोला नहीं, मस्ती में उसके कंधे पर झूलता आगे बढ़ा।

माँ ने ही शैव्या के बारे में बताया—“आज वह दिन भर पूजा करती रही।”

“चलो, वह कहीं मन तो लगाने लगी।” मैंने कहा, “अपने आराध्य देव की पूजा कर रही होगी?”

“किसी आराध्य देव की नहीं वरन् अपने दिवंगत भाई की प्रतिमा की वह पूजा कर रही थी और जाने क्या-क्या बड़बड़ा रही थी!” इसी सिलसिले में माँ ने बताया—“आज दिन में उसने भोजन भी नहीं किया।”

मैंने समझ लिया कि आज उसकी विक्षिप्तता अपनी चरमावस्था पर है।

मैंने माँ से पूछा, “क्या आज श्वेतकेतु आया था?”

“हाँ। वह भोजन कर अतिथिकक्ष में विश्राम कर रहा है।” माँ बोली।

क्या होने वाला है? मेरा मन बहुत कुछ उसके निकट पहुँच चुका था। फिर भी मैंने स्वयं को स्पष्ट होने नहीं दिया। मैंने माँ से कहा, “माँ, मुझे बहुत भूख लगी है।”

माँ भोजन की व्यवस्था में लगी और मैं दौड़ा हुआ अतिथिकक्ष की ओर गया।

देखा, रुईदार मोटे आस्तरण से लिपटा श्वेतकेतु निर्विघ्न खरटे ले रहा है। मैं प्रसन्न हुआ। जिस अप्रत्याशित आशंका से सारा वातावरण काँप रहा है, उससे एकदम अछूता यह किस मस्ती से सो रहा है। उसकी इस अल्हड़ नींद को किसी प्रकार की बाधा पहुँचाए बिना मैं चुपचाप अतिथिकक्ष से निकल आया।

रात्रि का साँय-साँय करता अँधेरा आज और अधिक काला पड़ गया था। अभी तक चंद्रमा नहीं निकला था। शायद वह मध्य रात्रि के बाद निकलेगा।

ज्यों ही मैं अतिथिकक्ष से निकला, मुझे उद्यान के पश्चिमी छोर पर वृक्ष के नीचे एक छाया प्रतिमा दिखाई पड़ी। मेरी स्मृति में कंपन हुआ। मुझे लगा, ऐसी ही स्थिति में मैंने एक बार करवीरपुर में शैव्या को देखा था। हो न हो, यह शैव्या ही हो। मुझे आशंका की अप्रत्याशित घड़ी आसन्न लगी। मैं कुछ क्षणों के लिए वहीं खड़ा रह गया।

पर वह नारी जैसी दिखती छाया टस-से-मस न हुई। यह मेरे व्याकुल मन की मात्र शंका तो नहीं है; पर मैं व्याकुल कहाँ हूँ? मैंने आत्मनिरीक्षण किया। स्वयं को प्रकृतिस्थ किया और बड़े निर्भीकभाव से उस ओर चल पड़ा। ज्यों-ज्यों निकट आता गया, वह छाया प्रतिमा स्पष्ट होती गई और अंत में मेरे मुख से निकला—“अरे, यह तो मालिनी है।...धत् तेरे की, मैंने क्या सोचा था और तू क्या निकली!” मैंने पूछा, “तू यहाँ क्यों खड़ी है?”

“माताजी ने मुझे घर जाने के लिए कहा कि तेरा पिता बीमार है, तू अभी चली जा; पर मैं घर जा न सकी।”

“क्यों?”

“क्योंकि मेरा मन नहीं कह रहा है।”

“माँ की आज्ञा मानने का भी तेरा मन नहीं कर रहा है?” मैंने कहा, “लगता है, तू बहुत घबरा रही है। आखिर किसलिए?”

“यह तो मैं भी नहीं जानती।”

अब मुझे हँसी आ गई—“तू अपनी मनःस्थिति को ढकना चाहती है; पर तेरे विवेक की चादर बड़ी फटी है, मालिनी।...एक ओर से तू ढकती है और दूसरी ओर से खुल जाती है।” मैंने हँसते हुए उसके कंधों को झकझोरा—“तू मेरे संबंध में चिंतित है न! देख, मैंने तुझे कैसे पहचान लिया? पर तू सोच, जब मैं कालीदह में कूदा था, तब तेरी चिंता कहाँ थी? चिंता क्या, तू ही नहीं थी। जब मैं यमपुरी में गया था, तब तेरी चिंता कहाँ थी? चिंता क्या, तुझे पता ही नहीं था। सारी चिंता तो पता होने की है। आज के मनुष्य की सारी समस्या अज्ञात से मुक्ति की है।...तो सुन, यह ज्ञात है कि जो जनमा है वह मरेगा; पर मृत्यु कब होगी, इसका कुछ भी निश्चय नहीं। मृत्यु की यही अनिश्चितता हमें जीवन में रस देती है।...इसी अनिश्चितता के रस में तू डूबी हुई जी और यहाँ से चली जा।”

वह कुछ हिली-डुली अवश्य, पर जैसे उसके पैर बँधे थे। अब मेरे तर्क ने दूसरा पैतरा बदला—“तुम जानती हो कि तुम यहाँ खड़ी होकर कितना बड़ा अनर्थ कर रही हो!”

वह मेरी बात समझ नहीं पाई।

“तुम तो शैव्या को जानती हो, कैसी शंकाकुल प्रकृति की वह नारी है। कहीं इस स्थिति में उसने तुम्हें देख लिया तो

उसे श्वेतकेतु से तुम्हारे संबंध जोड़ते देर नहीं लगेगी।”

“कहाँ है श्वेतकेतु?” सचमुच उसे ज्ञात नहीं था। जब उसे मालूम हुआ कि वह सामने के अतिथिकक्ष में सो रहा है, तब वह घबरा उठी। उसे लगा कि वह सचमुच शैव्या और श्वेतकेतु के बीच खड़ी है। यदि कहीं देख ली गई तो क्या होगा?...वह एकदम चल पड़ी; पर रह-रहकर उसके चरण रुकते रहे जैसे वह जाना नहीं चाहती हो।

तब तक मुझे खोजती हुई माँ उधर आ गई।

“अरे, तू यहाँ खड़ा है। मैं तेरे भोजन के लिए कब से बैठी हूँ!”

“क्या करूँ, माँ, मैंने इसे यहाँ खड़ा देखा।” मैंने मालिनी की ओर संकेत किया और बोलता रहा—“इस शीत में पता नहीं क्यों यहाँ तपस्या कर रही है!”

“अरे, तू अभी गई नहीं!” माँ बोली, “कर्मा बीमार है, इस बुढ़ौती में तू ही उसका एक सहारा है—और इस तरह तू उसकी उपेक्षा कर रही है!”

माँ का इतना कहना था कि वह फिर चली तो सही, पर ऐसा लगा कि वह अपने मन को यहीं छोड़े जा रही है। केवल अपना शरीर ले जा रही है।

भोजन पर बैठते समय मैंने शैव्या को बुलवाया। वह नहीं आई और कहला दिया कि आज मैं व्रती हूँ।

“आज कैसा व्रत, बेटे? कोई पर्व तो नहीं है!” माँ बोली।

“केवल पर्व के लिए ही व्रत नहीं होता।” मैंने कहा, “लोग आत्मशुद्धि के लिए भी व्रत रखते हैं और किसी महान् कार्य के पूर्व भी व्रत रखा जाता है।...हो सकता है, आज शैव्या कोई महान् कार्य करने वाली हो।” जब मैं यह कह रहा था तब शैव्या भोजनालय में प्रवेश कर चुकी थी। वह मुझे सुनते ही स्तब्ध रह गई और मुझे ऐसा देखा जैसे कोई सिंहनी अपना शिकार देख रही हो। फिर चुपचाप चली गई।

हममें से किसीने कुछ भी नहीं कहा कि क्यों आई और क्यों चली गई? माँ ने तो इस संदर्भ में शायद सोचा भी नहीं।

भोजन कर लेने के बाद मैंने इच्छा जाहिर की कि आज मैं उद्यान में ही सोऊँगा।

“इतनी ठंडक और हिमानी हवा में तू बाहर सोएगा! क्या पागल हो गया है?” माँ बोली।

“कभी-कभी पागल भी होना चाहिए; क्योंकि जीवन की एकरसता को जोड़ने के लिए कभी-कभी पागलपन की भी बड़ी आवश्यकता पड़ती है।” मैंने कहा और धीरे से उद्यान की ओर निकल गया।

माँ मेरी प्रकृति से परिचित थी। वह जानती थी कि मैं जिसके लिए हठ पकड़ लेता था तो फिर छोड़ता नहीं था। मेरा बिस्तर आम्रकुंज के नीचे लगाया गया। शैव्या दूर खड़ी बड़े ध्यान से देखती रही।

माँ ने रुई भरे कई मोटे-मोटे आस्तरण मेरी शय्या के पैताने रखवाए। फिर भी उसकी ममता से न रहा गया। वह बोल पड़ी—“देख बेटा, कितनी ठंडक है और हवा भी कितनी तेज!”

“तू घबरा मत, माँ! मैं सिर से एकदम ओढ़कर सोऊँगा। इस हवा को अपने तक पंख मारने भी नहीं दूँगा।” मैंने कहा और माँ मुझे वहीं छोड़कर चली गई।

संयोग था कि मेरी इस योजना को माँ और शैव्या के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता था।

थोड़ी देर टहलने के बाद मैं शय्या पर आया। सिर से ओढ़कर और स्वयं को सिकोड़कर लुंड-मुंड गठरी-सा ढुलक गया।

सरसराती हवा, चीखता सन्नाटा और सरकती हुई रात।

धीरे-धीरे रात का दूसरा प्रहर बीता। तीसरे ने प्रवेश किया। मैंने देखा, कर्क का बृहस्पति आकाश में चमक रहा

है। मैं धीरे से बिस्तर से उठा और अपने अन्य आस्तरणों को ठीक उसी तरह रखकर ऊपर से ऐसा ओढ़ा दिया जैसे मैं अब भी सोया हूँ। और फिर दबे पाँव वहाँ से दक्षिण अमराई के छोर के अंधकार में प्रवेश कर गया। ठीक इसी समय मेरे सिर पर से कोई चक्रवाक अपनी चक्रवाकी के वियोग में चीखता हुआ निकल गया।

मैं इस समय अंधकार के प्रकोष्ठ में था। सोचता हूँ, या तो माँ का आँचल मुझे छिपाता रहा है या यह अँधेरा। एक पवित्रता का प्रतीक है, ममता का प्रतीक है और दूसरा निराशा का, अनिश्चितता का, अज्ञान का। कितना विचित्र था! इस समय मेरी सुरक्षा में अज्ञान चारों ओर से मुझे घेरे खड़ा था।

इतने में क्या देखता हूँ कि पागलों-सी शैव्या हाथ में कटार लिये चली आ रही है। उसके खुले केश हवा में लहरा रहे हैं। उसका आक्रोश अभिशप्त नारी का विद्रूप बनकर पिशाचिनी और डाकिनी की तरह मेरी शय्या पर टूट पड़ा।

विक्षिप्तता चेतना का गला घोट देती है और अमर्ष तो उसे चबा ही जाता है। इस समय उसका विक्षिप्त आक्रोश अचेत था। वह कटार पर कटार मारती रही—वहाँ, जहाँ मैं नहीं था, जहाँ मेरा केवल आभास था।

मेरी निर्दोष शय्या यह विक्षिप्त प्रहार सहती रही। उसकी पागल प्रतिहिंसा इतनी अंधी हो गई थी कि उसे इसका भी आभास नहीं लगा कि बार-बार कटार के प्रहार से रूई के फूहे बाहर निकल रहे हैं।

अंत में थककर वह कटार वहीं छोड़कर एकदम भागी। कहते हैं, मनुष्य का मन जैसा होता है, संसार उसे वैसा ही दिखाई देता है। उसने आकाश की ओर देखा, वहाँ भी चंद्रमा नंगी कटार-सा लटकता दिखाई दिया। उसकी विक्षिप्तता और बढ़ी। वह सीधे अतिथिकक्ष के उस कक्ष में पहुँची, जहाँ श्वेतकेतु सो रहा था।

निश्चित रूप से उसे उसने झकझोरकर जगाया होगा। इस स्थिति में उसे देखकर वह चकित रह गया होगा। फिर भी वह उसे हाथ पकड़कर खींचती बाहर ले आई। अब उसकी प्रतिहिंसा अपनी सफलता से कहीं अधिक अपने किए पर अचंभित थी। पछता रही थी या नहीं, यह तो नहीं कह सकता, पर कंपित अवश्य थी।

अब वह उद्यान के द्वार की ओर श्वेतकेतु का हाथ पकड़कर खींचती चली।

“अरे, किधर ले चल रही है?” श्वेतकेतु बोला।

“कहीं भी चलो, पर यहाँ से एकदम भाग चलो।” शैव्या का स्वर घबराया हुआ था। उसका सारा व्यक्तित्व व्यग्रता की ज्वाला में जल रहा था। उसके मस्तक पर पसीने की बूँदें चुभचुभा आई थीं।

“तू बड़ी घबराई हुई लग रही है।” श्वेतकेतु बोला, “तुझसे कोई भूल तो नहीं हो गई?”

“नहीं-नहीं, कोई भूल नहीं की वरन् भूल का सुधार हुआ। हमेशा के लिए सुधार हुआ है। मेरे प्रिय! हमारा संकल्प पूरा हुआ। आज हमारे भाई की आत्मा स्वर्ग से हमें आशीर्वाद दे रही होगी। अब उस आशीर्वाद की छाया में हम एक हो गए, बिल्कुल एक।” इतना कहते हुए शैव्या श्वेतकेतु से लिपट गई और श्वेतकेतु ने भी उसे अपनी भुजाओं में बाँध लिया।

मैंने पहली बार इन युगल प्रेमियों को आलिंगन में आबद्ध होते देखा था। श्वेतकेतु की कितने दिनों की आकांक्षा पूरी हुई थी। निश्चित रूप से वह अपने हृदय की धड़कनों को शैव्या की धड़कनों में खो चुका होगा। उसमें तो कोई व्यग्रता नहीं होगी। इसकी उस उपलब्धि पर मंद गंधवाह उसे बधाइयाँ दे रहा था।

मैं उनके पीछे चल पड़ा; पर अपनी दूरी बनाए हुए। मैं अनुभव कर रहा था कि शैव्या की घबराहट धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। इतने प्रगाढ़ आलिंगनपाश में भी वह थरथरा रही थी। वह बहुत जल्दी आगे बढ़ना चाह रही थी; पर उसके पैर जैसे बाँधे हुए हैं।

“क्या बात है कि तुम इतनी घबराई हुई लग रही हो?” श्वेतकेतु ने पूछा।

“कोई बात नहीं, मैं बिल्कुल घबराई हुई नहीं हूँ। वरन् एक प्रकार की प्रसन्नता के उद्रेक में बही चली जा रही हूँ।”

“आखिर कौन सी प्रसन्नता?”

“तुम्हें पाने की प्रसन्नता।”

“मुझे खोया ही कब था!” श्वेतकेतु बोला, “मैं तो तुम्हारा ऐसा अपना था कि जिसके अपनत्व को तुमने अपनी खूँटी पर टाँग रखा था। अब बस अंतर यही है कि तुमने उसे खूँटी पर से उतारकर ओढ़ लिया है।”

“अरे, अब वह खूँटी ही नहीं रही। उसका अस्तित्व समाप्त हो गया।”

श्वेतकेतु अब भी कुछ समझ नहीं पाया। वह बराबर जिज्ञासाएँ करता रहा और शैव्या उसे बराबर उलटा-सीधा जवाब देती रही। अंत में श्वेतकेतु से रहा नहीं गया। उसने सीधा प्रश्न किया—“आखिर हम किधर चल रहे हैं?”

“यमुना की ओर।”

“क्या ब्राह्म मुहूर्त हो गया है? अभी तो मंदिरों के घंटे भी नहीं बज रहे हैं।”

“पर मेरे लिए ब्राह्म मुहूर्त हो गया है। मैं यथाशीघ्र यमुना में मार्जन करना चाहती हूँ।...और तेरे साथ। आश्लेषबद्ध होकर ही डुबकी लगाऊँगी और यमुना मैया से आशीर्वाद लूँगी कि यह बंधन कभी न टूटे।”

श्वेतकेतु का चिंतन अब भी एक आनंदमय वात्याचक्र में झकझोरे खा रहा था। वह कुछ भी समझ नहीं पा रहा था कि क्या हो गया है, या क्या हो रहा है।

“लगता है, आज तुमने कोई सुखद स्वप्न देखा है।”

“स्वप्न देखा नहीं है वरन् स्वप्न साकार किया है।”

श्वेतकेतु की सहजता अब भी अपने ही संदर्भ में सोच रही थी—“यह तो सपना उसी समय साकार हो गया था, जब महाकाल के मंदिर के निकट हम दोनों मिले थे।”

“तू पागल है। कुछ भी नहीं समझ पाएगा।...वस्तुतः मैंने उसे मार डाला है।”

“किसे?”

“मथुरा के भगवान् को।”

श्वेतकेतु एकदम ठिठक गया।

“यह तू क्या कह रही है?” उसने कहा, “भगवान् कभी मरता नहीं और न मारा जाता है।”

“वैसे ही मरता है और मारा जाता है जैसे कभी करवीरपुर का भगवान् मरा था या मारा गया था।” शैव्या बोलती रही—“आज मथुरा का भगवान् मारा गया।”

“यह तुम क्या कह रही हो?” श्वेतकेतु चकित हो बोला। तब शैव्या उसे लिये दिए यमुना में कूद पड़ी।

रात्रि की उस निस्तब्धता में हिमानी ठंडक से ठिठुरी यमुना में डुबकी लगाते ही वे जैसे जम गए थे। उनके विचार जम गए थे। उनका चिंतन जम गया था। श्वेतकेतु तो स्वयं को बिल्कुल नहीं सँभाल पाया था। वह जैसे सोया था वैसे ही चला आया था। उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। उत्तरीय कहीं बह चला और अधोवस्त्र खुलने की स्थिति में हो गया। लगभग यही स्थिति शैव्या की भी थी।

अब वे वस्त्र को सँभालने में लगे। अपने को सँभालने में लगे। उस शीत की थरथराहट में उनके सोचने का संदर्भ बड़ी सरलता से छूट गया। अब उन्हें इसकी भी सुधि नहीं रही कि कौन मरा? कौन मारा गया? किसने मारा?

चंद्रमा के मद्धिम प्रकाश में उन युगल प्रेमियों की आलिंगनबद्ध कँपकँपी को यमुना आत्मसात् न कर पाई। वे लहरों पर ही तैरते रहे।

समय सरकते-सरकते ब्राह्म मुहूर्त की परिधि में आ गया। मंदिरों में घंटे बजने लगे। स्नानार्थियों ने भी यमुना मैया की गोद में डुबकियाँ लगानी आरंभ कीं। अब वे दोनों धीरे-धीरे घाट पर आए। मेरे मन ने कहा, ‘भगवान्, ये किसी

घाट तो लगे!’

कदंब के घने वृक्ष के नीचे बैठा अब मैं मौन न रह सका। मैंने अपनी वंशी पर भैरव बजाना आरंभ किया। वायु की लहरों पर स्वरो की मूर्च्छनाएँ थिरकने लगीं। स्नानार्थियों ने सोचा कि यह कन्हैया की बाँसुरी है। और श्वेतकेतु तो बोल ही पड़ा—“अरे, भोरे-भोरे ही कन्हैया भैया यहाँ आ गए क्या!”

अब शैव्या को काटो तो खून नहीं। श्वेतकेतु मेरी ओर बढ़ा। वह कितना सहज था; क्योंकि यथार्थ उससे दूर था। पर शैव्या को तो जैसे काठ मार गया था। वह पाषाणवत् जल में खड़ी-की-खड़ी रह गई। वह सोच रही थी कि यह क्या हो गया! मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ। फिर अचानक उसपर विक्षिप्तता का दौरा पड़ा—“नहीं-नहीं, यह सब झूठ है, असत्य है!” वह चिल्लाती हुई मेरी ओर बढ़ी।

“जो तुम देख रही हो या सुन रही हो, वह सब असत्य है। इसके पूर्व जो तुमने देखा या किया है, वह सब असत्य था; क्योंकि सत्य को देखने के लिए चेतना की जिन आँखों की आवश्यकता है, वह अभी तुम्हारी बंद हैं।”

वह कुछ समझ नहीं पाई। पागलपन में बढ़बढ़ाती रही—“पर मैंने तो तुम्हारी हत्या कर दी है।”

“मैंने कहा न, वह भी असत्य था; क्योंकि जिसकी तुमने हत्या की, वह मैं नहीं था।” अब मैं बहुत जोर से हँसा और काफी देर तक हँसता रहा। मेरी उस मायावी हँसी ने उस वातावरण को ही नहीं, शैव्या को भी बड़ी गहराई तक झकझोर दिया।...और उसी हँसी के साथ मैं कहता गया—“शस्त्र मुझे भेद नहीं सकता, आग मुझे जला नहीं सकती, हवा मुझे सुखा नहीं सकती, जल मुझे गला नहीं सकता; क्योंकि जो जलता है, वह मैं नहीं हूँ। जो गलता है, वह मैं नहीं हूँ।...यह हो सकता है कि तुमने मुझे मारा हो; पर जो मरता है, वह मैं नहीं हूँ।”

“तो तू क्या अमर है?” शैव्या बोली।

मैं उसी प्रवाह में बोलता चला गया—“मैं अमर हूँ। मैं अजर हूँ। मैं उस समय भी था, जब तू नहीं थी, मैं नहीं था। मैं उस समय भी रहूँगा, जब तू नहीं रहेगी, मैं नहीं रहूँगा।”

मेरी वाणी का ऐसा चमत्कार शैव्या पर हुआ कि वह एकदम मेरे चरणों पर गिर पड़ी। चमत्कारी तो मैं उसी क्षण से उसे दिखाई देने लगा था, जब मैंने वंशी बजानी आरंभ की थी। इस समय तो मैं उसे साक्षात् भगवान् दिखाई पड़ रहा था। वह मेरे चरणों पर गिरी थी। मैंने उसे उठाया भी नहीं, क्योंकि अब उसे उठाना उसके अहं को उठाना था। गिरे हुए अहं और शीत से ठिठुरे हुए साँप को कभी उठाना नहीं चाहिए।

अब वह स्वयं सँभली—“तो मैंने किसकी हत्या की थी? मैंने तो सोचा था कि मैं अपने भाई के हत्यारे की हत्या कर रही हूँ।”

“पर जिसे तुमने सोचा था कि वह तुम्हारे भाई का हत्यारा है, वस्तुतः वह हत्यारा था ही नहीं।” वह मेरी बात से और चमत्कृत हुई।

तब वह कौन था? उसने पूछा नहीं वरन् उसकी प्रश्नवाचक मुद्रा ने पूछा।

“तुम्हारे भाई का कर्म।” वसिष्ठ मुनि की वह बात, जिसे मैंने अनेक बार कही है, पुनः दुहराई—“मनुष्य किसी और से नहीं, अपने कर्मों से ही मारा जाता है।”

वह मौन हो एकटक देखती रही; जैसे आज मैं उसे पहले से बहुत कुछ दूसरा दिखाई दे रहा हूँ। अब प्रभात की ठंडी हवा और तेज हो गई थी। वे दोनों काँपने लगे थे; क्योंकि उनके वस्त्र भीगे थे और उनके पास कोई दूसरा वस्त्र नहीं था।

मैंने देखा कि दूर पर एक साधु धूनी रमाए बैठा है। पहले तो मैंने सोचा कि हम लोग भी वहीं चलें। फिर अचानक मेरा विचार बदला। मैं अपनी समस्या में किसी और का प्रवेश नहीं चाहता था। मैंने एक अनजान स्नानार्थी को

बुलाया। वह मुझे देखते ही पहचान गया। मैंने उसे लकड़ियाँ जुटाकर अविलंब आग लगाने के लिए कहा। अब प्रकाश अरुणाभ हो चला था। मैंने वंशी पर भैरवी छोड़ी। मेरा प्रिय राग और इस समय की प्रकृति का प्रिय राग। सारा यमुनातट थिरकने लगा। इस बीच अग्नि जल उठी थी। अब मैं उन लोगों को लेकर अग्नि के चारों ओर बैठ गया।

“इन जलती हुई लकड़ियों को देखती हो, कैसी धधककर जल रही हैं! कितना सुखद है, मोहक है! तुम्हारे जम रहे रक्त में फिर से उबाल पैदा कर रही हैं।” मैं कहता रहा—“और यदि इन्हें बुझा दिया जाए तब?” मैंने प्रश्न किया था, पर उनसे उत्तर की अपेक्षा नहीं की थी।

मैंने स्वयं कहा, “तब ये लकड़ियाँ धुआँ उगलने लगेंगी। तुम्हारे लिए जितनी सुखद हैं उतनी दुःखद हो जाएँगी। आँखों में कड़ुवाहट भर देंगी—और शायद आँखें भी बंद हो जाएँ।” फिर मेरी नाटकीयता और उभरी—“इसी अग्नि की तरह तुम्हारा प्रेम भी है। जहाँ यह बुझने लगेगा, तुममें कड़ुवाहट भर देगा। शायद तुम्हारी आँखें भी बंद हो जाएँ। ऐसी स्थिति कभी आने मत देना।”

सामने आग धधकती रही, पर शैव्या के भीतर की आग बुझ चुकी थी। मैं बोलता जा रहा था—“तुम्हारी प्रतिहिंसा समाप्त हुई। अब तुम वह नहीं रहें, जो पहले थीं। श्वेतकेतु भी वह नहीं रहा, जो पहले था।...और मैं भी क्या तुम्हें पहले जैसा ही दिखाई देता हूँ?”

उसकी आँखों ने कहा, ‘नहीं, बिल्कुल नहीं।’

“जब सबकुछ नया हो गया तो तुम श्वेतकेतु के साथ एक नए जीवन का आरंभ करो। एकदम नया जीवन, जिसमें आत्मीयता हो, प्रेम हो, सौहार्द हो।...तुम इसी अग्नि की प्रदक्षिणा कर इस नए जीवन का संकल्प लो।”

और आपको आश्चर्य होगा कि बिना कुछ कहे, दोनों पालित श्वान-से मेरी आज्ञा का पालन करने लगे। दोनों ने अग्नि की साथ-साथ परिक्रमा की और मैं फिर भैरवी बजाने लगा।

सवेरा हो चला था। अग्नि के ताप से दोनों के वस्त्र सूख चले थे। मेरी वंशी का सुर भी सूर्य की पहली किरण पर सवार हो दूर तक लहराने लगा था। पेड़ों पर पक्षी भी चहचहा उठे थे। यमुना की लहरें भी कल्लोल करने लगी थीं।

मैं अपनी बाँसुरी में मस्त था। मुझे लग रहा था कि सारी प्रकृति उसीमें लगी है। मैं संसार से दूर अपने स्वर लोक में था। मुझे इसकी भी आहट नहीं लगी कि घरघराता हुआ कोई रथ मेरी ओर खोज में आ रहा है।

वस्तुतः सवेरा होते ही मेरी माँ उद्यान में आई थी। उसने मेरी शय्या देखी और अवाक् रह गई।

एकदम छिन-भिन्न...और वहीं कटार भी थी। फिर शैव्या भी नहीं थी और श्वेतकेतु भी नदारद। सुना, माँ वहीं घबराकर गिर पड़ी। उसने शोर मचाया। सबको वास्तविकता का ज्ञान हुआ। सभी व्यग्रता में डूब गए। पर आश्चर्य था, ज्यों-ज्यों लोगों की व्यग्रता बढ़ती गई, माँ शांत होती गई। वह चुपचाप आकर मेरी बाल प्रतिमा की आराधना करने लगी।

यह सारी बात इस समय रथ पर मुझे खोजने आए उद्धव ने बताई थी। उसे भी हम तीनों को अग्नि के सामने एक विशेष स्थिति में बैठा देखकर आश्चर्य हुआ।

वह मेरी बगल में ही खड़ा था। शायद शैव्या और श्वेतकेतु उसे देख रहे थे। फिर भी चुप थे। मैं वंशी की धुन में ही खोया था।

“आज वंशी ही बजाते रहोगे या कुछ और होगा?” उद्धव ने मेरी पीठ पर हाथ रखा। मेरी तंद्रा टूटी। स्वर का इंद्रजाल बिखर गया।

“आज मैंने दो ही राग बजाया है, उद्धव! एक भैरव और दूसरा भैरवी। एक श्वेतकेतु का प्रतीक और दूसरा शैव्या

का। दोनों में बड़ी निकटता है।...और अब यह निकटता हमेशा बनी रहेगी।

इतना कहते हुए हम तीनों उद्धव के रथ पर बैठ गए।

□

आज बिदाई है। आज मैं अपनी बड़ी बहन शैव्या को बिदा करूँगा, श्वेतकेतु के साथ। मैंने माता आदि सबको तैयार किया; पर सबकुछ आज ही होना था। जल्दी-जल्दी सारी व्यवस्था की गई। सभी प्रसन्न थे। सोच रहे थे कि एक उफनती नदी रातोंरात इतनी शांत कैसे हो गई? कितने गरिमामय और कितने विस्तारित सिंधु की अस्मिता में मिलने जा रही है।

यदि कोई दुःखी थी तो कंसा। उसका हथियार ही जैसे उसके हाथ से छूट गया था। वह बिदाई देने आई तो अवश्य थी, पर अत्यंत भारी मन से उसने शैव्या से मिलते ही कहा भी—“सचमुच तुम चली जा रही हो?...अब मैं मथुरा में अकेली हो गई।”

मैंने तत्क्षण टोका—“क्यों मौसी, तुम ऐसा क्यों कह रही हो?”

अब उसे याद आया कि मैंने क्या कह डाला। मैं कितनी सहजता से खुल गई। उसने तुरंत स्वयं को सँभाला—“नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। उससे इधर मेरी काफी निकटता हो गई थी। वह मेरी छाया की तरह मेरे साथ लगी रहती थी।”

“पर अब वह तुम्हारी छाया नहीं है, मौसी। उसका अपना अस्तित्व है।” मैंने कहा और मौसी की आकृति पर एक बार फिर सलज्ज लालिमा दौड़ आई।

इस शैव्या प्रसंग में जो सबसे अधिक प्रसन्न दिखी, वह मालिनी थी। शायद वह श्वेतकेतु के बाद सबसे अधिक आनंदित थी। उसे स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि एक फुफकारनेवाली नागिन पिटारी में बंद होकर पुष्पहार हो जाएगी। उसकी प्रसन्नता कभी उस ऐंद्रजालिक पिटारी की ओर देख रही थी और कभी उस पुष्पहार की ओर।

मृत्यु शय्या पर पड़े रुग्ण पिता को छोड़कर वह आई थी। मैंने कई बार उसे घर जाने के लिए कहा; पर वह गई नहीं। उसे रात्रि का कोई संदर्भ ज्ञात नहीं था। वह इसके मूल में मेरे देवत्व का ही दर्शन करती रही।

हम लोग मध्याह्न होते-होते महाराज का भी आशीर्वाद लेने गए। वहाँ भी लोगों को इस परिवर्तन पर परम आश्चर्य था। सबने हमें खुशी-खुशी बिदाई दी।

अपराह्न में जब मैं बिदाई के रथ पर बैठाने के लिए शैव्या को अपने आवास के भीतर लेने गया, तब वह माँ से लिपटकर रो रही थी। माँ की आँखें भी भर आई थीं। बड़ा कारुणिक दृश्य था। सचमुच माँ अपनी ही बेटी को बिदा कर रही थी।

माँ को छोड़ते ही वह मुझसे लिपटकर रोने लगी। शैव्या के उन आँसुओं में क्षमायाचना भी थी, पश्चात्ताप भी था, आत्मीयता भी थी और मेरे प्रति कुछ करने की ललक भी। उसकी सिसकन से तैरती हुई यह शब्दावली उभरी—“ईश्वर करता, कि मैं कभी आपके किसी काम आती।”

“काम आने के लिए अभी बहुत अवसर मिलेंगे, बहन।” मैं उसे आशीर्वाद देने की स्थिति में तो था नहीं, क्योंकि छोटा था, फिर भी मैंने उसे सांत्वना देते हुए बस इतना ही कहा, “तुम्हारा काम तो इस समय बस श्वेतकेतु के काम आना है।...उसके किसी भी आदेश की कभी अवमानना मत करना।”

वह इस बार फफककर रो पड़ी।

हम लोगों ने जब उसे बिदाई के रथ पर बैठाया, सूर्य पश्चिम में ढुलक चुका था। जाड़ों की धूप अब ठंडी पड़ चुकी थी। मैंने श्वेतकेतु के कान में धीरे से मुसकराते हुए कहा, “अब तुम्हारा तो काम हो गया। अब मेरे काम पर पूरा ध्यान देना।”

वह तत्क्षण समझ गया कि मैं रुक्मिणी के संदर्भ में बातें कर रहा हूँ। उसने बड़ी गंभीरता से आश्वासन दिया—“मेरे सारे शिष्य आपकी सेवा के लिए तैयार रहेंगे।”

“मैं तुमसे ऐसी ही आशा करता हूँ। तुम कुंडिनपुर के आश्रम के आचार्य हो। तुम बहुत कुछ कर सकते हो। अब तो शैव्या भी तुम्हारे साथ है। अंतःपुर तक बेरोक-टोक तुम्हारी पहुँच होगी।”

वह मुसकराया। हम लोगों ने अक्षत और पुष्पवर्षा करते हुए उसे बिदाई दी। मथुरा स्तंभित थी। उसने रात भर में आग को पानी बनते देखा था।

शैव्या और श्वेतकेतु के चले जाने के बाद मेरे आवास पर उन्हींकी चर्चा थी। बहुत देर तक वातावरण करुणार्द्र था। सचमुच मेरे जीवन में पहली परिस्थिति थी, जब मैंने अपनी बहन को बिदा किया था। पता नहीं कैसा-कैसा लग रहा था।

□

यह दूसरे दिन की संध्या थी। किसी नवल वधू की तरह कोमल धूप सलज्ज होकर अपना आँचल समेटने लगी थी। वायु की शीतलता बढ़ चली थी। चर ने आकर सूचना दी कि कुशस्थली से कोई आया है।

कुशस्थली का नाम सुनते ही मेरी जिज्ञासा एकदम उठ बैठी और मैं उससे मिलने स्वयं द्वार पर आ गया। यह विश्वकृत था। विश्वकर्मा परिवार का सदस्य। द्वारका निर्माण के लिए जो लोग गए थे, उनका यूथप। हमें प्रगति की सूचना देने आया था। उसने बताया कि आपको मानचित्र पहले ही भेज दिया गया था।

“हाँ, वह भैया के पास है।”

“वे कहाँ हैं? मुझे उनसे कुछ विशेष बातें करनी हैं।” उसने कहा।

लगता है, विश्वकृत ककुद्मिन और रेवती का कोई संदेश लाया था। वह भैया को खोज रहा था।

“आज तो उन्हें आना चाहिए था।” मैंने कहा, “संध्या ढलते-ढलते आ जाएँगे।”

“क्यों? उनका आवास तो यहीं है न?”

“हाँ, आवास तो यहीं है, पर वे राजभवन में रहते हैं—नानाजी के साथ।” मैं उससे यह कैसे कहता कि वे इसलिए प्रासाद के अतिथिकक्ष में रहते हैं कि वहाँ खुलकर मैरेय पीने की सुविधा है। ऐसी सुविधा परिवार के बीच संभव नहीं थी।

विश्वकृत ने जो जानकारी दी, उसका सारांश था कि “नगर स्थापित करने से पहले हम लोगों ने सोचा था कि जंगलों को काट दिया जाएगा और नए सिरे से इसे बसाया जाएगा; किंतु फिर हमने विचार बदल दिया। इसके दो कारण थे—एक तो वहाँ की अद्भुत आरण्यक सुषमा का आग्रह और दूसरे, हम लोग पुण्यजन राक्षसों को यह आभास भी नहीं होने देना चाहते थे कि हम लोग यहाँ कोई नगरी बसा रहे हैं। अन्यथा हमें दूसरी विपत्तियों का सामना करना पड़ता।”

“आप लोगों ने सचमुच बड़ी दूरदर्शिता का कार्य किया।” मैंने उनका खुलकर समर्थन किया—“क्योंकि आपका यह कार्य सुरक्षा से कहीं अधिक सांस्कृतिक है। जो जाति प्रकृति के साथ सामंजस्य नहीं स्थापित करती तथा अपने प्राकृतिक सौंदर्य की सुरक्षा नहीं करती, वह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहती।”

अब उसने बताया—“लोगों ने शैल शिखरों को बिल्कुल नहीं छुआ। पूरा द्वीप चारों ओर पर्वतों से घिरा है, जिनपर समुद्र की लहरें टकराती हैं। स्थल मार्ग से तो किसीका भी वहाँ पहुँचना कठिन है। आर्यावर्त का बड़े-से-बड़ा योद्धा भी उस सिंधु गर्जना को प्रणाम करके ही लौट आएगा।”

इतना कहकर वह हँसने लगा और मेरे मन में जरासंध की छवि उभरी। मुझे सचमुच लगा जैसे वह सिंधु की उताल तरंगों को देखकर भयभीत होकर लौट रहा है।

फिर उसने कहा कि “बारह योजन लंबे और आठ योजन चौड़े नगर का स्वरूप हरियाली और झरने से भरी हुई एक थाली की तरह का होगा। पूरे उपनिवेश की लंबाई-चौड़ाई इससे दूनी है। पूर्व में रैवतक की शृंखलाएँ हैं, दक्षिण में लतावेष्ट, पश्चिम में सुकक्ष और उत्तर में वेणुमंत पर्वत हैं।”

वेणुमंत का नाम सुनते ही मुझे लगा कि यह मेरा अभीप्सित स्थान है। प्रकृति ने मेरे ही लिए इसे बनाया है। वेणुमंत को वृंदावन बनाऊँगा और बैठकर वेणु बजाऊँगा। पर ज्यों ही मुझे वृंदावन की याद आती, राधा मेरी स्मृति पर उभर आती। बिना राधा के वृंदावन या बिना राधा के मैं कैसा?

मैं सोचता रहा। विश्वकृत बोलता रहा—“इस पर्वत को सुरक्षित रखने तथा इनके प्राकृतिक परिवेश को बनाए रखने के लिए नगर में प्रवेश के निमित्त हमें अनेक द्वार बनाने पड़ेंगे।”

“ऐसे कितने द्वार होंगे नगर में प्रवेश करने के लिए?”

“कुल पचास और एक प्रधान द्वार।” उसने बताया—“आप वर्धमान को देखेंगे तो गद्गद हो उठेंगे।”

“यह वर्धमान क्या है?”

“आपके नगर का मुख्य द्वार (वर्धमानपुर द्वारमाससाद पुरोत्तमम्) है।”

“श्रीवृद्धि के लिए इससे अच्छा दूसरा नाम हो नहीं सकता।” मैंने पूछा, “इन नामों का निर्णय किसने किया?”

“ककुद्मिन के राजपुरोहित ने।” विश्वकृत ने बताया—“महाराज और उनकी सारी प्रजा नगर निर्माण की देखरेख में रात-दिन लगी रहती है।...अरे, आप उसकी भव्यता का अनुमान इसीसे लगा सकते हैं कि उस नवनिर्मित नगर में आठ राजमार्ग और सोलह चौराहे हैं (अष्टमार्गा महाकक्ष्यां महाषोडशचत्वराम् एवं मार्ग परिक्षिप्तां साक्षादुशन साकृताम्।—शुक्रनीति) तथा अनेक उद्यान और प्राकृतिक निर्झर एवं पुष्करिणियाँ हैं।”

मैंने कभी इतनी सुंदर राजधानी की कल्पना नहीं की थी। यह सब ईश्वर की कृपा थी या नियति का वरदान था। अब मेरा अहं स्वयं मेरे सामने खड़ा हो गया था और मुझसे पूछ रहा था—‘क्या किसी सम्राट् की राजधानी भी इससे सुरक्षित तथा इससे भव्य है?’

मेरे मन में अचानक लंका की छवि उभरी। पर वह तो सुनी-सुनाई बातें थीं। फिर भी विश्वकृत से बोला, “मुझे लगता है, हमारी यह नगरी लंका जैसी ही होगी।”

“लंका से भी अधिक सुरक्षित। लंका के चारों ओर पहाड़ी नहीं थी और न तो लंका में प्रवेश करने के पचास द्वार थे।”

मैं एकदम गद्गद था। “तब तो उसे द्वारावती भी कहा जा सकता है।”

“चाहे द्वारावती कहें या द्वारका, क्या अंतर पड़ता है?” उसने कहा।

हमारी बातें चल ही रही थीं कि रथ की घरघराहट सुनाई पड़ी। मैंने उद्यान के प्रवेश द्वार की ओर देखा, भैया आ रहे थे।

“मैंने कहा था न कि आते होंगे भैया! और आ गए।” मैं बोला और हम दोनों द्वार की ओर बढ़ गए।

वह बलराम भैया के चरणों पर साष्टांग गिर पड़ा। ऐसा तो उसने मेरा भी अभिवादन नहीं किया था। क्या ऐसा सोचना मेरी ईर्ष्या नहीं थी। हर स्थान पर जब मेरा भव्य अभिवादन होता रहा तब क्या भैया के मन में भी ऐसी ईर्ष्या उठती रही?

वस्तुतः विश्वकृत शेषनाग के अवतार के चरणों पर गिरा था, मेरे भैया के चरणों पर नहीं। यह तथ्य उसीकी बातों से ज्ञात हुआ था—“आप उस राज्य के जामाता ही नहीं, पूरी कुशस्थली के देवता हैं। कुशस्थली में आपकी प्रतिमा की पूजा होती है।”

भैया हँस पड़े और मेरी ओर संकेत करते हुए बोले, “पूजा तो इसकी प्रतिमा की होनी चाहिए। सारी माया तो इसकी है।” अब विश्वकृत की श्रद्धास्पर्द दृष्टि मेरी ओर मुड़ी।

उसने एक पत्र निकालकर भैया को दिया। शायद इसी पत्र को देने के लिए वह उन्हें बार-बार पूछ रहा था। पर भैया ने उसे खोला भी नहीं और मुझे थमा दिया।

“अरे, यह तो आपका व्यक्तिगत पत्र है। इसे भाभी ने लिखा है।” मैंने कहा।

“तो इससे क्या हुआ! इसपर तुम्हारा भी अधिकार है।” भैया बोले और मैंने बड़े संकोच के साथ उस विशाल पत्र को मन-ही-मन पढ़ना आरंभ किया। भैया ने व्यंग्य भी किया—“यह तो पत्र नहीं, कोई ऐतिहासिक परिपत्र जान पड़ता है।”

वह पत्र रेवती भाभी ने अपनी प्रेमार्द्र आत्मीयता से लिखा था। इसीलिए उसके विस्तार में जाने की अनुमति न तो हमें शालीनता देती है और न मैं आवश्यकता ही समझता हूँ। मुख्य बातें केवल दो ही थीं। एक तो नगर अब लगभग बनकर तैयार है। दूसरी यह कि पिताजी पर रोज ही मंत्रिपरिषद् का दबाव पड़ रहा है कि वे तुरंत गद्दी छोड़ दें; क्योंकि गिरनार के आदिवासी उन्हें बिल्कुल नहीं चाहते, इसलिए उन्होंने हमसे यथाशीघ्र कुशस्थली आने का आग्रह किया था।

“बस यही दो बातें लिखी हैं!” भैया बोले और मुसकराने लगे—“रेवती ने और क्या लिखा है, यह तो तुमने बताया ही नहीं।”

“उसे तो मैंने पढ़ा ही नहीं, तो बताता क्या!” मैंने हँसते हुए कहा। इस बार विश्वकृत भी मुसकराने लगा।

फिर भैया ने पत्र मेरे हाथ से ले लिया और पढ़ने से अधिक उसे बड़े गौर से देखते रहे। शायद पत्र में उन्हें रेवती भाभी की मोहक भंगिमाएँ दिखाई पड़ने लगी थीं।

मौन का यह अंतराल अप्रत्याशित था और कुछ लंबा भी, पर उबाऊ नहीं।

“तो हम लोगों को अब चलना चाहिए।” भैया की अचानक मुद्रा बदली।

“सब इसी समय तो निश्चित नहीं होगा।” मैंने कहा। भैया समझ गए कि मैं उन्हें गोपनीय मंत्रणा की सलाह दे रहा हूँ।

मैंने विश्वकृत से कहा, “उचित समय आते ही हम यहाँ से चल पड़ेंगे। इस बीच आप उस नगरी को और आकर्षक व उपयोगी बनाइए।”

“यथासंभव हम अपनी ओर से कुछ भी उठा नहीं रखेंगे।” वह आश्वासन देकर चलने को हुआ, तब मैंने उसे पुनः समझाया—“इन सारी बातों को गोपनीय ही रखिएगा। मथुरा में इसे हम तीन के अतिरिक्त चौथा न जान सके।”

और यही हुआ भी। विश्वकृत की सारी सूचनाएँ हमीं के बीच केंद्रित रहीं। राजप्रासाद के अतिथिकक्ष में दूसरे ही दिन भैया ने बातें छेड़ीं—“क्यों नहीं अब हम मथुरा की राजनीति से पिंड छुड़ाएँ।”

पहले तो मैंने उनका अभिप्राय समझा नहीं, पर जब उन्होंने कुशस्थली चलने की योजना बनाने को कहा, तब मैं हँस पड़ा—“क्यों, भाभी की बहुत याद आ रही है क्या?”

“तुम व्यंग्य करते हो!” भैया गंभीर हुए—“हम अब अपनी राजधानी को अधिक दिनों तक छोड़ नहीं सकते।”

“यह तो ठीक है, पर राजधानी का बिना प्रजा के साथ क्या महत्त्व? हम अरण्य पर राज करने के लिए तो पैदा नहीं हुए हैं।”

“तो क्या कुशस्थली की प्रजा प्रजा नहीं है?”

“प्रजा तो है, पर हमारी नहीं है। वह हमारे ससुराल की है। उनका क्या विश्वास!” मैंने विस्तार से समझाया

—“राजा हमारे प्रति समर्पित हैं, इसलिए प्रजा भी समर्पित होगी। यह सोचना भूल होगी। उनमें से ऐसे लोग भी हो सकते हैं, जिन्हें ककुद्मिन को सत्ता से हटाना अच्छा न लगे। वह राख के नीचे दबी चिनगारी की तरह कभी भी भभक सकते हैं।”

“इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि जो दूसरों पर विजय प्राप्त करते हैं, उनको वहाँ शासन नहीं करना चाहिए।”

“दूसरे राज्य पर विजय प्राप्त करना और बात है तथा आकाशबेलि की तरह कहीं जाकर जमना और बात है।” मैंने स्वयं को स्पष्ट किया—“विजय प्राप्त करनेवालों की जड़ें कहीं-न-कहीं होती हैं; पर हमारी जड़ें कहाँ हैं? न गोकुल में और न मथुरा में। ले-देकर यादव सरदारों के ही तो हम पुत्र हैं।”

भैया गंभीर हो गए। मैं बोलता गया—“और विजयी होने पर भी राम ने लंका की सत्ता स्वीकार नहीं की थी।”

“क्योंकि विभीषण को उन्हें उसके समर्पण का पुरस्कार देना था।” भैया तुरंत बोल पड़े।

मैंने कहा, “आपका कथन सत्य हो सकता है; पर क्या यह सत्य नहीं हो सकता कि इतनी दूर अयोध्या में बैठकर लंका की सत्ता सँभाली नहीं जा सकती थी और फिर लंका की प्रजा भी उनकी अपनी नहीं थी। एकदम विजातीय और विसंस्कृतीय। क्या यह संभव नहीं कि लंका की सत्ता विभीषण को सौंपना राम के लिए एक अनिवार्यता थी, जिसे उन्होंने नैतिकता की भूषा पहनाई।...आखिर वे रावण की प्रजा पर कब तक शासन कर सकते थे और वह प्रजा कब तक उन्हें स्वीकार कर सकती थी?”

“तो तुम्हारा यह तात्पर्य है कि हमें अकेले नहीं चलना है, वरन् अपनी प्रजा भी ले चलनी है।” भैया बोले। मैंने उनकी स्वीकृति में सिर हिलाया।

विशेष बात यह थी कि राजनीतिक संदर्भों में भैया कभी मुझसे अधिक विवाद नहीं करते थे। वे मानते थे कि ये मेरा विषय नहीं है। इस समय भी वे मौन रह गए। केवल झुँझलाते हुए इतना बोले, “तो जुटाओ अपनी प्रजा।”

□

दिन सरकता गया, रातें खिसकती गईं।

मथुरा सैनिक संघर्ष के लिए तैयार होती रही। लौहकारों की भट्टियाँ अस्त्र-शस्त्र निर्माण में संलग्न थीं और सांदीपनि का आश्रम शस्त्र शिक्षा में। मैं माघ शुक्ल प्रतिपदा की रथ स्पर्धा में लगा था।

इस तिथि की घोषणा तो पिछली स्पर्धा के समय ही हो गई थी; पर गर्गाचार्य इससे सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि प्रतिपदा से कोई महत्त्वपूर्ण कार्य आरंभ नहीं करना चाहिए।

मैंने उन्हें समझाया कि यह कोई नया कार्य नहीं है। यह पिछली रथ स्पर्धा का अगला चरण है। आचार्यजी मेरे तर्क पर मुसकराने लगे और दबी जवान में बोले, “जैसा तुम उचित समझो। यों इसके चार दिनों बाद तो वसंत पंचमी पड़ ही रही है। इससे उपयुक्त और कोई मुहूर्त न होता।”

“पर तिथि की घोषणा तो बहुत पहले हो चुकी है। क्या उसे बदलना उचित होगा? अब बदलना संभव भी तो नहीं है। कई राज्यों में तो निमंत्रण चले भी गए हैं।”

आचार्यजी चुप हो गए।

“मेरे विचार से तो उस दिन आचार्यजी ने तिथि की घोषणा बड़ी शीघ्रता में की।” छंदक बोला, “इसे मंत्रिमंडल के निर्णय के बाद घोषित करना चाहिए था।”

मैंने तुरंत उसे अपने पास बुलाया और उसके कान में धीरे से कहा, “इससे उपयुक्त कोई दूसरी तिथि नहीं हो सकती। इसे मैंने जोर देकर महाराज से घोषित कराया था।”

“तब तो इसमें भी कोई राजनीति होगी।” वह मुसकराया और उसके साथ मैं भी। उसने धीरे से पूछा, “मैं जान सकता हूँ, इस तिथि के पीछे क्या रहस्य है?”

“समय आने पर तुम सब जान जाओगे।” मैंने कहा, “तुम अभी से उस योजना को सफल बनाने की चेष्टा में लग जाओ।”

“अरे, अभी तो समय काफी है।” छंदक ने कहा, “फिर आपको सफलता में संदेह क्या है?”

“हाँ, यदि प्रयत्न न किया गया तो सफलता में मुझे संदेह है; क्योंकि इस बार कुंडिनपुर के रथ नहीं आएँगे।”

छंदक एकदम सोच में पड़ गया कि यह कौन सी नई राजनीति पैदा हो गई। अभी तक श्वेतकेतु पर आपको बड़ा भरोसा था। तब मैंने मुसकराते हुए धीरे से बताया—“वसंत पंचमी को तो रुक्मिणी का स्वयंवर है।” इतना सुनते ही उसकी आकृति पर बिजली दौड़ गई। लहर देखकर सागर की थाह नापनेवाले छंदक को मेरी राजनीति समझते देर न लगी। इसके बाद वह अपने ढंग से चालू हो गया।

दोपहर ढलने को थी। भोजन के बाद विश्राम ले रहा था; पर नींद नहीं आई। मुझे अचानक ऐसा लगा कि जैसे मालिनी मेरे सामने आकर खड़ी हो गई है। वह कई दिनों से दिखाई नहीं पड़ी थी। श्वेतकेतु और शैव्या को बिदाई देते समय भी नहीं; जबकि शैव्या से उसकी काफी निकटता थी। उससे लड़ती थी, झगड़ती थी, फिर भी उसके साथ लगी रहती थी।

वस्तुतः उसका पिता कर्मा बीमार चल रहा है। वह मृत्यु शय्या पर है। मैं उसके यहाँ किसी दिन गया भी नहीं। वह क्या सोचती होगी? उस शयनकक्ष में उसकी बड़ी-बड़ी करुणार्द्र आँखें उभरती हुई मेरी ओर बढ़ीं। मुझे ऐसा लगा जैसे वह मुझसे कह रही हो, ‘हमें ध्यान से देखो। हममें तुम्हारे अतिरिक्त और कोई है?’

‘हम तो तुम्हारे लिए समर्पित हैं; पर इधर कभी तुमने हमारी सुधि ली? हमारा पिता हर क्षण तुम्हें ही याद करता है। तुम आओ चाहे न आओ, पर वह प्रतिपल तुम्हें ही अपने पास रखता है। हमारी तरह।’

मैं एकदम व्यग्र हो उठा और पैदल ही मालिनी के घर की ओर चला। मार्ग में जिसने देखा उसने टोका; क्योंकि मथुरा में अब मेरी पैदल यात्रा असाधारण स्थिति में ही होती थी।

घर में घुसते ही मैंने देखा कि कर्मा का शिथिल शरीर दूसरी ओर मुँह किए शय्या पर निढाल पड़ा है। धरती पर मालिनी बैठी उसकी शय्या को पकड़े है। कर्मा की खरखराती साँसें कुछ लंबी-लंबी चल रही हैं। उसकी पसलियाँ टूटती तीलियों की तरह चरमरा रही हैं।

मैं इतने दबे पाँव भीतर घुसा था कि मेरी उपस्थिति का दोनों को आभास नहीं हुआ। श्वेत वस्त्र में लिपटी मालिनी चिंतित मुद्रा में सिर नीचा किए ऐसी लगी मानो तुषारावृत्ता कोई कमलिनी टूटी हुई अपनी नाल की ओर झुक गई हो।

मैंने धीरे से कहा, “मालिनी!” और वह हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई। उसने मुझे गौर से देखा फिर आगे-पीछे देखा, कोई और तो नहीं है। फिर मुझसे लिपटकर सिसकने लगी। उसके धैर्य का बाँध टूट गया और आँखों से गंगा-यमुना बहने लगी।

उसने कुछ कहा नहीं; पर उसकी हर सिसकन कह रही थी कि अब तक कहाँ थे?

“तुमने हृदय से पुकारा और मैं चला आया।” मैंने उसे ढाढ़स बँधाया।

“पिताजी तो कब से आपको याद कर रहे थे।” उसकी सिसकन से एक आवाज उभरी। फिर उसने अपने पिता की ओर देखा, “लगता है, अभी वह सो गए हैं।”

मालिनी ने कर्मा को करवट बदलाते हुए कहा, “देखो, कौन आया है!”

अब कर्मा की आँखें खुलीं और तत्काल आँसुओं से भर गई। मैंने अनुभव किया, उसके हाथों की अशक्तता मेरे चरणों की ओर बढ़ने के लिए प्रयत्नशील है। मैं स्वयं आगे बढ़ गया। फिर किसी तरह उसने मेरे पगों का स्पर्श किया। वह कुछ बुदबुदाया भी। शायद वह कह रहा था, मैं धन्य हुआ।

तत्पश्चात् उसकी दोनों आँखें अविरल बहने लगीं।

“क्यों रो रहे हो, कर्मा?” मैंने उसका सिर सहलाते हुए कहा, “तुम एक द्वार के निकट हो, जिसमें प्रवेश करते ही यह जीवन तुमसे छूट जाएगा।” इतना कहना था कि मालिनी फफककर रो पड़ी।

“किसलिए रोती हो, मालिनी? इस शरीर के लिए! यह न तो तुम्हारा रहा है और न तुम्हारा रहेगा।” मालिनी मुझे बड़े आश्चर्य से देखती रही कि मैं स्वयं क्या कह रहा हूँ।

यों तो मैंने कई बार कहा है कि ‘गीता’ युद्धस्थल में नहीं जनमी थी और न उसका निर्माण एक दिन में हुआ था। उसका घट जीवन के अनुभवों से निचुड़कर बूँद-बूँद इकट्ठा हुआ था, जो युद्धस्थल में मोहग्रस्त अर्जुन के समक्ष केवल ढुलक गया था।

मैं कहता गया—“यह शरीर तो प्रकृति का है, नियति का है। नियति ने ही इसे हमारी आत्मा को सौंपा है—उसकी चेतना अभिव्यक्ति के लिए। जब तक प्रकृति उसे बनाए रखेगी, शरीर रहेगा।”

मालिनी के साथ ही मैंने अनुभव किया, कर्मा भी मुझे सुन रहा है; क्योंकि उसकी आँखों के आँसू थम गए थे। उसकी जिज्ञासा किसी शाश्वत सत्य की ओर लगी थी।

मैं बोलता जा रहा था—“पर प्रकृति का मूल धर्म है—परिवर्तन, या उसे प्रलयग्रस्तता भी कह सकते हैं। जो प्रकृति आज है, वह कल नहीं रहेगी। जो कल होगी, वह अगले दिन नहीं होगी। नित्य प्रलय प्रकृति का स्वभाव है।”

प्रकृति के इस नियम और स्वभाव के होते हुए भी मालिनी बीच में ही बोल पड़ी—“आपने मुझे उठाकर खड़ा कर दिया था। क्या आप मेरे पिता को उठाकर खड़ा नहीं कर सकते?”

मुझे हँसी आ गई—“यह तुम्हारा तर्क नहीं, तर्काभास है। तुमने प्रकृति के साथ कुछ अपराध किए थे, जिसका दंड उसने तुम्हें त्रिवक्रा बनाकर दिया था। मैंने तुम्हें उन अपराधों का परिहार करना सिखाया था और तुम उठकर खड़ी हो गई थीं। तुम्हारे शरीर का क्षय नहीं हुआ था, केवल उसमें थोड़ी विकृति आ गई थी। वह दूर हो गई; पर तुम्हारे पिताश्री का शरीर जीर्ण हो गया है। जैसे पुराना होने पर वस्त्र काम का नहीं रह जाता वैसे ही यह शरीर भी काम का नहीं रह जाता। इसे आत्मा स्वेच्छा से उतारकर फेंक देती है। उसीको मरण कहते हैं।”

“इसका तात्पर्य है कि कोई भी अमर नहीं है।” मालिनी बोली। मैंने अनुभव किया कि वह पहले से अधिक प्रकृतिस्थ है। उसका मोह धराशायी हो रहा है। उसका चिंतन माया को पहचानने लगा है।

“शरीर तो अमर नहीं है, वह मरणधर्मा है। वह जन्म लेता है।...और जो जन्म लेता है वह मरता अवश्य है। पर जो न जन्म लेता है और न मरता है, कदाचित् तुम उसे नहीं जानतीं।”

उसने बड़े सहजभाव से सिर हिला दिया; जैसे वह पूछ रही हो, वह कौन है?

“वह मैं हूँ, मेरा शरीर नहीं।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “वह तुम हो, तुम्हारा शरीर नहीं। हम लोग तो न कभी जनमे थे, न मरेंगे। फिर मृत्यु के लिए इतना दुःखी होने की क्या आवश्यकता?”

“दुःख तो इसका है कि मेरे पिता जा रहे हैं।” मालिनी बोली।

“पिता-माता, भाई-बंधु, पुत्र-पुत्री—यह सब तो शरीर के रिश्ते हैं। शरीर के छूटते ही ये सब छूटेंगे। यही माया है। इसीके प्रति हमारा मोह है। पर जो न छूट सकता है और न छोड़ा जा सकता है, वही हम हैं।”

मैं समझ रहा था कि मेरे चिंतन स्तर तक मालिनी पहुँच नहीं पा रही है। फिर भी वह पहुँचने का प्रयत्न कर रही है।

उधर मुझे कुछ ऐसा लगा कि कर्मा मालिनी से अधिक मुझे समझ पाया है। वह अधिक संतुष्ट लगा। उसकी

आकृति का तनाव काफी ढीला पड़ चुका था। उसकी पीड़ा भी अब शांत थी। वह एकटक मुझे देख रहा था। पर मालिनी अब भी उलझन में थी। वह बोली, “इसका मतलब है कि हमारा-आपका संबंध भी मोहजन्य है, माया का परिणाम है?”

“यदि वह मात्र शरीर तक सीमित होता तो।” मैंने कहा, “तू तो मेरी आत्मा के साथ है।” इतना सुनते ही उसकी मानसिकता मुझसे लिपट गई। इसके बाद मुझे एक अद्भुत अनुभूति हुई। मुझे लगा कि हम दोनों जाने कब से एक हैं।

□

कर्मा के घर से निकलकर मैं थोड़ा आगे बढ़ा होऊँगा कि पीछे से मुझे किसीके पुकारने की आवाज लगी। मैंने मुड़कर देखा, छंदक था।

“मैं बड़ी देर से आपको खोज रहा हूँ।”

“खोज रहे थे, इसीसे तो मैं मिला भी।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

मैं उससे खोजने का कारण पूछूँ, इसके पहले ही वह बोला, “आपने कुछ सुना है?”

“क्या?”

“सौभ के राजा शाल्व और उसके कुछ योद्धा कल रात मथुरा आए थे। सुना है, उनके साथ भद्रक भी था। मुझे इसकी भी सूचना मिली है कि वह रात भर इस नगर का निरीक्षण भी करते रहे।” छंदक बोला।

“यह बात तो तेरे द्वारा प्रचारित नारद की वीणा की तरह है।” मैंने छंदक को उसके प्रचारतंत्र की एक पुरानी याद दिलाई।

वह मुसकराता अवश्य; पर शीघ्र ही बड़ा गंभीर हो गया—“वह सत्यप्रसूत कल्पना थी, पर यह तो साक्षात् सत्य है।” उसने यह भी बताया कि “मध्य रात्रि के बाद उनकी बैठक सत्राजित् के साथ हुई थी।”

मैं सोचते हुए उसके साथ आगे बढ़ा और शीघ्र ही राजभवन आया। सबसे पहले भैया मिले। उन्हींके साथ उद्धव भी था।

“तुम दोनों इधर कैसे?” भैया देखते ही बोल पड़े।

मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही छंदक बोलने लगा और सारी बात बता दी। सभी सोच में पड़ गए। आखिर बात क्या हो सकती है?

“आश्चर्य तो यह है कि रात्रि के प्रहरियों ने भी इसकी सूचना नहीं दी।” भैया बोले।

“यदि दी भी होगी तो महाराज को दी होगी। अपने अधिकारियों को दी होगी। हमें क्यों देते?” मैंने कहा।

“पर मुझे लगता है कि इसकी जानकारी अभी तक महाराज को भी नहीं है।” छंदक बोला।

“यह तुम कैसे कह सकते हो?”

“मैं विकट्ट से मिला था।” छंदक बोला, “यदि कोई बात होती तो वह अवश्य कहते।”

“हो सकता है, वह तुमसे न कहना चाह रहा हो।” मैंने कहा और बातों की इस गंभीरता को झकझोरने की नीयत से मुसकराते हुए बोला, “तुम्हारी प्रकृति कुछ बड़ी विचित्र सी होती जा रही है, छंदक! तुम सदा व्यग्र कर देनेवाली ही सूचनाएँ देते हो। ऐसी सूचना कभी नहीं देते, जो प्रसन्न कर देनेवाली हो।”

“मेरे पास एक प्रसन्न कर देनेवाली भी सूचना है।” इसके बाद छंदक ने बताया—“सत्राजित् के यहाँ हुई बैठक में बृहद्बल भी गया था; पर उसे लोगों ने वहाँ से भगा दिया।”

“यह समाचार तो अच्छा है; पर इसका सूत्र क्या है?”

“सूत्र की क्या आवश्यकता है! सत्राजित् के यहाँ से लौटते समय बृहद्बल स्वयं मुझसे मिल गया था। बड़ा दुःखी

था कि लोग मेरा विश्वास नहीं करते। उसी ने ये सारी बातें बताई थीं।”

मैंने उद्धव की ओर संकेत किया—“तब तो तुम उससे कुछ और जान सकते हो?”

“मैं उससे नहीं बोलता। प्रयत्न करने पर भी शायद वह बताए भी न।” उद्धव बोला।

हम लोग बातें करते हुए राजपथ पर चले आए थे और उधेड़बुन की मानसिकता में बढ़ते चले जा रहे थे। पैदल ही थे। सामने से विकट्ट का रथ आता दिखाई दिया। हम लोगों को देखकर वह थोड़ी दूर पर ही रथ से उतर गया और हमारे साथ पैदल चलने लगा। उसने बताया कि मैं आप ही लोगों की खोज में निकला हूँ।...फिर वह बड़ी होशियारी से मुझे अपने मित्रों से दूर ले गया और बोला, “महाराज ने आपको बुलाया है।”

“क्यों?”

“यह स्पष्ट तो नहीं मालूम।” विकट्ट ने बताया, “हो सकता है, कोई मंत्रणा करनी हो।”

मैं मौन हो छंदक की सूचना और महाराज के आमंत्रण की संगति बैठाने लगा।

“तो क्या कहूँ महाराज से?”

“मैं शीघ्र ही उनसे मिलूँगा।” मैंने कहा और विकट्ट को छोड़कर अपने मित्रों के बीच आया। लोगों में जिज्ञासा थी।

कुछ ने संकेत से पूछा भी। मैंने बस इतना ही कहा, “महाराज ने अविलंब बुलाया है।”

लोगों ने एक-दूसरे की ओर देखा और बोले, “हो सकता है, सूचना उन तक पहुँच चुकी हो।”

“हो सकता है।” उस समय तो बात वहीं छूट गई।

मध्याह्न के भोजन के बाद और अपराह्न के पूर्व ही मैं राजभवन पहुँच चुका था। भैया से ज्ञात हुआ—“महाराज इस समय विश्रामकक्ष में हैं। हो सकता है, जाग भी रहे हों; क्योंकि अभी कुछ समय पूर्व ही वे तुम्हारे बारे में पूछ रहे थे।”

मैं सीधे विश्रामकक्ष की ओर बढ़ गया। मैंने बाहर से ही झाँककर देखा। महाराज सोए नहीं थे। वे एकटक सामने वातायन की ओर देख रहे थे। लगता है, बाहर निकलकर उनकी दृष्टि आकाश में कुछ खोज रही थी।

आहट लगते ही उन्होंने मेरी ओर देखा और मुझे अपनी शय्या पर ही बुला लिया। बिना किसी भूमिका के वे एकदम बोल पड़े—“लगता है, इस बार भी तुम्हारी रथ स्पर्धा सफल नहीं हो पाएगी।”

“क्यों? पत्र तो अनेक राज्यों से और आशाजनक आए हैं।”

“कल रात्रि का समाचार आशाजनक नहीं है। षड्यंत्र की अवतारणा आरंभ हो गई है।”

उन्हें सबकुछ मालूम था, जिसे छंदक ने मुझे बताया था; पर वे बृहद्बलवाला संदर्भ नहीं जानते थे।

मैंने कहा, “मुझे सब ज्ञात है। अब आप एक काम कीजिए। बृहद्बल को बुलाकर इस बार की स्पर्धा का सर्वेसर्वा उसे बना दीजिए।”

अब मैंने बृहद्बल का संदर्भ उन्हें बताया। वस्तुतः उनकी विश्वसनीयता की सूची से उसका नाम कट चुका था। उन्होंने हँसते हुए कहा, “अब उसे अपने निकट रखा जा सकता है!”

मेरी एक मुख्य चिंता दूर हुई। मैं रथ स्पर्धा के दिन एकदम मुक्त रहना चाहता था; क्योंकि उस दिन हमारी कुछ और ही योजना थी। दूसरे, वर्तमान स्थिति में बृहद्बल पर विश्वास जमाना भी जरूरी था।

“यह तो ठीक है; पर लोगों की योजना क्या है?” महाराज बोले, “इसका तो ठीक पता नहीं चला।”

“वह भी पता चल जाएगा।” मैंने आश्वस्त किया—“कुछ भी होगा तो झलककर सात्यकि तक आया अवश्य होगा।”

महाराज ने मेरी बात का समर्थन किया और अब सात्यकि की खोज शुरू हुई।



नौ

सात्यकि के पास भी कोई विशेष जानकारी नहीं थी। उसे भी सूचना बृहद्बल से ही मिली थी।

“इसके बाद तुम सत्राजित् से नहीं मिले?” मैंने सात्यकि से पूछा।

“मिला तो था।” सात्यकि ने बताया—“पहले तो वह ऐसा अनजान बन रहा था जैसे कोई नई बात नहीं है। फिर उससे मैंने कहा कि बड़ी चर्चा है कि रात्रि को भद्रक एवं शाल्व पधारे थे और प्रभात के पूर्व ही चले गए।”

“‘आए होंगे।’ उसने ऐसे कहा जैसे उसका इससे कोई मतलब ही न हो।

“‘मैंने तो यह भी सुना है कि उनकी आपके यहाँ ही मंत्रणा होती रही।’ जब मैंने यह कहा तो सत्राजित् हँसने लगा—‘तुम्हें यह सूचना कैसे मिली? उसी कायर और डरपोक ने बताया होगा।’”

मैंने समझ लिया कि वह बृहद्बल के संबंध में ही बहक रहा है। पर सात्यकि के अनुसार, “पता नहीं उसका संकेत किसकी ओर था। मैं सत्राजित् से बोला, ‘मेरे यहाँ तो कोई डरपोक और कायर नहीं आता।’

“‘पहले तो सभी वीर और शौर्यवान् लगते हैं, पर काम पड़ने पर ही कायरता दिखाई देती है।’ सत्राजित् ने इसी प्रकार की बातों में मुझे बहका दिया; पर लगता है कि कोई गंभीर बात जरूर है।

“यदि आप कहें तो फिर पूछने की कोशिश करूँ।”

“नहीं, अब इस विषय में बिल्कुल मत बात करना, अन्यथा वह समझेगा कि हम लोग आतंकित हैं। बात तो मालूम ही हो जाएगी।”

“हमारा अनुमान है कि वह हमारी सुरक्षा व्यवस्था की थाह लेने आया था; क्योंकि हम लोगों ने मागधी सैनिकों को धीरे-धीरे मथुरा से हटा दिया है। अब बाण आदि जरासंध के मित्र भी मथुरा से अलग हो गए हैं। मगध के गुप्तचरों पर भी हमारी गिद्ध दृष्टि है।” सात्यकि बोला।

मैंने अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। रथ स्पर्धा की गतिविधि के संबंध में बातें आरंभ कीं और कहा, “इस बार तो मथुरा के रथों का संचालन तो तुम्हारी ही देखरेख में होगा। तैयारी तो तुमने अच्छी की होगी?”

“तैयारी तो की है, पर अच्छी है या बुरी, इसका निर्णय तो आप करेंगे।”

“उस दिन कितने रथ तुम्हारी ओर से रहेंगे?”

“शताधिक।”

मैंने सात्यकि की पीठ ठोंकी—“तुमसे मुझे ऐसी ही आशा है।”

फिर मैंने संकेत किया कि वह स्पर्धा तो एक परदा है। उसके पीछे हमारी कुछ और ही योजना है।

उसके कान खड़े हुए। पर मैंने रहस्योद्घाटन नहीं किया। केवल इतना ही बताया—“उस नाटक के तुम भी एक पात्र होगे, इसलिए अपनी तैयारी पूरी रखना।”

अनेक प्रश्नों का सहारा लेती हुई उसकी जिज्ञासा छटपटाती रही; पर मैं मुसकराता रहा। मैंने कुछ कहा नहीं। केवल इतना बताया—“उस रथ स्पर्धा का सर्वेसर्वा महाराज ने एक कायर और डरपोक को बनाया है।”

पुनः उसकी प्रश्नवाचक मुद्रा उभरी—“यह आप क्या कह रहे हैं?”

“जो आपके मित्र कहते हैं वही तो कह रहा हूँ।” फिर मैंने संकेत से उसे बता दिया कि वह बृहद्बल है।

“अच्छा, तो आप सत्राजित् की बात दुहरा रहे हैं” सात्यकि हँसा।

मैं भी मुसकराते हुए चल पड़ा और सीधे राजभवन पहुँचा। माया ने बताया—“छंदक आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।

मैंने सोचा, अवश्य कोई नई बात होगी। मन फिर शाल्व और भद्रक के रात्रि आगमन की ओर गया।

छंदक से मिलते ही इस विषय में पूछा, “कहिए महाराज, फिर कोई विपत्ति खड़ी कर दी क्या?”

“मैं विपत्ति नहीं खड़ी करता, प्रभु! वह स्वयं खड़ी मुझे दिखाई देती है। मैं तो मात्र उसकी ओर आपकी दृष्टि ले जाता हूँ।” फिर उसने बताया—“जरासंध कालयवन के पास गया था।”

“किसलिए?”

मथुरा के अतिरिक्त इस समय उसकी दृष्टि में क्या हो सकता है!” छंदक ने कहा, “मथुरा-विजय के लिए उसने कालयवन से सहायता माँगी है।”

“तो क्या कालयवन सिंधु पार से अपना राज्य छोड़कर यहाँ आएगा?” मैंने पूछा।

“यह भी एक समस्या है।” छंदक बोला, “सुना है, जरासंध से उसकी पटती भी नहीं है।”

“कैसे पटे? दोनों चक्रवर्ती होने के महत्वाकांक्षी हैं।” मैं बोला, “महत्वाकांक्षी व्यक्तियों की टकराहट बड़ी भयंकर होती है, छंदक!”

“पर इससे भी भयंकर होती है प्रतिशोध की भावना।” छंदक ने कहा, “बतानेवालों ने यह भी बताया कि जरासंध ने मथुरा कालयवन को दे दी है।”

बात कुछ मेरी समझ में नहीं आई। मैं सोच ही रहा था कि छंदक बोला, “जरासंध ने कहा कि मथुरा पर हम दोनों मिलकर आक्रमण करेंगे और जीतने पर मथुरा आपकी होगी।”

“इस सीमा तक जरासंध चला आया है। लगता है, अब वह पूर्ण निराश हो चला है।” मैंने कहा तो सही, पर मेरे मन में तुरंत प्रतिक्रिया हुई—यदि वह पूर्णतः निराश होता तो चेदि और विदर्भ को अपने रिश्तों में जोड़ने की चेष्टा न करता।

कुछ भी हो, यह समाचार मेरे लिए चिंता का विषय था। मैंने छंदक को सावधान करते हुए कहा, “देखो भाई, तुम अपनी सूचना अपने तक रखना। यों ही जरासंध मथुरा के लिए आतंक है। अब जब वह कालयवन का नाम सुनेगी तब उसका मनोबल एकदम टूट जाएगा। फिर वसंत पंचमी के पूर्व कुछ होता नहीं लगता।”

“मैं भी यही सोचता हूँ।” छंदक बोला। उसे तो मालूम ही था कि जरासंध रुक्मिणी स्वयंवर में व्यस्त है।

मेरा मस्तिष्क एक विचित्र उलझन में पड़ गया। मेरी मुद्रा गंभीर हो गई। मैं एकदम शांत था। छंदक भी मेरे सामने चुप बैठा रहा। उसे लगा जैसे मेरा सारा व्यक्तित्व उससे पूछ रहा हो कि अब क्या किया जाए, छंदक।

थोड़ी देर बाद वह भी उठकर चला गया।

मेरे जीवन में व्यक्तिगत चिंताएँ तो बहुत आई थीं, पर ब्रज पर इंद्र के कोप के बाद समाजगत यह दूसरी और उससे कहीं अधिक गंभीर चिंता थी। मेरी व्यग्रता अब महाराज से मिलने की स्थिति में नहीं थी। मैं राजभवन के उद्यान की ओर चला।

बहुत देर तक वहाँ घास पर मैं जाड़े की मुलायम धूप में पड़ा रहा। मुझे ऐसा लग रहा था कि मैं ऐसे बिंदु पर पड़ा हूँ, जहाँ से कोई रास्ता नहीं फूटता। मेरी व्यग्रता भी जड़ हो चली थी। थोड़ी देर बाद शायद मेरी आँखें लग गईं।

जब नींद खुली तो सूर्य अस्ताचल की ओर ढुलक चला था। धूप की चादर मुझपर से धीरे से खिसक गई थी। मैंने मुड़कर देखा, माया खड़ी थी।

“आपको कुछ मालूम है?” उसने पूछा।

“क्या?”

“आपके पास बहुत देर तक आचार्यजी खड़े थे और अभी-अभी गए हैं। आश्चर्य से यह कहते गए कि आज कन्हैया अकेला और इस तरह घास पर पड़ा हुआ है।”

“कहाँ गए आचार्यजी?”

“लगता है, महाराज के ही पास गए होंगे।”

अब मैं उठकर सीधे महाराज के कक्ष की ओर चला। मुझे दूर गलियारे से ही महाराज और आचार्य की बातों का आभास लगा। वे मेरे संबंध में ही बातें कर रहे थे।

“मैंने कभी कन्हैया को इस तरह घास पर अकेला पड़ा नहीं देखा था।” यह आवाज गर्गाचार्य की थी।

“जैसा आप बताते हैं, यदि वह सत्य है तो चिंता की बात है।” महाराज बोले, “यदि यह सूचना उसे मिली होगी तो उसका चिंतित होना स्वाभाविक है।”

तब तक मैं पहुँच चुका था।

“लो आ गया कन्हैया।” महाराज बोले, “यह तो अब भी मुसकरा रहा है, आप कहते हैं चिंतित है।”

“इसकी मुसकराहट को कोई भी चिंता छीन नहीं सकती।” आचार्य बोले, “तुम्हें मालूम है या नहीं कि जरासंध ने कालयवन से पहल की है?” उन्होंने मुझसे पूछा।

“मालूम है और इसी विषय में मैं आपसे मिलना चाहता था।” मैंने कहा, “मैंने यह भी सुना है कि दोनों में पटती नहीं है।”

“तुमने ठीक सुना है।” गर्गाचार्यजी कुछ सोचते हुए बोले, “लगता है, शाल्व ने यह स्थिति पैदा की होगी; क्योंकि कालयवन का वह मित्र है और जरासंध का भी।”

“यह आपको कैसे मालूम?” महाराज ने पूछा।

“भला मैं न जानूँगा! कई पीढ़ियों से कालयवन हमारे परिवार की शिष्य परंपरा में है।” गर्गाचार्य के इतना ही कहते नानाजी की बाँछें खिल गईं। मुझे भी लगा कि डूबते को तिनके का सहारा मिला।

“हम भी आपके शिष्य और वह भी आपका शिष्य।” मैंने कहा, “क्या शिष्य ही का शिष्य पर आक्रमण होगा?”

“हो सकता है, क्योंकि महत्वाकांक्षा कुछ भी करा सकती है।” आचार्यजी बोले, “यों ही कालयवन अपनी शक्ति के मद में अंधा रहता है।”

“फिर भी आपको कोई मार्ग तो निकालना ही होगा।”

“चेष्टा करूँगा। आज रात्रि संध्या-पूजन के बाद आओ, कुछ सोचता हूँ।” आचार्यजी बोले।

उस समय भी लोगों का यही सोचना था कि इसकी सूचना औरों को नहीं मिलनी चाहिए। पर यह होगा कैसे?

“धीरे-धीरे तो बात फैल ही रही है। आखिर हम लोगों तक तो आ ही गई।” मैंने कहा, “और फिर जरासंध के गुप्तचर मौन थोड़े रहेंगे!”

आचार्य चिंतित हुए—“क्या मागधी गुप्तचर अभी मथुरा में हैं?”

“कैसे कहा जाए कि नहीं हैं।”

जब मैं गर्गाचार्य के यहाँ पहुँचा, अँधेरा हो चला था। दीपक जलाए जा चुके थे। अनुचर ने कहा कि आचार्यजी अभी पूजन पर हैं; पर अब उठने का समय हो गया है। मैं उनके अतिथिकक्ष में बैठा दिया गया। मैंने अनुभव किया कि मेरे आने के बाद भी आचार्यजी को खोजता हुआ कोई बाहर आया था। परिचर ने उसे यह कहकर लौटा दिया कि इस समय आचार्यजी किसीसे मिलेंगे नहीं।

स्पष्ट था कि यह समय उन्होंने मेरे लिए ही सुरक्षित रखा था। पूजा से उठते ही वे मेरे पास आए और उसी चिंता में

डूबे हुए बोले, “मैंने बहुत सोचा, पर मुझे कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। कालयवन की शक्ति अपार है। मथुरा शायद एक दिन भी उसके सामने टिक न सके।”

“क्या आपका भी उसके यहाँ जाना निष्फल होगा?”

“निष्फल हो या न हो, पर सफल तो नहीं होगा। उसका पिता मेरा शिष्य था। शायद अब वह पहचाने भी नहीं और न उसने कभी अपने गुरु को याद ही किया।... और एक बात समझो, कन्हैया! आचार्य तभी तक आचार्य रहता है जब तक शिष्य उसे स्वीकार करे, अन्यथा उसका आचार्यत्व भिक्षाटन करनेवाले ब्राह्मण से अधिक नहीं होता।”

मैं सोच में पड़ गया। वे भी मौन ही रहे; जैसे अनेक सूत्रों के बीच से किसी जाने-माने सूत्र की वे खोज कर रहे हों।

मैंने मौन भंग किया—“ऐसा कोई मार्ग नहीं निकल सकता, जिसमें कालयवन की जरासंध से ही ठन जाए?”

“इस कला में तो तुम्हीं निष्णात हो।” आचार्यजी की आकृति पर मुसकराहट उभरी—“तुम्हीं कुछ सोच सकते हो।”

“क्या शाल्व को मिलाया नहीं जा सकता?”

“किया क्या नहीं जा सकता! पर इस समय किसी प्रकार का प्रस्ताव हमारी दुर्बलता का प्रदर्शन होगा।” आचार्यजी की इस बात से मैं भी सहमत था।

मैं बहुधा व्यक्ति की प्रकृति और स्वभाव से लाभ उठाने का पक्षधर हूँ; पर कालयवन के स्वभाव से परिचित नहीं था। और न मैं उसकी आदतें जानता था। इसलिए मैंने आचार्यजी से अनेक जिज्ञासाएँ कीं। पर उनसे कोई विशेष जानकारी नहीं मिली। उनकी भी लाचारी थी। उस परिवार की गुरु-परंपरा में होते हुए भी विगत कई दशकों से वे कालयवन और उसके परिवार के बारे में नहीं जानते थे।

केवल एक बात की जानकारी मिली कि कालयवन का पूरा परिवार काले साँपों से बहुत डरता है। इस संदर्भ में आचार्यजी ने बड़ी पुरानी बात बताई कि उनके पूर्वजों में तीन...और वह भी लगातार तीन पीढ़ियाँ काले साँपों के काटने से मरी हैं। तब से वे लोग जब भी काला साँप देखते हैं, उसे अपना काल ही समझते हैं।

इस छोटी सी सूचना को लेकर मैं आचार्यजी के यहाँ से चलने को हुआ।

फिर मैंने सोचा, क्यों नहीं आचार्यजी को सारी योजना से अवगत करा दिया जाए। दो-एक ऐसे भी बिंदु थे, जिनपर मुझे उनसे राय लेनी थी। मैंने इस नए संदर्भ को बड़े संकोच के साथ कहना आरंभ किया—“मुझे एक विषय में आपसे कुछ राय लेनी थी।”

आचार्यजी सावधान हुए, फिर संकेत से पूछा, “क्या बात है?”

“यह तो आप जानते ही होंगे कि माघ शुक्ल प्रतिपदा को रथ स्पर्धा की योजना है।”

“जानता हूँ और मैं ही क्या, पूरी मथुरा जानती है।”

“इसकी घोषणा तो महाराज ने की थी; पर आप यह न जानते होंगे कि इस तिथि का निश्चय मैंने किया था।” आचार्यजी बड़े ध्यान से सुनते रहे और मैंने विस्तार से बताना आरंभ किया—“इसके पीछे मेरी एक राजनीति है, जिसकी चर्चा मैंने श्वेतकेतु को छोड़कर किसीसे नहीं की है। माघ शुक्ल पंचमी, अर्थात् वसंत पंचमी को कुंडिनपुर में रुक्मिणी का स्वयंवर है। इसकी सारी व्यवस्था जरासंध कर रहा है। उसने निमंत्रण अपने जाने-बूझे लोगों को ही भेजे हैं। उसका निमंत्रण न तो मथुरा में आया है और न आएगा।”

“इसपर तो विस्तृत चर्चा भी हो चुकी है। मथुरा को अपमानित करने के लिए उसने ऐसा किया है।”

“जी हाँ, और मथुरा से अधिक मुझे अपमानित करने के लिए उसने ऐसा किया है।” मैंने बताया कि “उसका

कहना है कि राजवंशों के स्वयंवर में यादव नायकों के पुत्रों की क्या आवश्यकता?”

“इसका तात्पर्य है कि यादवों का भी उसने घोर अपमान किया है।”

“पर इसकी उसे क्या चिंता है? वह यादवों को समझता क्या है?”

“यादवों को उनकी उपेक्षा का बोध कराना चाहिए।” आचार्य बोले।

“पर इसकी जानकारी यादवों को मैं करा चुका हूँ।”

“जानकारी कराना और बात है तथा अपमान का बोध कराना और बात है।”

आचार्यजी ने कहा, “बोध कराने का मतलब है, उन्हें इस अपमान के विरुद्ध उठने के लिए प्रेरित करना। इससे तुम्हें शक्ति मिलेगी।”

मैंने आचार्य की बात को स्वीकारा। मुझे लगा कि बात दूसरी ओर बहक गई।

मैं तुरंत उसकी डोर खींचकर गंतव्य की ओर चला—“उस रथ स्पर्धा का मेरा मुख्य उद्देश्य है कि हमारे जो मित्र राज्यों के रथ आएँगे और जो उस समय तक मथुरा के रथ तैयार होंगे। उन्हें लेकर मैं कुंडिनपुर की ओर बढ़ चलूँगा, जिससे ठीक स्वयंवर के समय तक पहुँच जाऊँ।”

“अनाहूत स्वयंवर में पहुँच जाओगे?”

“क्यों, नहीं पहुँचना चाहिए क्या?” मैं अचानक आवेश में आ गया—“मथुरा का अपमान हुआ है। यादवों का अपमान हुआ है। मेरा अपमान हुआ है।...और आप जानते हैं कि वह स्वयंवर भी रुक्मिणी की इच्छा के विरुद्ध है। जरासंध उसे शिशुपाल के गले में बाँधना चाहता है; जबकि रुक्मिणी उसे बिल्कुल नहीं चाहती। वह विवश है। उस विवशता में बार-बार उसने मेरा आह्वान किया है।...आप तो जानते ही हैं कि हर आर्तनाद के पीछे मैं व्यग्र होकर दौड़ता हूँ।”

आचार्यजी तुरंत बोले, “ऐसी स्थिति में तुम्हें अवश्य जाना चाहिए और रुक्मिणी का हरण करना चाहिए।”

“क्या शास्त्रसम्मत होगा?”

मेरे पूछने पर आचार्यजी जरा सा रुके। फिर मुसकराते हुए बोले, “तुमने तो स्वयं कहा है कि उसकी करुण पुकार पर मैं जा रहा हूँ। किसी भी विपत्ति में पड़ी नारी को छुड़ाना सदैव शास्त्रसम्मत रहा है।...और फिर हमारे यहाँ नारी हरण परंपरासम्मत भी रहा है। यदि शास्त्र इसपर मौन भी होता या अपनी प्रतिकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करता, तब भी परंपरा तो तुम्हारा साथ दे रही है। आखिर शांतनु ने काशिराज की कन्याओं का हरण ही किया था।”

आचार्य की इस व्यवस्था ने मेरी इच्छा पर मुहर लगा दी। मैंने प्रसन्न होकर कहा, “अब मेरी शंका मिटी। मैं ऐसा ही करूँगा। पर अपनी योजना को अभी गुप्त ही रखूँगा।”

“रखना ही चाहिए।” आचार्यजी ने मेरा समर्थन किया।

कालयवन के संबंध में एक मामूली सी बात मिल गई थी। मेरी कल्पनाशीलता इस मामूली सी जानकारी पर अपना जाल बुनने लगी। मैंने सोचा, यदि उसे मिलाया नहीं जा सकता तो धमकाया तो जा सकता है, उसे डराया तो जा सकता है।

मैंने एक योजना बनाई, अत्यंत गुप्त योजना। मैंने छंदक को बुलाया। अपनी प्रकृति के अनुसार मैंने रहस्यमय ढंग से बातें आरंभ कीं—“छंदक, तुम मेरे गाढ़े समय के साथी रहे हो।

“केवल गाढ़े समय का ही?” उसने नाटकीयता भाँप ली—“यदि गाढ़ा समय न हो तो शायद आप मुझे अपना साथी नहीं समझेंगे।”

मुझे हँसी आ गई। मैंने मान लिया कि उड़ती चिड़ियों के पंख कतरने की क्षमता रखनेवाली छंदक की बुद्धि के

समक्ष मेरी यह नाटकीय प्रस्तावना निरर्थक है। मैंने उसे स्पष्ट सारी बातें बता दीं और कहा, “इस बार चिनगारियाँ नहीं बोनी हैं वरन् तुम्हें आग लेकर जाना है।...और यह काम केवल तुम्हीं कर सकते हो; क्योंकि तुम्हीं मेरे विश्वस्त और समर्थ साथी हो।”

“मुझे विश्वस्त और समर्थ मानने के लिए धन्यवाद।” उसने हँसते हुए कहा, “पर आप यह तो बताइए कि मुझे करना क्या है?”

अब मैंने उसे विस्तृत योजना बताई—“मिट्टी के एक चित्रित और आकर्षक घड़े में तुम्हें एक काला नाग लेकर जाना होगा और उसे मेरी ओर से कालयवन को देना होगा।”

छंदक सोच में पड़ गया कि कन्हैया इतनी छोटी बात कैसे सोच रहा है? क्या वह यह सोचता है कि कालयवन उस घड़े को खोलेगा और नाग उसे काट खाएगा। उसने मेरा विरोध करते हुए कहा, “नाग से कटवाकर कालयवन की हत्या कराने की आपकी योजना आपके स्तर की नहीं है।”

“मैंने नाग से कालयवन की हत्या की बात कहाँ कही? लगा लिया न तुमने गलत अनुमान!” अब मैंने अपनी योजना बताई—“मैं तो घड़े में नाग को रखकर ऊपर से अच्छी तरह उसका मुख बंद कर देनेवाला हूँ और कालयवन को उसे देते हुए कहना होगा कि मथुरा राज्य ने आपके लिए उपहार भेजा है।”

“हम उसे विश्वास कैसे दिलाएँगे कि इसे मथुरा ने ही भेजा है? यदि वह मेरी बात न माने तो?”

“बंद घड़े के ऊपर मथुरा की मुहर लगी रहेगी। इससे बढ़कर मथुरा का प्रतीक क्या हो सकता है?” मैंने कहा।

“मथुरा का प्रतीक तो हो गया, किंतु...” छंदक कहते-कहते रुक गया। पर मैं समझ गया।

मैंने कहा, “तुम उसपर चाहो तो वंशी और मोर पंख भी रख लो। मथुरा के साथ-साथ यह मेरा भी प्रतीक हो जाएगा।” मैंने हँसते हुए कहा और उसने बातें मान लीं।

फिर भी वह मौन हो सोचता रहा। उसे लग रहा था कि यह कुछ गलत है। मैंने उसे समझाया—“इसे देने के पहले तुम कालयवन को सावधान कर देना—‘महाराज, इसे समझ-बूझकर खोलिएगा। इसमें कुछ भी हो सकता है।’

“और यदि वह पूछे कि इस ‘कुछ भी’ का क्या तात्पर्य है? तब कहना कि इसमें आपका काल भी हो सकता है।”

फिर भी छंदक का मन तैयार नहीं हो रहा था। “जो संदेश भेजना हो कहिए। मैं जाकर सीधे-सीधे कह दूँ। इतना झमेला करने से क्या लाभ?”

“छंदक, मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे जैसा कूटनीतिज्ञ भी यह प्रश्न पूछता है। शब्दों के माध्यम से भेजा संदेश स्पष्ट होता है और प्रतीकों के माध्यम से भेजा संदेश अस्पष्ट। दो-चार दिन तो कालयवन को इन प्रतीकों को समझने में लग जाएँगे और इस समय हमें समय की बड़ी आवश्यकता है। मैं चाहता हूँ कि एक पक्ष से अधिक का समय हमें निर्विघ्न मिल जाए। तब तक हम कोई-न-कोई रास्ता निकाल लेंगे। हमारी यह मंशा शाब्दिक संदेश से पूरी नहीं होगी।”

इतना समझाने पर भी वह द्विविधा में था। मैंने उसे फिर समझाया—“शब्द तुम्हारे पहुँचने के पहले ही गुप्तचरों के माध्यम से वहाँ पहुँच जाएँगे।...और तुम मार्ग में ही रहोगे, कालयवन उसपर कार्यवाही आरंभ कर देगा। फिर इस चित्रित घड़े को देखकर गुप्तचर कौन सा निष्कर्ष निकालेंगे और कौन सी सूचना वहाँ भेजेंगे!”

अब छंदक मेरे प्रभाव में आया—“तुम भी अद्भुत हो, कन्हैया! इतने दिनों तक तुम्हारे साथ रहकर भी तुम्हें समझ नहीं पाया।”

फिर उसने बताया—“इतनी दूर आने-जाने में भी काफी समय लग जाएगा। यदि कालयवन ने मुझे रोका या बंदी ही बना लिया, तब क्या करूँगा?”

“पहले तो तुम दूत हो, राजदूत को बंदी बनाना धर्म-विरुद्ध है।”

“कालयवन और धर्म!” छंदक इस बार मेरी बुद्धि पर हँसा—“राक्षसों ने कभी धर्म की सीमा मानी है?”

“जब बंदी हो जाना तब उससे कहना कि मेरे लिए जैसे मथुरा वैसे ही आपका आश्रम।” मैंने कहा, “फिर मेरा विश्वास है कि ऐसी परिस्थितियों में तुम्हारी बुद्धि बड़ा तेज कार्य करती है।”

अब छंदक किसी तरह तैयार हुआ। यह उसके जीवन का पहला अवसर था, जब वह मथुरा से इतनी दूर जा रहा था।

मैंने उससे यह भी कहा, “जाते समय तो तुम लवणपुर के मार्ग से जा सकते हो—संक्षिप्त रास्ता है; पर आते समय कुंडिनपुर के मार्ग से आना। क्योंकि वसंत पंचमी को मैं वहीं रहूँगा और उस समय हमें तुम्हारी बड़ी आवश्यकता पड़ेगी।”

“यदि मैं वसंत पंचमी के पहले ही वहाँ पहुँच जाऊँ तो?”

“तब महाराज कौशिक का आश्रम तो है ही।”

सारा निर्देश तथा प्रस्तावित प्रतीक लेकर छंदक ने दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में प्रस्थान कर दिया। पहले तो इसकी कोई चर्चा नहीं हुई, फिर जिन दो-चार व्यक्तियों ने इसे जाना भी तो उनके लिए यह रहस्य रहस्य ही रह गया।

□

यह माघ की अमावस्या की रात है। पता नहीं कब मेरी नींद खुल गई। अपने शयनकक्ष में पड़ा-पड़ा वातायन से तारों भरा आकाश देख रहा हूँ और एक विचित्र रिक्तता का अनुभव कर रहा हूँ। चंद्रमा के बिना आकाश भी रिक्त है और मन भी। चंद्रमा मुझे बचपन से बहुत अच्छा लगता है। उसे प्राप्त करने के लिए मैं कितना हठ करता था और माँ मेरा हठ शांत करने के कैसे-कैसे उपाय निकालती थी! इसकी सारी कहानी आप जानते हैं। आज मन करता है कि उड़कर चंद्रमा को खोज निकालूँ और आकाश पर टाँग दूँ।

मेरा मन चंद्रमा में खोने लगा। मुझे लगा कि मेरा चंद्रमा आकाश में उगने लगा है और उसकी आकृति धीरे-धीरे बदलने लगी। एक क्षण ऐसा भी आया कि मेरे काल्पनिक चंद्रमा के भीतर से रुक्मिणी की आकृति उभरती दिखाई दी—‘तुम चंद्रमा के लिए तो इतना हठ करते थे, पर मेरे लिए तुम्हारा हठ कहाँ है?’ मानो वह मुझसे कह रही हो, ‘उलटे मैं तुम्हारे लिए हठ ठाने बैठी हूँ। पर लगता है, मैं कुछ कर नहीं पाऊँगी। मेरे हाथ-पैर बँधे हैं।...सुना है, वह राक्षस भी इस बार सात दिन पहले से ही यहाँ आने वाला है। वह शिशुपाल के गले में मुझे बाँधकर नरक के हवाले करेगा। तुम श्रृंगलव की नरक की दीवारें तोड़कर इतने लोगों को मुक्त करा सकते हो, पर तुम मुझे इस नरक से मुक्त नहीं करा सकते?’

मुझे लगा कि उसकी आँसू भरी बड़ी-बड़ी आँखें बरसती हुई मेरी ओर चली आ रही हैं। मेरे कानों में उसकी आवाज गूँजती रही—‘मैं तो तुम्हारी हो चुकी हूँ। संसार इसे जानने भी लगा है। यदि तुमने कुछ नहीं किया तो आत्मदाह कर लूँगी, जल मरूँगी।’

“नहीं-नहीं, ऐसा कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। मैं अवश्य कुछ-न-कुछ करूँगा।” मेरे मुँह से निकल पड़ा। ठीक इसी समय प्रियक (एक पक्षी) की सुरीली आवाज सुनाई पड़ी। वह लगातार बोलता रहा।

इसकी आवाज तो शुभ मानी जाती है। लगता है, इसने मुझे बड़बड़ाते हुए सुन लिया है। इसीसे इतनी व्यग्रता से बोलने लगा है।

अब मंदिरों के घंटे भी बजने लगे थे। ब्राह्म मुहूर्त हो गया था। घर में जाग हो गई थी; पर मैं अब भी आलस्य में पड़ा रहा। जाने कब सो गया।

जब मेरी नींद खुली तो वातायन से आती गुनगुनाती धूप मेरे चेहरे पर पड़ चुकी थी। काफी दिन निकल आया था।

शय्या पर उठ बैठते ही कंसा मौसी ने प्रवेश किया; जैसे वह भीतर बैठी हुई मेरे जागने की प्रतीक्षा कर रही थी। यों मेरे घर का कोई व्यक्ति मुझे जगाता नहीं है। मैं कब सोता हूँ, इसका भी उन्हें पता नहीं रहता। यही कारण था कि कंसा भोरे-भोरे आ गई थी। पर किसीने मुझे जगाया नहीं, यह जानते हुए भी कि कंसा यों ही नहीं आती, कोई-न-कोई बात अवश्य है।

“बड़ी देर तक और बड़े निश्चित होकर सोते हो।” कंसा मुसकराते हुए बोली।

“आपके होते हुए भी यह निश्चितता! यह इस नींद बेचारी की कृपा है।” मैं हँस पड़ा। मेरा व्यंग्य सीधे उसपर था और वह लजा गई।

फिर उसने बहुत सँभलते हुए कहा, “आज रथ स्पर्धा है न! फिर भी यह निश्चितता?”

“उसमें मेरी क्या आवश्यकता? हम लोगों ने सारा कार्य बृहद् भैया को सौंप दिया है। वे देखते ही होंगे।”

“इसी विषय में तो मैं तुम्हें बुलाने आई हूँ।”

“मुझे बुलाने आई हैं! और आप?” मैं मुसकराया—“कहाँ चलना होगा?”

“मेरे आवास पर। जल्दी उठ। हाथ-मुँह धोकर तैयार हो जा। वहीं जलपान करना।”

अब माँ भी आ गई थी। उसने पूछा, “ऐसी जल्दी क्या है?”

“कुछ है तभी तो!” कंसा मुसकराती रही। पर माँ शंकाकुल थी। कंसा से लिपटा उसका पूर्व चरित्र उसे दिखाई दे रहा था। फिर भी मेरे जाने में वह बाधक नहीं बनी।

इस बार मौसी ने मेरी बड़ी आवभगत की। यद्यपि न तो चाचा देवभाग मिले और न उद्धव तथा चित्रकेतु ही, वरन् सत्राजित् अवश्य था। मुझे देखते ही वह चुपचाप उठकर खड़ा हो गया। मेरे प्रति अपनी घृणा पर उसने मुसकराहट का उत्तरीय अच्छी तरह डाल रखा था।

मैंने बृहद्बल से कहा, “भैया, तुम अभी तक यहीं हो, तुम्हें इस समय राजभवन में होना चाहिए था। स्पर्धा के लिए परसों से रथ आ रहे हैं। इस बार तो लगता है कि रथों का मेला लग जाएगा।” यह बात मैंने सत्राजित् को संकेत कर कही थी; पर वह मौन ही रह गया। फिर मैंने बृहद्बल से पूछा, “कल तक कितने रथ आ चुके थे?”

“लगभग डेढ़ शतक। मैं सारी व्यवस्था कर कल रात काफी देर से लौटा हूँ। इसीसे सोता रह गया। उठकर जा ही रहा था कि माँ ने मुझे रोक लिया और फिर पता चला कि वह तुम्हें बुलाने गई है।”

“क्यों बुलाया मुझे?”

“यह तो नहीं मालूम।”

तब तक कंसा मौसी आ गई और वह मुझे बुलाकर बगल के कक्ष में ले गई। एकदम अकेला कक्ष। कहीं कोई नहीं।

“अच्छा एक बात बताओ।” कंसा ने मुझे विश्वास में लेते हुए पूछा, “तुमने बृहद् को इस रथ स्पर्धा का सर्वेसर्वा बनाकर कोई चाल तो नहीं चली है?”

मुझे हँसी आ गई। मैंने सीधा प्रश्न किया—“तुम्हें क्या दिखाई देता है?”

“मुझे कुछ दिखाई नहीं देता।”

“देखने की चेष्टा करो, दिखाई देने लगेगा—और जैसा तुम मुझे देखोगी, मैं वैसा ही दिखाई दूँगा।” इतना कहकर मैं फिर वैसी ही नाटकीय हँसी हँसने लगा—“देखो मौसी, शंकाकुल होकर मुझे देखने की चेष्टा मत करो।”

इतना कहते हुए मैंने वहाँ रुकना ठीक नहीं समझा। हो सकता है, वह कुछ और मुझसे पूछे। मैं एकदम कक्ष से बाहर निकल आया और सार्वजनिक कक्ष में आते-आते बोल पड़ा—“अभी तक तो मैंने बृहद् भैया को कुछ नहीं

बताया है। मैं तो तुम्हें सारी मथुरा सौंपना चाहता हूँ।”

“जबकि वह कालयवन को सौंपी जा चुकी है।” सत्राजित् बीच में ही बोला। स्पष्ट लग गया कि परदे के पीछे जो हो रहा है, इसका इसे आभास है। फिर भी मैंने अनजान बनते हुए कहा, “यह क्या कह रहे हैं आप?”

वह चुप हो गया। उसे लगा कि अनजाने में मैंने रहस्य का ढक्कन खोल दिया।

“क्या करेगा कालयवन? उसे भी देखा जाएगा। तुम बिल्कुल मत घबराना, भैया।” मैंने बृहद्बल से कहा।

इसी बीच मौसी ने कक्ष में प्रवेश किया और उसके पीछे उपहार लिये परिचारिकाएँ भी थीं। पहली थाली मेरे सामने रखी गई, दूसरी सत्राजित् की और तीसरी बृहद्बल की ओर।

“मौसी, तुम नहीं खाओगी?”

“मैं तो खिलानेवाली हूँ।” उसने हँसते हुए कहा।

“नहीं, आज तुम्हें भी हमारे साथ खाना होगा।” मैंने अपनी थाली उसकी ओर बढ़ा दी और बृहद्बल की थाली खींचकर उसीमें खाने लगा। “आज दोनों भाई एक ही थाली में खाएँगे।” मैंने कहा।

परिचारिकाएँ लाती रहीं और मैं मस्ती से खाता रहा। मुझे भूख भी अधिक लगी थी, क्योंकि दिन काफी चढ़ आया था। मैंने अनुभव किया कि सत्राजित् आज मुझे कुछ अधिक पहचानने की चेष्टा कर रहा है।

मैंने शीघ्रता करते हुए बृहद्बल से कहा, “जरा जल्दी ही समाप्त करो, तुम्हें आज बहुत काम करना है।”

सबसे पहले मैं ही उठा और कक्ष के बाहर हाथ धोने निकला ही था कि सत्राजित् की दबी हुई आवाज कंसा को सचेत करती सुनाई पड़ी—“देखा, अपनी थाली आपकी तरफ सरका दी और बृहद्बल की थाली में खाने लगा। इसके पीछे भी उसकी चतुराई थी।”

कंसा कुछ नहीं बोली, पर उसका मौन प्रश्नवाची था।

“इसलिए कि यदि उसके खाने में कुछ मिलाया गया हो तो वह उससे मुक्त रहे।”

सत्राजित् को क्या मालूम था कि मैं उसे सुन रहा हूँ। मैं तुरंत भीतर आया और कंसा को संबोधित करते हुए बोला, “देखा मौसी, मैंने अभी तुमसे कहा था न कि जो मुझे जिस रूप में देखता है, उसे मैं उसी रूप में दिखाई देता हूँ।”

□

मध्याह्न तक पूरी तैयारी के साथ मैं राजभवन पहुँचा। काफी भीड़भाड़ थी। आशा से अधिक भी नहीं कह सकता और कम भी नहीं। लगभग आसपास के सभी राज्यों के रथ आ चुके थे। बृहद्बल उनकी व्यवस्था में अपनी पूरी जिम्मेदारी से लगा था। उसने मुझे देखते ही कहा, “विदर्भ से कोई नहीं आया है।”

मैं केवल मुसकरा दिया। “और चेदि से?” मैंने पूछा।

“शायद एक या दो रथ आए हैं।”

“चलो बहुत हैं।” मैंने उसी मुसकराहट के बीच कहा। वह मेरी मुसकराहट का रहस्य समझ नहीं पाया। मैंने उसे संकेत से कहा, “तुम यहीं रहना, मैं अभी आता हूँ।”

मैं सीधे महाराज के पास गया। विकट्ट और गर्गाचार्य भी वहीं थे। मैंने महाराज से आज संध्या का कार्यक्रम बताया। विकट्ट मुझसे बोला, “मेरा सौभाग्य होता, यदि मैं भी आज आपके साथ चलता।” मैंने कहा, “पर मथुरा में भी किसीको रहना चाहिए। पता नहीं कैसा पड़े, कैसा न पड़े! यही सोचकर नानाजी की सेवा में आपको छोड़े जा रहा हूँ। अब मथुरा की सारी जिम्मेदारी आप और बृहद्बल के युवा कंधों पर रहेगी।”

बृहद्बल का नाम सुनते ही वह थोड़ा शंकित अवश्य हुआ, पर कुछ बोला नहीं। मैंने ही उसे समझाना शुरू किया—“अब स्थिति बदल चुकी है। साँप को भी यदि आप विश्वास में लें तो वह आपका पालित हो जाएगा। हर शंका

के मूल में विश्वास का संकट है।”

इतना कहकर मैंने लोगों से अनुमति ली और बाहर चला आया। उन्हें तो पता चल गया था कि आज मैं कितना व्यस्त हूँ।

मैंने बृहद्बल को एकांत में ले जाकर अपनी योजना बताते हुए कहा, “प्रतियोगिता समाप्त होते ही मथुरा और अन्य मित्र राज्यों के रथ लेकर मैं सीधे कुंडिनपुर चला जाऊँगा। मथुरा तब तुम्हारी देखरेख में रहेगी।”

उसे कुछ अनुमान तो था ही, फिर भी उसने कुंडिनपुर जाने का कारण पूछा।

मैंने स्पष्ट कहा, “मुझे मथुरा के अपमान का बदला लेना है। इस सारे अपमान के मूल में जरासंध है। मुझे अब उसका सामना करना है।”

बृहद्बल को आश्चर्य था—“जरासंध का सामना?”

“क्यों? तुम डर गए या अपनी मित्रता के कारण तुम्हें दुःख हुआ?”

“मित्रता कैसी?” बृहद्बल बोला, “अरे, वह मेरा पक्ष लेता था तो मैं उसका था।”

“अब मैं तुम्हारा पक्ष लेता हूँ तो तुम हमारे हुए।”

“निश्चित।” इतना कहते हुए बृहद्बल ने मुझे अपनी छाती से लगा लिया। शायद जीवन में पहली बार उसने मेरे साथ ऐसा आत्मीय व्यवहार किया था।

“मैं चाहता हूँ कि जरासंध का वहीं सामना किया जाए।” मैंने कहा, “उस अत्याचारी के चरण मथुरा में ही पड़े रह जाएँ और वह यमपुर में चला जाए।”

“मैं भी इसी पक्ष का हूँ।” उसने मेरा समर्थन किया।

“मथुरा की प्रजा भी जरासंध से आतंकित है। उसके आतंक को दूर करने के लिए भी मुझे ऐसा करना पड़ेगा और उस निरपराधिनी को बंधनमुक्त करने के लिए भी।” मैंने सोचा कि क्यों नहीं मैं इस प्रसंग को भी छेड़ दूँ।

आखिर बृहद्बल इसे जानता तो होगा ही, फिर भी उसने पूछा, “किस निरपराधिनी की बात कह रहे हैं आप?”

“रुक्मिणी की।” अब मैंने सारी कथा उसे संक्षेप में सुनाई। उसने अनुभव किया कि मैं उससे कुछ छिपा नहीं रहा हूँ। इससे बृहद्बल का मेरे प्रति विश्वास बढ़ा।

“तब तो इतने बड़े कार्य के लिए चार सौ रथ पर्याप्त न होंगे।” उसने कहा।

“कुछ सैनिक तो मैं ले जाऊँगा ही। फिर कुंडिनपुर की सेना मेरे साथ होगी, वहाँ की प्रजा मेरे साथ होगी।”

“इसका तात्पर्य है कि गुप्तचर के माध्यम से आप पहले से वहाँ पहुँच चुके हैं।” उसने मुसकराते हुए कहा।

अब मेरी आकृति पर भी एक कूटनीति भरी मुसकराहट उभरी—“देखो भैया, ऊपर से किया गया आक्रमण तब तक प्रभावकर और सफल नहीं होता जब तक भीतर से भी व्यवस्थित ढंग से आक्रमण न किया जाए।” अब वह बड़ी गंभीरता से मुझे देखने लगा।

आगे उसे मैंने बताया—“इसीलिए कुंडिनपुर से न तो अभी तक रथ आए और न श्वेतकेतु आया और न वे आएँगे। वहाँ भीतर-ही-भीतर श्वेतकेतु सारी व्यवस्था में लगा होगा। यह तो आप जानते ही होंगे कि इस समय वह कुंडिनपुर का सैनिक आचार्य है।”

“यदि उसकी योजना कहीं फूट गई तो?”

“ऐसी योजनाएँ जब फूटती हैं तब उन्हें षड्यंत्र की संज्ञा दी जाती है। और योजक को प्राणदंड।” इतना कहने के साथ ही मैं जोर से हँसा—“पर कुंडिनपुर की स्थिति ऐसी नहीं है। पितामह कौशिक हमारे पक्ष में हैं। महाराज भीष्मक भी जरासंध से प्रसन्न नहीं हैं। वे नहीं चाहते कि उसका प्रभाव विदर्भ में बढ़े। पर वे क्या करें, वे पूर्णतः

अपने पुत्र रुक्मी के प्रभाव में हैं। वे उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकते। कुंडिनपुर की स्थिति एकदम वैसी ही है जैसी कंस मामा के समय मथुरा की थी।”

“इसका तात्पर्य यह है कि इस समय तुम मथुरा के उद्धार की तरह कुंडिनपुर का उद्धार करने जा रहे हो।”

“कुंडिनपुर का नहीं वरन् रुक्मिणी का उद्धार करने के लिए कहिए।” विचित्र स्थिति थी। बृहद्बल के आयु में थोड़ा बड़ा होने के कारण हम लोगों के बीच ‘आप’ और ‘तुम’ दोनों संबोधन चलते थे। जब उसे मेरी गरिमा याद आती तो वह ‘आप’ कहता और जब उसका अपनत्व जोर मारता तब ‘तुम’ से संबोधित करता। यही स्थिति मेरी भी थी।

“रुक्मिणी!” पता नहीं क्या सोचकर वह भी हँसा और मैं भी। बहुत देर तक हम हँसते रहे।

मैंने कूटनीति का दूसरा दाँव फेंका—“मुझे आपका ही भरोसा है। इस स्थिति में मथुरा को आप ही सँभाल सकते हैं; क्योंकि इस समय सत्राजित् को सँभालना कोई हँसी खेल नहीं है।”

“तुम उसकी चिंता मत करो।” बृहद्बल बोला, “उसने तुम्हें पहचाना नहीं है। वह स्यमंतक मणि की बात भूल नहीं पाता। उसे विश्वास है कि उसे तुमने ही चुराया है।”

“मैं उसे कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मैंने उसे नहीं लिया है। पर एक-न-एक दिन तो सत्य उजागर होगा ही। अविश्वास के बादल सत्य के सूर्य को बहुत दिनों तक छिपाए नहीं रख सकते।” मैंने कहा, “तुम तो अब मुझे अधिक पहचानने लगे हो। जरा अपनी ओर से उसे मेरी पहचान कराओ। इसका सदा ध्यान रखना कि वह कभी अपनी ओर कुछ ऐसा न कर बैठे, जो मथुरा के हित में न हो।”

“आप निश्चित रहिए।” उसने मुझे फिर आश्वस्त किया।

मैंने कहा, “विकट्ट को भी तुम्हारी सहायता के लिए छोड़े जा रहा हूँ।” चलते-चलते भी मैंने उसे सावधान किया—“नानाजी और दोनों आचार्यों का ध्यान रखना।”

वहाँ से हटते ही मुझे याद आया कि मैंने सबको तो बता दिया, पर इसकी अभी तक मैंने न तो पिताजी से चर्चा की, न माताजी से और न अक्रूर चाचा से। यह दीये के नीचे ही अँधेरा रह गया।

मैं घर के लिए लौटा। मेरा रथ चला जा रहा था। भीड़ मेरी जय-जयकार कर रही थी। स्पष्ट था कि ये सारे मथुरा के लोग नहीं हैं। आसपास से भी काफी लोग आ गए हैं। इस समय जब यह स्थिति है तब रथ स्पर्धा के समय तक तो सारा राजमार्ग भर जाएगा। इनकी व्यवस्था में सैनिकों को अभी से लगना चाहिए।

इन्हीं विचारों में डूबा लोगों का अभिवादन करता मैं अपने रथ पर बढ़ा चला जा रहा था कि भीड़ से छूटती एक आवाज मुझसे टकराई—“कन्हैया, अरे ओ कन्हैया!”

यह आवाज कुछ जानी-पहचानी-सी लगी। मैंने रथ धीमा कराया। पीछे मुड़कर देखा भी; पर उस भीड़ में कुछ स्पष्ट नहीं हुआ।

आवाज बराबर आ रही थी। अब मैंने रथ रुकवाया और भीड़ में कूद पड़ा। कुछ ही आगे गया होऊँगा कि मुझे साफ सुनाई पड़ा—“मैं यहाँ हूँ, मैं यहाँ हूँ।”

अरे, यह तो मेघज है। व्रज से बहुत से लोग आए हैं। कुछ नारियाँ भी हैं। सभी जाने-पहचाने। मेरी दृष्टि बार-बार उन्हें छूती, टटोलती और आगे बढ़ती रही। मैं बार-बार उनको देखता और सकपकाया-सा कुछ खोजता रहा। फिर अचानक मेरे मुख से निकला—“अरे, मेघज भैया। सभी लोग यही हैं या और कहीं भी?”

“कुछ यहाँ हैं और कुछ आ रहे हैं।”

“क्या राधा भी आई है?”

“वह न आई है और न आएगी।” मेघज बोला, “हम लोगों ने बहुत उसे लाने की चेष्टा की, पर वह नहीं आई। बोली, ‘जब कन्हैया यहाँ नहीं आया तो मैं भी वहाँ नहीं जाऊँगी। आखिर वह अपने को समझता क्या है!’ ”

मैं एकदम गंभीर हो गया। मुझे लगा जैसे राधा सचमुच मुझसे झगड़ा कर रही है। मैं उस भीड़ में भी अब अकेला था। राधा में खोता हुआ। राधा को समझाता हुआ। स्वयं को समझाता हुआ—‘राधा नहीं आई तो क्या हुआ! वह मेरे पास से गई कहाँ थी? जहाँ मैं हूँ, वहीं राधा है। जहाँ राधा है, वहीं मैं हूँ।’

भीड़ मुझसे टकराती रही। मैं अपने ही विचारों में खोया रहा। तब तक मेघज एक नितांत जर्जर व्यक्ति को लिये भीड़ को चीरता मुझ तक चला आया।

“इन्हें पहचानते हो, कन्हैया?” मेघज बोला। अब मेरी तंद्रा टूटी। मैंने उसे ध्यान से देखा। पहचानने की चेष्टा की; पर पहचान न सका। अपनी असफलता की खीज मुसकराहट में बदलता हुआ मेघज को देखता रहा।

अब उसने बताया—“यह वही व्यक्ति है, जिसने तुम्हारे जन्म के समय बाँस की वह डलिया बनाई थी, जिसमें तुम्हारे पूज्य पिताजी ने तुम्हें लेकर यमुना पार की थी।”

एक इतिहास आँखों के सामने से तैर गया।

कितना रोमांचक था वह क्षण, जब वह बूढ़ा लकुटी के सहारे मेरे चरणों की ओर झुक रहा था। मैंने उसे उठाकर अपने वक्ष से लगा लिया। मुझे लगा, जैसे वर्तमान से लौटकर आता, भटकता मेरा अतीत मिल गया है।

मैं भावविभोर था। बगल में ही मेरा सारथि दारुक खड़ा था। वह कई बार मुझे शीघ्रता करने के लिए टोक चुका था। उधर रथ के घोड़े भी हिनहिना रहे थे। वे आगे बढ़ने के लिए आतुर थे; पर मैं उन्हें छोड़ नहीं पा रहा था। आखिर छोड़ूँ भी तो कैसे छोड़ूँ? वह मेरा अतीत था।

तब तक एक सैनिक दिखाई दिया। मैंने उसे सहेजा—“राजभवन के अतिथिकक्ष में इन्हें ले जाओ। ये लोग ब्रज से पधारे हैं। इन्हें बृहद्बल से मिलवाकर इनकी उचित व्यवस्था कराओ।”

मैंने मेघज से भी कहा, “आप ब्रज के सभी लोगों को लेकर राजभवन में चलिए। मैं अभी आता हूँ।”

मैं रथ पर बढ़ चला। अब मेरे सामने वह भीड़ नहीं थी, मथुरा का वह राजमार्ग नहीं था और न वह माहौल था। मेरी आँखें बंद थीं और थी मेरे सामने केवल राधा।

राधा मेरी स्मृति से चिपकी थी। मेरे व्यक्तित्व का अंग थी। रुक्मिणी मेरी योजना का अंग थी। एक की पुकार ब्रज से थी, दूसरी की कुंडिनपुर से। एक का स्वाभिमान बुला रहा था और दूसरी की लाचारी।

इसी द्वैत में उलझी मनःस्थिति लेकर मैं अपने घर पहुँचा। अपनी मानसिक उलझन में डूबा हुआ, कुछ खोया-खोया-सा।

मेरे माता-पिता इस समय एक ही कक्ष में थे। मैं उनके सामने आकर ऐसे खड़ा हो गया जैसे जो कहना था, वह भूल गया हूँ। तब तक अक्रूर चाचा भी आ गए। उन्होंने मुझे ध्यान से देखा। उन्हें कुछ ऐसे लगा जैसे मेरा कुछ खो गया है, मैं उसे खोजने आया हूँ।

“क्या खोज रहे हो, बेटा?” उन्होंने सीधे-सीधे पूछा।

मैं बड़ी जोर से झकझोरा गया—‘कुछ नहीं, कुछ नहीं।’ कहता हुआ। मेरी मानसिकता धरती पर आ गई थी और फिर मैंने जल्दी में अपनी सारी योजना बता दी।

वे सब सन्न रह गए। इसके पहले मैंने कभी उनसे इस योजना के संबंध में संकेत भी नहीं किया था। मेरी इस सूचना की अप्रत्याशितता मेरी मानसिक उलझन से मिलकर उन लोगों की व्यग्रता का कारण बनी। फिर भी उन्होंने मेरा विरोध नहीं किया। हाँ, पिताजी इतना अवश्य बोले, “तुम्हारे निर्णय से कोई भी तुम्हें डिगा तो सकता नहीं, वत्स!

फिर भी शीघ्रता में कुछ निश्चित करने के पहले तुम्हें सोचना चाहिए था।”

“जब भी मुझे कोई हृदय से पुकारता है, मेरे पास सोचने का भी समय नहीं रह जाता, तात!”

“यह तो मैं जानता हूँ, बेटे! तू अपने भक्तों की पुकार पर नंगे पाँव दौड़ जाता है।” माँ बोली।

□

यद्यपि मुझे राजभवन लौटना था। वहाँ बलदाऊ, उद्धव सभी होंगे; पर पता नहीं क्यों, मेरा साहस उधर जाने का नहीं हो रहा था। मुझे लग रहा था, मैं ब्रजवासियों से घिर जाऊँगा। राधा मुझे फिर धर दबाएगी। यद्यपि मैं जानता हूँ कि मैं राधा से कभी अलग हो नहीं सकता। फिर भी संभावित स्थिति मुझे विचलित कर देनेवाली होगी। यह जानकर मैं सीधे सात्यकि की ओर चला। संयोग से सात्यकि मुझे वहाँ दिखाई पड़ गया।

सात्यकि रथों की तैयारी में लगा था। आज मथुरा का नेतृत्व उसे करना था। मुझे देखते ही वह बोल पड़ा—“मैं अभी आपको स्मरण कर रहा था।”

“और मैं उपस्थित हुआ।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “तुम याद करो और मैं न आऊँ, ऐसा हो नहीं सकता है।”

“मैंने सारी तैयारी कर रखी है। आपकी योजना तो ठीक है?” सात्यकि बोला।

“एकदम ठीक। रथ स्पर्धा के बाद घोड़ों को घड़ी भर का विश्राम देकर प्रयाण कर दूँगा।”

सत्राजित् ने पूछा, “किधर प्रयाण करोगे, जरा मैं भी सुनूँ!”

“जरासंध का सामना करने। रोज-रोज की हय-हय और किट-किट से क्या लाभ!” मैं सत्राजित् को ही जैसे ललकारते हुए कह रहा था—“कई बार वह मथुरा पर आक्रमण कर चुका है। इस बार वह चढ़ाई करे, इसके पहले ही हम उसपर कुंडिनपुर में चढ़ बैठें। कहिए, आपकी क्या राय है?”

“ठीक तो है।” सत्राजित् बड़ी दबी जबान से बोला।

“पहले तो यह काम मैं बृहद् भैया को देना चाहता था और मथुरा की सुरक्षा का भार स्वयं लेता; पर उनके मित्रों को इसमें कूटनीति की गंध आने लगी।...फिर शंकित मन से कोई कार्य हो, यह मैं नहीं चाहता। मैंने एकदम कार्यक्रम बदल दिया। अब मैं जरासंध का सामना करूँगा और मथुरा आप लोगों की देखरेख में रहेगी।”

“और यदि मैं आपके साथ चलना चाहूँ तो?” सत्राजित् का मन अब भी साफ नहीं था।

“तो व्यवस्था में थोड़ा परिवर्तन करना पड़ेगा। तब शायद सात्यकि को मुझे यहीं छोड़ देना पड़े; क्योंकि मेरे लिए सात्यकि और आपमें कोई अंतर नहीं है, पर बृहद् भैया के लिए अंतर पड़ जाएगा।” मेरे इतना कहते ही सत्राजित् गंभीर रूप से मौन हो गया। उसे लगा कि उसकी सारी कूटनीति उसके सामने ही नंगी हो गई।

मैंने उसकी चतुराई को धरती दिखा दी थी। वह बड़े दबे स्वर में बोला, “फिर आप लौट कब रहे हैं?”

“जब तक काम न हो जाए। इधर या उधर। इस बार तो कुछ-न-कुछ होकर ही रहेगा।” मैंने फिर ललकारा और वहाँ से चल पड़ा।

थोड़ी देर में रथ स्पर्धा शुरू होने वाली थी। राजभवन में मेरी खोजाई आरंभ हो गई थी। भैया और उद्धव तो व्यग्र थे ही, उनसे अधिक व्यग्र कंसा और बृहद्बल थे—“कहाँ चला गया कन्हैया? ऐसा तो नहीं कि उसकी अनुपस्थिति में कोई चाल हो।”

उन दोनों के मन में मेरी छवि एक कुटिल राजनीतिक की ही थी। जनमानस में छाया मेरा देवत्व छू तक नहीं गया था।

उन्होंने मेरे न होने की सूचना महाराज को भी दी। सुना है कि उन्होंने हँसते हुए कहा था कि आप कन्हैया की चिंता न करें, आप अपना काम देखें। वह तो ऐन मौके पर कहीं-न-कहीं से आ ही जाएगा।

और ठीक इसीके बाद मैं उपस्थित हो गया। महाराज ने बताया, “तुम्हारी मौसी तुम्हारे लिए चिंतित थी।”

“उनका चिंतित होना स्वाभाविक है।” मैंने तो कहा था सहजभाव से, पर यही वाक्य उन्हें गहराई तक छू गया।

इसके बाद मैं बृहद्बल से मिला और रथ स्पर्धा की इतनी अच्छी व्यवस्था के लिए उसकी खूब प्रशंसा की और उसकी प्रतिक्रिया सुनने के पहले ही मैं बलराम भैया को लेकर अतिथिगृह के मंत्रणाकक्ष की ओर बढ़ गया।

यों तो भैया जानते ही थे, फिर भी मैंने उन्हें कुंडिनपुर प्रयाण संबंधी अब तक की योजना की प्रगति की पूरी जानकारी दी। मैंने उन्हें बताया—“उद्धव तो साथ रहेगा ही, सात्यकि भी चलेगा। इसमें संदेह नहीं कि हम अपनी योजना में सफल होंगे; पर एक ही समस्या है।”

“क्या?”

“हम लोग रुक्मिणी को लाकर रखेंगे कहाँ?” मैंने कहा।

“जहाँ हम रहेंगे।” भैया बड़े सहजभाव से बोले।

“आप इस समस्या को समझ नहीं पा रहे हैं।” मैंने फिर उन्हें समझाया—“यदि स्वयंवर में हमें प्रवेश मिल गया तो रुक्मिणी हमारा ही वरण करेगी। तब हमें उसकी सुरक्षा और राजकुमारी की मर्यादा का ध्यान रखते हुए राजभवन की आवश्यकता पड़ेगी। इसके लिए एक यादव सरदार का आवास उचित नहीं होगा। और यदि हमें स्वयंवर में प्रवेश नहीं मिला, तब उसका हरण करना पड़ेगा। यह स्थिति एकदम दूसरी हो जाएगी। पहले में हम सुरक्षात्मक रहेंगे और दूसरे में आक्रामक। हो सकता है, पूरे मार्ग में हमें युद्ध करना पड़े।”

“तो इससे क्या हुआ?” भैया बोले, “हर स्थिति में उसे मथुरा ले आएँगे। यदि हमारा आवास उसकी मर्यादा के अनुरूप नहीं हुआ तो राजभवन में रखेंगे।”

“राजभवन! आखिर किस हैसियत से? हम लोग तो यहाँ के युवराज भी नहीं हैं।” मैंने कहा, “फिर मैं यह नहीं चाहता कि हमारे पीछे जरासंध मथुरा तक आ जाए; क्योंकि यदि इस बार मथुरा तक आया तो उसे यहाँ से निकाल पाना बड़ा कठिन हो जाएगा।”

“क्यों कठिन हो जाएगा?” भैया बड़े आत्मविश्वास से बोले, “जैसा हर बार मारकर भगाया गया है वैसा ही इस बार भी किया जाएगा।”

“मैंने कहा न, इस बार पहले जैसी स्थिति नहीं है।” मैंने अपनी स्थिति का विस्तृत विश्लेषण किया—“कंस वध के बाद से मेरे प्रति जनता की श्रद्धा कुछ कम होती जा रही है। उसका मुख्य कारण मेरे विरुद्ध निरंतर किया जा रहा प्रचार है। जनमानस में बैठे मेरे अवतारी व्यक्तित्व पर अविश्वास की धूल बड़े व्यवस्थित ढंग से फेंकी जा रही है, जिससे वह रूप अब धूमिल हो चला है। मेरे पीछे खड़ी होकर जो जनता यह अनुभव करती थी कि मैं भगवान् की छाया में हूँ, मेरा कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता, उसी जनता का वह विश्वास अब ढीला पड़ गया है। कभी-कभी तो वह स्वयं को असहाय अनुभव भी करने लगी है। ऐसी जनता को लेकर हम जरासंध का कब तक सामना करते रहेंगे? मुझे तो अब ऐसा अनुभव होने लगा है कि मथुरा से अच्छी छवि हमारी मथुरा के बाहर है।”

“तब हमें रुक्मिणी को लेकर सीधे द्वारका चलना चाहिए।” भैया बोले।

मैं कुछ समय तक सोचता रहा और फिर बड़ी गंभीरता से बोला, “इस संबंध में बता चुका हूँ कि नए राज्य की स्थापना के लिए धरती, दुर्ग, सेना और कोष की जितनी आवश्यकता है उतनी ही आवश्यकता प्रजा की भी है। किसी दूसरे की प्रजा से अपनी चिरस्थायी राजसत्ता स्थापित नहीं की जा सकती।”

इस समस्या का कोई हल नहीं था। किंतु हमें विश्वास था कि जिस नियति ने हमें इतनी दूर ढकेल दिया है, वह आगे भी कोई रास्ता निकालेगी।

इसी समय हमें सूचना मिली कि महाराज द्रुपद स्वयं अपने रथों के साथ पधारे हैं। मैं तत्काल उनकी अगवानी के

लिए बाहर आया। उन्हें ससम्मान महाराज से मिलाने ले चला। तब तक पीछे से एक तेज आवाज आई—“अरे, मैं कब से तुम्हें खोज रहा हूँ! तुम कहाँ छिपे हुए थे?” मैंने मुड़कर देखा, भीड़ में पर्वताकार खड़ा भीमसेन मुझे बुला रहा है। निश्चित है कि वह हस्तिनापुर के रथों के साथ आया होगा। पर अब मैं द्रुपद को छोड़कर उसके पास जाता तो अशिष्टता होती, द्रुपद का निरादर होता। और उधर नहीं जाऊँगा तो भीमसेन नाराज हो जाएगा; क्योंकि इस समय द्रुपद और हस्तिनापुर के संबंध अच्छे नहीं हैं।

द्रुपद और द्रोण, जो कभी बालसखा थे, सहपाठी थे, उनमें अनबन हो गई थी। तलवारें निकल आई थीं। दोनों का प्रतिशोध एक-दूसरे को निगल जाने के लिए व्याकुल था।

मैं द्विविधा में था कि द्रोण के शिष्य से मिलूँ या द्रुपद को महाराज से मिलाऊँ; जबकि मेरे पैर महाराज की ओर बढ़ चुके थे। फिर संयोग ने मेरा साथ दिया। अतिथिगृह से भैया निकलते दिखाई दिए। मैंने तत्काल आवाज दी और उन्हें बताया—“हस्तिनापुर से भीमसेन आया है, आपका शिष्य। जरा उसे सँभालिए।

वे भीमसेन की ओर चले और मैं द्रुपद को लेकर महाराज की ओर। महाराज से उन्हें मिलाकर तुरंत लौटा; क्योंकि भीमसेन के स्वभाव से मैं परिचित था। उसके प्रसन्न और अप्रसन्न होते देर नहीं लगती थी।

किंतु इस समय तो उसके गुरु ही उसकी अगवानी में थे। गदाविद्या में वह भैया का शिष्य था। पर मुझे देखते ही वह एकदम मेरी ओर बढ़ा। गुरु-शिष्य के बोझिल शिष्टाचार से दूर हो, वह अपनत्व की ओर लपका और भीड़ से एक किनारे ले जाकर मेरे कान में धीरे से बोला, “विदुर चाचा ने आपके लिए एक महत्वपूर्ण संदेश भेजा है।”

“क्या?”

“आपको उन्होंने शाल्व से सावधान किया है। इस समय वह कालयवन और जरासंध का सेतु बना है।”

मैंने अनुभव किया कि यह बात काफी दूर तक फैल गई है और वह भी एक आतंक की तरह। भगवान् की बड़ी कृपा है कि अभी यह आतंक मथुरा में नहीं आया है। मैंने भीमसेन से कहा, “चाचाजी को मेरा प्रणाम कहना; यद्यपि मैं उनकी बताई स्थिति से पहले ही से सावधान हूँ, फिर भी हमें सचेत कर उन्होंने बड़ा उपकार किया है।”

सुना है, अपराह्न में ही रथ स्पर्धा आरंभ हो गई थी; पर उस ओर मेरा ध्यान बिल्कुल नहीं था। मैं तो अपनी योजना में ही व्यस्त था और सीधे सांदीपनि के आश्रम में भैया और उद्धव को लेकर पहुँचा।

सात्यकि से पहले ही निश्चित हो चुका था कि स्पर्धा समाप्त होते ही घड़ी भर के लिए अश्वों को विश्राम दिया जाएगा और फिर आचार्य के आश्रम में हम इकट्ठे होंगे। वहीं से, सूर्यास्त के पूर्व ही, कुंडिनपुर के लिए प्रस्थान किया जाएगा।

और सचमुच जब हम लोग चले, तब पश्चिम की ओर झुके सूर्य ने हमें आशीर्वाद दिया। स्पर्धा समाप्त हो जाने से मथुरा में बाहर से आए लोग अब लौटने लगे थे। किंतु जब हमारा चार सौ रथों का समूह एक साथ आश्रम से निकला, तब देखकर सभी स्तब्ध रह गए। दर्शकों को लगा कि यह कोई दूसरी रथ स्पर्धा तो नहीं।

यों तो यहाँ से मैं, भैया, उद्धव और सात्यकि ही जा रहे थे; पर कुंडिनपुर में पुनर्दत्त, शक्रदेव, विंद, अनुविंद आदि के मिलने का विश्वास था। मैं गुप्त रूप से सभी को अपनी योजना का अंग बना चुका था।

हम लोग आश्रम से निकलकर सीधे राजभवन की ओर आए। यहाँ नानाजी के साथ मेरे माता-पिता, चाचा-चाची आदि सभी उपस्थित थे। सभी से हमें शुभकामनाएँ मिलीं। और जब हम यहाँ से आगे बढ़े, हमारे जयघोष से आकाश गूँज उठा; जैसे हम लोग किसी विजय यात्रा पर निकले हों।

इस कोलाहल में गर्गाचार्य का स्वर एकदम अलग था—“शिवास्ते पन्थानः।”

□

हम अँधेरी रात में भी चलते रहे। मशालों के साथ हमारा पूरा समूह जिस-जिस मार्ग से भी गुजरा, वहाँ की सोई

पड़ी प्रकृति में एक हलचल हो जाती थी। पक्षी जाग उठते थे। मृग दौड़ते हुए अरण्य प्रकोष्ठ में छिप जाते थे। पथ में पड़नेवाले गाँवों में तो पूरी जाग हो जाती थी। लोग आतंकित होकर इधर-उधर छिपने लगते थे मानो किसी राजा की चढ़ाई हो रही हो।

मध्य रात्रि तक हम एक बड़े गाँव के निकट पहुँचे और वहीं एक जलाशय के किनारे शिव मंदिर पर हमने पड़ाव डाला। यह एक अच्छी प्रथा है कि हर तीर्थ के किनारे एक मंदिर होता है, उनमें से कई मंदिर तो बड़े प्रशस्त हैं। यह अनजान यात्रियों के लिए ठहरने का अच्छा काम देते हैं।

रथों के अश्व खोल दिए गए। लोग थोड़ा विश्राम करने की मुद्रा में थे। जो लोग भोजन की सामग्री अपने साथ लाए थे, उन लोगों ने जलाशय से जल लेकर आपस में बाँटकर खाने की व्यवस्था आरंभ की।

तब तक मेरे सारथि दारुक ने लाकर एक बड़ी गठरी मेरे सामने भी रखी।

“यह क्या है?” मैंने पूछा।

“चलते समय माताजी ने मुझे दी थी और कहा था कि इसे रख लो, मार्ग में काम देगी।” दारुक बोला।

मैंने गठरी खोली। उसमें तरह-तरह के पकवान थे और वह भी इतने अधिक कि सैकड़ों लोग खा सकें। उसमें एक छोटी सी पोटली और थी। उसे खोला तो एक फूल और कुछ मालाएँ मिलीं। मेरा ध्यान अचानक गया कि चलते समय देवी का दर्शन करना भूल गया था। इसके पूर्व जब मैंने मथुरा छोड़ी थी तब भी माँ ने अपना प्रसाद मुझे दिया था। मैं मार्ग भर उसे सुरक्षित रखे रहा। आज मैं वह प्रसाद ले न सका, पर माँ ने भेज दिया। मैंने माथे लगाया। देवी का स्मरण किया और फिर भोजन के बाद वहीं दुलक गया।

यह मार्ग मेरा जाना-समझा नहीं था। लोगों के बताए पथ पर चलना पड़ा था; क्योंकि लोगों के कथनानुसार, यह पथ संक्षिप्त था और इसपर चलकर मात्र दो दिनों में विदर्भ की सीमा छूने की परिकल्पना थी।

प्रातः बहुत जल्दी करने पर भी सूर्य तो निकल ही आया था। अब गाँव के लोग हमारे पास आ गए। उन्होंने हमें पहचान लिया। कुछ लोगों ने हमारी यात्रा के प्रयोजन का भी अनुमान लगा लिया।

“आप रुक्मिणी के स्वयंवर में कुंडिनपुर जा रहे हैं न! पर स्वयंवर में इतने रथ यूथ और इतनी तैयारी की क्या आवश्यकता?”

समझा तो बहुतों ने बहुत कुछ, पर इसपर बहुत विवाद नहीं किया। गाँव-का-गाँव हमारे सत्कार में लग गया और हम सबको खिला-पिलाकर ही उन भोलेभाले सहज ग्रामीणों ने हमें बिदा किया।

जब हम वहाँ से चले तब एक घड़ी दिन चढ़ आया था। हमारा पूरा समूह खा-पीकर मस्त था। हम दिन भर चलने की स्थिति में थे।

यह स्थिति इसी गाँव की नहीं थी, मार्ग के हर ग्राम में हमें थोड़ा-बहुत रुकना पड़ता था। समय की इस कमी को हमें रात में चलकर पूरा करना पड़ता था।

आपको जानकर आश्चर्य होगा, जब हम कुंडिनपुर में पहुँचे तो रात्रि अपने तीसरे चरण में थी। रथों की गड़गड़ाहट और मशालों की जगमगाहट से नगर द्वार के प्रहरी सकते में आ गए। यह अचानक किया गया कोई आक्रमण तो नहीं है? वे सोचने लगे; पर उनकी सकपकाई मनःस्थिति कुछ कर न पाई। हम लोग राजपथ से ही आगे बढ़े। जिधर से गुजरते, उधर से ही नींद भाग जाती। आश्चर्यचकित नगरवासी अपने वातायनों से हमें देखने लगते। नगर के रात्रि प्रहरी हमें देखकर चूहों-सा बिल में दुबकने लगे। नगर का सन्नाटा हमारे आतंक से चूर-चूर हो उठा।

हम अपनी योजना के अनुसार सीधे पितामह कौशिक के आश्रम में पहुँचे। वहाँ श्वेतकेतु हमारी प्रतीक्षा कर रहा था।

हमें देखते ही बोला, “आप लोगों ने बड़ा विलंब कर दिया।”

“क्या करें भाई, मार्ग के ग्रामवासियों के ममत्व के कारण हमें देर हो गई।” मैंने कहा, “पर अभी स्वयंवर की तिथि कल है न?”

“हाँ, है तो कल ही, पर जरासंध ने अपराह्न के स्थान पर मध्याह्न के पूर्व ही उसे संपन्न कराने का निर्णय लिया है।”

“आखिर निमंत्रण में क्या समय दिया है?”

“निमंत्रण में तो अपराह्न का ही समय है।”

“तब वे मध्याह्न के पूर्व कैसे कर सकते हैं?” मैंने तर्क दिया—“जो लोग अपराह्न में आएँगे, वे तो स्वयंवर से वंचित हो जाएँगे। रुक्मिणी को स्वयं इसका विरोध करना चाहिए था।”

“रुक्मिणी तो पूरे स्वयंवर का विरोध कर रही है; पर कोई सुने तब तो!” श्वेतकेतु ने बताया—“इस समय यहाँ जरासंध की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।”

“क्यों, भीष्मक की अब कुछ नहीं चलती? सत्ता तो उन्हींके हाथ में है।”

“महाराज तो वे ही हैं, पर सत्ता है रुक्मी के हाथ में।...और वह स्वयं जरासंध के सामने पत्ते की तरह काँपता है।”

फिर अंतःपुर के विषय में चर्चा आरंभ हुई। श्वेतकेतु ने बताया—“शैव्या तो वहीं रहती है। कल संध्या तक जब आप नहीं आए और अचानक जरासंध ने स्वयंवर का समय बदल दिया, तब लोग बड़े निराश हुए। रुक्मिणी तो संज्ञाशून्य हो गई थी। रात्रि में राजवैद्य भी आए थे; पर उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। वे कह रहे थे कि नाड़ी की गति से तो ऐसा लगता है कि मन पर कोई गहरा आघात लगा है।”

“अच्छा, रुक्मी की पत्नी सुव्रता की क्या भूमिका है?”

“उसकी भूमिका!” श्वेतकेतु मुसकराया और मेरा हाथ पकड़कर खींचता हुआ कौशिक आश्रम के आरण्यक छोर की ओर ले चला। फिर एक वृक्ष के नीचे खड़े होकर बोला, “यहीं से देखिए। इसके आगे आप जा नहीं सकते।” उसने धरती पर खींची गई एक श्वेत बृहत् वृत्ताकार रेखा की ओर संकेत किया—“इस रेखा से आगे बढ़ना वर्जित है।”

“लगता है, यह लक्ष्मण रेखा है!”

“हाँ, इसे लक्ष्मण रेखा ही समझिए।” श्वेतकेतु बोला। मैंने वहीं से देखा। काफी दूरी पर उठती हुई अग्नि की लपटें दिखाई पड़ रही थीं। उसने बताया—“विगत सात दिनों से निरंतर यह यज्ञ चल रहा है।” उसने मेरे कान में धीरे से कहा, “यह अनुष्ठान सुव्रता ही करा रही है।”

“जरासंध के विनाश के लिए?”

“हाँ, आप कह सकते हैं।” श्वेतकेतु बोला, “पर सुव्रता की दृष्टि में तो अज्मवी है।”

“यह अज्मवी कौन है?”

“जरासंध की पौत्री, जिससे वह रुक्मी का दूसरा विवाह करना चाहता है।”

“तो इस यज्ञ की आग वस्तुतः सौताग्नि है। देखना, इसमें राजभवन भस्म हो जाएगा।” इतना कहता हुआ मैं शीघ्र ही अपने मित्रों के बीच आया।

मित्रों की जिज्ञासा प्रतीक्षा में थी। आते ही वह मुझे टटोलने लगी। मैंने उन्हें मुसकराते हुए बताया—“मैं अंतःपुर में जल रही आग देखने लगा था। बड़ी शुभ है वह अग्नि। हमारा कल्याण करेगी।”

हम पितामह कौशिक के विशेष अतिथि हुए। रथ श्वेतकेतु के आश्रम में भेज दिए गए। पर नगर में हमारे प्रवेश

के समय जो जागरण आया था, उसे नींद नहीं थी। ब्राह्म मुहूर्त होते-होते लोगों की भीड़ दर्शनार्थ मेरा जय-जयकार करते हुए आने लगी। सवेरा होते-होते यह जय-जयकार और गंभीर होता गया। भीड़ बढ़ती गई और एक समय ऐसा आया कि राजभवन से मेरा जय-जयकार टकराने लगा।

शैव्या ने बाद में बताया—“रनिवास में भी आपका ही जयकारा लग रहा था।”

“यह सब तुम्हारे प्रयत्न का फल है।” मैंने कहा।

“नहीं, तुम्हारे देवत्व का।” शैव्या ने शायद पहली बार मेरे देवत्व को मान्यता दी थी—“और उस मगध नरेश की मूर्खता का भी। यदि वह रुक्मी के दूसरे विवाह की व्यवस्था न करता तो कदाचित् सुव्रता इतना उग्र रूप न धारण करती। जरासंध ने सारी समस्या को अपने अस्तित्व से जोड़ रखा है।”

मुझे यज्ञकुंड की अग्नि और धधकती दिखाई देने लगी।

अब यह शैव्या भी पहले जैसी शैव्या न थी। अब यह मेरे मित्र की सही रूप से अर्धांगिनी थी, अनुचरी थी। इसीलिए बाहरी माहौल जहाँ श्वेतकेतु ने मेरे अनुकूल किया, वहीं भीतरी परिदृश्य को एकदम बदल देनेवाली शैव्या थी।

लोगों की भीड़ आश्रम की ओर चली आ रही थी। श्वेतकेतु को सैनिकों द्वारा उनके नियंत्रण की विशेष व्यवस्था करनी पड़ी।

पितामह कौशिक को भी मेरे ऐसे भव्य स्वागत की आशा नहीं थी। वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न थे और सोच रहे थे कि मेरी पौत्री का भक्तिपूर्ण समर्पण सचमुच कोई रंग दिखा रहा है। अब देखें, जरासंध क्या करता है?

इस बीच विंद और अनुविंद, करवीरपुर से आए शक्रदेव और पुनर्दत्त आदि मुझसे मिलकर अपनी आस्था व्यक्त कर चुके थे। जब उन्हें पता चला कि मैं अनाहूत आहूत हो गया हूँ तो वे प्रसन्न भी हुए और चकित भी—“आश्चर्य है कि आप अनिमंत्रित हैं।”

“इसमें आश्चर्य की क्या बात है? अनेक ऐसे लोग अनिमंत्रित होंगे, जिन्हें आप जानते न होंगे और जिनका निमंत्रित होना आवश्यक था।” मैंने कहा।

तब तक मुझे लगा कि भीड़ को चीरता हुआ कोई बगल से आया है और दोनों चरण छूने के लिए झुका है। मैंने उसे उठाया—“अरे, यह तो गोमांतक से आया गरुड़केतु है।”

मैं चकित-सा रह गया—“राजन्, आपका कब आगमन हुआ?”

“अभी ही चला आ रहा हूँ और मैं भी अनिमंत्रित हूँ।”

“अनिमंत्रित, फिर भी आप पधारे! यही तो चमत्कार है।” मैंने कहा।

वह मुसकराया—“प्रभु, चमत्कारी हो आप और आपके संसर्ग में आने के बाद से मैं भी चमत्कारी हो गया होऊँ तो आश्चर्य क्या!” एक खिलखिलाहट उस भीड़ के अधरों को छूती हुई बहुत दूर तक निकल गई।

गरुड़केतु ने बताया कि इसका रहस्य मैं आपको बाद में बताऊँगा। क्योंकि भीड़ का दबाव इतना अधिक था कि हम बात करने की स्थिति में नहीं थे।

धीरे-धीरे समय सरकता रहा। भीड़ कम होने के स्थान पर बढ़ती गई। मैं विचित्र स्थिति में था। मेरे मित्र तो प्रातः का अल्पाहार ग्रहण कर रात्रि की थकावट मिटा रहे थे और मैं वासंती बयार में वायु के झोंके सहती चंपक की डाल की तरह भीड़ के झोंके सँभाल रहा था।

तब तक पितामह कौशिक स्वयं सामने आए। उन्होंने उच्च स्वर में भीड़ को संबोधित करते हुए कहा, “आप लोग कन्हैया को कुछ समय के लिए मुक्त कर दीजिए। वे रात के थके हैं।”

वे कुछ और कहें, इसके पहले ही भीड़ एकदम हट गई। मैंने अनुभव किया कि सत्ता से दूर रहने पर भी पितामह की पकड़ प्रजा पर अद्भुत है। मैंने तुरंत अपनी राजनीति की गोट चल दी। मैंने लौटती भीड़ से कहा, “आप सब लोग मध्याह्न के पूर्व ही स्वयंवरस्थल पर चलें, वहीं आपसे भेंट होगी।”

“यह तो तुमने वह आग लगा दी कि जरासंध सुलग उठेगा।” पितामह बोले।

“क्यों?”

“उसने ऐसी व्यवस्था करने की सोची थी कि स्वयंवरस्थल पर पचास-साठ वे ही व्यक्ति जा सकें, जिन्हें वह चाहता हो।”

“यही तो इस संसार की विचित्रता है, यहाँ कभी किसीका चाहा नहीं हुआ है। वही हुआ है, जिसे नियति ने चाहा है।” इतना कहकर मैं भीतर की ओर आया। मैंने चारों ओर देखा। सभी दिखाई दे रहे थे, पर गरुड़केतु नहीं दिखा। मैंने पितामह से पूछा।

उन्होंने बताया—“श्वेतकेतु उसे आश्रम के पीछे की ओर ले गया है। शायद यज्ञ का दर्शन कराने।”

“पर वह यज्ञ तो गोपनीय है।”

“है तो।” पितामह बोले, “कोई बात होगी।”

मेरी जिज्ञासा और जागी। मैं लाँघता-फाँदता आश्रम के पीछे गया। मैंने देखा, गरुड़केतु उसी वृक्ष के नीचे खड़ा है, जिसके नीचे इसके पूर्व मैं खड़ा था और श्वेतकेतु अपनी अँजुली में नारियल के साथ कुछ लेकर यज्ञकुंड की ओर जा रहा है।

“अरे, वह तो लक्ष्मण रेखा लाँघ गया।” मैंने धरती पर खींची श्वेत वृत्ताकार रेखा की ओर संकेत कर गरुड़केतु से कहा।

गरुड़केतु ने कहा, “उसने महापुरोधा से अनुमति ली है। वह महाभारग्व की आहुति लेकर जा रहा है।”

“महाभारग्व की आहुति!” मैं चकित रह गया—“यह कैसे संभव हो सका?”

अब गरुड़केतु ने बताया—“आपका दूत एक दिन काम्यक नदी के किनारे मुझसे मिल गया था।”

“मेरा दूत!” मैं सोचने लगा।

“अरे वही, जो आपका उपहार लेकर कालयवन के यहाँ जा रहा था। एक बार मेरे यहाँ भी आया था, जब आप गोमांतक में थे।”

मुझे हँसी आ गई—“तुम छंदक के संबंध में बातें कर रहे हो?”

“हाँ-हाँ, वही छंदक।” उसके चेहरे पर भी मुसकराहट उभरी और उसने बताया—“यह सारी जानकारी उसीने दी है और एक नारी पर होनेवाले संभावित अत्याचार की व्यथा-कथा सुनाकर मुझे यहाँ आने के लिए प्रेरित भी किया है। जब मैंने इस संदर्भ में आपका नाम सुना तब मैंने यहाँ आने का निश्चय किया।

“चलने के पूर्व मैं आचार्य महाभारग्व के आश्रम में गया। उनको सारी बातें बताईं। महर्षि ध्यानावस्थित हुए। उसी अवस्था में उन्हें जैसे दिखाई दिया कि वहाँ कोई यज्ञ है, उस दुराचारी के नाश के लिए। तब उन्होंने मुझे अपने पास बुलाकर कहा कि तुम अवश्य जाओ और उस यज्ञ के लिए मेरी ओर से भी एक हवि लेते जाओ।” गरुड़केतु ने इतनी सारी बातें एक साँस में कह डालीं।

अब मेरा मस्तिष्क छंदक की ओर गया। कैसा अद्भुत व्यक्ति है! रास्ते भर चिनगारी बिखेरता गया है। अन्यथा कहाँ मथुरा और कहाँ महेंद्र पर्वत पर महाभारग्व का आश्रम। यह बात वहाँ तक कैसे जाती? मैं सोचता हूँ कि यह जो मेरे अनुकूल सारा माहौल बना है, सारी कुंडिनपुर इस समय जो कृष्णमय हो गई है, उसमें मेरे व्यक्तित्व से कहीं अधिक मेरे उस देवत्व का हाथ है, जिसके प्रति श्वेतकेतु, शैव्या, पितामह कौशिक और छंदक जैसे लोग समर्पित हैं।

मैं सोचता रहा, ‘पर छंदक को लौटते समय यहाँ आने के लिए कहा गया था। अभी तक तो नहीं आया। क्या बात है? ऐसा तो नहीं कि कालयवन ने उसके साथ कुछ अकरणीय किया हो। उसे बंदी बना लिया गया हो या उसका वध कर दिया गया हो। वह कुछ भी कर सकता है। उसका क्रोध नाग को देखकर अवश्य उबल पड़ा होगा।’

तब तक श्वेतकेतु मिला। वह मुझे गंभीर देखकर बोल पड़ा—“क्या बात है, कन्हैया?”

“कोई विशेष बात नहीं।” मैं बड़े सहजभाव से बोला, “सोचता हूँ, यदि मध्याह्न के पूर्व ही स्वयंवर की व्यवस्था है तो हमें तैयार हो जाना चाहिए।” मैंने कहा और भैया तथा उद्धव को भी जल्दी तैयार होने का निर्देश देकर मैं निकट के जलाशय पर जाने लगा।

मार्ग में शैव्या मिली। उससे पता चला कि रुक्मिणी अब भी संज्ञाशून्य है।

“आखिर स्वयंवर कैसे होगा? कौन जाएगा हाथ में माला लेकर?”

“तू ही चली आना।” मैंने व्यंग्य में कहा और शैव्या ने उसे लोक लिया—“चली आऊँगी माला लेकर और तेरे गले में डाल दूँगी। लज्जा नहीं आती तुझे ऐसा सोचते हुए! तू हमारा भाई है न!”

मैंने अनुभव किया कि इस बार शैव्या मार बैठी। मैंने स्वयं को सँभालते हुए कहा, “तू तो मेरी बहन है ही; पर बता, बहन भाई के लिए क्या कर रही है?”

“यह बहन भाई के लिए उतनी चिंतित नहीं है, जितनी रुक्मिणी के लिए। पर रुक्मिणी को तो होश ही नहीं आ रहा है। इस समय फिर महाराज भीष्मक ने वैद्यराज को बुलाया था; पर जरासंध ने यह कहलाकर मना कर दिया कि अब वैद्यराज की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं ठीक हो जाएगी।”

जरासंध ने ऐसा कहा? मेरे कान खड़े हो गए। इसमें अवश्य कोई रहस्य है। पर उसके संबंध में शैव्या कुछ बता न सकी।

मैंने निश्चय किया कि मुझे महाराज भीष्मक से मिलना चाहिए। नियमतः राजधानी में आने के बाद महाराज को प्रणाम करने जाना सामान्य लोकाचार है। मैंने उसका निर्वाह नहीं किया। यद्यपि लोगों का विश्वास था कि वे स्वयं पधारेंगे, क्योंकि मैं उनके पिता का अतिथि था; पर वे नहीं आए। मुझसे मिलने न आनेवालों में रुक्मी, भीष्मक, जरासंध, शाल्व, बाण, शिशुपाल आदि थे। ये सभी मेरे विरोधी थे। इनका एक समूह बन जाना स्वाभाविक था।

पर दमघोष फूफा को तो आना चाहिए था।

मैंने आनेवालों की चर्चा करते हुए श्वेतकेतु से पूछा, “फूफाजी कहाँ ठहरे हैं? हमें पहले उन्हींके पास चलना चाहिए।”

“दमघोष तो पधारे ही नहीं हैं।”

श्वेतकेतु की इस सूचना पर हम सबको आश्चर्य था। उद्धव बोल ही पड़ा—“पुत्र का वरण लगभग निश्चित है और पिता अनुपस्थित!”

“इसका रहस्य तो जरासंध ही बता सकता है, यह बेचारा क्या जाने!” मैंने कहा और महाराज से मिलने की इच्छा व्यक्त की।

लोगों का विचार था कि मैं सूचना देकर तब उनसे मिलूँ। मेरा सोचना था कि सूचना देकर जाने से तो वे मानसिक रूप से तैयार हो जाएँगे। हमें अचानक मिलना चाहिए।

मैंने ऐसा ही किया। उद्धव और भैया के साथ मैं श्वेतकेतु की अगुआई में चल पड़ा। मुझे प्रासाद में आता देखकर शैव्या अंतःपुर की ओर दौड़ी।

हमारी चाल में क्षिप्रता के साथ इतनी गरिमा थी कि लोगों ने समझा कि हम महाराज द्वारा बुलाए गए हैं। मैं जिधर से निकला, उधर ही लोग सिर झुका लेते। महाराज के कक्ष तक पहुँचते-पहुँचते तो मंत्रिपरिषद् के लोगों ने भी हमारा अभिवादन किया।

महाराज के कक्ष में मेरे आगमन की सूचना देने के लिए श्वेतकेतु पहुँचा ही था कि हम धड़धड़ाते हुए पहुँच चुके थे। हमारे इस अप्रत्याशित आगमन पर हड़बड़ाकर महाराज भीष्मक खड़े हो गए। रुक्मी भी हिला-डुला, पर खड़ा नहीं हुआ और ऐसा मुँह बनाया जैसे महाराज का खड़ा होना उसे अच्छा नहीं लगा। जरासंध वहाँ बैठा था और बैठा ही रहा।

तीनों में कोई गंभीर मंत्रणा हो रही थी। स्पष्ट था कि हमारी यह अचानक उपस्थिति किसीको अच्छी नहीं लगी।

“क्षमा कीजिए, हम बिना अनुमति लिये आ गए हैं।” मैंने कहना शुरू किया—“कुंडिनपुर में आने के बाद ही हमें महाराज की सेवा में अपना प्रणाम निवेदित करने आना चाहिए था; पर हमें काफी देर हो गई, अतएव यह धृष्टता करनी पड़ी। क्योंकि हमने सुना है कि आप थोड़ी ही देर में स्वयंवरस्थल पर चले जाएँगे।”

“यह आपसे किसने कहा?” भीष्मक बोला।

मैं हँसा—“इसमें किसीके कहने की क्या बात है! यह तो सारा कुंडिनपुर जान रहा है कि मध्याह्न के पूर्व ही स्वयंवर की क्रिया संपन्न हो जाएगी।” मैंने अपनी वाणी में पूरी गंभीरता भरी—“पर महाराज, यह अन्याय होगा। निमंत्रण पत्र में दिए समय और स्थान को बिना पूर्व सूचना के बदलना न्यायसंगत नहीं है।”

महाराज तो नहीं बोले, पर जरासंध ने कहा, “क्या न्यायसंगत है और क्या न्यायसंगत नहीं है, इसे हम अच्छी तरह जानते हैं। तुम तो आमंत्रित भी नहीं हो, तुम्हें यहाँ आने और आपत्ति करने का क्या अधिकार है?”

“हम भी अपने अधिकार को समझते हैं।” मेरी मुद्रा एकदम आक्रामक थी—“यदि हम आपकी दृष्टि में बिना बुलाए आए हैं, तो हमारी दृष्टि में भी आप द्वारा इस स्वयंवर व्यवस्था को अपने हाथ में लेना अनधिकृत है।”

“यह हमारे अधिकार-क्षेत्र की बात है।” अब रुक्मी से रहा नहीं गया। वह एकदम बौखला उठा—“हम जिसे चाहें उसे व्यवस्था दें या न दें, इसमें आप आपत्ति करनेवाले कौन हैं?”

“जब अन्याय, अधर्म और लोक नियम-विरुद्ध कार्य होने लगते हैं तब राजसत्ता राजा के हाथों से छूटकर प्रजा के हाथों में चली जाती है। इस समय विदर्भ की यही स्थिति है।”

“तो हमारी प्रजा से आपको क्या लेना-देना है?” रुक्मी का स्वर थोड़ा तीव्र हुआ।

“वही लेना-देना है, जो आपकी सत्ता से जरासंध को है।”

अपना नाम सुनते ही जरासंध भभका—“आप तो व्यर्थ ही वातावरण में विष घोलने लगे। आपको तो बुलाया ही नहीं गया है।”

“आपने भले ही नहीं बुलाया है; पर मैं न बुलाया गया हूँ, ऐसा नहीं है। किसी के पराधीन, विवश और छटपटाते हृदय ने मुझे निरंतर बुलाया है।” मैं आवेश में बोलता गया—“याद रखिए। जब भी कोई मुझे हृदय से पुकारता है, मैं अवश्य उपस्थित होता हूँ।”

“किंतु तुम्हें पुकारनेवाला अपना होश खो चुका है।” रुक्मी थोड़ा आवेश में आया। वह समझ चुका था कि मैं किसके संदर्भ में बोल रहा हूँ।

ऐसा नहीं है कि मेरी ध्वनि, मेरी मुद्रा और मेरे आवेश का प्रभाव न पड़ा हो। जरासंध जैसा व्यक्ति भी मौन हो गया। केवल रुक्मी ही गिटपिट कर रहा था। उसे महाराज ने शांत किया।

“जो भी भूल हुई है, मुझसे हुई है। आप मुझे क्षमा करें।” साथ ही उन्होंने यह भी कहा, “जब रुक्मिणी ही होश में नहीं है तब उसके स्वयंवर का क्या होगा?”

“तो इस बार भी आप उसका स्वयंवर टाल रहे हैं?” मैंने कहा।

“क्या करूँ? परिस्थिति ही ऐसी है कि उसका दूसरी बार भी स्वयंवर टल रहा है। लगता है, बेचारी के भाग्य में विवाह लिखा ही नहीं है।” महाराज की आँखें डबडबा आईं।

“आप उस बेचारी के भाग्य को मत कोसिए और न उसका कोई दोष है। दोष किसका है, कौन इस परिस्थिति को ले आया है, उसे संसार जानता है; और आप उसका नाम भी नहीं लेना चाहते।” मेरा स्पष्ट संकेत जरासंध की ओर था। वह मेरी बात सुनकर तिलमिलाया भी; पर महाराज ने उसे संकेत से शांत किया।

“खैर, जो बात हो गई उसे छोड़िए। आज मध्याह्न भोज में आप मेरी ओर से सादर आमंत्रित हैं।”

मैं जोर से हँसा—“स्वयंवर में आमंत्रित न करके भी आपने मध्याह्न भोज में आमंत्रित किया, आभारी हूँ।”

अब तक चुप बैठा उद्धव बोल पड़ा—“जहाँ महाराज आमंत्रित कर सकते थे, वहीं न करेंगे!” उद्धव ने ऐसी चिकोटी काटी थी कि सभी तिलमिला उठे; पर कोई कुछ बोला नहीं। मैं चुपचाप अपने मंचक से उठा और औपचारिक अभिवादन कर कक्ष से बाहर निकला। मेरे साथ ही भैया और उद्धव भी थे। श्वेतकेतु वहीं रह गया। लगता है, उसे रोक लिया गया था।

हम गलियारे में बढ़े चले आ रहे थे। आगे चलकर इसका एक भाग अंतःपुर की ओर जाता था और दूसरा प्रासाद के बाहर की ओर। उसी मोड़ पर खड़ी शैव्या दूर से ही दिखाई पड़ी। उसने संकेत से मुझे बुलाया। मैंने अपने साथियों की ओर देखा। भैया तत्क्षण बोल पड़े—“तुम जाओ, बात कर लो। हम लोग मुख्य द्वार पर तुम्हारी प्रतीक्षा करते हैं।”

“तुम इन्हें पहचानते हो?” मेरे निकट पहुँचते ही एक नारी की ओर संकेत करती हुई शैव्या बोली। मुझे लगा कि इसे कहीं देखा है। मैं सोच ही रहा था कि शैव्या बोल पड़ी—“यह सुत्रता हैं। इनका अपार स्नेह हमें मिला है। इस समय बेचारी भयंकर संकट में हैं और इस संकट के कारण तुम्हीं हो। यदि जरासंध तुम्हारा विरोधी न होता तो यह सारा वितंडा खड़ा न करता।”

“नहीं-नहीं, इसमें मैं किसीका दोष क्यों दूँ!” सुत्रता बोली, “यह दोष मेरे भाग्य का है।”

“भाग्य का दोष देने का तात्पर्य है कि कर्म पर से आपका विश्वास उठता जा रहा है।” मैंने बड़ी गंभीरता से कहा, “कर्म में विश्वास रखिए, भाग्य आपके साथ के लिए विवश होगा।”

“यदि कर्म में विश्वास न होता तो आज यह स्थिति पैदा न होती।” शैव्या बोली, “आप अंतःपुर के द्वार तक निर्विघ्न आ न सकते। आपके अनुकूल सारा माहौल इन्हींका बनाया हुआ है।”

“मैं आभारी हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

फिर उसने रुक्मिणी के संबंध में बताया—“कल संध्या तक जब आप नहीं आए तो निराश हो वह होश खो बैठी।...और अभी तक वह उसी स्थिति में है। आप तो कर्म में विश्वास करने का उपदेश देते हैं न! अब बताइए, मैं क्या करूँ कि वह सचेत हो जाए?”

“क्या मैं उसके पास तक चल सकता हूँ?”

“आप चल तो सकते हैं, पर मैं आपको ले जाना नहीं चाहती।”

मैं समझ गया। यदि बात खुल गई तो सुत्रता का जीवन संकट में पड़ जाएगा। तब मैंने उसे सलाह दी—“आप रुक्मिणी के कान में धीरे-धीरे मेरा नाम लीजिए और लगातार बताइए कि मैं आ गया हूँ।”

इतना कहकर मैं चलने को हुआ।

“सुनिए” उसने रोका। उसकी मुखमुद्रा अचानक रहस्यमय हो गई—“शायद एक समाचार आपको मालूम न हो।” उसने कहा।

“क्या?”

“आज प्रातः जरासंध ने शाल्व को कहीं भेजा है।”

“यह आपको कैसे मालूम?”

“इसी स्थान पर आज प्रातः वे दोनों बातें कर रहे थे। मैं आड़ से सुन रही थी। वे कह रहे थे कि यहाँ की स्थिति तो एकदम बदल गई। लगता है, सारी योजना धरी-की-धरी रह जाएगी। तुम अभी जाओ और उसे किसी प्रकार तैयार करो। मैं अब तक उसके ‘उस’ का तात्पर्य समझ न पाई।”

मैंने सुत्रता को शांत करने के लिए अपनी चिर परिचित मुसकराहट उगाई और कहा, “आप बिल्कुल व्यग्र न हों। मैं आपके ‘उस’ को जानता हूँ।” इतना कहकर मैं तुरंत चल पड़ा; क्योंकि मुझे अब अपने मित्रों से मिलना था। भवन के द्वार पर ही उद्धव और भैया मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके निकट पहुँचते ही मैंने कहा, “लगता है, शाल्व कालयवन को बुलाने गया है।”

“तब क्या किया जाए?” भैया के साथ ही हम सभी चिंतित हुए।

“वह यदि आना भी चाहे और कितनी भी शीघ्रता करे, तो भी तीन-चार दिनों के पूर्व वह यहाँ आ नहीं सकता।” मैंने कहा। फिर अचानक छंदक मेरे मस्तिष्क में उभर आया। ‘वह लौटता तो इधर से ही। मैंने उससे भेंट करने को कहा था।’ मैं सोचने लगा और आश्रम को लौटा।

आश्रम में आकर मैंने सात्यकि आदि अपने मित्रों से कहा, “हो सकता है, हमें गंभीर विस्फोट का सामना करना

पड़े।”

सभी इसी चिंता में डूब गए। किसीने नहीं पूछा कि आप महाराज के यहाँ गए थे तो क्या हुआ?

□

मध्याह्न के पूर्व ही शैव्या दौड़ी हुई आई। उसने धीरे से बताया—“आपकी ओषधि काम कर गई है। रुक्मिणी चेतना में आ गई है। आपके दर्शन के लिए व्याकुल है।”

“उससे मिल सकता हूँ?”

“आप उनसे मिल तो नहीं सकते, पर आपको मिलाने की व्यवस्था की जा रही है।” शैव्या ने कहा और यह भी बताया कि “यहाँ स्वयंवर के पूर्व यह प्रथा है कि कन्या का शृंगार करके उसे परिवार की महिलाएँ गिरिजा मंदिर ले जाती हैं। आप पहले से ही वहाँ उपस्थित रहें तो उत्तम हो।”

“पर अब तो स्वयंवर ही नहीं होगा।” मैंने उसे बताया—“रुक्मिणी की अस्वस्थता के कारण स्वयंवर टाल दिया गया है।”

वह अवाक् रह गई। उसे यह पता ही नहीं था। किंतु वह दुःखी नहीं थी। तब तक नगर में प्रसारित होती राजकीय घोषणा सुनाई पड़ी—“सर्वसाधारण को विदित हो कि राजकुमारी की अस्वस्थता के कारण स्वयंवर अनिश्चित काल के लिए टाल दिया गया है।”

मैंने शैव्या से मध्याह्न भोज की चर्चा की और कहा, “हो सकता है, आपसे फिर मिलना हो।”

वह कुछ सोचती हुई चली गई और मैं अपने मित्रों में चला आया। ऊपर से मैं भले ही शांत था, पर भीतर-ही-भीतर कालयवन के संदर्भ में व्यग्र था।

यह व्यग्रता अंतर्मन में छटपटाती रही। मेरी स्थिति विचित्र थी। मैं शांति की चादर ओढ़े भीतर से अत्यंत अशांत था—एक गहरे सिंधु की तरह, जिसके भीतर उष्ण धाराएँ चलती हैं और ऊपर शीतलता बिछी रहती है। मैं स्वयं कुछ प्रकट भी नहीं कर पा रहा था कि तब तक मध्याह्न भोज का बुलावा आ गया। पितामह कौशिक तो उसी समय चले गए। मैंने अपने लोगों को उन्हींके साथ भेज दिया, पर स्वयं अपने मित्रों के साथ कुछ विलंब से चलने का निश्चय किया।

इस निश्चय के पीछे भी मेरी कूटनीति थी।

एक परिचर हमें बुलाने आया—“महाराज ने कहा है कि सभी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।”

“महाराज से कहिए कि आरंभ करें, हम पहुँच रहे हैं।” मैंने कहा।

थोड़ी देर बाद मैं अपने मित्रों के साथ वहाँ पहुँचा। वहाँ देखकर चकित भी हुआ और प्रसन्न भी। हमें विश्वास नहीं था कि लोग हमारी प्रतीक्षा इतने सम्मान के साथ करेंगे।

मेरी, भैया और उद्धव की भोजन की थालियाँ महाराज ने अपनी पंक्ति में लगवाई थीं। उसी पंक्ति में जरासंध आदि थे। दूसरी पंक्ति में विंद, अनुविंद, गरुड़केतु आदि बैठे थे।

मैंने पहुँचते ही नाटक आरंभ किया—“अरे, हम आपकी बगल में कैसे बैठ सकते हैं? हम तो अनाहूत आए हुए हैं। आपके जाने-पहचाने होकर भी एक अनजान की तरह। हमारा स्थान तो प्रजा के बीच होना चाहिए।” इतना कहकर उस स्थान को छोड़ हम शीघ्र प्रजा की पंक्ति में बैठ गए।

नगर के सम्मानित लोग जो वहाँ उपस्थित थे, गद्गद हो गए। उन्होंने हमारे सम्मान में जयकारे भी लगाए।

महाराज ने बार-बार आग्रह किया; पर हमारा उत्तर हर बार एक ही था—“आपके इस सम्मान को हम विनयपूर्वक स्वीकार करते हैं; पर आपकी बगल में बैठकर हम तभी भोजन करेंगे, जब हमें आप विधिवत् आमंत्रित करके बुलाएँगे।”

अपनी इस राजनीति से हमने प्रजाजनों के बीच अपना स्थान बना लिया था। मेरे प्रति उनकी श्रद्धा अब पहले से अधिक हो गई थी। हम उनकी बगल में बैठकर भोजन करें, इसमें वे अपना सौभाग्य समझ रहे थे।

वस्तुतः महाराज की बगल में रखी हमारे लिए थालियाँ हमें जरासंध द्वारा बिछाया गया जाल ज्ञात हो रही थीं। उसमें फँसने का तात्पर्य था, जीवन पर संकट को आमंत्रण करना। यही मुख्य कारण था कि मैं उस जाल से छटककर जनता के बीच आ गया।

शंका तो तब पुष्ट हुई जब हमारे न बैठने पर रुक्मी के आदेश से वे थालियाँ हटा दी गईं और जब दूसरी लगाई गई तब वहाँ सम्मानित अतिथियों के साथ शिशुपाल को भी बैठाया गया।

इस घटना से लोग आपस में सुगबुगाने लगे थे। पर किसीने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। हाँ, पितामह कौशिक बड़बड़ाते हुए वहाँ से उठकर अवश्य चले गए। बाद में सुननेवालों ने हमें बताया कि वे कह रहे थे, हमें विश्वास नहीं था कि लोग इतनी नीचता पर उतर आएँगे।

भोजन शुरू हुआ। थोड़ी देर बाद मैंने रुक्मिणी को भी सुव्रता और शैव्या के साथ आते देखा। उसके पीछे दासियों ने पकवानों से भरे थाल लिये थे। स्पष्ट था कि अपने स्वयंवर में पधारे लोगों को विशेष सम्मान देने के हेतु वह स्वयं भोजन परोसने के लिए आ रही थी। इससे भी बड़ा उद्देश्य था उसमें मुझसे मिलने की ललक।

आते ही वह महाराज की पंक्ति की ओर गई। उसे तो सूचना दी गई थी कि मेरी थाली उन्हींकी बगल में लगाई गई है; पर वहाँ तो शिशुपाल बैठा था। उसे देखते ही वह एकदम भड़क उठी और वहाँ से सीधे प्रजाजनों के बीच आई। उसने हम लोगों को देखा भी, फिर अचानक वह संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ी।

एक बार तहलका मच गया। मैंने तत्क्षण उठकर उसे उठाया भी और सुव्रता से निर्देशित होता हुआ उसके विश्रामकक्ष की ओर बढ़ा।

जब मैंने उसके विश्रामकक्ष में लाकर रुक्मिणी को शय्या पर लिटाया, तब उसकी चेतना पुनः आ गई थी—“नाथ, फिर मुझे छोड़े जा रहे हो।” उसकी कातर लड़खड़ाती आवाज मुझसे बेतरह टकराई।

“न तुम्हें कभी छोड़ा था और न छोड़ रहा हूँ।” मैंने कहा, “मेरे प्रति तुम्हारे इस अविश्वास ने ही तुम्हारी यह दशा बना रखी है। जो मुझमें विश्वास करता है, मैं उसे छोड़ नहीं पाता।”

“अब मेरा क्या होगा?”

“वही होगा, जो होना चाहिए।” मैंने उसकी दुर्बल आस्था को बल प्रदान करते हुए कहा, “जब तुम हृदय से पुकारोगी, मैं तुम्हारे पास होऊँगा।”

“पर ऐसा कब तक चलेगा?”

“जब तक नियति की इच्छा होगी।” मैंने कहा। मुझे द्वार पर किसीके आने की आहट लगी। फिर भी मैंने उधर देखा नहीं। मैं कहता जा रहा था—“जब भी मैं तुम्हें ले चलूँगा, पट्टमहिषी बनाकर, एक सामान्य यादव सरदार की पुत्रवधू बनाकर नहीं।”

“पर मैं तो यादव सरदार की पुत्रवधू ही बनना चाहती हूँ।”

“यह तो तुम्हारी महानता है। तुम्हारा मेरे प्रति समर्पण है। पर तुम्हारे परिवार का दुराग्रह और उससे जागा मेरा अहं अब मुझे अनुमति नहीं देते।” मैंने कहा।

“तुम कब तक अपने अहं की अग्नि में मेरे समर्पण को तपाते रहोगे?”

“जब तक तुम्हारे भाई का दुराग्रह भस्म नहीं हो जाता।” मैंने उसे समझाया। तुम विदर्भ का भविष्य हो, जो मुझसे जुड़ा है। रुक्मी तो इसका वर्तमान है, तिल-तिल घटता हुआ वर्तमान। जो अब समाप्त हुआ, तब समाप्त हुआ।”

“और तुम क्या हो?” अब तक आड़ से सुनते हुए रुक्मी से रहा नहीं गया। उसने भीतर आते हुए बड़े आक्रोश से कहा।

“मैं भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों हूँ।” मेरी आवाज उसकी आवाज से भी ज्यादा तेज थी—“या इन तीनों से परे हूँ; क्योंकि मुझे बाँटा नहीं जा सकता। समय मुझे नाप नहीं सकता। तुम सब काल के खिलौने हो और मैं काल के इन खिलौनों का निरपेक्ष द्रष्टा हूँ।”

मेरे स्वर की गंभीरता और मुसकराहट की रहस्यमयता में वह ऐसा उलझा कि अवाक् रह गया।

मैं बड़े शान से रुक्मिणी के कक्ष से निकलकर भोजन के स्थल पर आ आया। मैंने देखा, सब चुपचाप बैठे मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मेरे चले जाने से भोजन का क्रम रुक गया है। मैंने अपनी उसी देवत्व की मुद्रा में कहा, “आप सब क्यों रुके हैं? भोजन आरंभ कीजिए। काल किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता।” इसके बाद मैंने जरासंध और महाराज की पंक्ति की ओर संकेत कर कहा, “इन महानुभावों की भी नहीं। काल निरंतर इनका भोजन कर रहा है और एक-न-एक दिन इनके अस्तित्व को भी चबा जाएगा।”

इतना सुनते ही सभी सकते में आ गए। उन्हें लगा जैसे कोई देववाणी हो रही है। मनोवैज्ञानिक युद्ध में तो मैंने उन्हें परास्त कर दिया था। जरासंध मुझे देखता रह गया। शिशुपाल का भी चेहरा फक हो गया। भीष्मक की आकृति पर क्षमा के विनीत भाव उभर आए।

भोजन समाप्त होते ही हम लोग आश्रम में आए। पितामह वहाँ उबलते हुए बैठे थे—“जानते हो, उन नीचों ने क्या किया था?”

“यदि न जानता तो वह सब कैसे करता, जो मैंने किया था।”

“अरे प्रभु, आप तो अंतर्दामी हैं।” इतना कहते हुए पितामह दंडवत् की मुद्रा में सचमुच मेरे सामने लेट गए। वे मेरे ईश्वरत्व के वशीभूत हो चुके थे—“आज आपने विदर्भ के मुख पर कालिख पुतने से रोक लिया।”

उनके कथनानुसार, उन भोजनों में विष था। मेरे मित्र बड़ी गंभीरता से मुझे देखने लगे। ऐसी ही सूचना बाद में मुझे श्वेतकेतु से मिली। जरासंध को आश्चर्य था कि मेरे षड्यंत्र की गंध उन लोगों को कैसे लगी! उसकी शंका श्वेतकेतु और उसके सहयोगियों पर ही जा रही थी।

“वह बड़ा नीच व्यक्ति है, तुम्हें छोड़ेगा नहीं।” उद्धव ने श्वेतकेतु से कहा। वह बेचारा और चिंतित हुआ।

धीरे-धीरे बात फैल गई। बच्चे-बच्चे में जरासंध की नीचता और मेरे ईश्वरत्व की चर्चा होने लगी। अब नगर में उसका निकलना मुश्किल हो गया। अब मेरे दर्शन के लिए भीड़ एक बार फिर बढ़ी। संध्या तक लोग आश्रम में आते रहे।

पर रह-रहकर मुझे कालयवन का संदर्भ याद हो जाता था। मुझे लग रहा था कि अब अधिक देर तक यहाँ ठहरना निरापद नहीं; यद्यपि कुंडिनपुर का सारा माहौल मेरे पक्ष में था।

मैंने अपने मित्रों से कहा कि आज रात में किसी भी समय हमें यहाँ से चल देना चाहिए; क्योंकि यह स्थिति अधिक देर तक रह नहीं पाएगी।

मैं प्रयत्न कर शैव्या से मिला। वह जरासंध की सोच से नाराज और चिंतित थी। मैंने उसे ढाढ़स दिलाया—“जरासंध यहाँ के लोगों को मुँह दिखाने के योग्य भी नहीं रहा। देखना, रात-बिरात धीरे से यहाँ से वह चोरों की तरह मुँह छिपाकर भागेगा। तुम रुक्मिणी को भरोसा दिलाना कि अब उसका बाल भी बाँका होने वाला नहीं है। वह प्रतीक्षा करे। नियति उसे द्वारका की पट्टमहिषी बनाने की ओर अग्रसर है।”

मैंने लौटने के पूर्व और लोगों से मिलने के साथ-साथ जरासंध से भी मिलना उपयुक्त समझा; यद्यपि मेरे मित्र इस

पक्ष में नहीं थे। उस नीच से मिलना क्या! पर मेरी राजनीति मुझे ऐसा करने के लिए विवश कर रही थी। इस समय वह मानसिक रूप से पराजित था। उसकी इस पराजय पर एक और प्रहार करने के लिए आवश्यक था कि मैं उससे मिलूँ और उसके उपकारों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करूँ।

मैं महाराज भीष्मक के यहाँ गया। उनसे आशीर्वाद लिया और जरासंध से मिलने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने अपने पास ही मुझे बैठा लिया। मेरे साथ भैया, उद्धव और सात्यकि भी थे। इसके बाद उन्होंने जरासंध को बुलाने के लिए चर भेजा। उसी चर से यह पता चल चुका था कि वह रुक्मी के कक्ष में बैठा मंत्रणा कर रहा है।

पर उसने आने में बहुत देर की। महाराज ने कहा, “हो सकता है, वह आपसे मिलना न चाहे।”

“यह कैसे हो सकता है?” मैंने कहा, “यदि वह मिलना न चाहता हो, न चाहे; पर मैं तो उससे मिलना चाहता हूँ।” मैंने बड़ी दृढ़ता से कहा। मुझे लगता है, मेरी यह सूचना किसी तरह उस तक पहुँच गई और वह थोड़ी देर बाद ही स्वयं रुक्मी के साथ चला आया।

मैंने खड़े होकर उसका स्वागत किया और प्रणाम करते हुए बोला, “आपकी छत्रच्छाया में आया था। सोचा, चलते समय आपको प्रणाम करता चलूँ। आपकी कृपा से उपकृत हूँ।”

मेरे एक-एक शब्द से हजारों जोंकें निकलकर उसे चुभने लगी थीं। वह कई बार तिलमिलाया भी; पर कुछ बोल नहीं पाया। शब्द ही नहीं, मेरी मुसकराहट भी उसके अहं पर हथौड़े की तरह पड़ रही थी। वह टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरता दिखाई दिया।

मैंने उसे एकदम अवाक् कर दिया था। चलते समय भी मैं ही बोला, “अच्छा, अब चलता हूँ। मथुरा में आपसे भेंट होगी।”

अब भी वह चुप था। एक पराजित योद्धा की तरह धराशायी और चित।

मैं जब मुड़कर चलने को हुआ तो देखा कि मेरे साथ गरुड़केतु भी है। वह कब आ गया और कब साथ हो लिया, इसका मुझे पता नहीं।

प्रासाद से बाहर निकलते ही गरुड़केतु बोला, “इस बार तो आपने उसकी हालत गोमांतक से भी अधिक दीन बना दी। अब उसकी हिम्मत नहीं होगी कि वह आपकी ओर आँख उठाकर देखे।”

“आप नहीं जानते, महाराज, कि वह कितना बड़ा नीच है!” यह आवाज सात्यकि की थी।

□

हम लोग मथुरा की ओर प्रयाण कर चुके थे। मध्य रात्रि में जलती हुई मशालों की ज्योति में हम बड़े उत्साह से लौट रहे थे। अब मार्ग भी जाना-पहचाना था। हर गाँव हमारा परिचित हो गया था। हम विजयी की तरह लौट रहे थे; पर विजयोन्माद हममें नहीं था। हमें अपना राजनीतिक क्षितिज अब भी मेघाच्छन्न दिखाई दे रहा था—और उसमें चमकती बिजलियाँ भी आतंक की मुद्रा में ज्ञात हो रही थीं।

मैंने अपने ही रथ पर भैया और उद्धव दोनों को बैठा लिया था। उद्धव भैया से कह रहा था—“न हमने एक अस्त्र चलाया, न युद्ध हुआ; फिर भी हम विजयी रहे। कुंडिनपुर ने विजयी योद्धाओं की तरह हमें बिदा भी किया।”

“हमारा स्वागत भी मथुरा में विजयी योद्धा की तरह ही होगा।” भैया बोले।

“पर विजय अभी हमसे कोसों दूर है।”

“क्यों?”

“क्योंकि जैसे गए थे वैसे ही लौट रहे हैं। मथुरा में तो लोग इस आशा से प्रतीक्षा कर रहे होंगे कि हम रुक्मिणी के साथ आ रहे हैं।” मेरे कथन में बहुत अधिक उत्साह नहीं था।

“आज नहीं आए तो कल आएँगे।” भैया बोले।

“भविष्य तो एक कल्पना है, भैया! सपना है।” मैंने चिंतन की मुद्रा में कहा, “अतीत का अस्तित्व था, वर्तमान का अस्तित्व है। क्या पता भविष्य होगा या नहीं। जो भोगा गया, उसके बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है। जो भोगा जा रहा है, उसके विषय में भी कुछ कहा जा सकता है। जो अभी तक काल की मुट्ठी में बंद है, उसके बारे में क्या कहा जाए!”

“तुम अचानक इतने उदास क्यों हो रहे हो?” भैया बोले, “तुम्हारी मनःस्थिति इतनी बदली-बदली क्यों लग रही है?”

फिर अपने मन की द्विविधा उन्हें स्पष्ट बताई—“छंदक को कालयवन के यहाँ से अब तक लौट आना चाहिए था; पर अभी तक नहीं आया। या तो वह बंदी बना लिया गया या उसका वध कर दिया गया।”

“पर दूत तो अवध्य होता है।”

“कालयवन के लिए कुछ भी अवध्य नहीं है।” मैंने उन्हें बताया—“इस समय जरासंध का वही एकमात्र संबल है। आपको शायद पता नहीं कि हम लोग जब कुंडिनपुर पहुँचे तो हमारी शक्ति और परिस्थिति देखकर जरासंध ने शाल्व को तुरंत कालयवन के पास भेज दिया था।”

“पर वह आया तो नहीं।”

“इतना निकट थोड़े ही है वह। अरे, उसका राज्य सिंधु नदी के पास है। अभी तो वह वहाँ पहुँच रहा होगा, या अधिक तेज चला हो तो अब पहुँचा हो। इसीलिए तो मैंने कुंडिनपुर छोड़ने में शीघ्रता की।”

“तो यही बात छंदक के साथ भी हो सकती है। उसका जाना-आना क्या इतना शीघ्र संभव है?”

“मैंने तो उसे सबसे तेज रथ मारुति पर भेजा है।”

“वह भी पहेली के साथ!” भैया बोले और हमें हँसी आ गई—“सजे-सँवरे उस घट में बंद उस नाग को समझने में कालयवन को काफी समय लग सकता है। फिर तेरा छंदक तुझसे कम बुद्धिमान थोड़े ही है। जब वह कुंडिनपुर में गोमांतक के गरुड़केतु को भेज सकता है, तब वह बहुत कुछ कर सकता है—और करता होगा।”

अब रात चढ़ने लगी थी। हम थकावट से श्लथ थे। एक पहाड़ी नदी के किनारे हमने विश्राम करने के लिए डेरा डाला। शायद मथुरा पहुँचने में यह मेरा अंतिम पड़ाव था।

दूसरे दिन का प्रथम प्रहर वहीं बीत गया। जब हम चले तब सूर्य आकाश में काफी चढ़ गया था। हम लोग अत्यधिक उत्साह में थे। हमने आपस में तय किया था कि हम अपनी आशंका का जरा भी आभास मथुरावासियों को होने नहीं देंगे और कुंडिनपुर की घटनाओं तथा अपनी विजयी स्थिति का भी लोगों को परिचय नहीं कराएँगे। हम लोग अपनी गंभीरता बनाए रखेंगे। यह सब बताने के लिए हमारे सैनिक और अन्य लोग ही सक्षम हैं।

और हुआ भी यही। पता नहीं कैसे मथुरा जान गई कि हम विजयी होकर लौट रहे हैं। एक अफवाह तो ऐसी उड़ी कि जरासंध मारा गया। फिर क्या था, पूरी मथुरा नाच उठी।

लोग हमारे स्वागत में अर्ध योजन तक आगे चले आए थे। कोई यह जानना चाहता था कि जरासंध कैसे मारा गया? कोई यह जानना चाहता था कि रुक्मिणी कहाँ है?

पर जब उन्हें यह पता चला कि न रुक्मिणी हरण हुआ, न रुक्मिणी स्वयंवर और न जरासंध ही मारा गया, तो सब चकित रह गए। फिर विजय कैसी?

शीघ्र ही मेरे सैनिकों द्वारा ही सत्य उन्हें ज्ञात हो गया कि हमारे पहुँचते ही कुंडिनपुर की सारी जनता हमारे स्वागत के लिए उमड़ पड़ी। वहाँ की सेना ने भी हमारा सत्कार किया। जरासंध का अहं भू-लुंठित हो गया। उसकी सारी योजनाएँ धराशायी हो गईं। उधर रुक्मिणी भी संज्ञाशून्य थी। उसीकी अस्वस्थता का बहाना लेकर स्वयंवर टाल दिया

गया।

“तब शिशुपाल का क्या हुआ?”

“वह तो मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा। जैसे बिल्ली को देखकर चूहे बिल में छिप जाते हैं वैसे ही ऐसा छिपा कि किसीने उसे देखा और किसीने उसे देखा भी नहीं।”

ये सारी बातें हमारे सैनिकों ने बताई थीं और मथुरा हर्षोल्लसित थी।

पर मैं बहुत हर्षित दिखाई नहीं पड़ रहा था। मैं और मेरे मित्रों ने अपनी सामान्यता बनाए रखी। उधर नगर उल्लास में डूबा था, इधर हम अपने बड़े-बूढ़ों से मिलकर उनका आशीर्वाद ले रहे थे।

हमारी अगवानी के लिए महाराज ने बृहद्बल को भेजा था। वह बड़े उत्साह से मिला। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि बिना अस्त्र उठाए, बिना युद्ध और बिना रक्तपात हुए हम लोगों ने यह विजय हासिल की है, तब वह आश्चर्य के साथ खिल उठा।

हमने उसे बातचीत में बताया—“यह हमारी अंतिम विजय नहीं है। उसके लिए तो अभी हमें बहुत कुछ करना है। यह तो मात्र आरंभ है।

“यदि आरंभ भला तो सब भला समझिए।”

“भगवान् करे ऐसा ही हो।” मैंने कहा।

बृहद्बल को आभास लग गया कि मैं बहुत संतुष्ट नहीं हूँ। फिर भी वह कुछ बोला नहीं। मथुरा के विजयोल्लास में शामिल रहा।

हमें अचानक सूचना मिली कि महाराज ने मंत्रिपरिषद् बुलाई है और हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैंने भैया और उद्धव को पहले भेज दिया। सात्यकि भी उनके साथ चला गया। मैं छंदक की प्रतीक्षा में अब भी था। अब भी मैं विभिन्न प्रकार की आशंकाओं से घिरा था। मेरी व्यग्रता ने दक्षिण-पश्चिमी नगर द्वार के कई चक्कर लगाए।

इसी बीच मालिनी मिल गई। मैंने पूछा, “तुम्हारे पिताजी का स्वास्थ्य कैसा है?”

“वह अब भी आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।” वह बोली, “क्या रुक्मिणी को नहीं लाए?”

मैंने नकारात्मक ढंग से सिर हिलाया।

“क्यों?”

“अभी उसके लाने का समय नहीं हुआ है।” मैंने कहा।

इतना सुनते ही वह इतनी प्रसन्न हुई कि मैं आपको क्या बताऊँ!

अब मेरा अधिक देर करना उचित नहीं था। प्रासाद में लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। मालिनी को फिर मिलने का आश्वासन देकर मैं राजभवन की ओर चल पड़ा।

पूरी मंत्रिपरिषद् बैठी थी। सबने मुझे धन्यवाद दिया—“तुमने मगधराज का अभिमान चूर कर दिया। मथुरा की नाक रख ली।”

फिर भी मैं गंभीर था। उन्हें क्या मालूम कि छंदक द्वारा मृत्तिकापात्र में भेजा नाग अब मुझे ही फुफकारने लगा है।

फिर भी मैंने स्वयं को बड़ा प्रकृतिस्थ रखा और जब परिषद् ने जिज्ञासा की तो यंत्रवत् कुंडिनपुर की सारी बातें बता दीं। लोग बड़े प्रसन्न हुए। इसे वे सीधे जरासंध की पराजय मान रहे थे। अब उनका निष्कर्ष था कि मथुरा पर आँख उठाने का उसका साहस नहीं होगा।

इसी बीच परिचर ने सूचना दी कि छंदक आ गए हैं और अतिथिकक्ष में कन्हैया की प्रतीक्षा कर रहे हैं। मेरे साथ औरों की भी उत्सुकता बढ़ी। गर्गाचार्य ने कहा, “उन्हें यहीं भेज दो।” सांदीपनि और विकट्ट ने भी आचार्य के कथन

का समर्थन किया। गड और शंकु तो बिना कहे उसे लिवा लाने के लिए दौड़ पड़े।

जब तक छंदक आ नहीं गया, मेरे मन में द्विविधाओं का ज्वार था। कैसी-कैसी कल्पनाएँ उठ रही थीं? मैं क्या-क्या सोच रहा था?

छंदक ने आते ही मेरा भेजा हुआ घट सबके सामने रख दिया।

“क्या तुमने इसे दिया नहीं?” मैंने पूछा।

“दिया था।”

“तब क्या उसने इसे स्वीकार नहीं किया?”

“बड़ें आदर के साथ स्वीकार भी किया।” छंदक बोला, “इसे तीन दिनों तक अपने पास रखे भी रहा। फिर उसी तरह बंद कर अपने राज्य की मुहर लगाकर मुझे देते हुए बड़ी प्रसन्नता से बोला, ‘तुम्हारे कन्हैया द्वारा भेजे गए संदेश का यह उत्तर है। ले जाकर उन्हींके हाथों में देना और कहना, जरा सावधानी से खोलेंगे।’ ”

अब मैंने उसे उठाया, ध्यान से देखा। मेरी वंशी और मुकुट के स्थान पर रक्त से सनी एक छोटी कटार रख दी गई थी।

“इतने ध्यान से क्या देख रहे हो?” महाराज ने पूछा।

“देख रहा हूँ कि मेरी वंशी का उत्तर रक्तरंजित कटार से दिया गया है। अहिंसा और कला का उत्तर हिंसा और आक्रोश से।...यही हमारी और कालयवन की संस्कृति का उत्तर है।”

“इसका कुछ और भी तात्पर्य है?” गर्गाचार्य बोले।

“तात्पर्य तो स्पष्ट है। वह हर स्थिति में युद्ध करने के लिए तैयार है।” आचार्य सांदीपनि ने कहा।

“हमें किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पहले इस घड़े को खोलना पड़ेगा।” मैंने कहा।

“यह तो है ही, पर जरा सावधानी से।” विकट्टु बोला और उसे वहाँ से हटाकर दूर ले गया।

“इतनी दूर ले जाने की क्या आवश्यकता?” महाराज ने कहा।

“हो सकता है, नाग जीवित हो।” मेरे मुँह से निकला। मुझे अब भी लग रहा था कि नाग मुझे फुफकार रहा है। मैं इतना आतंकित! मेरा मन मुझसे बार-बार पूछ रहा था कि क्या तुम वही हो, जिसने बचपन में खेल-खेल में कालिय को नाथ लिया था?

जब मृण्पात्र खोला गया तब उसमें बहुत सारे चींटे मरे दिखे। वे नाग को लगभग आधा चट कर गए थे। उस सड़े हुए नाग से दुर्गंध आ रही थी। हम लोग उसे देखते रह गए। निष्कर्ष पर पहुँचते हुए गर्गाचार्य बोले, “इसका तात्पर्य समझते हो?”

मैं तो समझ ही रहा था, फिर भी चुप रह गया।

“इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि तुम्हारे विषैले-से-विषैले नाग को हमारे चींटे चट कर जाएँगे।” गर्गाचार्य बोले,

“अर्थात् मथुरा को चट कर जाने के लिए हमारे पास सैनिकों की संख्या कम नहीं है।”

इसके अतिरिक्त उसका कोई दूसरा अर्थ हो नहीं सकता। सारी मंत्रिपरिषद् चिंता में डूब गई। जरासंध को तो हम लोगों ने कई बार परास्त किया है, पर उसका कालयवन के साथ होना विनाशक होगा। पूर्व से वह आक्रमण करेगा और नैऋत्य से शाल्व तथा कालयवन। तब मथुरा कहाँ बचेगी?

इसी बीच छंदक ने सूचना दी कि उसका सारा वैमनस्य कन्हैया, उनके परिवार और यादवों से है। उसने यह बात विराट्टाज से कही है कि जैसे परशुराम ने क्षत्रियों का नाश किया था वैसे ही मैं यादवों का नाश करके ही दम लूँगा।

“और जैसे कई पीढ़ियाँ समाप्त हो जाने के बाद भी, आज भी क्षत्रियों का पराभव नहीं हो पाया और आज भी

महाभारगव पीठ विद्वेष से छटपटा रही है वैसे ही जरासंध और कालयवन की कई पीढ़ियाँ समाप्त हो जाएँगी, पर यादवों का बाल बाँका भी नहीं होगा।” मैंने बड़े आक्रोश में कहा।

“तुम्हें ऐसी गर्वोक्ति नहीं करनी चाहिए।” मुझे स्मरण है, भैया ने अपने जीवन में पहली बार मुझे टोका था। यद्यपि वे जरासंध को कई बार पराजित कर चुके थे, फिर भी कालयवन और शाल्व की शक्ति के समक्ष वे चिंतित हो उठे थे।

मार्ग के अनुभव सुनाते हुए छंदक ने महत्त्व की और सूचनाएँ दी थीं। उसके कथनानुसार, “इस बार रुक्मिणी स्वयंवर आसानी से स्थगित नहीं हुआ है। जरासंध खून का घूँट पीकर रह गया है। कन्हैया और मथुरा की सेना के लौट आने के बाद उसने शपथ ली है कि जब तक मैं यादवों का नाश नहीं कर लूँगा तब तक चैन की नींद नहीं सोऊँगा।”

छंदक का कहना था—“इसपर पितामह कौशिक ने उसे बहुत समझाया; पर उसका इतना ही कहना था—‘हार-जीत तो योद्धाओं के जीवन में लगी रहती है; किंतु इस बार जितना अपमानित हुआ हूँ, उतना मैं जीवन में कभी नहीं हुआ था।’”

छंदक का यह भी कहना था कि उसने बहुत से राजाओं को मिला लिया है।...और लगा निकालकर ऐसे राजाओं की पूरी सूची पढ़ने। मुझे आश्चर्य था कि उनमें उन लोगों के भी नाम थे, जिन्हें मैं अपना समझता था। इस संदर्भ में मैंने उसे टोका भी।

छंदक हँसते हुए बोला, “आप किस समय की बात करते हैं, कन्हैया? तब से यमुना का बहुत कुछ पानी बह चुका है।”

मैं चुप रह गया। भैया बोले, “इसका मतलब है कि मथुरा पर चारों ओर से आक्रमण की योजना है।”

“लगता तो यही है।” छंदक बोला।

सारी मंत्रिपरिषद् चिंताकुल हो उठी। ऐसा लगा, चारों ओर से अँधेरे का तूफान मथुरा को निगलने के लिए बढ़ा चला आ रहा है और हम डूबते चले जा रहे हैं।

इसी चिंताकुल वातावरण में बिना किसी निष्कर्ष पर पहुँचे मंत्रिपरिषद् समाप्त कर दी गई।

□

उस रात मैं सोया नहीं। नींद मेरे सिरहाने टहलती रही और मैं करवटें बदलता रहा। वातावरण से आता ठंडी हवा का झोंका रह-रहकर हमारी मानसिकता को झकझोरता रहा।

रात्रि का तीसरा प्रहर होगा। ऐसा लगा, कोई देदीप्यमान ऋषितुल्य व्यक्ति मेरे सामने आया और कहने लगा, ‘लोग तुम्हारी आराधना भगवान् की तरह करते हैं। जरा सोचो, यदि तुम ही इतने निराश हो जाओगे तो तुम्हारे आराधकों का क्या होगा?’ फिर वह हँसा—‘अरे पगले, जिस नियति की अँगुली पकड़कर तू बचपन से चला आ रहा है, उसपर विश्वास कर। अब भी वह तेरे लिए मार्ग निश्चित कर चुकी है। वह देख, वह मार्ग सीधे यहाँ से पश्चिमी समुद्र तट की ओर जाता है, जहाँ तेरे लिए बनाई द्वारका तेरी प्रतीक्षा कर रही है। तू भी जा और यहाँ से अपनी प्रजा को भी लेता जा।’ इतना कहते ही वह ऋषितुल्य श्वेत वस्त्रधारी धीरे-धीरे अदृश्य हो गया। और अंत में रह गई उस अंधकार में लहराती उसकी दुग्ध धवल दाढ़ी—और वह भी उस अँधेरे में ऐसी डूब गई जैसे प्रकाश होने पर तारे डूब जाते हैं।

प्रकाश! सचमुच अब मेरा प्रकाश मिल गया था। मुझे अब अपना मार्ग स्पष्ट दिखाई दे रहा था। मुझे लगता है कि मेरा अवचेतन ही मेरे सामने खड़ा हो गया था और भटकाव की स्थिति में उसने मेरी अँगुली पकड़कर मुझे सही मार्ग पर खड़ा कर दिया था।

अब मेरी घबराहट शांत हो चुकी थी। मैं व्यग्रतामुक्त था; जैसे दिन में जो भार हुआ था वह एक सपना था, एक दुःसह सपना था। और यह सपना ऐसा सत्य था, जो सुखद भविष्य की ओर खुलता था। इसके बाद मुझे कब नींद आ गई, ज्ञात नहीं। आँखें जब खुलीं तब माँ के पूजाघर की घंटियाँ भी बंद हो चुकी थीं। माँ मेरे शयनकक्ष के बाहर ही टहलती हुई माघ की मुलायम धूप का आनंद ले रही थी। साथ ही मेरे जागने की प्रतीक्षा कर रही थी।

मैं उठते ही एकदम उसकी ओर लपका और उससे लिपटते हुए बोला, “माँ, तुझे ले चलूँगा।”

“कहाँ?”

“अपने राज्य में।”

“कहाँ है तेरा राज्य?”

“जहाँ इस देश का सूर्य सबसे अंत में डूबता है।”

“यह क्या कह रहा है तू?” माँ हँस पड़ी—“सपना-वपना तो नहीं देखा है? मैं भला मथुरा छोड़कर कहाँ जाऊँगी!”

“जहाँ हम सब लोग चलेंगे। एक दूसरे राज्य में, अपने राज्य में, एक निराले राज्य में; जिसका सिंधु की उत्ताल तरंगें प्रक्षालन करती हैं, जहाँ आकाश को पर्वत चोटियाँ थामे रहती हैं, जहाँ वृक्षों की छटाएँ प्रकृति की क्रूरता का भास भी होने नहीं देती।” फिर मैंने उसे द्वारका का सारा संदर्भ सुनाया।

वह प्रसन्नता में झूम उठी—“तूने इतनी बड़ी बात मुझसे छिपाए रखी।”

“मैं तुझे चकित कर देना चाहता था। तू चकित है न, माँ?” मैं उसके तन से लिपटकर झूलता रहा।

फिर मैं भैया से मिला। मैंने रात की बातें बताईं। उन्होंने कहा, “लगता है, तूने कोई सपना देखा है।”

“जब मैं सोया ही नहीं था तब सपने का प्रश्न कहाँ उठता है?” मैंने कहा, “मेरे अवचेतन ने ही देवदूत की तरह मुझे निर्देशित किया है।”

वे प्रसन्न भी हुए और सोच में भी पड़ गए। प्रसन्न इसलिए कि वहाँ तक जरासंध क्या, उसकी आत्मा भी नहीं पहुँच सकती। सोच में इसलिए पड़े कि हम कितनों को साथ ले जाएँगे। जनसंख्या का यह स्थानांतरण क्या संभव हो सकेगा?

हम लोगों ने सोचा कि इस बात को प्रचारित नहीं करना चाहिए। हमें महाराज के यहाँ चलना चाहिए और उनसे इस संदर्भ में राय लेनी चाहिए।

जो कुछ करना है, शीघ्र करना चाहिए; क्योंकि हमारे पास समय नहीं है। हमें मथुरा का क्षितिज रक्ताभ दिखाई दे रहा था। किसी भी समय अंगारे बरस सकते थे।

जब हम महाराज के यहाँ पहुँचे तब हमें पता चला कि वे भी हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्होंने किसीको हमें बुलाने के लिए भेजा है।

हमें देखते ही वे बोल पड़े—“तुमने कुछ सुना?”

“क्या?”

“लोगों का कहना है कि आज मध्य रात्रि में राजभवन के चारों ओर पुनः नारद की वीणा सुनाई पड़ी थी।” महाराज बोले, “लगता है, जब भी हमारे ऊपर कोई आपत्ति आती है, नारद उसका समाधान निकालने की कृपा करते हैं; इसलिए हमें व्यर्थ में व्यग्र नहीं होना चाहिए।”

“व्यग्र तो मैं भी नहीं हूँ।” मैंने कहा, “पर क्या आपने स्वयं नारद की वीणा सुनी है?”

“मुझे तो इसका सौभाग्य नहीं मिला। लगता है, मैं सोया था; पर प्रासाद में इसकी चर्चा बहुत है।”

मैंने कुछ कहा नहीं। मेरी दृष्टि में तुरंत छंदक का बहुआयामी व्यक्तित्व आ गया। जब भी मथुरा पर संकट पड़ता है, वह इसी प्रकार की चमत्कारी बात छेड़कर लोगों का ध्यान बँटाता है। मैंने इस विषय पर कोई बात नहीं की; पर रात में अपने पर घटी घटना बताई। महाराज अवाक् रह गए और सोचने लगे कि एक ओर उनकी वीणा सुनाई दी और दूसरी ओर वे स्वयं दिखाई पड़े।

“पर जिस ऋषितुल्य व्यक्तित्व को मैंने देखा था, उनके हाथ में वीणा नहीं थी।”

“रही हो, चाहे न रही हो।” महाराज बोले, “उनके आदेश का हमें अवश्य पालन करना चाहिए।”

मैंने सोचा कि जिस बात को मनवाने के लिए हमें कितना प्रयत्न करना पड़ता, उसे महाराज कितनी सहजता से स्वीकार कर रहे हैं। उनका कहना स्पष्ट था—“जब नारद ने हमें निर्देश दिया है, तब हमें वही करना चाहिए।”

“करना तो चाहिए; पर क्या मथुरा की इतनी विशाल जनसंख्या का स्थानांतरण संभव होगा?” भैया बोले।

महाराज सोचने लगे।

“हमें अपनी प्रजा तो ले ही चलनी पड़ेगी।” मैंने कहा, “क्योंकि राजा की सबसे बड़ी संपत्ति उसकी प्रजा है।”

कुछ समय तक गंभीर शांति छा गई। सभी सोच में डूब गए।

मुझे एक बात सूझी। मैंने कहा, “जरासंध ने बार-बार कहा है कि मथुरा से हमारा कोई विरोध नहीं। विरोध है यादव छोकरो से, यादव सरदारों से; विरोध है महाराज उग्रसेन से। तो क्यों नहीं हम केवल यादवों को ही साथ ले चलें?”

“यह कैसे होगा?” भैया एकदम भभक उठे—“और जो लोग हमारे साथ चलना चाहेंगे, हम क्या उन्हें छोड़ देंगे?”

भैया का तापमान यों भी जरासंध का नाम लेते ही बढ़ जाता; क्योंकि कई बार ऐसी स्थितियाँ आई थीं, जब वे उसकी हत्या कर देते और हर बार मैं उसे यह कहकर छुड़ा देता कि अभी इसके अंत का समय नहीं आया है। इसीलिए वे इस समय आपे से बाहर थे।

“तुम व्यर्थ ही जरासंध का नाम लेकर आतंक फैलाना चाहते हो।” भैया ने कहा।

“मैं बिल्कुल आतंक उत्पन्न करना नहीं चाहता।” मैंने कहा, “आतंक उत्पन्न करने से तो सारी मथुरा भागने लगेगी और उसका परिणाम भी भयंकर होगा।”

“तब क्या होगा?” महाराज बोले।

“मैं सोचता हूँ कि राजप्रासाद में मैं यादवों की एक सभा बुलाऊँ। उसमें न मैं जरासंध का नाम लूँ, न कालयवन का नाम लूँ और न किसी आक्रमण की आशंका व्यक्त करूँ। सीधे-सीधे कहूँ कि अब मैं अपने नए राज्य में जा रहा हूँ। इस अवसर पर एक भावुकतापूर्ण बिदाई भाषण करूँ और कहूँ कि मैं आपको छोड़ नहीं पा रहा हूँ। बताइए, मैं क्या करूँ!”

बात कुछ लोगों की समझ में आई।

“तो बुला लो सभा।” महाराज बोले, “सबकुछ तुम्हारी योग्यता पर निर्भर है।...और हमें तुम्हारी योग्यता पर विश्वास है।”

पर भैया कुछ नहीं बोले। लगा, उन्हें विश्वास नहीं हो पा रहा था कि इससे समस्या का कोई समाधान निकलेगा।

विकट ने एक वैधानिक कठिनाई उठाई—“क्या राजप्रासाद में आपकी ओर से सभा बुलाना ठीक होगा?”

“यही तो मैं भी सोच रहा हूँ।” मैंने कहा। फिर महाराज से बोला, “अच्छा हो, कल की यादवों की सभा आपकी ओर से ही बुलाई जाए; पर सभा का प्रयोजन किसीको न मालूम हो तो उत्तम होगा।”

“ऐसा ही होगा।” महाराज बोले और उन्होंने तुरंत यादवों की सभा की राजकीय घोषणा करने का आदेश दिया।

किसीको कुछ नहीं मालूम कि क्यों सभा बुलाई गई है; पर लोगों का ध्यान इस ओर अधिक नहीं था। लोगों के मस्तिष्क में तो नारद की वीणा बज रही थी। लोग समझ रहे थे कि कल इसी संदर्भ में राजभवन में कुछ चमत्कारी होगा।

मैं मानसिक रूप से कल की तैयारी में लगा था। अपने वृद्धजनों और सगे-संबंधियों को भी तैयार कर रहा था; क्योंकि एक बने-बनाए घर को छोड़कर दूसरे सुदूर स्थान पर जाना और उसे ही अपना घर समझना—यह मनुष्य के लिए क्या, पशु के लिए भी न तो सहज है और न ग्राह्य ही। फिर विस्थापित को तो स्थापित किया जा सकता है, पर हमारे सामने स्थापित को स्थापित करने का प्रश्न था।

मैंने बड़ी-बड़ी समस्याओं का सामना किया है, पर मेरे जीवन में अब तक इससे बड़ी और दुरूह कोई दूसरी समस्या नहीं आई थी। मैंने अपने सभी मित्रों को जन-मन बनाने के काम में लगा रखा था। केवल एक छंदक की खोज थी, वह भी मध्याह्न तक मिल गया।

“क्यों भाई, तुमने भी नारद की वीणा सुनी है?” मैंने उससे बड़े सहजभाव से पूछा और वह हँसने लगा। उसकी हँसी ने स्पष्ट बता दिया कि इस अफवाह को उसीने हवा दी है।

उसने इसका कारण बताते हुए मेरे निकट आकर धीरे से कहा, “जब मैं कालयवन से मिलकर लौटा तो जनमानस पर आतंकमिश्रित भय की छाया जन्म ले चुकी थी। अचानक जनमानस को आंदोलित करने और आतंक से जनता का ध्यान हटाने के लिए ऐसी अफवाह को जन्म देने के अतिरिक्त मेरे पास और कोई चारा नहीं था।

मैं जोर से हँसा और उसकी पीठ ठोकते हुए बोला, “संयोग तो देखो, तुम्हारी अफवाह में मेरी रातवाली घटना जुट गई। महाराज के लिए तेरी अफवाह भी सत्य हो गई।”

यद्यपि उसे सूचना मिल चुकी थी। फिर भी मैंने कल की सभा का पूरा संदर्भ उसे समझाया। उसने भी परिस्थिति के कई पहलुओं पर विचार किया। फिर सोचते हुए बोला, “सब आपको ही करना है और आप सबकुछ कर सकते हैं।”

□

कुहरे के कंबल से ढका दिन का प्रथम प्रहर बीत चुका था। हलकी और भीनी धूप राजभवन के उद्यान की घास पर पसर चुकी थी। वहीं यादव सरदारों के उपस्थित होने की व्यवस्था थी। धीरे-धीरे काफी लोग आ गए थे। वे हमारी आशा से अधिक थे, कुछ चामत्कारिक होने की मानसिकता में।

थोड़ी देर बाद महाराज अपनी पूरी मंत्रिपरिषद् के साथ पधारे। मैं अपने परिवार और इष्ट मित्रों के साथ पहले से ही वहाँ उपस्थित था।

विचित्र स्थिति थी। न कोई जय-जयकार, न करतल ध्वनि। ऐसी शांत और अवसन्न सभा मैंने शायद ही देखी हो। महाराज आए और बैठ गए। लोगों के उठकर खड़े होने में थोड़ा सा कंपन अवश्य हुआ, पर सन्नाटा ज्यों-का-त्यों बना रहा।

थोड़ी देर बाद बिना किसी औपचारिकता के, बिना किसी भूमिका के महाराज स्वयं खड़े हुए और बोलने लगे—

“मेरे प्रिय यादव सरदारो, आप सब हमारे आमंत्रण पर पधारे हैं। हम आपके आभारी हैं। बुलाया तो मैंने ही है आपको; पर मैं जो कहना चाहता हूँ, वह कहने का मैं साहस जुटा नहीं पा रहा हूँ। वृद्ध हो गया हूँ, शीघ्र ही मोहग्रस्त हो जाता हूँ। शायद इसीलिए मैं आपसे कुछ कह नहीं पा रहा हूँ। मैं यह कार्य अपने नाती कन्हैया को सौंपना चाहता हूँ; क्योंकि यह सारी योजना उसीकी है। जो कुछ करना और कहना है, उसीको करना और कहना है।”

इतना कहकर महाराज बैठ गए। उनकी आवाज काफी भर्राई और गंभीर थी। चरम बिंदु पर पहुँचे माहौल के सन्नाटे

को जिज्ञासा की स्तब्धता ने और भी घना बना दिया था। महाराज के आदेशानुसार मैं अपने स्थान से उठकर मंचक पर आया। चारों ओर घूमकर, हाथ जोड़कर अभिवादन किया। कोई और समय होता तो जयकारों से आकाश गूँज उठता; पर इस समय जरा भी कंपन नहीं हुआ। जो जहाँ खड़ा था वहीं मूर्तिवत् खड़ा रह गया। जैसे सबकुछ ठहर गया हो। मैंने बोलना आरंभ किया—

“अत्र भवान्, आचार्यगण, मंत्रिपरिषद् के आदरणीय सदस्य, आत्मीयजन एवं सम्मान्य बंधुओ!

“अत्यंत वेदना और व्यथा के साथ कहना पड़ रहा है कि हम आपका अभिवादन करने और आप सबसे बिदा लेने यहाँ उपस्थित हुए हैं। एक-एक व्यक्ति से मिलना हमारे लिए संप्रति संभव न होता, इसीलिए आप सबको यहाँ सादर आमंत्रित किया गया है। आप हमारी बात सुनकर चकित होंगे; पर यथार्थ यही है कि हमें मथुरा छोड़कर जाना होगा। हमें वह यमुना छोड़नी पड़ेगी, जिसमें हमने जलक्रीड़ाएँ की हैं, जो मेरे जीवन के साथ-साथ बही है और मेरे अस्तित्व का साक्षी रही है। हमें वह करील की कुंजें छोड़नी पड़ेंगी, जिसमें हमने विहार किए हैं; जिनमें की गई लीलाएँ हमारे तन-मन से बेतरह लिपटी हैं।

“हमने जब ब्रज छोड़ा था तब भी हमें बड़ी पीड़ा हुई थी। पर तब मैंने मन को यह कहकर समझा लिया था कि एक योजन पर ही तो हम जा रहे हैं; जब इच्छा होगी, दौड़ते हुए चले आएँगे। पर नियति की कुछ ऐसी इच्छा कि जो ब्रज से आया तो फिर वहाँ जाना नहीं हुआ। ब्रजवासियों के उलाहने आज तक सहता रहा, पर वहाँ जा न सका। लगता यह अवश्य रहा कि वहाँ पहुँचना घड़ी भर का काम है। जब भी चाहूँगा, वहाँ चला चलूँगा; पर यह बात दूसरी है कि आज-कल, आज-कल करता रहा, पर वहाँ जाना नहीं हुआ।

“फिर भी ब्रज हमारे व्यक्तित्व से ऐसा लिपटा है कि अब शायद ही अलग हो; पर मथुरा से जाते समय स्थिति एकदम दूसरी है। जहाँ जा रहा हूँ वहाँ से आने की संभावना और भी कम है; पर जाना हमारे जीवन की गंभीर अनिवार्यता है। विचित्र स्थिति है, जाऊँ तो जाऊँ कैसे? आपका ममत्व हमें रोक रहा है। मथुरा की वह मिट्टी हमें रोक रही है, जिससे यह शरीर बना है। यहाँ की वायु का प्रकंपन हमें रोक रहा है, जो हमारी साँसों में समाया है। यहाँ की यमुना हमें रोक रही है, जिसका जल हमारी धमनियों में प्रवाहित है। यहाँ के चहकते पक्षी, चौकड़ी भरते मृग और रँभाती गायें हमें रोक रही हैं, जो हमारी वंशी की धुन पर थिरकने लगती थीं। पर क्या हम इनके रोकने से रुक सकेंगे? हम सब विवश हैं। नियति के उस चक्र से बँधे हैं, जो सतत गतिशील है। उसकी यह गति ही हमारा जीवन है और उसकी स्थिरता हमारी मृत्यु। हम जीवन के ही पुजारी हैं। सदा जीवन की जय बोलते रहे हैं।”

सभा की निस्तब्धता बढ़ती जा रही थी। लोग सोचने लगे थे कि मैं क्या कहता जा रहा हूँ। मेरा भी गला भर आया था। सचमुच मथुरा को छोड़ना मुझे भारी पड़ रहा था; पर छोड़ना तो था ही।

मैं पुनः भरे गले से बोलने लगा, “आप सोचते होंगे कि मैं कौन सी पहेली बुझा रहा हूँ। यह पहेली अवश्य है, पर अबूझ नहीं।” मैंने संदर्भ बदला—“जब मुझे अपने मामा का वध करना पड़ा था, तब लोगों में यह भ्रांत धारणा फैली थी कि मथुरा का राज्य लेने के लिए हमने ऐसा किया है। यह भ्रांत धारणा उस समय और भी बलवती हो जाती थी, जब हमारे मित्र और हितैषी नानाजी पर मुझे युवराज बनाने के लिए दबाव डालते थे। यहाँ तक कि मेरी मौसी और बृहद् भैया भी मुझे अपना प्रतिद्वंद्वी समझने लगे थे।...पर मैं कभी भी इस झमेले में नहीं पड़ा। हमने तो यह संकल्प लिया था कि किसीका हम राज्य नहीं लेंगे। हम एक नितांत सात्त्विक यादव सरदार के बेटे हैं। या तो ऐसे ही रहेंगे या फिर अपना राज्य स्वयं स्थापित करेंगे। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आज हमने वह राज्य स्थापित कर लिया है। (एक गंभीर करतल ध्वनि)

“यह राज्य यहाँ से सुदूर पश्चिमी तट पर है। एक तरह से इस आर्यावर्त का पश्चिमी द्वार है। उसका नाम भी हमारे

शिल्पियों ने दिया है—द्वारका। चारों ओर समुद्र तट से घिरे, विश्वकर्मा के कुशल शिल्पियों द्वारा निर्मित उस राज्य में आठ राजमार्ग और सोलह चौराहे हैं। उसकी प्राकृतिक संपदा अकूत है। उसका सौंदर्य नंदन वन को भी ईर्ष्यालु बना सकता है।”

थोड़ा और विस्तार से मैंने द्वारका की चर्चा की। लोगों के नेत्र धुलकर चमक उठे। एक क्षण के लिए लोगों के वियोग का शोक शीतल हो गया। लोग मुझे और गंभीरता से सुनने लगे। मैं बोलता गया—“मैंने इसकी आप लोगों से कभी चर्चा नहीं की। आपकी आत्मीयता और अपार स्नेह के समक्ष कभी आपको छोड़ने की चर्चा करने का साहस नहीं हो पा रहा था। पर कल रात अचानक एक ऐसी घटना घटी, जिसने मुझे संकेत किया कि कन्हैया, यह तुम्हारे जीवन का महत्वपूर्ण क्षण है, जहाँ से तुम्हारा एक नया जीवन आरंभ होगा। तुम इसे गँवा बैठे तो फिर हाथ आनेवाला नहीं है।”

इतना सुनते ही लोग एक-दूसरे का मुँह देखने लगे; क्योंकि उनके भीतर तो नारद की वीणा बज रही थी। मैंने जानबूझकर इस प्रसंग का लाभ उठाने के लिए संकेत किया था। लोगों की भुनभुनाहट से स्पष्ट लगा कि मैं अपने प्रयास में सफल हुआ। मैं बोलता जा रहा था—“इसलिए हे कन्हैया, तुम यह माया-मोह छोड़ो। इसमें फँसे तो फँसे ही रह जाओगे। मोह का बंधन जितना मोहक होता है, उतना ही दुःखद भी। इसलिए इसे तोड़ दो। निर्मम होकर तोड़ दो। एक-न-एक दिन तो तुम्हें तोड़ना ही पड़ेगा। तुम नहीं तोड़ोगे तो काल तुम्हें तोड़ने के लिए इसे विवश कर देगा—और काल की विवशता के सामने तुम्हारी अस्मिता भी अपना सिर झुका देगी।” एक क्षण के लिए मैं रुका। मेरा गला भर आया। मैंने अनुभव किया कि हमारे श्रोताओं के कंठ में भी कुहासा छाने लगा है।

मैं फिर बोलने लगा, “एक बार तो मन में आया कि अपने सगे-संबंधियों, इष्टमित्रों को लेकर चुपचाप बिना किसीसे कुछ कहे-सुने चला चलूँ; पर ऐसा कैसे हो सकता था? जिनके साथ हम रहे, जो हमारे दुःख-सुख के साथी थे, जिन्होंने हमारे साथ बड़े-से-बड़ा संघर्ष झेला, जिनके साथ हम अमराइयों में खेले, जिनके साथ हमने यमुना के कछारों में कल्लोल किया, जिनकी बाँहों-में-बाँहें डालकर हम सावन की घटाओं के साथ झूले, जिनके साथ वासंती बयारों में हमने अलमस्त रंग-रेलियाँ कीं उनसे बिना कुछ कहे-सुने चले जाएँ, यह कैसे हो सकता था? हम आपके प्रेम के साथ कैसे धोखा कर सकते थे?

“मन में तो आता है, आप सबको लेता चलूँ। पर हमको क्या अधिकार है कि हम आपसे कहें कि आप अपना बसा-बसाया घर उजाड़ें और हमारे साथ चलें। यद्यपि हमारा मन आप लोगों को छोड़ने का नहीं होता।”

एक गहरी आह श्रोताओं के बीच से उभरी और उन्हें झकझोरती चली गई। मैं बोलता रहा—“नियति की आवाज कल मैंने सुनी। उसका कहना था—‘तुम मात्र मेरे खिलौने हो। मेरे आदेश का पालन ही तुम्हारा धर्म है और तुम्हारे अस्तित्व का आधार भी।...तो सुनो, मथुरा में तुम्हारा काम पूरा हुआ, अब तुम्हें अविलंब द्वारका में नई सृष्टि करनी है।’ तब मुझे याद आया कि ऐसी ही आवाज कभी अयोध्या के राम ने भी सुनी थी कि ‘हे राम! तुम्हें जो करना था, तुम कर चुके। अब इस धरती पर तुम्हारी आवश्यकता नहीं है।’ तब उन्होंने सरयू में जल-समाधि ली थी—अपनी प्रजा से बिदा लेते हुए; पर प्रजा उन्हें छोड़ न सकी। उनके भी साथ ही वह भी सरयू में समा गई।”

“हम भी आपको छोड़ नहीं पाएँगे। हम भी आपके साथ ही चलेंगे।” भीड़ से कई आवाजें एक साथ उठीं और फिर समवेत हो गईं। लगा, सारी भीड़ यह कह रही है, बार-बार यह कह रही है।

मैं तो यही चाहता था।

“यदि आप चलना चाहेंगे तो हम आपको छोड़ नहीं पाएँगे। हम आपको साथ ले चलेंगे। हम आपसे ही द्वारका बसाएँगे।”

‘साधु-साधु’ की ध्वनि से आकाश गूँज उठा। लोग हर्ष में नाचने लगे।

“हम आप सबके ले चलने की व्यवस्था तो नहीं कर पाएँगे।”

“हम अपनी व्यवस्था स्वयं कर लेंगे।” श्रोता चिल्लाए।

सभा उस बिंदु पर आकर समाप्त हुई, जो मेरा अभीष्ट था। जहाँ मैं स्वयं पहुँच पाऊँगा, यह मुझे विश्वास नहीं था। इतने सहजभाव से ऐसा कैसे संपन्न हो गया, मैं कह नहीं सकता।

सबसे प्रसन्न छंदक था। सभा समाप्त होते ही वह दौड़ा हुआ मुझे बधाई देने आया—और एकदम मेरे चरणों पर गिर पड़ा। वह बस इतना ही बोल पाया—“आप चमत्कार को भी चमत्कृत कर देनेवाले चमत्कारी हैं।”

□

अकल्पनीय का यथार्थ हो जाना ही चमत्कार है। मेरे इष्टमित्र, सगे-संबंधी इसी चमत्कार से चमत्कृत थे। जिसे लोगों ने कभी सोचा नहीं था, जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी, वही घटित होने जा रहा था। कौन जानता था कि मेरी मानसिकता मथुरा की सत्ता के लोभ को एक पुराने वस्त्र की तरह उतारकर फेंक देगी। ऐसा नहीं है कि मथुरा की सत्ता की ओर मेरा कभी मोह न रहा हो। सत्ता का सुख बड़ा मादक होता है। उसे कोई संन्यस्त मानसिकता ही ठुकरा सकती है। लोग मुझमें अब वीतरागी संन्यासी के भी दर्शन कर रहे थे। इससे मेरे ईश्वरत्व पर एक दूसरा ही पानी चढ़ आया था।

कुछ लोग ऐसा भी सोच रहे थे कि अब जो कृष्ण करने जा रहा है, वह उसका कर्म नहीं वरन् भगवान् की लीला है। राम ने भी चौदह वर्ष के लिए अयोध्या छोड़ी थी या उनसे छुड़ाई गई थी, केवल लीला करने के लिए। शायद यह भी लीला की दृष्टि से मथुरा छोड़ रहा हो। कुछ ऐसी ही भावना से भावित होकर मुझसे कंसा मिली थी। राजभवन में ही।

लोग जा चुके थे। प्रत्येक राजकर्मचारी के मन में अब मैं नहीं, मेरी श्रद्धास्पद एक विराट् प्रतिमा स्थापित हो चुकी थी। लोग सोच रहे थे, आखिर मथुरा और मथुरावासियों के लिए मैंने क्या नहीं किया। कितना संघर्ष लिया, केवल इसी दिन के लिए, जब मैं इसे मार्ग के मंदिर की तरह छोड़ दूँगा।

अपराह्न था। सूर्य पश्चिम की ओर ढुलक चुका था। इस बार कंसा बड़े सम्मान भाव से मुझसे मिली थी। आते ही जैसे वह मेरे पैर छू लेना चाह रही थी।

“अरे रे रे, यह क्या कर रही हैं आप?” उसे उठाते हुए मैं स्वयं उसके पगों की ओर झुका। आखिर वह मेरी मौसी भी थी और चाची भी।

उसने मुझे उठाकर वक्ष से लगा लिया। मुझे लगा, आज उसकी धड़कन में भावाकुल व्यग्रता के साथ-साथ माँ की सहजता भी है।

“आज तक तुझे समझ नहीं पाई, कन्हैया!”

“और आज भी आप मुझे समझ नहीं पा रही हैं।” मेरा तीर किधर था और लगा कहाँ पर! उसके संकोच पर एक रंग और चढ़ गया।

“मैं तुमसे एक बात पूछने आई हूँ, बेटा।”

“क्या?”

“अब मथुरा की देखभाल कौन करेगा?” इस जिज्ञासा में लुक-छिपकर उसकी अभिलाषा बोल रही थी।

“मथुरा तो मैंने बहुत पहले से बृहद् भैया को सौंप दी है।” मैंने कहा, “आपको याद होगा, मैंने आपसे भी कहा था कि मथुरा का भविष्य अब बृहद् भैया के हाथ में है। तब शायद आपने मुझपर विश्वास नहीं किया था।”

मौसी की आकृति पर एक बार फिर संकोच की लालिमा दौड़ आई। फिर भी उसने स्वयं को सँभालते हुए पूछा,

“क्या वह इसे सँभाल सकेगा?”

“क्यों नहीं सँभाल सकेगा? चाचाजी भी (देवभाग) तो उसके साथ रहेंगे। राजभक्त और देशभक्त प्रजा रहेगी। मथुरा के सैनिक रहेंगे। फिर किसी भी युद्ध का सामना करने की क्षमता रखनेवाली सशक्त और सशस्त्र मथुरा उसे सौंपी जा रही है।”

“फिर भी मुझे भय लग रहा है।”

“किस बात का?”

“यदि जरासंध ने आक्रमण किया तो क्या बृहद् सँभाल पाएगा?”

मुझे हँसी आ गई—“तू कैसी बात करती है, मौसी? जरासंध भला बृहद् पर आक्रमण करेगा! अरे, वह तो उसका मित्र है। फिर हम लोगों के मथुरा में न रहने पर जरासंध के आक्रमण का कोई औचित्य ही नहीं है।”

वह चुप हो गई। उसने कुछ सोचकर फिर पूछा, “तुम पूज्य पिताजी उग्रसेन को भी अपने साथ ले जाओगे?”

“उनकी इच्छा तो यही है।”

“और उद्धव को भी?”

“वह तो आपके साथ कभी रहा ही नहीं।” मैंने हँसते हुए कहा। वह फिर सोच में पड़ गई।

“मैं चाहती हूँ कि बृहद् को सँभालने के लिए कुछ दिनों तक और मथुरा में रह जाते।” वह बोली।

मुझे याद आया कि ऐसी ही बात मुझसे अपनी अर्धचेतना अवस्था में रुक्मिणी ने भी कही थी कि ‘यदि तुम मथुरा में नहीं रहे तो फिर मुझे लेने कैसे आओगे?’

‘पर मैं मथुरा से जा कहाँ रहा हूँ?’ उस समय मैंने उससे कहा था।

‘मुझे तो ऐसा लग रहा है कि तुम मथुरा से कहीं जा रहे हो।’ इतना कहते-कहते रुक्मिणी अचेत हो गई थी। मुझे रुक्मिणी की वह मुद्रा इस समय छोड़ नहीं पा रही थी।

“क्या सोचने लगे?” कंसा ने झकझोरा।

“तुम्हारे आदेश पर विचार कर रहा हूँ।” मैंने कहा, “पर लोग क्या कहेंगे कि कल कैसा भाषण कर रहा था और आज क्या कर रहा है! लोगों को द्वारका भेज भी रहा है और खुद मथुरा में रुक रहा है। यों ही आप जैसे लोग मुझे नाटकीय समझते हैं।”

“अब मुझपर व्यंग्य बाण चलाना छोड़ दे, कन्हैया।” वह बड़ी वेदना से बोली, “मैंने अपनी भूल स्वीकार कर ली है कि मैं तुझे समझ नहीं सकी थी।”

“मैंने तो हँसी की थी, मौसी। अब तू कहती है तो कभी कुछ नहीं कहूँगा।” मैंने कहा और अपनी विवशता भी बताई कि मैं यहाँ रहने के संबंध में किसीसे कुछ कह नहीं पाऊँगा।

“तू किसीसे कुछ मत कहना, मैं ही कहूँगी।” कंसा बोली और चली गई।

अब मैं कल की व्यवस्था में लग गया। शीघ्र ही प्रचारित करवाया गया कि कल ब्राह्म वेला में सूर्य निकलने के पूर्व ही मथुरा छोड़ देने का मुहूर्त है।

शायद ही उस रात मथुरा सो पाई हो। जो जाने का मन बना चुके थे, वे रात भर तैयारी करते रहे। मैंने देखा, बैलगाड़ियाँ भरी जाने लगीं। बहुतों की तो बड़ी दुविधाजनक स्थिति थी। अस्थिर मानसिकता में वे सोच भी नहीं पा रहे थे कि क्या छोड़ें और क्या ले चलें। मैंने देखा, एक बूढ़ी अपने तुलसी के बिरवे को भी गाड़ी में रख रही थी।

अपने चौपायों को साथ रखना तो हम यादवों का स्वभाव ही है। उन्हें मध्य रात्रि से ही खिला-पिलाकर तैयार किया जा रहा था।

लोग अपनी-अपनी तैयारी में लगे थे और कंसा हमारे हर आत्मीय के यहाँ जाकर हमें कुछ दिनों के लिए मथुरा में रोक लेने के लिए कह रही थी।

मैं आज उस समय की बात सोचता हूँ तो नियति को ही धन्यवाद देता हूँ। उसने कैसी परिस्थिति बना दी थी। जो उस समय करना मेरे लिए कठिन था, उसे कंसा कर रही थी। शायद इस रहस्य को छंदक के अतिरिक्त मेरे माता-पिता भी न जान सके।

उधर नगर के पश्चिमी द्वार पर मध्य रात्रि के बाद से ही लोग अपने सामानों से भरी बैलगाड़ियों तथा ढोरो के साथ एकत्र होने लगे। ब्राह्म मुहूर्त तक तो अश्व, रथ, ऊँट आदि जिनके पास जो कुछ था और जो ले जा सकते थे, उन्हें लेकर वे वहाँ उपस्थित हो गए। जनसंख्या का इतना बड़ा स्थानांतरण मथुरा के इतिहास में पहली बार हो रहा था। कितना रोमांचक और कितना अद्भुत था वह दृश्य!

विचित्र स्थिति थी। अपने बने-बनाए घर को उजाड़ने की पीड़ा भी थी, विषाद भी था और नए घर में पहुँचने का आकर्षण भी, उत्साह भी। साथ चलनेवाला संघर्ष भी था और आगे आनेवाली शांति भी। वर्तमान का यथार्थ भी था और भविष्य का सपना भी। फल की इच्छा मुझपर छोड़ी गई—कर्म की तत्परता भी थी और मुझमें अपार आस्था की निश्चितता भी।

मौसी ने सबको तैयार कर लिया था कि कन्हैया कुछ समय तक यहीं रहेगा। वह बृहद् की सारी व्यवस्था करके ही जाएगा—और आश्चर्य है, लोगों ने इसे स्वीकार भी कर लिया था।

अचानक छंदक ने एक शंका पैदा की। उसने मेरे कान में धीरे से कहा, “यह तो एक पूरा नगर ही हम ले चल रहे हैं। यदि मार्ग में कालयवन का आक्रमण हो गया तब क्या होगा?”

“भैया और उद्धव तो आगे हैं ही। फिर अक्रूर चाचा का पूरा परिवार है। सात्यकि है। इतने अश्वारोही ही तरुण यादव हैं।...फिर मथुरा की लगभग आधी सैनिक शक्ति इन्हें पहुँचाने जा रही है। किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए सक्षम है।” मैंने कहा।

“यह सब होते हुए भी, क्या आपके अभाव में स्थिति सँभाली जा सकती है?” छंदक की आशंका बलवती थी—“मुझे तो असंभव ही लगता है। परिस्थितियों को देखते हुए कालयवन के चल पड़ने की भी संभावना प्रबल है। कहीं ऐसा न हो कि वे असमय में चींटों की तरह हमपर बरस पड़ें और हमें चट कर जाएँ।”

“तब अब क्या करूँ?” मेरी आँखों के सामने घट के बिलबिलाते वे सारे चींटे निकल आए थे, जो नाग को भी चबा गए थे।

“आप मौसी को समझाइए और उनसे अनुमति लेकर लवणपुर तक अवश्य चलिए।” छंदक बोला, “क्योंकि इसके बाद हमारा मार्ग एकदम अलग हो जाएगा। उसके आक्रमण की आशंका नहीं रहेगी।”

मैंने ऐसा ही किया। मौसी से मिलकर उसे राजी कर लिया। उसने मुझसे पूरा आश्वासन ले लिया कि मैं लवणपुर से लौट आऊँगा। अब मैं झटपट तैयार हुआ, क्योंकि मेरे पास समय नहीं था। मैंने अपने सारथि दारुक को बुलाया और रथ पर छंदक को लेकर चलने को हुआ। तब तक पीछे से एक रुआँसी नारी ध्वनि मुझसे टकराकर लगभग चूर-चूर हो गई—“अब मुझे कहाँ छोड़े जा रहे हो?”

मैंने मुड़कर देखा, वह अस्त-व्यस्त हुए श्वेत वस्त्रों में लिपटी मालिनी थी। उसकी सिसकन पर तैरते कुछ अस्पष्ट शब्दों से जो स्पष्ट हो रहा था वह यह था—‘पिता भी चले गए। अब इस संसार में तुम्हारे सिवा कौन रह गया मेरा? और अब तुम भी छोड़कर जा रहे हो।’

मैं एकदम रथ से उतरकर उसकी ओर दौड़ा—“नहीं-नहीं, मैं तुम्हें कैसे छोड़ सकता हूँ! तुम तो मेरे मन से ही

नहीं वरन् मेरी आत्मा से जुड़ी हो।” इसके बाद मैंने केवल लवणपुर तक जाने और फिर लौट आने की अपनी योजना बताई।

उसने सदा की भाँति मुझपर पुष्प बरसाकर मेरी यात्रा की मंगल कामना की।



दस

मथुरा की सीमा छूट चुकी थी। एक नए जीवन की ओर मथुरावासी बढ़ रहे थे। एक जीवन छूट रहा था, एक मिलने वाला था; पर अभी मिला नहीं था। वह कल्पना में हिलोरें ले रहा था। सपने अपनी अनेक भंगिमाओं के साथ उग रहे थे। विचित्र स्थिति थी। जो छोड़ा गया था उसका दुःख भी था, जो मिलने वाला था उसकी सुखद कल्पना भी थी, आनंद भी था। एक ओर छूटने का विषाद, दूसरी ओर भावी सुखद संभावना का हर्ष। उनकी कल्पना में द्वारका इंद्रपुरी थी, नंदन कानन था, स्वर्ग का एक टुकड़ा था। इस हर्ष-विषाद के ज्वार का आवेग पूरी भीड़ को धकेलते लिये चला जा रहा था। उनकी कल्पना की द्वारका, जो विश्वकर्मा के शिल्पियों का निर्माण था, जो मुझे दिया हुआ नियति का वरदान था, जो मेरे कर्मों का परिणाम था, वही द्वारका मथुरावासियों के जीवन की महत्वपूर्ण और पवित्र उपलब्धि हो गई थी।

मार्ग सीधा था, फिर भी अनजान। कहीं पर्वत, कहीं समतल भूमि, कहीं नदी का किनारा, कहीं विशाल जल-जनहीन मरुस्थल। रेत का विराट् सागर। बहुधा रात्रि शांत, नीरव, शब्दहीन और दिन तप्त हवाओं से आंदोलित व उत्तप्त।

मार्ग के लोग यद्यपि सहायक होते थे, पर पहले आतंकित हो जाते थे। इतने बड़े जन समुदाय का यह अद्भुत प्रयाण उन्होंने क्या, उनके इतिहास ने भी नहीं देखा था; जिनमें इतने रथ हों, घोड़ेगाड़ी हों, बैलगाड़ियाँ हों, जिनके साथ इतनी विशाल पशु संपदा चल रही हो। फिर जब वे वास्तविकता को समझते तो हमारे सहायक हो जाते और जो भी सद्यः उपलब्ध होता था, उससे हमारी आवभगत करते थे।

जब उन्हें पता चलता कि इस जन प्रयाण में मथुराधिपति उग्रसेन भी हैं, वसुदेव और अक्रूर भी हैं, उनका पूरा परिवार है, तब वे स्वयं को धन्य समझते थे।

मैं कह नहीं सकता कि यह कौन सा गाँव था, नितांत छोटा सा—थोड़े से लोगों की बस्ती। ऊँटों का इनका अपना काफिला। कुछ लोगों ने गायें और बकरियाँ भी पाल रखी थीं; पर इन्हें चराने के लिए उत्तर की दूर पहाड़ियों पर जाना पड़ता था। यहीं हम लोगों ने पड़ाव डाला। इसके बाद ही विशाल मरुस्थल का सिलसिला शुरू होता था। चिंता यही थी कि रथ, घोड़ेगाड़ी और बैलगाड़ियाँ इस रेत के सागर में कैसे जाएँगी। हम लोग इसी मुख्य समस्या में डूबे तरह-तरह के समाधान सुझाए जा रहे थे; पर सबसे हम अनजान थे। परिस्थितियाँ नई थीं। सोचा गया कि यहीं के लोगों से इन समस्याओं का समाधान पूछा जाए, अतएव अब हम गाँव की शरण में थे।

इस छोटी सी बस्ती की आत्मीयता अद्भुत थी। वे जो कुछ खिला-पिला सकते थे, तुरंत उसकी व्यवस्था की। ऊँट के चमड़ों के बड़े-बड़े पात्रों में हमारे लिए जल एकत्रित किया जाने लगा; क्योंकि यहाँ जल की ही मुख्य समस्या रही और आगे यह और भयंकर होने की संभावना थी।

यहीं पता चला कि हमारे मनीषियों ने जल को जीवन क्यों कहा है? हमारे लिए यहाँ से आगे बढ़ने की समस्या किसी युद्ध से कम भयावह नहीं थी। भैया व उद्धव आगे की योजना बनाने में व्यस्त थे और मैं सात्यकि को लेकर गाँव की ओर गया। हमारे साथ एक छोटे से राज्य का राजा चारुपाद भी था।

चारुपाद मेरा मित्र नहीं था और न उससे मेरी आत्मीयता ही रही, फिर भी वह मथुरा से ही मेरे साथ छाया की तरह लगा था। वह अपने रथों के साथ हमारी स्पर्धा में आया था। यहीं उसे कालयवन के आगमन की भनक लगी। वह अपनी सत्ता भाइयों को सौंपकर मेरे साथ हो गया; क्योंकि वह कालयवन के नाम से काँपता था। जब सात्यकि

ने उससे कहा कि हम लोगों के साथ इतनी दूर चलकर क्या करेंगे? तब वह निस्संकोच होकर बड़े सहजभाव से बोला, “यहाँ रहकर कालयवन का ग्रास बनने से तो अच्छा है, आप लोगों के साथ चलना।”

तब से वह हमारे साथ ही है। लोगों ने उसके संबंध में शंकाएँ भी की थीं। स्वयं उद्धव ने एक रात किसी चर्चा के बीच चारुपाद की बात उठाई थी और संकेत से कहा था—“इस कामरूप की माया आप ही समझ सकते हैं!”

“मैंने समझने की चेष्टा ही नहीं की।” मैं मुसकराते हुए बोला, “जब इतना बड़ा जन समुदाय चल रहा है, तब मैं किस-किसके विषय में सोचूँ? तुम उसीके विषय में शंकाकुल हो, जिसे तुम जानते हो। अरे, इसमें कितने कामरूप होंगे, तुम्हें कुछ अनुमान है?”

उद्धव चुप हो गया।

“इसलिए सारी चिंता छोड़ो, ज्ञात से मुक्त हो। संसार की सारी समस्या अज्ञात से मुक्त होने की नहीं है, वरन् ज्ञात से मुक्त होने की है। उद्धव, तुम्हारी मुख्य उलझन यह है कि चारुपाद को तुम जानते हो, वह भी आधा-अधूरा; और हो सकता है कि तुम आधा-अधूरा जानते हो, वह भी गलत हो। यह ज्ञात ही तुम्हारी समस्या का मूल है, इससे मुक्त हो। जैसे हजारों अज्ञात लोग चल रहे हैं, उनमें चारु को भी एक गिनो।”

“यह कैसे हो सकता है? वह जीव के साथ माया की तरह आपके पीछे लगा है।” उद्धव बोला, “वह भीड़ में तो है नहीं, जो मैं उसे भीड़ का एक अंग मान लूँ। ऐसा तो नहीं कि वह हमारे विरोधियों को गुप्त सूचना देने के लिए हमारे पीछे लगाया गया हो?”

मैं कुछ सोच में अवश्य पड़ा।

“पर वह तो हमारे यहाँ से कभी हटा ही नहीं।”

“हो सकता है, वह आपके साथ रहता हो और हमारे आदमी यह कार्य करते हों।”

मैं कुछ बोल नहीं पाया। मेरा सारा दर्शन विनीतभाव से यथार्थ के समक्ष मूक खड़ा हो गया और मैं उद्धव के निष्कर्ष को स्वीकार करने के लिए विवश हुआ कि चारुपाद पर हमें दृष्टि रखनी चाहिए। यों थोड़े दिनों की बात थी। लवण घाटी से पार होते ही फिर किसी प्रकार के भय की आशंका नहीं थी। फिर तो किसीका संबंध आर्यावर्त से रह नहीं जाएगा। चारुपाद भी मेरी मुट्ठी में हो जाएगा।

हमारी बात पूरी होने के पूर्व ही गाँव के लोग हमारी आवभगत में उपस्थित हो चुके थे। उन्हींमें से एक जर्जर बूढ़ा अपने बच्चों के कंधों का सहारा लेते हुए हमारी ओर बढ़ा और बड़े गद्गद भाव से मेरे चरणों की ओर झुका।

मैंने उसे सँभालकर छाती से लगाते हुए पूछा, “तुम मुझे पहचानते हो, बाबा?”

“जिसके सिर पर मोर मुकुट हो, जो पीतांबर धारण किए हो और जिसके हाथ में वंशी हो, उसे कौन नहीं पहचान लेगा!” वह भावविभोर हो बोला। फिर अपने पीछे लाई गई दो हाँड़ियों की ओर उसने संकेत करते हुए कहा, “यह आपकी सेवा में है।”

इसमें दधि और नवनीत था। दूर से लाए जाने के कारण दधि की हाँड़ी का छछ ऊपर तक छलक आया था। मैंने अनुभव किया कि इसे केवल मेरी वंशी और मोर मुकुट की ही पहचान नहीं है, यह मुझे भी पहचानता है और मेरी दधि और नवनीत की रुचि को भी।

सचमुच कई दिनों से मुझे ये चीजें नहीं मिली थीं। मैंने हाँड़ी में ही मुँह लगा दिया—“अरे रे रे, यह क्या कर रहे हैं?” उद्धव चिल्लाया। अब सात्यकि आदि मेरे समवय के लोग हाँड़ी पर झपटे।

बूढ़ा परम आह्लादित हो बड़े भक्तिभाव से हमें देखता रहा और उसके मुख से निकला—“आपके इसी रूप को देखने के लिए आँखें तरस गई थीं।”

मैंने अनुभव किया कि मेरे आने के पूर्व ही मेरा देवत्व यहाँ तक पहुँच चुका है। बूढ़ा और उसके बेटे बड़ी विह्वलता से हमें खाते देखते रहे और अंत में उसी विह्वलता से बोले, “आप हमारे लिए प्रसाद नहीं छोड़ेंगे क्या?”

मैं बड़े संकोच में पड़ा। हम लोगों ने तो नवनीत देखते-देखते ही चट कर लिया था। दधि की हाँड़ी में थोड़ी सी दधि बाकी रह गई थी। हमने दधि की हाँड़ी को तो उसे थमा दिया, पर हम नवनीत की हाँड़ी को न तो उसे दे सकते थे और न छोड़ सकते थे। उसे अपने हाथों में लिये संकोच में खड़ा रहा। बूढ़े ने वह हाँड़ी भी मेरे हाथ से ले ली और उसमें झाँकते हुए परम गद्गद हो चिल्लाया—“बहुत है! बहुत है!” और बिना किसीको दिखाए, अपने बच्चों को पीछे छोड़ता हुआ इतना विह्वल हो भागा मानो उसे मनचाहा वरदान मिल गया हो।

वस्तुतः गाँववालों को आश्चर्य था कि बूढ़ा क्या पा गया। उन्हें लगा कि जीवन की सारी अभीप्सा को वह लूटे लिये चला जा रहा है।

मुझे आश्चर्य था कि जहाँ जीवनसाथी केवल ऊँट हो, गाय और बकरियाँ नाम मात्र की पाली जाती हों, बहुत थोड़ा दूध होता हो वहाँ यह बूढ़ा इतनी दधि और मक्खन की व्यवस्था कैसे कर पाया होगा—और उसे क्या मालूम कि मैं इधर आ रहा हूँ?

इस रहस्य के साथ ही एक रहस्य और जुड़ गया कि सारे मक्खन के खा लिये जाने के बाद भी जब उस बूढ़े ने मेरे हाथ से हाँड़ी ली तो उसे वह मक्खन से भरी दिखाई पड़ी। तभी तो वह चिल्लाता हुआ भागा, ‘बहुत है, बहुत है!’

□

धीरे-धीरे पूरे गाँव पर मेरा देवत्व छा गया। अब गाँव की दृष्टि ही मेरे प्रति बदल चुकी थी। अब हर दृष्टि में मेरे प्रति पुनीतभाव था, हर कंठ में मेरे प्रति आराधना थी। हरेक का आग्रह था कि हम एक दिन यहाँ रहकर इन अकिंचनों का आतिथ्य स्वीकार करें।

ऐसा ही हुआ। हमने उस गाँव में एक रात और बिताई। क्षण-क्षण में बदलती प्रकृति की मानसिकता का हमें यहाँ अपूर्व अनुभव हुआ। संध्या होते ही तीर-सी चुभती तेज हवा बहने लगी और फिर रेतीले तूफान में बदल गई। रात जमने लगी। ठंड बढ़ गई। लोगों ने मशालों के चारों ओर ही बिस्तर लगाए। कुछ ने लकड़ियाँ इकट्ठी कर अलाव जलाई। जीवन का यह भी एक रोमांचक अनुभव था।

सवेरा होते ही पूरा गाँव उमड़ आया—बड़े भक्तिभाव से, श्रद्धा से, आस्था के साथ। एक ओर मथुरावासी नित्यकर्म से निवृत्त होकर तैयारी में लगे थे, दूसरी ओर गाँव की महिलाओं के झुंड-के-झुंड मेरी आरती उतारने आ धमके। मुझे बड़ा विचित्र लगा। मेरे पिताजी थे, नानाजी थे, चाचाजी थे, भैया थे। माँ, चाचियाँ और आचार्यजी भी। सभी मेरे पूज्य, वरेण्य और श्रेष्ठ। उनके सामने मेरी आरती उतारी जाए, यह मुझे कभी स्वीकार नहीं था। मैंने कई बार मना किया; पर उनकी श्रद्धा कुछ सुननेवाली नहीं थी और न आस्था झुकने को तैयार हुई। अंत में वे जो चाहती थीं वही हुआ। महिलाओं ने अपनी भाषा में गाना आरंभ किया और आरती शुरू हुई।

मैं संकोच की रेत में आकंठ दबा जा रहा था, पर कुछ कह नहीं पा रहा था। निश्चित रूप में मैं अपने में तमाशा बन गया था।

ज्यों ही यह नाटक—क्षमा कीजिएगा, उनकी श्रद्धा को नाटक कहकर हमें उनका अपमान नहीं करना चाहिए—खत्म हुआ, बूढ़ा बोला, “हे वंशीधर! हम लोगों ने तुम्हारी वंशी की बड़ी प्रशंसा सुनी है। वह जड़ में भी चेतना भर देती है। क्या इन कानों की चिर प्रतीक्षित प्यास को तृप्त नहीं करोगे?”

मैंने सोचा, गोपियों के प्रेमसिक्त अनुरोध पर तो मैं नाचने लगता था, इस बूढ़े की प्रेमासक्ति तो उससे कहीं अधिक है। मेरा सारा ‘मैं’ प्रेमाकुलता के समक्ष नतमस्तक हो गया और मैं वंशी बजाने लगा।

दिन का प्रथम प्रहर पार हो चुका था। मैंने सारंग बजाना आरंभ किया और शीघ्र ही उसमें तन्मय हो गया। देखते-ही-देखते सारा माहौल वंशी के सुर में डूबने लगा।

प्रयाण के लिए तैयार बैठे मथुरावासियों को लगा कि कन्हैया को यह असमय में क्या सूझी?

मेरे पिताश्री ने उन्हें समझाया कि समय और असमय का निर्णय करने की क्षमता हममें कहाँ है? इसे आप कन्हैया पर ही छोड़िए। फिर जो कालिय के फन पर वंशी बजा सकता है, उसके लिए कोई भी समय असमय नहीं हो सकता।

जब मेरी अँगुलियाँ थमीं, उस स्वर का जादू टूटा, तब दिन दोपहर की ओर ढुलक चुका था। मंत्रमुग्ध खड़े ग्रामवासियों की तंद्रा टूटी। उन्हें लगा, अब तो मध्याह्न भोजन का समय हो चुका है। जल्दी-जल्दी में जो भी संभव था, उन्होंने व्यवस्था शुरू की। पर वह बूढ़ा अब भी मेरे चरणों के पास बैठा रहा और अवसर देखकर बोला, “यों तो आप अंतर्यामी हैं। आप सब जानते हैं। फिर भी मेरी एक सलाह है।”

“क्या?”

“आप इस मार्ग से मत जाइए। इस मरुभूमि का उदर बड़ा विशाल है। कहीं आपका यह प्रयाण संघ इसके मुख में चला गया तो निकलना कठिन होगा।”

“कैसी बात करते हैं, तात!” बूढ़े का बेटा बोला, “जो काल के मुख से भी मुसकराता हुआ निकल आया हो, उसका यह मरुस्थल क्या करेगा!” मेरे देवत्व से वह अभिभूत था।

मुझे हँसी आ गई। मैंने हँसते हुए कहा, “जब तक काल का सामना करने की अनिवार्यता न हो तब तक उसे छेड़ना नहीं चाहिए।... फिर तुम्हारे तात वृद्ध हैं। अनुभव की विराट् संपदा उनके पास है। हमें भी उससे लाभ उठाने दो।”

मैंने फिर उस बूढ़े से पूछा, “हमें क्या करना चाहिए?”

उसका कहना था—“यहाँ से ठीक उत्तर की ओर आप लोग जाइए। वहाँ एक पहाड़ी मिलेगी, जिसका सिलसिला लवणपुर तक जाता है। उसीके किनारे-किनारे आप अपना मार्ग पकड़ लीजिए।”

उसने यह भी बताया—“वह पहाड़ी यहाँ से थोड़ी दूरी पर ही है। यहाँ से आप चलेंगे तो संध्या होते-होते वहाँ पहुँच जाएँगे। पहाड़ी की ढाल पर ही शिव मंदिर है। सुंदर जलाशय है। आप वहाँ आज का पड़ाव कर सकते हैं।”

“फिर क्या जलों के ये बड़े-बड़े चर्मपात्र ले जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी?”

“पड़नी तो नहीं चाहिए; क्योंकि पहाड़ी की ढाल पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर छोटे-छोटे गाँव आपको मिलेंगे। आप यही समझिए कि आपके बाएँ हाथ की ओर मरुभूमि होगी और दाएँ हाथ की ओर पहाड़ी की हरियाली।” फिर बूढ़ा मुसकराया। बोला, “यह रास्ता लंबा जरूर है, पर सुरक्षित है। प्रकृति की विभिन्न मुद्राएँ देखने को मिलेंगी। हरियाली की चट्टान पर सिर पटकती हुई रेत के सागर की गरजती लहरें बहुधा आपका स्वागत करती दिखाई पड़ेंगी।”

अपनी काव्यात्मक उक्ति पर बूढ़ा स्वयं मुसकराया और हम लोग भी हँसने लगे।

हम सबने उसकी सलाह मान ली और रास्ता बदल दिया। उस गाँव के अधिकांश लोग हमें पहुँचाने कुछ दूर तक आए—और बाद में उसने अपने गाँव के कुछ लोगों को हमें गंतव्य तक पहुँचा देने का दायित्व सौंपा।

सूरज डूबते-डूबते हम लोग वहाँ पहुँच चुके थे—स्थान रमणीक! पहाड़ियों के बीच में ही एक सुंदर सा पत्थरों से बना हुआ जलाशय और उसीके किनारे पर शिव मंदिर। मंदिर तक जाने के लिए हमें थोड़ी ऊँचाई चढ़नी पड़ी थी। मैं उद्धव एवं चारुपाद के साथ थोड़ा और ऊँचे चढ़ गया। यहाँ घने पीपल के नीचे बहुत चौड़ी समतल भूमि थी।

हम लोगों ने यहीं रात बिताने का निर्णय लिया।

हमारे रथ-गाड़ियाँ और चौपाये पहाड़ी के नीचे ही खोल दिए गए। नीचे भी एक छोटा सा जागता हुआ सोता था, जिसका पानी एक गढ़े में इकट्ठा होता था। लोग वहाँ भी आराम से अपना पड़ाव डाल सकते थे—और बहुतों ने वहाँ पड़ाव डाला भी। भोजन-पानी की व्यवस्था आरंभ की।

जब हम लोगों ने उस गाँव से पहुँचाने के लिए आए व्यक्तियों को बिदा किया, तब संध्या अपना रंगीन आँचल समेट चुकी थी।

□

हम तीनों व्यक्तियों—मैं, उद्धव और चारुपाद ने उसी पीपल की छाँव के नीचे अपना डेरा जमाया। मुझे पीपल बहुत अच्छा लगता है; क्योंकि वह मेरी प्रकृति के अधिक अनुकूल बैठता है। उसकी जिजीविषा मुझे बेहद आकर्षित करती है। वह पत्थर पर भी जम सकता है। उसे पानी मिले या न मिले, खाद मिले या न मिले। मौसम अनुकूल नहीं तो चिंता नहीं। किंतु जब वह जमने लगता है तब हमारी आकांक्षाओं की तरह थमने का नाम ही नहीं लेता। उसकी शाखा-प्रशाखाएँ फूटती चली जाती हैं। आप उसे नोचते जाइए, कोई परवाह नहीं। उसे उसके जीवन की बेहयाई भले ही कह लें; पर मुझे तो उसमें कभी न परास्त होनेवाली जीवन के प्रति एक अटूट आस्था के दर्शन होते हैं। ऐसी ही आस्था मेरा भी आदर्श है। शायद इसीलिए पीपल मेरे मन के अधिक निकट है। तभी तो मैंने युद्धक्षेत्र में अर्जुन से अपना परिचय देते हुए कहा था—‘अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्’।

मेरे सामने रसाल था, उसके रस भरे मधुर फल थे; पर मैंने उसे अपना प्रतिनिधि नहीं बनाया। मेरे सामने देवदारु था, नाम से ही देवताओं का वृक्ष। उसे भी मैंने अपना प्रतिनिधि नहीं बनाया। मुझे तो पीपल की अपार जिजीविषा ने मोह लिया था। और इस समय भी उसी मोह ने मुझे इस ओर आकृष्ट किया। पर मेरे इस आकर्षण का आभास न उद्धव को था और न चारुपाद को। दोनों सोच रहे थे कि सारी मथुरा को नीचे छोड़कर हम इस एकांत में क्यों चले आए हैं? शायद वे मेरी एकांतप्रियता को ही इसका कारण मान रहे थे।

समय की ढलान पर फिसलती हुई मौसम की मानसिकता भी बदलने लगी। मेरी बाईं ओर विशाल अजगर की तरह पड़े हुए मरुस्थल का मन आंदोलित होने लगा। तेज हवा के साथ रेत की लहरें गरजने लगीं। हमारे आस्तरण उस हवा में फड़फड़ाने लगे और हमें बड़ा आनंद आ रहा था। प्रकृति की इस परिवर्तित मुद्रा का हम खुलकर आनंद ले रहे थे।

एक घड़ी रात बीच चुकी थी। पूर्व आकाश में टेढ़े मुख से हँसता हुआ दशमी का चंद्रमा उग आया था। हमने फिर मरुस्थल की ओर देखा। हवा में उड़ते मरु कणों पर झिलमिलाती हुई वे रजत किरणें परिवर्तित होकर और ज्योतिष हो जाती थीं। अब इस प्रकाश पर धब्बे की तरह पड़ती और मिटती, पीपल के तने में खोंसी मशाल की ज्योति अच्छी नहीं लग रही थी। मैंने उद्धव से उसे बुझा देने को कहा।

“यदि कोई जानवर चला आया तो?” उसने कहा, “जब तक ज्योति जलती है तब तक कोई जानवर नहीं आता।”

मुझे हँसी आ गई। उद्धव बाहर की ज्योति पर विश्वास कर रहा था, पर हमारे भीतर की ज्योति पर नहीं। मैंने इस संदर्भ में उससे कहा। वह बड़े सहजभाव से बोला, “वे केवल बाहर की ज्योति देखते हैं, भीतर की ज्योति नहीं देख पाते; क्योंकि वे जानवर हैं न!”

इस बार तो निश्चित ही मैं उद्धव से मात खा गया। मेरी खीज ने उसकी पीठ थपथपाई और फिर मशाल जलती रही।

इधर-उधर की बातें करते-करते हम कब सो गए, हमें पता नहीं। अचानक मध्य रात्रि के बाद मुझे उद्धव ने जगाया और सुदूर उत्तर से आ रही रोशनी की एक रेखा की ओर संकेत किया।

खड़े होकर मैंने देखा। लगा कि दूर उत्तर में पहाड़ियों के बीच से ज्योति की एक धारा बही चली जा रही है। मुझे समझते देर नहीं लगी और उद्धव से तुरंत मशाल बुझा देने के लिए कहा।

“क्यों?”

“क्योंकि वह देखो, वह! जानवरों की बारात जा रही है।” मैंने उसी ओर संकेत किया, जिधर उद्धव ने संकेत किया था और बोला, “ऐसा न हो कि वे जानवर हमारी मशाल को देखकर इधर ही चले आएँ।”

उद्धव अब भी कुछ समझ नहीं पाया। मैंने उसे बताया—“मुझे लग रहा है कि कालयवन मथुरा की ओर बढ़ रहा है।”

अब तो उद्धव के कान खड़े हुए—“इसका मतलब है कि मथुरा विपत्ति के घेरे में है।”

“मथुरा ही नहीं, हम सब विपत्ति की परिधि में हैं।” मैंने उद्धव को बताया—“जहाँ भी उसे हमारे प्रयाण का आभास लगा, वह तुरंत इधर टूट पड़ेगा।”

फिर क्या होगा, इसका अनुमान सहज था। उद्धव एकदम घबरा गया—“अब हमें क्या करना चाहिए?”

“तुम्हें कुछ नहीं करना है।” मैंने कहा, “तुम ब्राह्म मुहूर्त के पहले ही नीचे जाकर लोगों को जगा देना और कहना, बस इसी समय यहाँ से चल देने का मुहूर्त है। स्थिति की सही जानकारी भैया, पिताजी और चाचाजी को अवश्य देना। हो सके तो स्थिति की गंभीरता से सात्यकि को भी अवगत करा देना; पर इन लोगों को सावधान कर देना कि कालयवन के प्रयाण का जरा भी आभास आम लोगों को न लगे, अन्यथा आतंक हमारे मार्ग में बड़ी बाधा उत्पन्न कर देगा।”

उद्धव बड़े शांतभाव से सुनता रहा।

मैं बड़े विश्वास से कहता गया—“जहाँ तुम लोग लवण घाटी से पार हुए कि सारी विपदा टली। इसके बाद तो कालयवन क्या, उसके बाप भी तुम्हें पा नहीं सकेंगे।”

“लेकिन वहाँ तक पहुँचने के लिए भी हमें कम-से-कम तीन दिन चाहिए।” उद्धव बोला।

“घबराओ नहीं।” मैंने कहा, “तब तक कालयवन को फँसाए रखने की मैं पूरी चेष्टा करूँगा। तुम जितनी शीघ्रता करोगे उतना सुरक्षित रहोगे।”

अब उद्धव की दृष्टि पास में खरटे भर रहे चारुपाद पर गई।

“अभी तक तो आपके पीछे छाया की तरह यह लगा रहा। अब देखना चाहिए कि अपने लिए यह क्या निर्णय लेता है।”

मुझे हँसी आ गई। मैं बोला, “अँधेरे में तो छाया भी साथ छोड़ देती है, उद्धव, यह तो चारुपाद है।” मैंने अनुभव किया कि मेरे इतने कहने का उद्धव पर अच्छा असर नहीं हुआ। उसे मैं निराशा में घिरा दिखाई दिया। उसने सोचा कि जब मैं स्वयं अँधेरे में डूब रहा हूँ तब उसके जैसे लोगों को कैसे उबार सकता हूँ?

मैं उसकी मनःस्थिति समझ गया। मैंने एकदम बात बदली—“मेरी कोई छाया नहीं है, उद्धव।”

उसकी गंभीर दृष्टि पूछ रही थी—“क्यों?”

“क्योंकि मैं स्वयं प्रकाश हूँ। प्रकाश की कोई छाया नहीं होती।”

अब उद्धव सहज हुआ।

“पर हमें तो चारुपाद को टटोलना चाहिए।” इतना कहकर उद्धव ने उसे जगाया और सुदूर उत्तर की ओर बह रही मशालों की ज्योति धारा को दिखाया। पहले तो वह कुछ समझ नहीं पाया; पर जब उसे उद्धव ने वस्तुस्थिति से अवगत कराया तब वह एकदम काँप उठा—“हे भगवान्! जिसके लिए मथुरा छोड़ी, वही विपदा यहाँ भी।”

“घबराइए नहीं।” उद्धव बोला, “कन्हैया, उसी विपदा का सामना करने जा रहे हैं।...अब आप भी तैयारी कीजिए।” इतना सुनना था कि उसके पैरों के नीचे की धरती खिसक गई।

उसने बड़े संकोच से कहा, “क्या करूँगा वहाँ जाकर?”

“क्यों, तुमने तो कहा था कि मैं कन्हैया के साथ ही रहूँगा!” उद्धव बोला।

उसका मौन पीपल के पत्ते की तरह काँप रहा था।

“चारुपाद मेरे साथ नहीं, सुरक्षा के साथ था।” मैंने कहा, “जब तक सुरक्षा रही, मुझसे लगा रहा; अब सुरक्षा गई, उसे भी चले जाने दो।” फिर मैंने उसे नीचे जाकर काफिले के साथ हो लेने का आदेश दिया।

“और आप?” उसने पूछा।

“मैं तो कालयवन को रोकने जा रहा हूँ।”

“कालयवन को! और अकेले?” चारुपाद का मुख आश्चर्य से खुला-का-खुला रह गया।

“तुम्हें मेरे अकेले होने पर आश्चर्य है! मृत्यु के पास तो हम सब अकेले ही जाएँगे! वह किसी और को साथ होने नहीं देगी।” इसके बाद मैंने उसे वहाँ से हटाते हुए कहा, “तुम जल्दी-से-जल्दी नीचे जाओ और प्रयाण की तैयारी करो।...और देखना, कालयवन की बात किसीसे मत कहना। ऐसी प्रसन्न मानसिकता में रहना जैसे तुम्हें कुछ मालूम ही नहीं है।”

मैंने उसे यथाशीघ्र वहाँ से हटाया, क्योंकि मुझे उद्धव से कुछ विशेष कहना था।

पर इस बीच चारुपाद ने पूछा, “आप वहाँ तक जाएँगे कैसे?”

उसकी सोच रथ तक सीमित थी और रथ का मार्ग था नहीं।

“मैं अभी नीचे चलकर कोई अश्व ले लेता हूँ।” मैंने कहा।

“आप अश्व से जाएँगे!” उसे आश्चर्य था—“पर आपने अश्व की सवारी बहुत कम की है।”

“कम ही सही, पर की तो है।” मैं हँसने लगा। मैंने फिर उससे चले जाने का संकेत किया और वह चला गया।

“देखा नहीं, वह कितना घबराया हुआ था। अब उसके सामने और बातें करना उसे व्यग्रता की उस सीमा पर ला देना था, जिसे वह छिपा भी नहीं सकता था।” उद्धव ने भी मेरी बात स्वीकार की।

उद्धव के साथ अब मैं पहाड़ी के नीचे उतरने लगा।

“देखिए, फिसलिया नहीं।” उद्धव ने व्यंग्य किया या सहजभाव से बोला, पता नहीं; पर बोलने के बाद वह मुसकराने अवश्य लगा।

“अवस्था तो हम लोगों की फिसलने की है।” मैंने उसे व्यंग्य में ही लिया—“पर मैं कभी फिसला नहीं। न राधा के मामले में और न कुब्जा के मामले में। मैंने तो उनके समर्पणों के समक्ष केवल जीवधर्म का निर्वाह किया; किंतु इस बार...” इतना कहते-कहते मेरी उतराई का क्रम अचानक रुका और मेरी बातों का सिलसिला भी टूट गया; क्योंकि इसके बाद लगभग चार हाथ नीचे एक बड़ी शिला थी। हमें कूदना पड़ा।

“हाँ, तो आप कुछ कह रहे थे।” उद्धव ने बातों की टूटी डोर मुझे पकड़ाने का प्रयास किया।

“यही कह रहा था कि उनके समर्पणों के प्रति मेरा कुछ कर्तव्य था, उसका निर्वाह किया; पर एक के संदर्भ में अभी कुछ कर नहीं पाया।”

उस अंधकार में भी उसकी प्रश्नवाची मुद्रा स्पष्ट दिखाई दी।

“रुक्मिणी के संदर्भ में मैं अभी तक कुछ कर नहीं पाया हूँ।” मैंने कहा, “राधा के साथ तो जीवन के अनेक वर्ष बीते। मथुरा में आने के बाद कुब्जा (मालिनी) का संपर्क रहा; पर रुक्मिणी तो एक दिन भी मेरे साथ नहीं रही। वह

स्वयं को मुझे अर्पित कर चुकी है। इस समर्पण के प्रति मेरा कर्तव्यबोध अब भी छटपटा रहा है। मैं उसके लिए कुछ कर नहीं पाया। मैंने कई बार प्रयत्न किया, पर परिस्थितियों ने मुझे पीछे धकेलकर उसे अजगर के मुँह में फँसे रहने दिया।” इतना कहने के बाद मैं अचानक चुप हो गया। इस चुप्पी में पुनः मार्ग की विषमता आई या मेरी मनःस्थिति की असमर्थता थी, मुझे याद नहीं।

थोड़ी देर बाद, इस बार मैंने ही बात चलाई—“अब मैं चाहता हूँ कि रुक्मिणी उद्धार का कार्य तुम्हें सौंप दूँ; क्योंकि मैं कालयवन के पास जा रहा हूँ। कैसा पड़े, कैसा न पड़े!”

उद्धव को लगा कि मैं काफी चिंतित हूँ। जीवन के प्रति मेरी अटूट आस्था डगमगा गई है। वह बोल पड़ा—“आप इतना तो कभी निराश नहीं होते थे।”

“आज भी मैं निराश नहीं हूँ।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “तुम तो जानते हो, मैं कर्म में ही विश्वास करता हूँ। फल नियति के हाथ में है। वह अनिश्चित है। उसी अनिश्चितता की स्थिति में हूँ। पर निराश नहीं हूँ, सजग अवश्य हूँ। वह सजगता ही भविष्य के प्रति मेरी आशान्विता का परिणाम है।”

“पर आपकी ऐसी सजगता से भी मुझे चिंता हो रही है।”

“क्योंकि तुम्हारा मेरे प्रति मोह है।” अब मैं लगभग नीचे आ चुका था। मेरी मनःस्थिति करीब-करीब वैसी ही थी जैसी भविष्य में अर्जुन को उपदेश देते हुए हुई थी—“इस मोह से मुक्त हो और अपने कर्तव्य को समझो, उद्धव! तुम्हारे लिए बस एक कार्य है। किसी भी स्थिति में रुक्मिणी को उस अजगर के मुँह से निकालो। इसके लिए तुम्हें मेरी आवश्यकता पड़ सकती है और मुझे तुम्हारी भी। अतः तुम्हें ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी कि एक दिन के लिए भी मेरा-तुम्हारा संपर्क सूत्र न टूटे।”

“इसके लिए तो आपको भी प्रयत्नशील रहना पड़ेगा।”

“मैं तो रहूँगा ही; पर मेरे लिए सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि छंदक के सिवा अब कोई विश्वस्त व्यक्ति नहीं रहा—और वह भी इस समय हमारे साथ नहीं है। फिर भी मैं चेष्टा करूँगा।”

अब हम बातें करते हुए उस स्थान पर आ गए थे, जहाँ अश्व बँधे थे। मैंने उद्धव से धीरे से दारुक को बुला लाने के लिए कहा; क्योंकि मुझे सबसे तेज अश्व की जरूरत थी और अश्वों की जितनी पहचान दारुक को थी, उतनी हम लोगों को नहीं।

उद्धव केवल उसे ले ही नहीं आया, बल्कि मार्ग में ही उसने उसे सारी स्थिति का आभास भी करा दिया। दारुक ने शीघ्र ही एक तेज अश्व तैयार कर स्वयं साथ चलने का आग्रह किया।

“पर इस समय तुम्हारा साथ चलना ठीक नहीं होगा।”

“क्यों, प्रभो?”

“तब मेरा रथ लेकर मथुरा कौन लौटेगा?” फिर मैं उद्धव से बोला, “यहाँ से अचानक गायब हो जाने पर लोग मेरी अनुपस्थिति के संबंध में शंका तो जरूर करेंगे।”

“अवश्य।” उद्धव ने स्वीकार किया।

“तब तुम बता देना कि मैं मथुरा लौट गया हूँ।” मैंने कहा।

अश्व पर चढ़कर चलते-चलते मैंने उद्धव से अग्रिम बात कही, “मुझे कालयवन से भय नहीं है। उसे तो मैं देख लूँगा। पर यदि उसके साथ शाल्व होगा या बृहद् को छोड़कर सत्राजित् चला आया होगा तो स्थिति विषम हो सकती है। युद्ध लंबा भी चल सकता है और कोई अप्रिय घटना भी घट सकती है।”

उद्धव के नेत्र विस्फारित हुए।

मैं फिर मुसकराते हुए हँसा—“मैंने यह बात तुम्हें व्यग्र करने के लिए नहीं कही, वरन् सावधान करने के लिए कही है।”

चलते-चलते मुझे एक बात और याद आ गई। मैंने दारुक से कहा, “मथुरा में जाकर छंदक को सारी वास्तविकता से परिचित करा देना और कहना कि सारे समाचार को गोपनीय ही रखे। लोग जितने भ्रम में रहेंगे, परिस्थिति हमारे लिए उतनी ही अनुकूल होगी।

वस्तुतः मेरे मन में कई तरह के विचार उठ रहे थे। मैं बड़ी द्विविधा में था, फिर भी मैंने दारुक से कहा, “देखो, यदि मैं एक पखवारे के भीतर मथुरा न लौटूँ तो तुम छंदक को लेकर चुपचाप द्वारका की ओर इसी मार्ग से चल पड़ना।”

“क्या आप द्वारका ही लौटेंगे?”

“इसे तो स्पष्ट रूप से मैं भी नहीं जानता।” मैंने हँसते हुए कहा और फिर चल पड़ा।

□

दारुक तो वहीं से लौट गया, पर उद्धव कुछ दूर तक मुझे पहुँचाने आया। बाद में उसे लौटाते हुए मैंने कहा, “तुम जाओ और अपना काम देखो। जितनी जल्दी हो, लोगों को लेकर लवण घाटी के पार हो जाओ।”

वह मुझे नियति के भरोसे छोड़कर अभिवादन कर चला गया।

अभी ब्राह्म मुहूर्त दूर था, पर शुक्र उदित हो चला था। जंगलों में पक्षियों की हलचल शुरू हो गई थी। एक अभागे की भाग्य रेखा की तरह कटे-फटे और ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर मेरा घोड़ा दौड़ता चला जा रहा था।

मार्ग अनजान और अपरिचित; पर कालयवन की सेना के मशालों की ज्योति प्रवाह ने दिशा निश्चित कर दी थी; किंतु व्यग्रता और शीघ्रता की हड़बड़ी में बहुधा मार्ग से भटकता रहा। संक्षिप्त और सुगम रास्ता छोड़कर लंबा और असुविधाजनक मार्ग पकड़ता रहा।

धीरे-धीरे पौ फटी। प्रकाश ने मेरी सहायता की। जब मैं तलहटी पार कर उस विस्तृत मैदान में पहुँचा, जहाँ कालयवन का डेरा पड़ा था, तब सूर्य काफी निकल आया था। सैनिक अपने नित्यकर्म में लगे थे।

मुझे देखते ही कालयवन के सैनिकों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया—“कौन हो तुम? कहाँ जाना चाहते हो? किससे मिलना है?” आदि प्रश्नों की झड़ी लगा दी। जो देखता था वही चला आता था। मेरे चारों ओर भीड़ जमा होने लगी। मुझसे अधिक लोग मेरे मोर मुकुट के प्रति जिज्ञासु दिखे। उनका कुतूहल कोई-न-कोई प्रश्न उछाल देता था; पर मैं किसीको कोई उत्तर न देकर मुसकराता रहा।

“अभी तो आप पूछ ही रहे हैं न, कुछ सुनने की मुद्रा में होइए तो निवेदन करूँ।” मैंने कहा।

“अच्छा बोलो, क्या कहना चाहते हो?”

“मैं आपके महाराज से मिलना चाहता हूँ। मथुरा से संदेश लाया हूँ।”

“आपके महाराज से मिलना चाहता हूँ!” सैनिक प्रधान की त्योरियाँ चढ़ीं—“क्या वे तुम्हारे नहीं हैं?”

“नहीं, हमारे भी हैं; पर पहले तो वे आपके ही हैं न!” मैंने मुसकराते हुए कहा। फिर मथुरा का नाम सुनकर सैनिकों ने एक-दूसरे को देखा। उनका सोच आपस में ही टकराने लगा। फिर भी मेरी सूचना महाराज तक भेज दी गई।

पर जो सैनिक संदेश लेकर गया था, वह तुरंत लौटता दिखाई दिया। वह आते ही बोला, “महाराज की आज्ञा है कि जो संदेश लाए हो, उसे दे दो। मैं महाराज के पास पहुँचा दूँगा।”

मैं मन-ही-मन हँसा। मुझे लगा कि कालयवन सोच रहा है कि पिछली बार जैसे इस बार भी मथुरा से मृत्तिकापात्र की तरह कोई पदार्थ आया है। मैंने कहा, “महाराज से मेरी ओर से पुनः विनम्र निवेदन करने की कृपा कीजिए कि

इस बार मथुरा से कोई पदार्थ नहीं, संदेश लेकर एक व्यक्ति स्वयं आया है।”

“आखिर दूत का कोई परिचय तो होगा?” वहाँ खड़े एक सैनिक ने, जो सेनानायक जैसा लग रहा था, बड़ी टेढ़ी आवाज में बोला।

“हाँ, परिचय है।” मैंने भी वैसी ही ध्वनि में कहा, “महाराज से कहो कि आपके गुरु श्री गर्गाचार्य का एक शिष्य मथुरा से कुछ निवेदन करने आपकी सेवा में आया है।”

चर चला गया और उसके कुछ देर बाद ही मैं महाराज के शिविर में लाया गया।

“तो इस बार तुम स्वयं आए हो, कोई संदेश नहीं लाए हो।” कालयवन मुसकराते हुए गरजा—“खैर, कोई बात नहीं; क्योंकि मैं तुम्हें ही संदेश मानता हूँ।”

मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही वह स्वयं बोला, “क्योंकि पहले भेजे गए संदेश के रूप में मृत्तिका घट के ऊपर भी मोर मुकुट था और तुम्हारे सिर पर भी मोर मुकुट है। लगता है, मोर मुकुट के साथ संदेश भेजने की मथुरा की कोई परंपरा है।”

“परंपरा तो नहीं है।” मैंने कहा, “यह मात्र एक संयोग है।”

“अच्छा, तो तुमने अपने संदेश का मेरा उत्तर देखा था?”

“हाँ, देखा था।”

“क्या देखा था?”

“देखा था कि मेरे नाग को आपके चींटों का झुंड चट कर गया था।”

“तो तुमने इसका अर्थ समझा?”

“यदि अर्थ न समझा होता तो भयभीत कैसे होता और आपकी सेवा में उपस्थित कैसे होता?”

“भयभीत! हा-हा-हा!” कालयवन जोर से हँसा। उसने मेरे चारों ओर से सैनिकों को हटाते हुए कहा, “जो स्वयं भयभीत है, उसे घेरने से क्या लाभ!”

सैनिक हट गए।

“हाँ, तो पहले यह बताओ कि तुम्हारा परिचय क्या है?”

“मैं आपका गुरुभाई हूँ।”

“यह तो मैंने सुन लिया।” कालयवन बोला, “इसके अतिरिक्त भी तो कोई परिचय होगा।”

अब मैंने अपना पूरा परिचय दिया—“मैं वसुदेव का पुत्र वासुदेव कृष्ण हूँ।”

“अच्छा, तो तुम कृष्ण हो!” कालयवन बोला, “तुम्हीं जरासंध के जामाता कंस का वध किया था?”

मैंने स्वीकृति में सिर हिलाया।

“तब तो तुम बड़े खतरनाक हो। देखने में तो बड़े भोले मालूम होते हो, ‘कृष्ण’।” फिर वह कुछ सोचने लगा।

“अच्छा, तो तुम्हीं अपने वंशीवादन और मोर मुकुट के लिए प्रसिद्ध हो! बताओ, क्या संदेश लाए हो?”

“महाराज उग्रसेन ने मथुरा आपको समर्पित करने की इच्छा व्यक्त की है।”

“मथुरा समर्पित करने की इच्छा महाराज उग्रसेन की?”

“जी, महाराज।”

“तो क्या बिना युद्ध के मथुरा मिल जाएगी?” वह खुशी के मारे उछल पड़ा।

“आपसे इस समय युद्ध करने का किसमें साहस है? कौन अपना विनाश चाहेगा?”

अब उसने मुझे अपनी बगल में बैठाया—“अच्छा, यह तो बता कि तू कोई छल तो नहीं कर रहा है?”

कालयवन बोला, “मैंने सुना है कि तू बहुत बड़ा छलिया है।”

मुझे हँसी आ गई—“दूध का जला मट्ठे को भी फूँककर पीता है। लगता है, आप कहीं छले गए हैं।”

“मुझे छलनेवाला धरती पर कोई पैदा हुआ है!”

“जब अब तक नहीं पैदा हुआ है तब आगे पैदा होने की क्यों सोचते हैं?”

कालयवन चुप हो फिर सोच में पड़ गया।

“अच्छा, तो अपने महाराज का कोई प्रस्ताव तुम लिखित रूप में लाए हो?”

“कोई प्रस्ताव तो नहीं है, पर मैं स्वयं हूँ।”

“तुम्हारा विश्वास क्या है?”

“अरे, मैं महाराज उग्रसेन का नाती हूँ। हमारे संदेश का आप द्वारा भेजा उत्तर देखकर हम सबने दाँतों तले अँगुली दबाई और यह निश्चय किया था कि अब हमारी कुशलता इसीमें है कि मथुरा आपको सौंप दी जाए।...फिर भी आपको हमारा विश्वास न हो तो हमें अपने यहाँ रोककर किसी विश्वस्त को मथुरा भेजकर आप सत्य का पता लगा लें।”

कालयवन सोच में पड़ गया। उस समय वहाँ उपस्थित पारिषदों ने मेरी सलाह का समर्थन किया। उसने निश्चय किया कि मध्याह्न भोजन और विश्राम के बाद मंत्रिपरिषद् से भी इस विषय में विचार कर लिया जाए। यों कालयवन को मेरे कथन पर विश्वास था। वह मेरे कथन पर काफी निश्चित भी अनुभव कर रहा था।

मैंने सोचा, चलो एक दिन तो टला।

संध्या के कुछ पहले तक मंत्रिपरिषद् चलती रही। वस्तुतः यह सैनिक परिषद् थी। सेना के कुछ उच्च पदाधिकारी विचार-विमर्श के लिए बुला लिये गए थे। वास्तविक मंत्रिपरिषद् के सदस्यों को तो कालयवन अपनी राजधानी में ही छोड़ आया था।

खैर, निर्णय तो सैनिकों को ही लेना था। मुझे भी उस परिषद् में बैठने दिया गया; पर मैं बोलने का अधिकारी नहीं था। कार्यवाही का मौन प्रत्यक्ष द्रष्टा मात्र था। पहला निर्णय तो यह था कि इस अवसर को हाथ से जाने देना नहीं चाहिए। दूसरा निर्णय यह कि चाहे युद्ध करना पड़े या न पड़े, पर हमारे पास इस समय यहाँ जितनी सेना है, उसे साथ लेकर ही मथुरा चलना चाहिए; पर पहले किसीको भेजकर कृष्ण के कथन की सत्यता की जाँच जरूरी है।

दूसरे निर्णय पर मैं हँस पड़ा। सबका ध्यान मेरी हँसी की ओर गया। महाराज ने खुद पूछा, “तुम हँसते क्यों हो?”

“हँस रहा हूँ आपके निर्णय पर।” मैंने कहा, “एक ओर तो आप मौका हाथ से न जाने देने की बात करते हैं और दूसरी ओर आप किसीको भेजकर मेरे कथन की पुष्टि करना चाहते हैं। आप जानते हैं, एक व्यक्ति के मथुरा जाने और आने में कितना समय लगेगा?”

पूरी परिषद् मेरी ओर देखने लगी।

“जिस मार्ग से आप जा रहे हैं, उस मार्ग से तो महीनों लग जाएँगे।” मैंने बताया—“और इस बीच जरासंध मथुरा पर अधिकार कर लेगा।”

जरासंध का नाम लेते ही कालयवन विस्मय की स्थिति में हुआ।

“जरासंध ने तो मुझसे मथुरा ले लेने का प्रस्ताव किया था।” वह बोला।

“यही तो राजनीति है, महाराज।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “द्विविधा की धरती और असत्य का मौसम राजनीति के बिरवे को पनपने के लिए बड़े अनुकूल पड़ते हैं। अब यही समझिए कि यदि वह मथुरा आपको देना चाहता तो आपको मिलाकर मथुरा पर चढ़ाई करने की व्यवस्था क्यों करता? अरे, आप इतने अशक्त तो हैं नहीं कि बिना

उसकी सहायता के आप मथुरा पर अधिकार नहीं कर सकते। मैं तो आपकी सैनिक शक्ति और क्षमता देख रहा हूँ कि आप एक नहीं, कई मथुरा को एक साथ भू-लुंठित कर सकते हैं। फिर दुम की तरह आपके पीछे जरासंध के लगने का क्या उद्देश्य है? यही कि सबकुछ आपकी कृपा से हो, पर विजय के श्रेय का एक बड़ा भाग वह अपने नाम लिखा सके।”

कालयवन सोच में पड़ गया।

“उसने आपके पास शाल्व को भी भेजा होगा।” मैंने उसकी शंकित मनःस्थिति पर शंका की एक परत और चढ़ाई —“और तमाशा यह कि उसने शाल्व को भी मथुरा समर्पित करने के लिए कहा है।”

“यह तुम क्या कहते हो?” कालयवन को जैसे विश्वास ही न हो।

“मैं ठीक कहता हूँ, महाराज!” मैंने कहा।

यह सर्वविदित था कि कालयवन जरासंध के पक्ष में कभी नहीं रहा। उसके पक्ष में तो किया था उसे शाल्व ने। अब मैंने शाल्व की नैतिकता पर ही करारा प्रहार कर दिया था। और वह एकदम तिलमिला उठा—“इतना नीच है जरासंध!”

“महाराज! आप उसकी नीचता की कल्पना नहीं कर सकते।” मैंने कहा, “केवल विदर्भ को मथुरा के विरुद्ध खड़ा करने के लिए वह अपनी पौत्री अम्बवी को महाराज भीष्मक के पुत्र रुक्मी को समर्पित करने जा रहा है।”

“पर रुक्मी से तो उसने उसके विवाह का प्रस्ताव रखा है।” कालयवन बोला।

“वास्तविकता यह है कि रुक्मी विवाहित है। सुव्रता उसकी पत्नी है।”

“ऐसा!” कालयवन अवाक् रह गया।

“जरासंध का सामना करने के लिए मथुरावासी पहले से तैयार हैं।” मैंने कहा, “वे उसका सामना भी अनेक बार कर चुके हैं और उसकी सामर्थ्य जानते हैं। मथुरा के बच्चों में उसके प्रति घृणा है। किंतु जब से महाराज ने यह सुना है कि इस बार आक्रमण के समय आप उसके साथ होंगे, तब से उनकी चिंता बढ़ गई है; क्योंकि आपको पराजित नहीं किया जा सकता, आपकी शक्ति अपराजेय है।”

अपनी प्रशंसा सुनकर किसे प्रसन्नता नहीं होती। फिर वह तो कालयवन! आत्मस्तुति का दास। मैंने उसकी ऐसी प्रशंसा की कि उसकी संचेतना और सावधानी सारी-की-सारी धरती सूँघने लगी। अब उसकी मानसिकता मेरी मुट्ठी में थी। मैंने यह भी कहा, “हमारे महाराज आपके समक्ष मथुरा सौंपने का प्रस्ताव रखकर आप पर कोई एहसान नहीं कर रहे हैं। यह तो उनकी विवशता है। उन्होंने सोचा, लड़कर विनाश कर लेने से अच्छा है, बिना युद्ध के मथुरा आपको सौंप देना। कम-से-कम निर्दोष प्रजा तो नहीं मारी जाएगी।”

“तब तो उग्रसेन की प्रजापालकता सराहनीय है।” कालयवन बोला। उसके स्नायु एकदम ढीले पड़ चुके थे। युद्ध का सारा वातावरण ही उसकी मानसिकता से हट चुका था।

“अब तुम्हीं बताओ, हमें क्या करना चाहिए?”

“आपको तुरंत मथुरा पहुँचना चाहिए।” मैंने कहा, “और जरासंध के वहाँ पहुँचने के पहले। पर जिस मार्ग से आप चल रहे हैं, उस मार्ग से तो पहले पहुँचना संभव नहीं है।”

“तो क्या कोई इससे छोटा रास्ता भी है?”

“क्यों नहीं है?” मैंने कहा, “उधर से चलने पर तो मार्ग आधा हो जाएगा।”

“तुम उस रास्ते को जानते हो?”

“जानता हूँ, तभी तो कह रहा हूँ।”

“तो हमें उस रास्ते की ओर चलकर पहले देखना चाहिए।” कालयवन बोला, “उस मार्ग से हमारे रथ आदि जा सकते हैं या नहीं?”

पर मैं कुछ बोला नहीं। मेरे मन ने अवश्य कहा, ‘अब आई न राजनीति रास्ते पर।’

उसने पुनः कहा, “कल प्रातः ही हम मार्ग देखने तुम्हारे साथ चलेंगे।” इसे संयोग ही कहिए कि मेरे साथ किसी और को न भेजकर वह स्वयं चलने को तैयार हो गया।

यद्यपि कालयवन ने मुझे बड़े सम्मान के साथ ठहराया था। मेरी व्यवस्था और देखभाल में उसने एक राजदूत से अधिक सावधानी बरती थी। सेवा में कई अनुचर थे तथा मेरे शिविर के चारों ओर सैनिकों का पहरा था। यह पहरा तो था मेरी सुरक्षा के नाम पर, पर मुझे ऐसा लग रहा था जैसे मैं बंदी बना लिया गया हूँ।

इतने आराम के होते हुए भी मैं सुख की नींद सो नहीं पाया। जब भी नींद टूटती, मैं यही सोचता कि कालयवन को कल प्रातःकाल लेकर किधर से चलूँगा? मैं नहीं चाहता था कि उसे किसी सीधे मार्ग से ले चला जाए और यदि उसने अपने साथ अधिक सैनिक ले लिये तब क्या होगा? दो-चार को तो पार उतारने के लिए मैं पर्याप्त हूँ। फिर कालयवन भी कम शक्तिशाली नहीं है। स्फीत शिराओंवाला उसका व्यक्तित्व न तो चाणूर से कम प्रभावशाली है और न कम बलिष्ठ ही।

फिर यह क्षेत्र भी मेरा अनजाना है। दिन भर प्रयत्न करने के बाद भी इस शिविर में कोई ऐसा नहीं मिला, जिससे कुछ जाना जा सकता। हर व्यक्ति काफी बंद-बंद-सा लगा। किसीको भी छेड़ने का मतलब था, स्वयं को खतरे में डालना।

रात्रि का प्रथम प्रहर जैसे ही बीता, फिर मैंने अपने मस्तिष्क को ऋजु किया। शरीर ढीला कर नियति की धारा में स्वयं समर्पित हो गया। नींद कब आ गई, पता नहीं। सवेरे जब उठा तब काफी ताजा था। नित्यकर्म से निवृत्त हो महाराज के साथ ही अल्पाहार किया।

“मैं सोचता हूँ, इतनी दूर से मथुरा का शासन मेरे लिए संभव नहीं होगा।” कालयवन बोला, “इसके लिए मुझे किसीकी आवश्यकता पड़ेगी ही। मथुरा लेकर क्यों नहीं मैं अपनी देखरेख में तुम्हें सौंप दूँ?”

मन ने तो कहा कि ‘पहले तुम उसे लो तो सही, मुझे सौंपने की बात तो बाद में आएगी।’

फिर भी मैंने बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की और बड़े नाटकीय ढंग से बोला, “मेरी कल्पना को बड़ा धोखा हुआ।” वह एकदम चौंक पड़ा। मैंने तुरंत अपनी बात स्पष्ट की—“मैंने जैसा सोचा, आप वैसे नहीं निकले।”

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“मैंने सोचा था कि मैं नितांत क्रूर काल के साक्षात् अवतार के यहाँ जा रहा हूँ, जिसके सैनिक मुझे चबा जाएँगे; पर आप तो बड़े उदार निकले।”

“क्योंकि तुम भी नाग नहीं निकले।” उसने तुरंत उत्तर दिया—“यदि तुम भी नाग निकलते तो मेरे चींटें तुम्हें चट कर जाते।” उसने हँसते हुए कहा और मैंने भी अपने चेहरे पर एक कृत्रिम प्रसन्नता उगाई।

यों भी मैंने उसे बातों में ऐसा उलझा रखा था कि अब वह अपनी निरीहता और मथुरा की असमर्थता पर पूरा विश्वास करने लगा था।

जब वह चला, दिन काफी चढ़ आया था। यह प्रभु की बड़ी कृपा थी कि उसने मात्र दो सैनिकों को ही अपने साथ लिया था। इस स्थिति में मैं मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न था।

अनजाने मार्ग पर भी मुझे ऐसा चलना था जैसे वह मेरा जाना-बूझा हो। कुछ दूर जाते ही मैं एक जंगल में फँस गया। “किधर से ले जा रहे हो, भाई?” उसने शंका की।

“यह एक छोटा सा जंगल है। इसके पार होते ही हम मार्ग पर आ जाएँगे।” मैंने कहा। पर हम दिन भर ऐसे ही भटकते रहे। कालयवन शंका पर शंका करता रहा और मैं उसे समझाता रहा।

अपराह्न हो चला था, पर अभी मनुष्य की आकृति दिखाई नहीं पड़ी थी। सच पूछिए तो भीतर-ही-भीतर मैं भी घबरा गया था। तब तक ताड़ के पत्तों से अपने को ढके एक अर्द्धनग्न काला-सा व्यक्ति दिखाई दिया। वह मुझे देखकर मुसकराया। निश्चय ही वह जंगली आदिवासी था और मुझे किसी तरह पहचानता था। उसने मेरे पैर छुए। मैं घोड़े पर ही बैठा रहा। उसने मुझसे मुसकराते हुए अपनी भाषा में कुछ कहा—पर मैं समझ नहीं पाया।”

कालयवन उसकी भाषा से कुछ परिचित था। यह भी मेरे लिए नई विपत्ति थी। उसने बताया—“यह पूछ रहा है कि इधर किधर से चले आए?”

अब मैं क्या उत्तर देता। यह कहने के लिए विवश था कि मथुरा जा रहा हूँ। कालयवन ने मेरे कथन की उसकी टूटी-फूटी भाषा में अनुवाद किया।

आदिवासी कुछ कहकर हँसने लगा। शायद उसने कहा था कि मथुरा इधर कहाँ है।...अब कालयवन ने मुझे वक्र दृष्टि से देखा—“तुम मुझे धोखा दे रहे हो?”

“जो स्वयं धोखा खा गया है, वह दूसरे को धोखा क्या देगा?” मैंने फिर नाटकीय मुद्रा बनाई—“लगता है, मैं मार्ग भूल गया हूँ। हे भगवान्! अब क्या किया जाए? इस जंगल में तो रात बितानी भी कठिन है।”

“जब तुझे मार्ग का ज्ञान नहीं था तब इधर ले क्यों आया?” कालयवन गरजा।

“मार्ग का ज्ञान तो था, पर इधर मैं आपको ले नहीं आया, मेरा दुर्भाग्य स्वयं ले आया।”

“दुर्भाग्य नहीं, मृत्यु कहो।”

“आप कुछ भी कह लीजिए, इस समय तो गलती कर ही बैठा हूँ।” मैंने बाज के हाथ में पड़े कपोत की मुद्रा बनाई—“अब तो मेरे प्राण आपके हाथों में हैं।”

वह मेरे नाटक से कुछ प्रभावित अवश्य हुआ। उसके क्रोध का तूफान बैठने लगा। मैंने मन-ही-मन सोचा कि लगभग तीन दिन निकल गए। अब तो लोग लवण घाटी पार कर गए होंगे या पार करने के निकट होंगे। पर ऊपर से मैं ऐसा बना रहा जैसे स्वयं मृत्यु की घाटी में प्रवेश कर गया हूँ। कालयवन बार-बार मुझे घूरता और मैं हर बार भूमि की ओर भय तथा विवशता भरी दृष्टि से ऐसे देखता रहा जैसे धरती में गड़ा जा रहा होऊँ।

अंत में हम उसी आदिवासी के संरक्षण में रात बिताने को मजबूर थे। वह भी प्रसन्न था। उसने जानवरों का भुना मांस लाकर कालयवन और उसके सैनिकों के सामने रखा। वे दिन भर के थके और भूखे थे। उसपर ऐसे टूटे जैसे लाशों पर गिद्ध टूटता है।

इसके बाद उसने मुझे भीतर ले जाकर अपने परिवार के साथ मेरा परिचय कराया। वे मेरे नाम से पहले ही से परिचित थे। उन तक मेरा देवत्व पहुँच चुका था। उन्होंने मेरा विशेष पूजन और अर्चन आरंभ किया। समय लगना स्वाभाविक था। बाहर कालयवन की शंका उसे व्यग्र करती रही। कहीं मैं उसे जंगल में फँसाकर गुम तो नहीं हो गया हूँ, या आदिवासी परिवार को मिलाकर उसके विरुद्ध कोई षड्यंत्र तो नहीं रच रहा होऊँ। वह बाहर से बार-बार आवाज लगाता रहा और जब तक मैं लौट नहीं आया, वह शांत नहीं हुआ।

“इतनी देर तक भीतर क्या कर रहे थे?”

“जो आप बाहर कर रहे थे।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “मैं पशुओं का मांस नहीं खाता। उनका दूध पीता हूँ, मक्खन खाता हूँ।”

“किस विपत्ति में तुमने लाकर फँसा दिया है!” वह बोला, “मेरी पूरी सेना क्या सोच रही होगी?”

“क्या कहूँ? मेरी चिंता का आप अनुमान नहीं लगा सकते।” मेरे स्वर की नाटकीयता कुछ और प्रखर हुई—“यदि मार्ग शीघ्र नहीं मिला तो आप मेरा प्राण नहीं छोड़ेंगे। उधर मेरे नानाजी व्यग्र हो रहे होंगे कि क्या बात हुई कि मेरा नाती नहीं लौटा।...और यदि जरासंध ने आक्रमण कर दिया होगा तो युद्ध ही चल रहा होगा।”

मैंने अपनी विवशता के कारण को इतने युक्तिसंगत रूप से प्रस्तुत किया कि वह मेरे प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ और समझता रहा कि इस स्थिति को लाने में मेरा कोई हाथ नहीं है। वस्तुतः हम सब संयोग के शिकार हैं।

रात वहीं बीतनी थी। जलती हुई अग्नि के चारों ओर पर्ण के आस्तरणों पर हम ढुलक गए। मेरी आँखों में नींद नहीं थी; पर औरों को दिन भर की थकावट ने धर दबोचा था। वे खरटि भरने लगे।

□

आखिर थकावट ने मुझे भी नहीं छोड़ा। कुछ समय के लिए मैं सो ही गया। आँखें खुलीं तो देखा कि अभी रात काफी बाकी है। मेरे निकट सोए लोगों के खरटि उस अपरिचित सन्नाटे को तोड़ने का असफल प्रयत्न कर रहे थे। मेरे मन के सामने तो लवण घाटी से निकलते हुए मथुरावासियों का चित्र था, जो विपत्ति की परिधि को लगभग लाँघ चुके थे। वे सभी अड़तालीस थे, प्रसन्न थे।...साथ ही मैं भी प्रसन्न था। मेरी प्रसन्नता विचित्र थी—क्रूर और आक्रामक खरटों से घिरी हुई, अनजान सन्नाटे का साँय-साँय सुनती हुई। साथ ही नियति नटी की डोर से बँधी मुझे गुदगुदाने का प्रयत्न करती हुई।

अब मेरे सामने कालयवन से मुक्त होने की समस्या थी। मैं चुपचाप उठकर भी चला जा सकता था; पर क्या यह मेरे व्यक्तित्व के अनुकूल होगा? जिसे लोग भगवान् मानते हैं, वह अपनी रक्षा के लिए चोरों की तरह उठे और चला जाए। नहीं, नहीं, मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं तो इस समय इसकी हत्या भी कर सकता हूँ। पर न तो यह वीरोचित है और न धर्मानुकूल ही; जबकि मैंने धर्म की स्थापना का व्रत लिया है। तो फिर क्या करूँ? क्या कालयवन से कहूँ कि मैंने तुम्हें धोखा दिया है। कहना था तो मैंने पहले क्यों नहीं कहा? पर पहले धोखा कहाँ था? वह तो हमारी रणनीति थी। धोखा तो अब परिपक्व हुआ, जब मथुरावासी इसकी पहुँच से बाहर निकल चुके होंगे।

मैं इसी उलझन में था। सामने खुले तनवे से छाए काले पड़े आकाश में चतुर्दशी का चंद्रमा ढक चुका था। रात्रि का तीसरा प्रहर। अचानक एक तारा टूटा। फक् से मेरे भीतर भी एक रोशनी हुई। मैं उठ बैठा। अपने वस्त्र ठीक किए। चुपचाप अपने घोड़े पर रास चढ़ाई और तेज गर्जन करते हुए बोला, “कालयवन, उठो! ऐसा न हो कि तुम सोते रहो और मृत्यु तुम्हें निगल जाए।”

वह हड़बड़ाकर उठा। वह कुछ समझ नहीं पाया कि मैं क्या कह रहा हूँ।

“अब मैं चलता हूँ।” मैंने कहा और अपने घोड़े को एड़ लगाई। वह पहाड़ी की तलहटी की ओर उड़ चला।

अभी भी वह समझ नहीं पाया कि यह सब क्या हो गया। पहले तो उसे नींद में यह एक स्वप्न-सा जान पड़ा; पर शीघ्र ही वह यथार्थ के धरातल पर आया। उसे अनुभव हुआ कि उसने धोखा खाया है। वह एकदम चीख उठा—“अरे, रुक जा दुष्ट! मैं तुझे अभी बताता हूँ। मुझे पहले से ही शंका थी; पर मैं तेरे नाटक में ऐसा भ्रमित हुआ कि तुझपर विश्वास कर बैठा। तूने मेरे साथ विश्वासघात किया है!”

इतना कहकर वह बड़ी शीघ्रता से अपने घोड़े पर सवार हुआ। साथियों को उसने अपने साथ लिया और मेरा पीछा करने के लिए चल पड़ा। यहाँ मार्ग भी सीधा और सपाट था।

यद्यपि मैं पहले चल पड़ा था, इसलिए काफी आगे निकल आया। फिर भी मुझे अनुभव हुआ कि उसका अश्व मुझसे तेज है; जबकि उसका शरीर मुझसे बहुत भारी था—और अत्यधिक वजनी अस्त्रों से भी वह लैस था; फिर भी उसके घोड़े की चाल अद्भुत थी। लगता है, वह इन पहाड़ी रास्तों पर चलने का अभ्यस्त था।

कालयवन मेरा पीछा करता रहा। मुझे कोसता और चिल्लाता रहा। जब मैंने देखा कि पकड़ लिया जाऊँगा, तब

मैंने पहाड़ी पर का सीधा रास्ता छोड़कर पगडंडी पर उतर आया। यह पहाड़ी की ढलान थी। मेरे अश्व की गति तेज हुई। पर एक स्थान ऐसा आया, जहाँ वह एकदम मेरे ऊपर की पहाड़ी पर था। उसने खींचकर शेल चलाया। मैं जरा सा बच गया, अन्यथा घायल हो जाता।

बराबर मार्ग बदलने और पगडंडी का रास्ता पकड़ने के कारण अब उसे कठिनाई हो रही थी। लगता है, इस तरह की घुड़सवारी का न तो वह अभ्यस्त था और न उसके दोनों सहायक सैनिक ही। मैं नीचे की पहाड़ियों से होता हुआ फिर दूसरे मार्ग से ऊपर चढ़ने लगा। अब मैं उसकी पहुँच से बाहर था। मार्ग से पहुँचकर मुझे पकड़ना उसके लिए असंभव था। बीच में पहाड़ियाँ होने से अब वह अस्त्र फेंककर भी मुझे मार नहीं सकता था।

धीरे-धीरे आकाश पर ऊषा की अरुणिमा आने लगी थी। पहाड़ी के सिर पर दौड़ता वह ऐसा दिखाई दिया जैसे कोई धब्बा भागा जा रहा हो। निश्चित ही वह मुझे भी देख रहा होगा। उसकी दृष्टि से ओझल होने के लिए मैं फिर पहाड़ी की ढाल से नीचे उतरते हुए दूसरे रास्ते से ऊपर चढ़ने लगा। फिर भी उसकी गर्जना की ध्वनि-प्रतिध्वनि चट्टानों से चूर होने पर भी सुनाई देती रही। उसका मुझ तक पहुँचना असंभव था। वह अपने साथियों से कहता सुनाई दिया कि इस पहाड़ी के सामनेवाली पहाड़ी पर छलाँग लगाओ, तभी उसे पकड़ पाओगे।

एक सैनिक ने तुरंत ऐसा ही किया; पर वह सफल न हो सका। घोड़े सहित सैकड़ों हाथ नीचे गिरा। उसके प्राण-पखेरू तो निश्चित उड़ गए होंगे। अब दूसरे सैनिक ने छलाँग लगाने का साहस नहीं किया।

कालयवन का क्रोध और अधिक भभका; पर वह कर क्या सकता था। क्रोध में अंधे हुए साँप की तरह वह फुफकारता हुआ मेरा पीछा करने लगा। उसकी चेतना इस सत्य से दूर हो गई कि हताश क्रोधाग्नि में झुलसता व्यक्तित्व पराजय के निकट होता है।

यह स्थिति मेरे अधिक अनुकूल थी। मेरी योजना यही थी कि उसे अच्छी तरह थका दिया जाए और जब वह श्लथ हो जाए तब उसका वध कर दिया जाए। उसके एक साथी के गिरने से उसे रुकना पड़ा था। इसमें उसका कुछ समय लगा। अब मैं उससे काफी दूर निकल आया था।

अब तक आवेग में था, कुछ पता नहीं चला; पर अब प्रातःकालीन हवा का झोंका तीर की तरह चुभने लगा। यद्यपि सूर्य की किरणें अब तेज हो गई थीं और उन्होंने ओस कणों को चूसना आरंभ कर दिया।

इच्छा होती कि धूप में कुछ समय तक खड़ा हो जाऊँ और शिराओं में जमनेवाले रक्त को नव प्रवाह दूँ; पर रुकना मेरे लिए जान पर खेलना था। तब तक नियति ने पुनः मेरी सहायता की।

मुझे एक विशाल कंदरा दिखाई दी। उसके भीतर से हलका-हलका धुआँ निकल रहा था। मैंने समझ लिया कि भीतर आग है। और जब भीतर आग है तब भीतर किसी प्राणी के होने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

मेरा अश्व उसमें नहीं जा सकता था। मैं तुरंत अश्व से उतरा और उसे वहीं छोड़ दिया। अश्व को भी थोड़ा आराम मिला। वह वहीं धूप में आसपास चरने लगा और मैं गुफा में घुसा। यह गुफा काफी लंबी और भीतर से प्रशस्त थी। मैंने देखा, राख के एक बड़े ढेर में ठंडी होती आग धीरे-धीरे धुआँ उगल रही है। पास ही एक बड़े मंच की तरह चौकोर और समतल पड़े शिलाखंड पर एक विशाल पुरुष पड़ा खरटि ले रहा है। व्यक्ति की नींद काफी गहरी लग रही थी। भय तो था कि कालयवन मुझे खोजता हुआ यहाँ तक अवश्य चला आएगा। मैंने तुरंत उस सोते हुए व्यक्ति की विशाल काया पर अपना पीतांबर ओढ़ाया और उसका सिर से पैर तक प्रत्येक अंग पीतांबर फैलाकर ढक दिया और स्वयं राख के ढेर के पीछे चुपचाप छिपकर बैठ गया।

राख की ऊष्मा ने मुझमें एक नई स्फूर्ति भरनी आरंभ की। मैंने भी उस उष्ण राख को अपने शरीर पर मलना

आरंभ किया; पर मेरी दृष्टि कंदरा के द्वार पर ही लगी रही। मैंने अपने चक्र को कटि से निकालकर सँभाला; क्योंकि मैं यहाँ से वार करने में सुरक्षित था। मैंने हर स्थिति के लिए अपने को तैयार किया।

थोड़ी देर बाद बाहर किसीके आने की आहट लगी। कालयवन अपने साथी से कह रहा था—“उसका अश्व तो यही है। वह भी यहीं कहीं होगा।”

“कहीं अश्व छोड़कर तलहटी में न भागा हो।” सैनिक ने शंका की।

“मुझे ऐसा नहीं लगता। जरूर वह यहीं कहीं छिपा होगा।”

“हो सकता है, वह इस कंदरा में हो।”

“जरा भीतर घुसकर अनुमान तो लगाओ।” कालयवन बोला।

“पर यहाँ से धुआँ निकल रहा है। भीतर आग मालूम होती है।” यह आवाज सैनिक की थी। वह भीतर आने में थोड़ा घबराया।

“चल हट किनारे! मैं तुझे इतना डरपोक नहीं समझता था।” कालयवन की यह दुत्कार इतनी तेज थी कि मुझे साफ सुनाई पड़ी। इसके बाद वह स्वयं गुफा में घुसा। उसके हाथ की नग्न अंगुली गुफा की ऊपरी चट्टान से टकराई। भीतर सोते पड़े व्यक्ति पर मेरा पीतांबर देखकर वह जोर से हँसा।

“अपना पीतांबर ओढ़कर यहाँ सो रहा है! क्या सोचता है कि बच जाऊँगा?” उसकी हँसी तेज हुई—“अच्छा तो मरने के पहले तुमने स्वयं को काल को समर्पित कर दिया।”

‘काल को नहीं, कालयवन को कहो।’ मैंने मन-ही-मन कहा और मुझे हँसी आ गई; पर मैं अपना मुँह दबाए राख के ढेर के पीछे बैठा तमाशा देखता रहा।

तब तक उसने एक लात खींचकर उस सोते व्यक्ति को मारी। “उठ, मैं तुझे सोते हुए मारना नहीं चाहता।” वह चिल्लाया।

अब वह सोता हुआ व्यक्ति उठा। उसकी भीम काया देखकर कालयवन चकराया—“अरे, यह तो वह नहीं है!”

उसके मुख से इतना ही निकला होगा कि नव जाग्रत व्यक्ति की आँखों से अग्नि की धारा फूटी और देखते-देखते कालयवन धू-धूकर जलने लगा। क्षण भर में ही वह राख हो गया। आश्चर्य है कि वह व्यक्ति कुछ बोला भी नहीं, क्रोध के दो शब्द भी नहीं और आँखें अग्नि उगलने लगीं। यह सब विस्मयकारी और चमत्कृत कर देनेवाला था। मुझे लगा, मैं कहीं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ। शिव के तीसरे नेत्र से फूटती अग्नि की कहानी तो मैंने सुनी थी, पर कामदेव को भस्म होते मैंने नहीं देखा था। आज वैसे ही कालयवन को भस्म होते देख गया।

□

अब मैं राख के ढेर के पीछे खड़ा हो गया था। अब भी मेरे हाथ में वंशी थी, सिर पर मोर मुकुट था, अधरों पर मुसकान थी। वह नव अज्ञात व्यक्ति बड़े ध्यान से मुझे देख रहा था।...और जब कालयवन राख हो गया तो वह स्वतः बोला, “अरे, यह तो भस्म हो गया! अपने किए का फल पा गया।” फिर वह कुछ सोचने लगा। पर उसकी दृष्टि बराबर मुझपर लगी रही।

अपने किए का इसे कैसे कहूँ? यह तो मुझे मिले वरदान का फल था।

मैं भी उसे बड़े ध्यान से देख रहा था। उसे पहचानने की कोशिश कर रहा था; पर पहचान नहीं पा रहा था। अब उसकी दृष्टि मेरे द्वारा ओढ़ाए पीतांबर की ओर गई। वह देखकर चकित था। उसकी दृष्टि मुझपर बराबर लगी थी; पर सचमुच मैं उसकी चेतना के समक्ष था ही नहीं। यदि मेरी कोई वस्तु उसकी चेतना के समक्ष पहले आई तो वह पीतांबर था। वह लगभग बड़बड़ाने लगा—“लगता है, प्रभु मुझे दर्शन देने आए थे और मैं अभागा सोता रह गया।” उसने फिर आँखें बंद कर लीं और अपने भीतर डूबता गया—“देवासुर संग्राम में मैं कितना थक गया था कि संग्राम

जीतते ही मुझे नींद ने धर दबोचा। मैं युद्धस्थल पर ही सो जाता, यदि इंद्र के परिचर मुझे उठाकर महल में न लाए होते।

“देवाधिदेव ने मुझे खिलाया-पिलाया। देवताओं ने मेरी आराधना की। मुझसे उपकृत हुए और मुझसे वर माँगने को कहा।

“तब मैंने कहा कि मुझे नींद आ रही है। मुझे सुख की नींद सोने दीजिए।...तब उन्होंने कहा कि आपके सोने की ऐसी व्यवस्था कर दी जाएगी कि कोई भी आपको जगा न सके। यदि कोई आपको जगाने का दुष्प्रयास करेगा तो आँख खुलते ही वह भस्म हो जाएगा।”

उसने फिर कालयवन की भस्म की ओर देखा—“यह अभागा तो मेरे वरदान का सीधा शिकार हो गया; पर मैं इसे तो जानता ही नहीं कि यह कौन है और इसका कौन सा पाप इसे यहाँ तक खींच लाया!

“देवताओं से मैंने दूसरा भी वरदान माँगा था।” वह नव जाग्रत व्यक्ति स्वगत बोलता रहा—“कि मैं भगवान् विष्णु के दर्शन करना चाहता हूँ।

“तब इंद्र ने कहा कि यह तो मेरे वश के बाहर है। पर इतना मुझे विश्वास है कि आपकी यह एकनिष्ठ श्रद्धा व्यर्थ नहीं जाएगी। कभी-न-कभी उनके दर्शन अवश्य होंगे। किंतु कहाँ होंगे, किस समय होंगे, यह तो मैं कह नहीं सकता।

“इसके बाद मुझे फिर नींद आ गई। उन्हीं लोगों ने मुझे यहाँ लाकर सुला दिया, जिससे मैं इस कंदरा में सुख की नींद सोता रहूँ। कोई बाधा न डाले।”

वह बड़बड़ाता रहा—“जब मैं सोने लगा तब भी मेरी दृष्टि में भगवान् विष्णु की वह भव्य प्रतिमा थी और बाद में अपनी अनेक भंगिमाओं के साथ स्वप्न में उतर आई। मैंने स्वप्न में जी भरकर उनके दर्शन किए, उनसे बातें कीं। वे ऐसा ही पीतांबर ओढ़े हुए थे। तो क्या वह सचमुच यहाँ आए हुए थे? उन्होंने सोचा होगा कि इसका दुर्भाग्य यदि मुझे नहीं देख पा रहा है, तब मैं क्यों नहीं अपना प्रतीक पीतांबर इसपर डालकर चला चलूँ। वह पीतांबर देखता रहेगा, मुझे देखता रहेगा।

“मैंने स्वप्न में तो तुम्हें खूब देखा था। मुझे लगता है, वही मेरा वास्तविक जगत् था। अब जो देख रहा हूँ, वह सपना है।”

मैं अब भी वैसा ही मुसकराता हुआ खड़ा था। वह स्वतः बोलता जा रहा था—“आखिर उस सपने में और इस सपने में अंतर ही क्या है? जीवन का रस मैं उसमें भी भोग रहा था और इसमें भी। वरन् उसमें मनचाहा रस भोग रहा था। न कोई बाधा थी और न बंधन; पर यहाँ तो बंधन है। संसार का बंधन है। अपनी चेतना का बंधन है। शायद यहाँ पर सब मनचाहा भी न हो।”

वह कुछ क्षणों के लिए चुप हुआ, फिर बोला, “मेरे दुर्भाग्य ने मेरे साथ विचित्र भूमिका निभाई है और भक्ति की संपूर्ण उपलब्धि को प्रभु के पीतांबर तक सीमित कर दिया है।”

मैंने अब तक प्रतीक्षा की थी कि वह शायद मुझसे कुछ कहे; क्योंकि वह बड़बड़ाते हुए बीच-बीच में मुझे देख लेता था। अब मुझे लगा कि अग्नि विच्छुरित होने से उसकी दृष्टि शायद चौंधिया गई हो और मुझे देखते हुए भी न देख पा रहा हो।

मुझसे रहा नहीं गया। मैंने सोचा, नव जाग्रत व्यक्ति की मानसिक स्थिति का लाभ उठाने का इससे अच्छा मौका शायद दूसरा न मिले। मैं तुरंत वंशी और चक्र सँभालते हुए आगे बढ़ा और बोला, “तुम संपूर्ण भक्ति की उपलब्धि इस पीतांबर को कैसे कह सकते हो?” मेरी आवाज सिंधु जैसी धीर और गंभीर थी—“पहली बात तो यह है कि भक्ति एक सतत चलनेवाली प्रक्रिया है। भक्ति की संपूर्ण उपलब्धि भगवान् के अतिरिक्त कुछ होती ही नहीं। यह

पीतांबर तो पदार्थ है। भक्ति की उपलब्धि की संपूर्णता इस पदार्थ की सीमा से परे है।”

इतना सुनना था कि वह नव जाग्रत व्यक्ति एकदम हड़बड़ा गया। उसे विश्वास ही नहीं था कि उसका स्वप्न इस प्रकार सामने ही आ जाएगा। वह प्रसन्नता से उठा और मेरे चरणों पर गिर पड़ा—“आपने मुझे पहचाना?”

“मुझे व्यक्ति को पहचानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। मैं तो उसकी श्रद्धा को पहचानता हूँ।” मैंने हँसते हुए कहा।

फिर भी वह अपना परिचय देता रहा—“मैं मांधाता का पुत्र मुचुकुंद हूँ। देवासुर संग्राम में इंद्र ने मुझे अपनी सहायता के लिए बुलाया था। मैंने असुरों को पराजित किया।”

“पराजित किया नहीं।” मैं मुसकराते हुए बोला, “पराजित हुए कहो।”

वह मेरा मुँह देखता रह गया। उसका मौन प्रश्नवाची होने लगा; जैसे वह पूछ रहा हो, ‘क्यों?’

“क्योंकि तुम्हारे ‘किया’ में अहं है। कर्ता का भाव है। वस्तुतः इन सबके कर्ता तुम नहीं हो। नियति तुम्हारे मारने के पहले ही उन असुरों को मार चुकी थी। तुम तो मात्र उसके निमित्त बने, साधन बने। और इस विजय को तुम्हें इसी भाव से नियति का वरदान समझकर ग्रहण करना चाहिए।”

“और आपके इस दर्शन को?”

“यह भी तुम्हारे लिए नियति का वरदान है।” मैंने बताया—“न कालयवन यहाँ तक मेरा पीछा करता आता और न वह तुम्हें जगाता, न वह भस्म होता और न हमारा-तुम्हारा मिलन हो पाता।”

“तो यह कालयवन था, जो भस्म हो गया?” वह बोला।

“हाँ।”

“क्या यह भी असुर था?”

“यह असुर भी था और सुर भी। इसकी माया बड़ी विचित्र थी। पर इतना सत्य है कि इसके समान शौर्यवान् और शक्तिशाली राजा इस समय आर्यावर्त में नहीं था। यह चक्रवर्ती सम्राट् होने का स्वप्न देख रहा था।”

“जैसे भगवान् विष्णु के दर्शन का स्वप्न मैं देख रहा था।” मुचुकुंद मुसकराया—“हमारा स्वप्न तो सच हुआ, पर इसका स्वप्न सत्य न हो सका।”

“क्योंकि नियति नहीं चाहती थी।” मैंने कहा।

वह पुनः मौन हो गया।

अब तक गुफा के बाहर खड़ा हुआ कालयवन का सैनिक लगभग ऊब चुका था। उसने अनुभव किया कि स्वामी को भीतर गए घड़ी भर से अधिक हो चुका है, किंतु उनका कोई समाचार नहीं मिला। इसके पहले उसे मनुष्य के जलने की गंध भी लग चुकी थी। वह काफी व्यग्र था। उसने बड़ी देर से झाँक-झूँक लगाई थी; पर भीतर आने का साहस नहीं जुटा पा रहा था।

डरता-काँपता किसी तरह अपने स्वामी की नंगी तलवार लेकर भीतर घुसा। ज्यों-ज्यों भीतर घुसता गया, उसे एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती गई। तब तक मेरी दृष्टि उसपर पड़ी। मैंने उसकी व्यग्रता का अनुभव किया। मैं वहीं से चिल्लाया—“घबराओ नहीं। निर्भय होकर चले आओ।”

अपने स्वामी को न पाकर और मेरी निर्द्वंद्व ध्वनि से वह निश्चित रूप से चमत्कृत हुआ; क्योंकि मेरे आश्वस्त करने पर भी उसकी सकपकाई आँखों में कुतूहल से अधिक भय था और जिज्ञासा से अधिक आशंका।

वह एकटक उस भीमकाय व्यक्ति को देखता रहा, जो बहुत विनीतभाव से मेरे सामने हाथ जोड़े खड़ा था। सैनिक कुछ बोला नहीं; पर उसकी चौंधियाई आँखें अपने स्वामी के अस्तित्व की खोज में व्यस्त लगीं।

“तुम कौन हो? और किसलिए यहाँ चले आए हो?” अब तक मौन मुचुकुंद ने सैनिक से पूछा।

सैनिक तो सकपकाया था ही, कुछ बोला नहीं; बल्कि मैंने ही बताया—“यह कालयवन का सैनिक है। बाहर खड़ा अपने स्वामी की प्रतीक्षा कर रहा था।”

मुचुकुंद हँसा—“अब तो तुम्हारा स्वामी भस्म हो चुका है।” इतना कहने के बाद उसने उस राख की ओर संकेत किया—“उसे देखो, वह तुम्हारे स्वामी की भस्म है। उसे यदि तुम ले जाना चाहते हो तो ले जाओ।”

वह हक्का-बक्का-सा खड़ा रहा। पर मुचुकुंद ने हाथ जोड़े हुए श्रद्धाभाव से मुझसे कहा, “प्रभो! मैं सोया अवश्य था; पर स्वप्न में भी आपके ही दर्शन कर रहा था। मैं बड़भागी हूँ कि उस दुष्ट ने जब मेरी नींद तोड़ी तब भी आप दर्शन देने के लिए उपस्थित थे।”

इतना कहते-कहते वह श्रद्धावनत हो मेरे चरणों पर गिर पड़ा।

वह सैनिक भी यह सब देख रहा था। उसके मन पर मेरे देवत्व का काफी पानी चढ़ चुका था—और अंत में वह भी मेरी शरणागत हुआ।

मुचुकुंद इक्ष्वाकुवंशीय थे। वे राजा दशरथ के इकतालीसवें पूर्वज थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह कथा कालविपर्यस्त है। फिर भी इसका वर्णन पद्म, ब्रह्म, विष्णु, वायु एवं भागवत पुराणों में है।



ग्यारह

मुचुकुंद की निद्रा अभी पूरी नहीं हुई थी। रह-रहकर उसकी आँखें झपती जाती रहीं।

“तुम्हारी आँखें अब भी झप रही हैं। तुम्हारी नींद पूरी नहीं हुई है। तुम सो जाओ।” मैंने मुचुकुंद से कहा।

वह बड़े सहजभाव से पालित श्वान की तरह शिलाखंड पर चढ़कर ढुलक गया और पीतांबर को देखते हुए बड़े संकोच से बोला, “क्या आप इसे ले जाएँगे?”

“जैसा तुम कहो।”

अब वह और संकोच में पड़ा। कुछ सोचते हुए बोला, “मुझसे अधिक इसकी आवश्यकता तो आपको पड़ेगी।”

फिर वह अप्रत्याशित रूप से मौन हो गया; जैसे कुछ कहना चाहकर भी बोल नहीं पा रहा हो।

मैंने उसकी इस मनःस्थिति का आभास पा लिया और बोला, “बोलो-बोलो, क्या कहना चाह रहे हो?”

“सोचता हूँ, यदि आपको पीतांबर दे दूँगा तो मेरे पास प्रसादस्वरूप आपका क्या रह जाएगा?”

“तो तुम मेरी कृपा की स्थूलता में अधिक विश्वास करते हो?”

जैसे उसे एकदम छटका दिया गया हो—“नहीं-नहीं। आपका आशीर्वाद तो है ही। फिर भी, पता नहीं क्यों, मेरे मन पर अदृश्य जगत् से दृश्य जगत् का अधिक प्रभाव है।”

अपनी दुर्बलता को इतनी सफाई से व्यक्त करने पर उसके ऊपर मुझे हँसी आ गई। मैंने मोर मुकुट अपने सिर पर से उतारकर उसके सिर पर रख दिया।

“अरे, आपने यह क्या किया?” वह बोला, “इतनी बड़ी कृपा!” वह विह्वल होकर फिर मेरे चरणों पर गिर पड़ा।

मैंने उसे उठाया। शिलाखंड पर लिटाया और उसे पुनः सोने का आदेश देकर कुछ क्षणों तक उसका सिर सहलाता रहा। फिर उसके खरटि सुनाई पड़ने लगे।

फिर मैं उस सैनिक को लेकर गुफा के बाहर आया। पीतांबर को सिर पर साफे की तरह बाँधा।

वह सैनिक हँस पड़ा—“अब तो आप इधर के ही मालूम पड़ते हैं।”

यहाँ सिर पर साफा बाँधने का रिवाज है। इसके मूल में यहाँ की प्रकृति का क्षणिक रुष्ट, क्षणिक तुष्ट स्वभाव अधिक ज्ञात होता है। ये साफे धूल भरी आँधियों और तापमान की विभिन्नता से सिर को बचाते हैं।

वह बड़े गौर से मुझे देखता रहा। उसकी मानसिकता अच्छी तरह अब मेरे देवत्व में डूब चुकी थी। उसने बड़े विनीतभाव से कहा, “अब आप मुझे अपनी ही शरण में रख लीजिए।”

मैं उसे देखता हुआ मुसकराता रहा। उसे लगा जैसे मुझपर प्रभु की कृपा दृष्टि बरस रही है।

“जो मेरी शरण में आ जाते हैं, मैं उन्हें जाने को नहीं कहता। पर मेरी शरणागतता का यह अर्थ नहीं है कि तुम मेरे साथ ही रहो। तुम कहीं भी रहकर धर्म के अनुसार अपनी जीवनचर्या करते हुए भी मन से मेरे साथ रह सकते हो।”

पर उसने मेरी बात नहीं मानी। वह मेरे साथ ही रहना चाहता था।

“आखिर तुम्हारे माता-पिता, परिवार तो होगा ही, उनकी देखरेख कौन करेगा?”

“जब मैं स्वयं शरणागत हो गया तो उनकी चिंता भी आपके चरणों को सौंप दी।”

मैंने अनुभव किया कि मेरे देवत्व ने उसे आतंकित नहीं किया है, वरन् उसमें एक चिर स्थायी भक्तिभाव भी जाग्रत किया है।

बातों से ज्ञात हुआ कि उसका नाम रक्ताक्ष (देखने में उसकी आँखें कुछ लाल लग रही थीं) है और वह शायद प्रभास की ओर का ही रहनेवाला है। मुझे एक व्यक्ति की आवश्यकता थी ही, अतः मैंने उसे अपने साथ रहने की

अनुमति दे दी।

“मैं आपसे एक विनीत आग्रह और करना चाहता हूँ।” उसने करबद्ध प्रार्थना की।

मैं कुछ बोला नहीं; पर मेरी मुद्रा उसके आग्रह को सुनने के लिए प्रतीक्षारत हो गई।

“मेरे स्वामी ने अपने कर्मों का फल तो पा लिया।” उसने कहा, “अब बड़ी कृपा होगी, यदि आप उनकी भस्म को लेकर प्रभासतीर्थ में अपने हाथों से प्रवाहित कर देते। उनकी आत्मा भव बंधन से मुक्त हो जाएगी।”

मैंने अनुभव किया कि रक्ताक्ष के संस्कार बड़े उच्च हैं, अन्यथा अपने स्वामी के संबंध में उसकी कर्तव्यनिष्ठा इस सीमा तक न पहुँचती।

“पर कालयवन के पुत्र हैं, भाई-बंधु हैं, परिवार है। उसका अंतिम संस्कार मैं कैसे कर सकता हूँ?” मैंने कहा और उसे राय दी कि वह अपने शिविर में जाकर कालयवन की मृत्यु की सूचना दे और सारी स्थिति से लोगों को अवगत कराए।

पर वह तैयार नहीं हुआ। उसने दबे स्वर में इतना ही कहा, “अब मैं उन लोगों को मुँह दिखाने योग्य नहीं हूँ।” उसके मन में भय से अधिक ग्लानि थी।

मेरा मन भी प्रभास की ओर चलने को हो रहा था; क्योंकि वहाँ से द्वारका काफी निकट थी। जिज्ञासा थी कि मथुरा से जो काफिला गया है, वह सकुशल पहुँचा या नहीं। दूसरी ओर कालयवन के अंतिम संस्कार के प्रति मेरा कर्तव्यबोध जगाकर रक्ताक्ष ने मथुरा की ओर से मुझे एकदम मोड़ दिया था। पर मथुरा क्या सोचेगी? मैं उसे आश्वस्त कर यहाँ आया था कि लवण घाटी तक पहुँचाकर चला आऊँगा।

मैं सोच ही रहा था कि रक्ताक्ष ने पूछा, “क्या मैं भस्म बटोरने की चेष्टा करूँ?”

“किसमें बटोरकर ले चलोगे?”

“कहीं से एक मृत्तिकापात्र की व्यवस्था करता हूँ।” इतना कहकर वह अश्वारूढ़ हुआ और चला गया।

अब मैं जाड़े की प्रातःकालीन मुलायम धूप में उस पहाड़ी की ढाल पर टहलने लगा। मेरी आँखों के सामने मथुरा फिर आकर खड़ी हो गई थी। कंसा और बृहद्बल की अनेक मुद्राएँ उभरीं—‘तुमने आने का विश्वास दिलाया था, पर तुम्हारे जैसे अविश्वासी का विश्वास क्या?’

‘मैं तो संकल्प करता हूँ; पर जब नियति स्वयं उसके आड़े आ जाती है तो मैं क्या करूँ?’ मैं स्वगत बड़बड़ा रहा था। मुझे लग रहा था, मैं मौसी को समझा रहा हूँ।

‘अब मथुरा को मेरी आवश्यकता भी नहीं।’

‘क्यों?’

‘क्योंकि कालयवन तो भस्म हो गया और उसके साथ ही भस्म हो गया जरासंध के चक्रवर्ती होने का सपना। साथ ही मथुरा छोड़कर चली गई उसकी प्रतिहिंसा। अब वह मथुरा पर चढ़ाई करेगा भी तो किसलिए? वहाँ तो उसका मित्र बृहद्बल ही है। मौसी, अब तुम्हारे पुत्र का निर्द्वंद्व राज है। वस्तुतः अब हमारी आवश्यकता न तुम्हें और न मथुरा को है।’

‘पर हमें तो है।’ अरे, यह स्वर तो मालिनी (कुब्जा) का है। मेरे कल्पना पट पर मौसी के हटते ही मालिनी आ गई और वह बोलती जा रही थी—‘तुम कितने निष्ठुर और अविश्वासी हो! लौटकर आने को कह गए थे न! मैं जानती थी कि तुम नहीं आओगे। और मेरे साथ भी वैसा ही करोगे जैसा राधा के साथ किया है। पर क्या समझते हो? राधा के स्वाभिमान की तरह मेरा स्वाभिमान भी कम अहंकारी नहीं है। जैसे तुम्हें हृदय से लगाए राधा जी रही है वैसा ही मैं भी जी लूँगी।’

क्या कहता। मालिनी के सामने एकदम निरुत्तर था। सोचता रहा, यदि मेरी करनी ऐसी न होती तो मैं छलिया क्यों कहलाता?

तब तक रक्ताक्ष पता नहीं कहाँ से एक मृण्पात्र ले आया और गुफा के भीतर जाकर अपने स्वामी की भस्म बटोरने लगा।

इस घटना को जब आज भी सोचता हूँ तो हृदय भर आता है। कालयवन जैसे क्रूर, पापी और निष्ठुर व्यक्ति को ऐसा स्वामीभक्त तथा सहृदय सेवक! मैंने उससे चलते हुए कहा भी—“जब से मैं तुम्हें देख रहा हूँ, तुम्हारे साथ तुम्हारे स्वामी ने कभी मनुष्यों जैसा व्यवहार नहीं किया।”

“जब वह मनुष्य था ही नहीं तब वह मनुष्यों जैसा व्यवहार कैसे करता?”

“पर तुम्हारा व्यवहार तो श्रेष्ठ मनुष्यों जैसा है।”

“क्योंकि मैं मनुष्य हूँ।” उसने बड़े सहजभाव से कहा, “उसने जो किया, उसके साथ गया। अब मेरा धर्म मेरे साथ है।” इतना कहने के बाद वह चुप हो गया। उसकी दोनों आँखें भर आईं।

उस समय तो मैंने उसके आँसुओं के आगे मौन का बाँध बनाया और चुप ही रहा।

कालयवन की भस्म लेकर हम प्रभास की ओर चल पड़े। मार्ग लंबा एवं अनजान, पर एक जाना-बूझा व्यक्ति साथ था, इसलिए भटकने की आशंका नहीं रही।

हमें लगभग दो दिन लग गए प्रभास पहुँचने में। आश्चर्य था कि जिस प्रभास में मैं कई बार आया था, जहाँ गुरु के आश्रम में मैंने अपने जीवन का एक अध्याय बिताया था, जहाँ के चप्पे-चप्पे से मैं परिचित था, अब वहाँ कोई भी मुझे पहचाननेवाला नहीं। वस्तुतः मेरे सिर पर मोर मुकुट नहीं था और मेरी वंशी भी कटि के वस्त्र के भीतर रही। जब मेरी पहचान थी ही नहीं, तब मुझे पहचानता कौन?

इसका सद्यः लाभ तो यही हुआ कि यदि मैं मार्ग में पहचान लिया जाता तो यह दो दिनों का रास्ता मेरे लिए चार दिनों से कम का न होता। इस अन पहचान में भी अपनी पहचान छिपाए हुए मुझे एक सुखद आश्चर्य हो रहा था।

अभी-अभी प्रभात की पहली किरण ने आकाश का स्पर्श किया था। मैंने विधिवत् प्रभासतीर्थ में कालयवन की अस्थि का प्रवाह किया। फिर स्नान कर महाकाल के मंदिर में दर्शन करने गया। उस समय महाकाल की आरती चल रही थी। नगाड़े और डमरू के बीच डिम डमा डम डिम नाद के बीच स्तुति का स्वर बड़ा रोमांचक था। ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर चढ़ते-उतरते प्रकाश में महाकाल की आकृति से लगा जैसे इस विराट् मूर्ति की स्थिर मुसकान अस्थिर होकर मुझसे कह रही है—‘आखिर फिर तुम्हें मेरे पास आना ही पड़ा। यदि तुम अकेले मेरे पास नहीं आए तो क्या हुआ, कालयवन की भस्मी के साथ तो मेरे पास आए।’

‘आपके पास आए बिना कल्याण कहाँ है!’ मेरे मन ने कहा, ‘एक-न-एक दिन तो हर व्यक्ति को आपके यहाँ आना ही पड़ता है। सत्य की यही अनिवार्यता है।’ मूर्ति मुसकराती रही। उस मुसकराहट ने मेरे अधरों को भी छुआ और मैं मुसकराने लगा।

दूर खड़ा एक व्यक्ति, जिसकी दृष्टि निरंतर मेरी ओर थी, अपने साथी से बोला, “इस व्यक्ति की मुसकराहट कृष्ण से मिलती-जुलती है।”

साथी ने मुझे देखा और अपने मित्र से बोला, “तुम भी पागल हुए हो। अब कहाँ है कृष्ण?”

“कहीं भी हो; पर इस व्यक्ति की मुसकराहट कृष्ण जैसी ही लगती है।” पहले व्यक्ति ने कहा।

“लेकिन अब वह धरती पर नहीं है।” उसके साथी ने कहा, “उसे तो कालयवन ने महाकाल को समर्पित कर दिया।”

मेरे मन ने कहा, 'मैं तो स्वयं समर्पित होने को महाकाल के समक्ष खड़ा हूँ।'

इस बीच मेरा साथी उन लोगों के बीच बढ़ना चाहता था; पर मैंने उसे दबाया और मुसकराते हुए उसकी ओर देखा। वह समझ गया और चुपचाप रह गया।

हम लोग सबसे पीछे थे। स्तुति के प्रभावशाली स्वर के साथ हमारे भी अधर हिलते रहे। हम उनके स्वर-में-स्वर तो मिला लेते थे, पर महाकाल की उस विशाल प्रतिमा के साथ ध्यानावस्थित न हो सके; क्योंकि हमारा मन विभाजित था। कभी उस प्रतिमा की ओर और कभी उन दोनों व्यक्तियों की ओर हम देखते रहे।

पर मन की यह विभाजित स्थिति बहुत देर तक न रह सकी। महाकाल की मणिजड़ित उन ज्योतिष आँखों में मेरी दृष्टि समा गई। जब आरती समाप्त हुई तब ध्यान टूटा।

अब लगा, दूर—आगे की पंक्ति में श्वेतकेतु और शैव्या अपने दीर्घ मंगलमय जीवन का आशीर्वाद माँगते हुए महाकाल के समक्ष सिर नीचे किए हुए खड़े हैं। लेकिन दोनों यहाँ कैसे? मैं भीड़ को चीरता उस ओर बढ़ा। शीघ्र ही मुझे पता चला कि मेरी कल्पना धोखा खा गई। श्वेतकेतु और शैव्या वहाँ नहीं थे। वह युगल कोई दूसरा ही था। यथार्थ यह है कि संसार जैसा है वैसा हमें दिखाई नहीं देता, वरन् हम जैसे होते हैं संसार को वैसे ही देखते हैं। महाकाल के इस विशाल मंदिर और उसके तीर्थ के परिसर में आते ही शैव्या और श्वेतकेतु मेरे मन से बेतरह चिपक गए। इसीका परिणाम था कि मेरे मन की आँखें उन्हें भीड़ में देखने लगीं।

अपनी असफलता पर मुझे खीज भी आई। मैं एकदम महाकाल की प्रतिमा के निकट जाकर अचानक लौटने के लिए मुड़ा ही था कि पुजारियों में से एक बोल पड़ा—“अरे, कहाँ जा रहे हैं? प्रसाद नहीं लेंगे!”

फिर मैं यंत्रवत् अँजुली पसारे उसके निकट पहुँच गया। जब मैं प्रसाद लेकर वापस लौटा तो पाया कि मेरा साथी भी नदारद है। मैंने उसकी खोज की; पर वह मंदिर में नहीं मिला।

बाहर आकर देखा तो तीर्थ के किनारे आम्र कुंज के निकट अपने अश्व के पास वह किसीसे बातें कर रहा था। मुझे पास आता देखकर ही वह उस व्यक्ति को छोड़कर मेरी ओर बढ़ा।

“कहाँ चले गए थे?” उसके निकट आते ही मेरे मुँह से निकला।

“गाँव का एक व्यक्ति मिल गया था।”

“तुम्हारा गाँव यहीं है?”

“हाँ, करवीरपुर के मार्ग पर। यहाँ से करीब दो योजन पड़ेगा।”

करवीरपुर का नाम लेते ही शैव्या पुनः मेरे स्मृति पटल पर उभरी; पर उस विषय पर मैं मौन ही रहा। मेरी जिज्ञासा तो उस व्यक्ति से हुई साथी की बातों के प्रति थी।

उसने स्वयं बताया—“मुझे यहाँ देखकर उस व्यक्ति को आश्चर्य हुआ। उसे लगा कि शायद मैं अपनी सेना से भागकर यहाँ आया हूँ। उसने स्वयं पूछा, ‘क्या तुम कालयवन की चाकरी में नहीं हो?’”

“मैंने कहा, ‘नहीं।’ उसे और भी आश्चर्य हुआ। तब मैंने बताया—‘कालयवन ही नहीं रहा, तब उसकी चाकरी कैसी?’”

“तब उसने पूछा, ‘कहाँ गया कालयवन?’”

“मैंने कहा, ‘मारा गया।’ जैसे उसे विश्वास ही न हो। उसे तो वह अमर समझता था।”

“फिर उसने यह नहीं पूछा कि वह कैसे मारा गया?” मैं बोला।

“पूछा तो था, पर इसी बीच में आप दिखाई पड़े और मैं आपके पास चला आया।”

मैंने उसकी पीठ ठोंकी—“तुमने बहुत अच्छा किया; क्योंकि मैं भी यही चाहता हूँ कि उसकी मृत्यु की चर्चा तो हो,

पर लोग यह न जान पाएँ कि वह कैसे मारा गया!”

“क्यों?”

“क्योंकि इस समय की राजनीति यही चाहती है कि उसकी मृत्यु और मेरा जीवन दोनों रहस्य बने रहें।”

□

इच्छा तो थी कि करवीरपुर जाऊँ, क्योंकि मैंने सुना था कि शैव्या अब वहीं आ गई है। उससे कुंडिनपुर का कुछ समाचार मिलता। रुक्मिणी के प्रति जिज्ञासा थी। वह बेचारी किस स्थिति में होगी? पर मन ने कहा कि जिस रहस्य के कच्छप पीठ के नीचे तुमने स्वयं को छिपाया है, वह बड़ी सरलता से उघड़ जाएगा। अतएव मैंने कुशस्थली की सीधी राह पकड़ी और सोमनाथ के मार्ग से चला। यह मार्ग मेरा पहचाना तो नहीं रहा, पर जैसाकि आप जानते हैं, यह मार्ग भैया के प्रभाव-क्षेत्र का था।

दो-तीन दिनों तक चलने के बाद ही मुझे परिचित लोग दिखाई पड़ने लगे। पर आश्चर्य था, उनमें से किसीने मुझे पहचाना नहीं। वे बड़े दुःखी और शोकग्रस्त दिखाई पड़े। एक अप्रत्याशित संताप ने उनके अधरों की मुसकराहट सोख ली थी। उनकी सूखी और उदास आकृतियों पर एक स्थायी वेदना ठहरी हुई थी।

मेरे आने के पहले ही जाने कितने पंखों पर उड़ती यह अफवाह भी यहाँ तक चली आई थी कि कालयवन की मृत्यु के साथ-साथ कृष्ण ने भी यह धरती छोड़ दी है। जब कृष्ण ही नहीं तो संसार में इन लोगों के लिए बचा ही क्या था! इधर मैंने भी अपनी पहचान छिपाने के लिए कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी थी। पीतांबर का उष्णीष (साफा) बाँधकर मैंने अधोभाग में नीलांबर पहन लिया था और कंधे पर एक श्वेत वस्त्र का उत्तरीय भी रख लिया। सोमनाथ का मंदिर भी अब कुछ ही दूर रह गया था। रक्ताक्ष ने बताया—“एक पड़ाव के बाद ही हम लोग संध्या तक सोमनाथ पहुँच चलेंगे। यहीं से मुझे एक विशेष बात दिखाई पड़ने लगी। यहाँ सामान्यतया सिर पर उष्णीष बाँधने की प्रथा थी। पर सभी के उष्णीष या तो श्याम रंग के थे या श्वेत रंग के, जिनपर काले रंग की बूटियाँ थीं। मैंने तो किसीसे इस विषय में कुछ नहीं पूछा, पर एक व्यक्ति मुझसे स्वयं टकरा गया।

“किधर से आ रहे हो?” उसने बड़ी रुक्षता से पूछा।

मैंने भी वैसे ही उदास स्वर में कहा, “मथुरा से।”

मथुरा का नाम सुनते ही उसने हम दोनों को बड़े ध्यान से देखा—“मथुरा से तो बहुत से लोग इधर आए हैं। क्या आप लोग भी उन्हींके साथ हैं?”

“था तो उन्हींके साथ, पर मार्ग भटक गया और वे छूट गए।”

“पर वे लोग तो बहुत पहले आ गए हैं।”

“हाँ, मैंने बताया न कि बीच-बीच में मार्ग के सहज और भोले ग्रामीणों का आतिथ्य हमें रोकता रहा; और पहुँचने की भी कोई जल्दी नहीं थी, क्योंकि पहुँचनेवाले तो पहुँच ही गए थे।”

“शायद इसीलिए आपको नहीं मालूम है।”

“क्या?”

“यही कि वासुदेव कृष्ण ने अब धरती छोड़ दी है।” इतना कहते-कहते उसका स्वर भीग गया।

अब मैंने रक्ताक्ष की ओर देखा। उसके खुलने का मुझे डर था। मैंने उसे नितांत गंभीर रहने का संकेत किया। उसने भी अपनी आँखों पर उदासी ओढ़ ली।

“तुम तो ऐसे सहजभाव से उदास खड़े हो जैसे वासुदेव कृष्ण को जानते ही न हो।” उस व्यक्ति ने कहा।

“उन्हें जानता तो हूँ।” मैंने कहा, “पर यह नहीं जानता हूँ कि अब वह नहीं रहे।” मैंने अपनी मुद्रा चिंतन में डुबो दी। मैंने सोचा कि मेरा न होना भी मेरी राजनीति के लिए खतरनाक हो जाएगा। तो क्यों नहीं मैं अपने अस्तित्व को

रहने और न रहने के बीच रखूँ।

“पर विश्वास नहीं होता कि अब वे नहीं रहे।” मैंने कहा।

अब उसने एकदम मेरी ओर देखा। उसे लगा, इस घनघोर अँधेरे में भी दीप कहीं-न-कहीं जल रहा है।

“सुना है, कालयवन से उनका घनघोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में वे भी काफी घायल हो गए थे। कालयवन का वध करने के बाद वे भी श्लथ होकर गिर पड़े और यह कहते हुए अपना प्राण त्याग दिया कि अब मेरा काम पूरा हुआ।”

इस बार मैंने फिर रक्ताक्ष की ओर देखा—मानो मेरी दृष्टि उससे कह रही हो, ‘देखा, अफवाहें अपनी कहानी खुद गढ़ लेती हैं।’

“पर मैंने सुना है कि वासुदेव कृष्ण कहा करते थे कि जब तक धरती पर अधर्म रहेगा, अन्याय रहेगा, तब तक मेरा काम पूरा नहीं होगा।” मैंने कहा।

“वे कहते अवश्य रहे हैं; पर कभी ऐसा हो सकता है कि धरती रहे और अधर्म न रहे, अन्याय न रहे। अन्याय की उपस्थिति ही न्याय की अवधारणा को जन्म देती है। धर्म का विचार अधर्म के अंधकार के गर्भ से किरण की तरह फूटता है।...और ऐसी हस्तियाँ (कृष्ण जैसी) इस अंधकार और अन्याय को अधिक-से-अधिक मिटाने आती हैं, उन्हें समाप्त करने नहीं। यदि वे समाप्त हो जाएँगी तो इस मृत्युलोक का प्रयोजन क्या होगा?”

मैं तो उस व्यक्ति के इस सहज ज्ञान पर अवाक् रह गया। देखने में नितांत भोलाभाला ग्रामीण ज्ञात हो रहा था। व्यक्तित्व में आश्रम की गंध तक नहीं; पर उसके ज्ञान के समक्ष मुझे दाँतों तले उँगली दबानी पड़ी। जीवन को निश्छलता और सहजता से जीने में दृष्टि इतनी पवित्र और पैनी हो जाती है कि बड़े-से-बड़ा जीवन-दर्शन भी पारदर्शी लगता है। व्यक्ति उसके आर-पार देख सकता है। मैंने अनुभव किया कि इस व्यक्ति के पास न तो छल है, न प्रपंच और न छिपाव; न दुराव, न नीति का आडंबर है और न राजनीति के दाँव-पेंच। शायद इसीलिए मोहग्रस्त अर्जुन को युद्धक्षेत्र में इतना लंबा प्रवचन देनेवाली बौद्धिक अस्मिता इस सहज व्यक्ति के समक्ष धराशायी हो गई। मैं बहुत देर तक मौन खड़ा रहा।

“क्या सोचने लगे?” उसने पूछा।

“सोच रहा हूँ कि क्यों नहीं आपकी बात मान लूँ!...पर पता नहीं क्यों, मेरा मन नहीं मानता।”

“भगवान् करे, वह न माने। भगवान् करे, मेरी बात झूठी निकले।” उसने कहा, “आप मेरी एक बात मानो। अपनी यह पीतवर्णी पगड़ी हटा दो और हम लोगों के दुःख में सम्मिलित हो जाओ।

उसका कहना मानने के सिवा अब मेरे पास कोई चारा नहीं था। उसने ही अपने गाँव से काले वस्त्र की व्यवस्था की और मैंने सिर पर बाँधे पीतांबर की जगह उसे बाँध लिया।

“अब आप पीतांबर का क्या करेंगे?” उसने पूछा।

“कृष्ण मेरे लिए मरे नहीं हैं।” मैंने कहा, “अब मैं इस पीतांबर को हृदय से लगाकर उनकी स्मृति को सुरक्षित रखूँगा।”

अब उसने मुझे वासुदेव कृष्ण का भक्त समझा और बोला, “जब तक आप जैसे उनके भक्त रहेंगे तब तक कृष्ण अवश्य इस धरती पर रहेंगे।”

हम लोग उसे छोड़कर आगे बढ़े। रक्ताक्ष बोल पड़ा—“आपने रहस्य की रेखाओं से स्वयं को घेर लिया है।”

“कभी-कभी ऐसी स्थिति में स्वयं को डालना चाहिए।” मैंने मुसकराते हुए कहा, “इससे वास्तविकता को बड़े निकट से देखने का अवसर मिलता है। आज मैं पहली बार अनुभव कर रहा हूँ कि लोग मेरे न रहने पर मेरे बारे में

क्या सोचते हैं! मेरे विचार से तो ऐसी स्थितियाँ शायद ही आती हैं, जब समुद्र स्वयं किनारे पर खड़ा होकर अपनी लहरों को देखता है।”

रक्ताक्ष कुछ बोला नहीं। वह मेरे साथ चलता हुआ गंभीर रूप से मौन हो गया। उसका मन शायद मेरे व्यक्तित्व की जटिलता में उलझ गया।

“यदि यही समाचार जरासंध सुनेगा तो क्या सोचेगा?” मैंने स्वयं से ही प्रश्न किया और उसके उत्तर के लिए रक्ताक्ष की ओर देखने लगा।

“सोचेगा कि चक्रवर्ती होने की जययात्रा की बाधाएँ स्वयं नष्ट हो गईं।” रक्ताक्ष ने कहा।

“वह शंकाकुल मन इतनी जल्दी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचेगा।” मैंने कहा, “वह इनमें से दोनों की मृत्यु पर विश्वास नहीं करेगा, जब तक वह अपनी आँखों से हमारे शव न देख लेगा।”

“पर अब तो उसकी संभावना भी नहीं है।”

मुझे हँसी आ गई—“तब तक तो वह अस्ति-नास्ति के उलझन में फँसा रहेगा।” मैंने कहा, “इसीलिए मेरी इच्छा करवीरपुर की ओर चलने की थी। पर अब तो सोमनाथ आ ही गया।”

संध्या उतर आई थी। सोमनाथ मंदिर का कलश अर्ध योजन दूर से ही दिखाई देने लगा। डूबते सूर्य की किरणें जैसे उस कलश पर एकत्र हो गई हों और आकाश में एक दूसरा सूर्य ठहर गया हो।

ऐसा संपन्न नगर और इतना उदास! मैंने कभी सोचा नहीं था। पहली बार मैं सोमनाथ नहीं आया था। मेरे जीवन की यह दूसरी या तीसरी यात्रा थी। नगर के सारे मार्ग और वीथियाँ मेरी जानी-पहचानी थीं; पर सभी मुझे अनजान राही की तरह घूर रही थीं; जैसे कभी मेरा इनसे वास्ता ही न पड़ा हो।

वस्तुतः अब मेरी पहचान ही मेरे साथ नहीं थी, वरन् यह अनुभव होने लगा कि जीवन की पहचान खो देना भी मृत्यु की एक परिभाषा हो सकती है, भले ही वह आधी-अधूरी ही क्यों न हो।

जब मैं सोमनाथ पहुँचा तब रात हो चली थी। मंदिर की आरती का स्वर भी खो चुका था। विचार हुआ कि रात कहीं विश्राम किया जाए। नगर के कई श्रेष्ठी मेरे परिचित थे। वहाँ जाया जा सकता था; पर मैंने उचित नहीं समझा। मेरे न होने की उदासी में जो नगर डूबा रहा, उसके खिलखिला उठने का भय था। रक्ताक्ष के भाई की एक लड़की भी सोमनाथ में ब्याही थी। उसने वहीं चलने का प्रस्ताव रखा। मैंने उसे भी ठुकरा दिया और उस विशाल शाला में शरण ली, जहाँ यात्रियों के लिए एक-दो रात्रि बिताने की व्यवस्था थी।

शाला में पहुँचते ही प्रधान व्यवस्थापक के कक्ष में लाया गया। ठहरने का स्थान देने के पूर्व वहाँ आवश्यक जानकारी प्राप्त करने की औपचारिकता बरती गई।

“आप कहाँ से आए हैं? कहाँ जाएँगे?” सामान्य प्रश्न मुझसे फिर दुहराए गए।

“मथुरा से आ रहा हूँ। द्वारका जाऊँगा।” मेरा वही सधा-सधाया उत्तर था।

उसने मुझे गौर से देखा।

“मथुरा से आनेवाले तो कब के आ चुके हैं। फिर भी द्वारका जानेवालों की काफी भीड़ है।” वह बोलता गया—“कृष्ण के दिवंगत होने के बाद शोक की एक लहर ही जैसे द्वारका जा रही है।”

“तब उसमें कई जगह के लोग होंगे?” मैंने कहा।

“हाँ, आसपास के लोगों की तो गिनती नहीं, मगध के लोगों का एक समूह भी दो दिनों से पड़ा है।”

मेरे कानों पर जूँ रेंगने लगी। मैंने रक्ताक्ष की ओर एक तिरछी नजर डाली—मानो उससे कह रहा होऊँ, ‘देखा, सारे आर्यावर्त का राजनीतिक समुद्र आड़ोलित है।’”

“यदि संभव हो तो उन्हींके आसपास का कोई कक्ष हमें आवंटित कर दिया जाए।” मैंने व्यवस्थापक महोदय से आग्रह किया।

“क्यों?”

“मैं भी दूर का ही हूँ और वे भी कल द्वारका जाएँगे ही, मैं उन्हींके साथ चला जाऊँगा।”

वह मुसकराया—“मथुरा और मगध। आज आर्यावर्त की सारी राजनीति का केंद्रबिंदु इन्हीं दो ‘म’ के बीच है।”

इतना कहने के बाद उसने शाला के कक्षों की स्थिति का पता लगवाया। सूचना मिली कि कोई कक्ष पूरा खाली नहीं है। हाँ, एक बड़े से कक्ष को फूस द्वारा विभाजित कर दिया गया है। उसीका एक भाग खाली मिल सकता है। मैंने स्वीकार कर लिया; क्योंकि एक ही रात तो बितानी थी। सोमनाथ के मौसम में क्रूरता नहीं थी। पश्चिम से आनेवाली समुद्री हवा के झोंकों में मादक गुदगुदी पैदा कर देनेवाली एक उष्ण शीतलता थी।

हमारे घोड़े अश्वशाला में बँधवा दिए गए और प्रतिहारी हमें उस कक्ष की ओर ले चले।

मार्ग में ही मैंने रक्ताक्ष से कुछ संकेत से और कुछ शब्दों के माध्यम से कान में ही धीरे से कहा, “देखो, हम लोग विरोधियों के शिविर में चल रहे हैं। एक शब्द भी मत बोलना। केवल उन्हें सुनने की चेष्टा करना। यद्यपि सुनते हुए भी मौन रहना एक तपस्या है, पर आज रात हमें यह तपस्या करनी ही पड़ेगी।”

जब हम लोग उस कक्ष में पहुँचे तो वहाँ अँधेरा था। इस कक्ष के विभाजित दूसरे भाग में एक दीप अवश्य जल रहा था। छप्पर से छनकर उसका प्रकाश कई असमान टुकड़ों में छनकर अंधकार की अजगर-सी पड़ी देह पर सफेद धब्बे-सा उभर रहा था।

मैंने अनुभव किया कि बगल का कक्ष इस समय खाली है। लगता है, लोग किसी कार्यवश कहीं गए हैं।

“यदि बहुत आवश्यकता हो तो बगल के कक्ष से दीप लाकर यहाँ रख दूँ।” परिचर बोला, “यों थोड़ी देर में आपके लिए दीप की व्यवस्था कर दी जाएगी।”

“नहीं-नहीं, कोई जल्दी नहीं है।” मैंने कहा, “और इतने प्रकाश से भी मेरा काम चल जाएगा। केवल एक रात तो बिताने की बात है। जहाँ आँख लगी कि सवेरा हुआ।”

यों मैं इस अँधेरे का ही पूरा लाभ उठाने के पक्ष में रहा; पर थोड़ी देर के बाद ही एक दीप और पानी का एक घड़ा लेकर दो प्रतिहारी आ गए।

“आपके भोजन की क्या व्यवस्था होगी?” उन्होंने पूछा।

“कुछ नहीं। हम भोजन कर चुके हैं।” और वहीं कुशास्तरण पर हम दोनों ढुलक गए। थोड़ी देर के बाद लगा कि बगल के कक्ष में दो व्यक्तियों ने प्रवेश किया; क्योंकि मात्र उनकी बातें ही सुनाई नहीं पड़ रही थीं वरन् उनके चलने-फिरने और उठने-बैठने की आहट भी स्पष्ट थी। यही तो छप्पर के विभाजन की अच्छाई भी है और कमी भी।

“आभास तो दूर, उसके जीवित रहने की कहीं गंध भी नहीं लगी।” उनमें से एक बोला।

“लगता है, अब तू मनुष्य नहीं रह गया।” दूसरा बोला।

“क्यों?”

“क्योंकि अब तू गंधजीवी हो गया है।”

“तो तू मुझे श्वान समझता है!” दोनों हँस पड़े। “यों हमारा स्वामी हम लोगों को श्वान से अधिक नहीं समझता। बहुधा कहा करता है कि तुमसे अधिक स्वाभिमानी तो कुत्ते होते हैं।”

दूसरे ने कहा, “हमारी स्वामीभक्ति पर उसकी सदा शंका बनी रहेगी।”

“शंकाकुलता तो उसके स्वभाव का एक अंग बन गया है।” पहला बोला, “अब यही देख लीजिए। चारों ओर से सूचना मिल रही है कि कालयवन के साथ ही कृष्ण भी मारा गया, पर उसे विश्वास ही नहीं है। हमारे जैसे कितने लोगों को उसने इस समाचार की प्रामाणिकता के निमित्त दौड़ा दिया। एक निरर्थक सी भाग-दौड़।”

“हम लोगों के लिए निरर्थक है, पर वह स्वप्न में भी कृष्ण को ही देखता होगा।” दूसरा बोला।

“जरासंध तो कृष्ण के पीछे पड़ गया है; पर कृष्ण का व्यवहार उसके प्रति ऐसा नहीं है।” पहले ने कहा।

“इसे तुम कैसे कह सकते हो?” दूसरे ने कहा, “कृष्ण को समझना हमारे-तुम्हारे वश का नहीं।”

इतना सुनते ही मेरे अधरों पर हँसी उभर आई। मैंने रक्ताक्ष को देखा और अधरों पर अँगुली रखते हुए उसे चुप रहने का संकेत दिया।

मैंने सोचा, संयोग अच्छा है। मुझे अपने बगल के कक्ष में ही अभीष्ट सूचनाओं का केंद्र मिल गया। क्यों नहीं इसका पूरा लाभ उठाया जाए। मैंने उनका एक-एक शब्द अपने कानों से सोखना आरंभ किया।

लगता है, ये खा-पीकर आए थे और सोने का उपक्रम कर रहे थे। उन्होंने परिचर से कहकर एक आस्तरण और मँगाया। इस बीच वे बातें करते रहे—“देखो, एक बात ध्यान रखो। हमें अपनी बातों के बीच में जरासंध का नाम नहीं लेना चाहिए और हो सके तो कृष्ण का भी नहीं।”

“क्यों?”

“इससे हमारी गोपनीयता भंग हो जाएगी और इस यात्रा का सारा उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा।”

“आप कहते तो ठीक हैं, पर मुझे लगता है कि यह यात्रा ही निरर्थक है।”

“क्यों?”

“क्योंकि यदि वह जीवित होता तो क्या वह छिपा रहता?” उसने और जोर देकर कहा, “और क्या समझते हो, उसका व्यक्तित्व कहीं छिपने योग्य है? फिर छिपने में उसका लाभ क्या है? इस समय मथुरा और द्वारका में ही नहीं वरन् संपूर्ण आर्यावर्त में शोक की जो लहर छाई है, उसमें उसके जीवन की कोई संभावना दिखाई नहीं देती।”

“मुझे भी ऐसा ही लगता है और विश्वास करो, हमारे स्वामी को भी ऐसा ही लगता होगा।”

“उसकी शंका तो ज्यों-की-त्यों बनी है। ऐसा तुम कैसे कह सकते हो?”

“वह विश्वास और अविश्वास की स्थिति में है। एक ओर तो उसे विश्वास नहीं हो रहा है, दूसरी ओर उसने अपनी सारी योजना बदल दी है।...अब उसने अपनी पौत्री अजन्वी का विवाह रुक्मी से करने की बात भी समाप्त कर दी है। आपसी संबंधों की जिस घेरेबंदी में वह मथुरा को जकड़ना चाहता था, उसकी सारी योजना पर कार्य रोक दिया गया है।”

“इसका तात्पर्य है कि उसे विश्वास हो चला है कि उसका मुख्य शत्रु अब इस धरती पर नहीं है।”

“लगता तो ऐसा ही है।”

“तब हम लोगों को इतनी दूर भेजने की क्या सार्थकता है?”

“इसमें कोई सार्थकता तो मुझे भी दिखाई नहीं देती।” दूसरा बोला, “हाँ, दूध से जले को मट्ठे को फूँककर पीने जैसा प्रयत्न अवश्य दिखाई देता है।” दोनों हँस पड़े पर बोलनेवाला बोलता ही रहा—“कभी-कभी साँप के मर जाने पर भी लोग उसके पास नहीं जाते, वरन् किसी माध्यम से पता लगाते हैं कि अभी वह पूरा मरा है या नहीं।”

इतना सुनते-सुनते रक्ताक्ष कुछ अधिक ही उत्साह में आया और अचानक बोल पड़ा—“और ऐसे में कहीं सर्प सचमुच फुफकारता हुआ फन खड़ा करके आक्रमण कर बैठे तो?”

रक्ताक्ष की आवाज इतनी तेज थी कि वह निश्चित ही पार्श्व के कक्ष में सुनाई पड़ी होगी; क्योंकि उन दोनों की

बातें अचानक बंद हो गई।

मुझे यह स्थिति भारी पड़ी। मैंने रक्ताक्ष की ओर एक तीखी दृष्टि से देखा। उसकी आँखों में अपनी भूल की स्वीकृति और पश्चात्ताप का संकोच था। मैंने तुरंत स्थिति को सँभालने के लिए एक नाटक रचा और रक्ताक्ष को झकझोरते हुए बोला, “साँप, साँप, साँप!”

“कहाँ है साँप?” रक्ताक्ष कुछ समझ नहीं पाया और सकते में आ गया।

मैं बोलता जा रहा था—“लगता है, तुमने कोई सपना देखा है। अभी-अभी तो सो गए थे।” मैंने उसका हाथ दबाया।

अब वह समझ गया—“हाँ, सपना ही देखा है।”

रक्ताक्ष अब मेरे नाटक का पात्र बना।

“सचमुच मैं स्वप्न देख रहा था। मैंने स्वप्न में देखा कि एक मरा हुआ साँप जी उठा है और मेरी ओर आ रहा है।”

“अद्भुत हो तुम भी!” मैंने कहा, “कहीं मरा हुआ साँप जी सकता है!” और मैं हँसने लगा। मुझे पार्श्व के कक्ष से भी हँसी सुनाई पड़ी।

और मैंने अपने नाटक पर एक संवाद और जड़ा—“बड़े विचित्र हो तुम भी। अच्छा हुआ कि तुम्हारा साँप अभी ही जी उठा। यदि वह मध्य रात्रि में जी उठता तब तो पूरी शाला में जाग हो जाती।”

पार्श्व के कक्ष से आती हँसी इस बार और भी तेज थी।

मैं रक्ताक्ष को चुपचाप सोने को कहकर मौन हो गया।

कुछ देर तक एक गंभीर शांति रही। फिर पार्श्व से आवाज आने लगी—“लगता है, बगल के कक्ष में भी अतिथि आ गए हैं। पर हमारे संदर्भ से उन्हें क्या लेना-देना है!”

“लगता तो यही है।” पहला बोला, “दोनों ने काले उष्णीष बाँध रखे हैं। मालूम होता है कि शोक की विराट् धारा में बँधे चले जा रहे हैं।”

“अच्छा, एक बात बताओ, द्वारका पहुँचने पर सबसे पहले हम कहाँ चलेंगे?”

“द्वारका पहुँचते ही हमें वस्तुस्थिति का पता चलने लगेगा।” दूसरा बोला, “और यदि नहीं चला तो हम सीधे महाराज वसुदेव के आवास पर पहुँचेंगे।”

“वसुदेव का आवास! अरे राजप्रासाद कहो, राजप्रासाद! वह किसी भवन में थोड़े ही होंगे। अरे, वह तो उनके पुत्र का स्थापित राज्य है। वहाँ वह सीधे राजभवन की शोभा बढ़ा रहे होंगे।”

“हाँ, तो वही समझो। राजप्रासाद के द्वार पर ही स्थिति का भान हो जाएगा।”

“यह तो ठीक है, पर यदि हम मथुरिया सैनिकों द्वारा पहचान लिये गए तब क्या होगा?...यदि उन्होंने पूछा कि यहाँ क्यों आए हो, तो क्या उत्तर दिया जाएगा?” और फिर शांति का गंभीर अंतराल।

“कहा जाएगा कि हम कुंडिनपुर से आए हैं—राजकुमार रुक्मी का संदेश लेकर। अक्षय तृतीया को रुक्मिणी का स्वयंवर है। राजकुमार ने उस दिन कृष्ण और बलराम को पधारने का संदेश भेजा है।”

“उनका कोई लिखित पत्र भी तो हमारे पास नहीं है।”

“तो क्या हुआ? हम कहेंगे कि पहले आप लोगों को न बुलाने का निश्चय किया गया था। फिर सोचा गया कि ऐसा करना बड़ी भूल होगी। अतएव हम लोगों को अपने मौखिक आदेश के साथ तुरंत भेजा गया है।”

“और कोई जरूरी नहीं कि इन सारी बातों की आवश्यकता ही पड़े। यदि कृष्ण महाकाल को प्रिय हो गया होगा तो स्थिति ही दूसरी होगी।”

“खैर, अब तो ओखली में सिर है ही, जैसा पड़ेगा, देखा जाएगा।” लगता है, इसके बाद दोनों सो गए। रक्ताक्ष की भी नाक बोलने लगी।

मैंने भी सोने की चेष्टा में करवट बदली; पर अचानक एक विचार आ धमका। ‘यदि यह सत्य है कि जरासंध ने अपनी पौत्री का विवाह रुक्मी से करने का विचार त्याग दिया है, तब रुक्मिणी की स्थिति में परिवर्तन आ जाना चाहिए। सुव्रता की तो समस्या ही हल हो गई। अब वह पति से पुराने जैसा संबंध बनाएगी। रुक्मिणी से फिर उसकी दूरी हो जाएगी। अब उस बेचारी को शैव्या का ही सहारा रह गया होगा।

‘क्यों, ऐसा नहीं हो सकता कि जरासंध रुक्मिणी के स्वयंवर में रुचि ही न ले। आखिर वह किसके लिए इतनी झंझट उठाएगा? अब न उसका विरोधी मैं रहा और न उसके चक्रवर्तित्व को चुनौती देनेवाला कालयवन। मथुरा में भी उसका मित्र बृहद्बल ही है। जब प्रतिरोध ही नहीं तो आक्रामकता कैसी?

‘कुछ भी हो, वह मेरी मृत्यु का विश्वास न कर पाएगा। बात उसके गले के नीचे उतरती न होगी। फिर भी द्विविधा में तो पड़ ही गया होगा। द्विविधा स्वयं प्रयत्न के बंधन ढीले कर देती है। पर वह शिशुपाल के लिए कुछ भी कर सकता है। उसे वह रुक्मिणी के विवाह का वचन दे चुका है। निश्चित ही वह इसके लिए कुछ उठा नहीं रखेगा। अब अक्षय्य तृतीया को कितने दिन ही रह गए हैं। किंतु जब हम लोग मथुरा से चले थे तब कोई तिथि निश्चित न थी। तिथि तो जाने दीजिए, रुक्मिणी के विवाह की चर्चा तक न थी। ऐसा तो नहीं कि मेरी मृत्यु का समाचार मिलने के बाद उसने तुरंत तिथि निश्चित की हो।’

मैं इन्हीं उलटे-सीधे विचारों में उलझा रहा और रात सरकती चली गई। कब आँख लगी, पता नहीं। पर जब नींद खुली तब ब्राह्म मुहूर्त बीत रहा था। सोमनाथ की आरती के स्वर, घंटे और शंखनाद।

पर पार्श्व के कक्ष में अँधेरा था। न स्वर का दीप था और न दीप का स्वर। लगता है, हमारे पड़ोसी कूच कर गए थे।

हम लोगों ने उठकर जल्दी से तैयारी की; क्योंकि आरती के समाप्त होने के पूर्व ही हमें मंदिर पहुँचना था। एक तो आरती के दर्शन का लोभ, दूसरे ऐसे जन समुदाय से मिलने की इच्छा, जिसमें लगभग हर परदेशी उपस्थित होना चाहेगा। जो यहाँ आया है, वह आरती का दर्शन कैसे छोड़ सकता है!

“हो सकता है, हमारे पड़ोसी भी वहाँ मिल जाएँ।” रक्ताक्ष ने कहा और मैंने उसका समर्थन किया।

पर हमें इनके अतिरिक्त भी और लोगों से अनजाने तथा बिना पहचान के मिलना था; क्योंकि यह हमारी राजनीति की आवश्यकता थी।

जब हम मंदिर में पहुँचे तब आरती अपने अंतिम चरण में थी। स्वरों के आरोह-अवरोह की तीव्रता अपनी पराकाष्ठा पर थी; पर हर स्वर जैसे दबा-दबा-सा था। हर ओर एक जैसी उदासी थी, जिसने स्वतः अनुशासन का रूप ले लिया। जो जहाँ खड़ा था, वैसा ही एक बोलती मूर्ति की तरह स्तुति करता रहा।...और आरती समाप्त हो जाने के बाद दीप की लौ जब चारों ओर जनता के बीच घुमाई जाने लगी, तब भी कोई अपने स्थान से जरा भी हिला-डुला नहीं। यहाँ तक कि आपस में किसी प्रकार की फुसफुसाहट भी नहीं उभरी।

हम लोग भी सबसे पीछे जाकर चुपचाप खड़े हो गए थे। आरती का दीप लौट गया और अब प्रसाद बँटने की बारी थी। मैंने दूर से देखा, कुछ लोग रजत पात्रों में कुछ लेकर प्रधान पुजारी के आशीर्वाद के साथ ही नटराज की उस विशाल प्रतिमा के समक्ष सिर झुकाने के बाद भक्तों की भीड़ की ओर चले। प्रसाद बँटने लगा।

मेरे पास आनेवाले व्यक्ति ने रजत पात्र से निकालकर मात्र तुलसीजल मेरी बद्ध अँजुली में डाल दिया।

“यह क्या?” मैं उसका मुँह देखता रह गया।

पर न मैं कुछ बोला और न वही। चुपचाप आगे बढ़ गया। मैंने तुलसीजल को मस्तक से लगाते हुए उसे मुँह में डाल लिया। तब तक दूसरा पुजारी पुनः मेरी ओर से गुजरा। उसके रजत पात्र में भी वही तुलसीजल। मैंने उसे रोकते हुए धीरे से पूछा, “क्या आज कुछ और भोग नहीं लगा है?”

“नहीं।”

“क्यों?” मैंने कहा, “प्रातः भोग में तो यहाँ मक्खन और मिस्री लगाया जाता रहा है।”

“हाँ, लगाया जाता रहा है; पर जब से कृष्ण के स्वर्गारोहण का समाचार मिला है, मक्खन-मिस्री का भोग बंद कर दिया गया।” इतना कहते-कहते उसका कंठ भर आया। वह आगे बढ़ने लगा।

मैंने उसे रोकने की चेष्टा की और पूछा, “कब तक ऐसा चलता रहेगा?”

वह एकदम झुँझला उठा—“जाकर आप प्रधान पुजारी से पूछिए। एक ओर देश का इतना बड़ा व्यक्ति उठ गया और आपको प्रसाद की पड़ी है!”

रक्ताक्ष ने बड़ी गंभीरता से मुझे देखा और मैंने उस व्यक्ति को—मुझे दुत्कारकर भीड़ को चीरता चला जा रहा था।

□

अब हम द्वारका के मार्ग पर थे। एक स्थान पर मध्याह्न भोजन कर संक्षिप्त विश्राम किया गया। यह स्थान भी एक यात्रीशाला (सराय) थी। उन दिनों सोमनाथ जहाँ धार्मिक दृष्टि से आकर्षण का केंद्र रहा, वहाँ उसका व्यापारिक महत्त्व भी कम नहीं था। आर्यावर्त के पश्चिम का सारे समुद्री व्यापार इसी नगर के माध्यम से होता था। यहाँ के मंदिर की तरह यहाँ के श्रेष्ठी भी संपन्न थे। मंदिर के विषय में लोगों की सामान्य धारणा थी कि मंदिर की विशालता, भव्यता और व्याप्ति का परिक्षेत्र जो है, वह तो है ही, स्वयं नटराज की विराट् प्रतिमा बहुमूल्य रत्नों से भरी है। शायद इसीलिए जनसाधारण में सोमनाथ का नाम रत्नेश्वर महादेव भी था। कहते हैं कि शिवरात्रि के अवसर पर मध्य रात्रि के बाद मूर्ति के भीतर रत्नों से भरा एक कटोरा उड़ेल दिया जाता था। रत्न किधर डाले जाते थे और कहाँ जाते थे, यह रहस्य प्रधान पुरोहित के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता था; क्योंकि मध्य रात्रि के बाद एक घड़ी के लिए मंदिर का पट सबके लिए बंद हो जाता था और इसी बीच यह क्रिया संपन्न की जाती थी।

ऐसी संपन्न नगरी में ही नहीं वरन् उसके आसपास भी कई यात्रीशालाएँ थीं। उन्हींमें से एक में मैं ठहरा था।

मैं चलने ही वाला था। हमें द्वारका तक पहुँचने में अभी जलयान से यात्रा करनी थी। एक अद्भुत रोमांच का अनुभव कर रहा था; क्योंकि अपनी ही बनवाई नगरी को अपनी आँखों से देखने पहली बार जा रहा था। अचानक बाहर कोलाहल सुनाई पड़ा। कुछ रथों की घरघराहट और कुछ घोड़ों के टापों की समवेत ध्वनि के बीच भीड़ ‘हटो-बढ़ो’ की अवाज भय के साथ आशंका उत्पन्न कर रही थी। शाला के सभी यात्री वातायनों से झाँकने लगे। मैंने भी एक गवाक्ष से देखा।

“अरे! यह तो बलराम भैया का रथ है। उसपर उद्धव भी बैठा है। वह जो आगे तेज घोड़े पर निकल गया, शायद शंकु था। साथ में काफी सैनिक हैं। अब यह सात्यकि का रथ भी दिखाई देने लगा है। अवश्य कोई बड़ी बात हो गई है। नहीं तो इस सैनिक अभियान की आवश्यकता ही क्या थी!”

ये सभी जाने-पहचाने थे, अपने थे। थोड़ी देर बाद एक और जानी-पहचानी आकृति दिखाई पड़ी। यह श्वेतकेतु था; पर इसे तो कुंडिनपुर में होना चाहिए। इस समय यहाँ कैसे? मैं भूल तो नहीं कर रहा हूँ। मैंने उसे पुनः ध्यान से देखा। अब उसकी केवल पीठ दिखाई दे रही थी। फिर भी यह निश्चित था कि वह श्वेतकेतु ही है। फिर, यह इस समय यहाँ कैसे? मथुरा पर कोई आपत्ति तो नहीं आई है?

मेरी जिज्ञासा पराकाष्ठा पर थी और उधर श्वेतकेतु भी मेरे दृष्टिपथ से निकलता जान पड़ा। मैंने शीघ्र ही रक्ताक्ष

से कहा, “उस व्यक्ति को देख रहे हो न? लाल उष्णीषवाला व्यक्ति, जो नीले घोड़े पर सवार बाईं ओर से चला जा रहा है? उसे अभी मेरे पास बुला लाओ। पर हाँ, मेरा परिचय उसे बिल्कुल मत बताना।”

रक्ताक्ष चल पड़ा—“यदि वह मुझसे पूछेगा कि कौन बुला रहा है, तब क्या कहूँगा?”

“कहना, एक व्यक्ति आपसे मिलना चाहते हैं?”

“इतना कहने पर वह यहाँ चला आएगा?” रक्ताक्ष ने शंका की—“यदि नहीं आया तो क्या कहूँगा?”

“कहना कि वे कुंडिनपुर से आए हैं और यहीं यात्रीशाला में ठहरे हैं।” मैंने कहा। मैं उसे शीघ्रातिशीघ्र भेजना चाहता था; क्योंकि मुझे भय था कि वह निकल न जाए। “जल्दी जाओ। विलंब मत करो। अपने अश्व से भागो। उसका पीछा करो। कुंडिनपुर का नाम सुनते ही वह तुम्हारे साथ हो लेगा।”

रक्ताक्ष तुरंत चला गया। मैं गवाक्ष पर अब भी खड़ा था। सेनाएँ, मेरे जाने-पहचाने सभी मेरी आँखों के सामने से निकलते जा रहे थे। सबकी आकृतियों में उदासी तो थी ही, पर अप्रत्याशित आ जानेवाली आशंकाओं की पूर्व सूचना भी थी। कितना रोमांचक था मेरे लिए—मानो नदी स्वयं अपने किनारे खड़ी होकर अपनी धारा को देख रही हो; पर न किसीसे मिलने की स्थिति में थी और न बोल पाने की।

अचानक यात्रीशाला के मुख्य द्वार की ओर मेरी दृष्टि गई। मैंने देखा कि श्वेतकेतु भौंचक्का-सा रक्ताक्ष के साथ चला आ रहा है, पूरी यात्रीशाला को अचंभित नेत्रों से देखता हुआ।

‘यहाँ कौन कुंडिनपुर का हो सकता है? किसने मुझे बुलाया?’ शायद यह प्रश्न रह-रहकर उसके मन में उठ रहा था और इसका उत्तर न खोज पाने की विवशता में वह और भी चौंधिया रहा था।

अब वह मेरे कक्ष में मेरे ही सामने खड़ा था और वह मुझे एकटक देखता रहा। जड़ता सनसनाती हुई उसकी रगों में दौड़ गई थी।

“तुमने मुझे पहचाना?” मैंने मुसकराते हुए पूछा।

उसकी संपूर्ण चेतना जैसे एक बिंदु पर ठहर गई।

“पहचानो, मैं कौन हूँ?” मैंने मुसकराते हुए फिर उसकी चेतना को झकझोरा, “मैं तो तुम्हें पहचानता हूँ, पर तुम मुझे नहीं पहचान रहे हो।”

“पहचान रहा हूँ, पर विश्वास नहीं हो रहा है।” वह एकदम चकित स्वर में बोला, “लगता है, स्वप्न देख रहा हूँ।”

“पर यह स्वप्न नहीं, यथार्थ है।”

“यह यथार्थ तो स्वप्न से अधिक विस्मयबोधक है।” इतना कहते हुए वह मेरी छाती से लग गया। उसकी दोनों आँखें झरने लगीं। गंगा-यमुना का यह संगम बड़ी देर तक उसके हृदय में हिलोरें लेता और आँखों से छलकता रहा; जैसे वह मेरी छाती पर लोट-पोट होता रहा।

“तुम भी अद्भुत हो, कन्हैया!”

‘कन्हैया’ शब्द निकलते ही मैंने उसके मुख पर हाथ धर दिया। यदि उस समय उस कक्ष में कोई और होता, तो क्या होता? क्योंकि मैं यह नहीं चाहता था कि जिस रहस्य में मैं अभी तक छिपा हूँ, उसका इतनी जल्दी उद्घाटन हो जाए।

वह विह्वल हो बोलता ही गया—“सारा संसार जानता है कि आप स्वर्गारोहण कर चुके हैं। अब धरती पर नहीं हैं।”

“तुम्हारे जैसे आत्मीयजनों को छोड़कर मैं कहीं कैसे जा सकता हूँ!” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“आप तो वैसे ही हैं, पर अपनी पहचान खो दी है।” अब उसकी आँखें थम चुकी थीं।

“खोई नहीं है वरन् उसे छोड़ रखा है। खोई हुई वस्तु का खोज पाना कभी-कभी कठिन होता है; पर छोड़ी हुई वस्तु

अपनी जान में रहती है—और कभी-कभी अपने पास ही।” मैंने कहा और धीरे से अपनी कटि से वंशी निकालकर उसे दिखाते हुए बोला, “और यह देखो, मेरी पहचान तो अपने पास ही है।”

“परंतु यह सब करके अच्छा नहीं किया, कन्हैया। आज सारा राष्ट्र तुम्हारे वियोग के शोक में व्याकुल है।”

“जैसा व्याकुल कभी ब्रज था।”

“पर ब्रज की व्याकुलता तुम्हारे ब्रज में न होने की बात थी। ब्रजवासी इस विश्वास में जी रहे थे कि तुम कहीं-न-कहीं होगे, कभी-न-कभी मिलोगे। किंतु इस समय तो स्थिति एकदम दूसरी है। तुम्हारा अस्तित्व ही धरती से समाप्त समझा जा रहा है।”

“मेरा अस्तित्व न धरती से कभी समाप्त हुआ है और न समाप्त होगा।” मेरा चिंतन सुगबुगाया—“पहचान का समाप्त होना अस्तित्व का समाप्त होना नहीं है। जीव भी आत्मा की ही पहचान है; पर क्या आत्मा कभी समाप्त होती है?”

श्वेतकेतु निरुत्तर-सा मेरी ओर देखता रहा। उसकी आँखें मानो पूछती रहीं, ‘आखिर यह सब तुमने क्यों किया?’

“कभी-कभी अपनी पहचान खोकर स्वयं को देखना बड़ा रोमांचकारी होता है, श्वेतकेतु!...और मैं यह भी देखना चाहता था कि मेरे न रहने पर लोग मेरे बारे में क्या सोचते हैं! राजनीति की यह भी एक आवश्यकता है। इस समय लोगों का चिंतन मेरे प्रभाव से मुक्त होगा। वह असलियत के ज्यादा निकट होगा। फिर एक बात और।”

“क्या?”

“कालयवन की मृत्यु के बाद यदि मेरे दिवंगत होने की सूचना प्रसारित न होती तो कालयवन की सारी शक्ति और उसकी प्रजा की क्रोधाग्नि मुझे निगलने के लिए भभक पड़ती। वह मुझे भले ही न पाती, पर मथुरा को तो भस्म कर ही देती। और उसकी आँच से यह नई दुलहन-सी बनी हमारी द्वारका भी बच न पाती!...और अब तो स्थिति ही बदल चुकी है। जब मैं ही नहीं रहूँगा तो बदला किससे लेंगे? अब जरासंध भी बड़े असमंजस में पड़ा होगा।”

“चाहे वह कितने असमंजस में हो, पर उसने मथुरा को भस्म कर देने की योजना बनाई है।”

“यह तुम्हें कैसे मालूम?”

“अभी कल ही तो कंसा मौसी मथुरा से आई है। वह बता रही थी।”

“अब तो मथुरा बृहद्बल के अधिकार में है। वह तो जरासंध का मित्र है। अपने मित्र को ही भस्मीभूत करेगा जरासंध! पागल हुआ है क्या?”

“आप चाहे जो समझें, पर यह निश्चित है कि वह कभी बृहद्बल का मित्र नहीं था। बृहद्बल आपसे द्वेष रखता था, इसीसे अस्थायी मैत्री उससे हो गई थी। और जब आप ही नहीं हैं तो इस अस्थायी मैत्री की जड़ भी कट गई।”

“पर मथुरा को भस्म करने से जरासंध को क्या लाभ? हो सकता है, वह सोचता हो कि कालयवन की मृत्यु के बाद यदि मैं किसी प्रकार बच गया तो मथुरा में ही आकर छिपूँगा। मथुरा भस्म करने की उसकी योजना मुझे खोज निकालने की एक प्रक्रिया है, अन्यथा मथुरा को राख करने से उसे क्या मिलेगा?”

“उसकी प्रतिहिंसा को शांति मिलेगी।” श्वेतकेतु बोला।

बात मुझे भी ठीक लगी; क्योंकि मैं जरासंध की मानसिकता से परिचित था। उसका व्यक्तित्व आग है, आग, जो दूसरे को भस्म करना ही जानती है और जब किसी और को आग जला नहीं पाती तो स्वयं को ही राख कर देती है।

“तो तुम लोग मथुरा की ओर जा रहे हो क्या?” मैंने पूछा।

“नहीं, हम लोग कुंडिनपुर जा रहे हैं।”

“कुंडिनपुर!” मुझे अचरज हुआ—“आखिर इस समय इस अभियान की क्या आवश्यकता पड़ी?”

“अक्षय तृतीया को रुक्मिणी का स्वयंवर रखा गया है।”

“इसे तो मैं जानता हूँ।”

“यह भी अचानक निश्चित हुआ; क्योंकि जिस समय इस तिथि की घोषणा की गई, उस समय मैं कुंडिनपुर में नहीं था। मैं शैव्या को लेकर करवीरपुर चला गया। अभी कुछ ही दिन बीते होंगे कि करवीरपुर का एक सैनिक मुझे खोजते हुए आया और एक बंद पत्र देकर बोला, ‘इसे किसी प्रकार द्वारका बलरामजी के पास पहुँचा दिया जाए, यही राजकुमारीजी की अंतिम इच्छा है।’ ”

“अंतिम इच्छा!” मैं सोचने लगा, “बात क्या है?”

अब श्वेतकेतु ने बताया—“उस सैनिक से पता चला कि आपके निधन की सूचना कुंडिनपुर भी पहुँच चुकी है।”

“तब तो बेचारी बड़ी विपत्ति में पड़ी होगी। सुना है, जरासंध ने रुक्मी से अपनी पौत्री के विवाह का भी प्रस्ताव वापस ले लिया था।”

“यह क्यों?”

“यह तो ठीक नहीं मालूम, पर सत्य यही है।” मैंने कहा, “अब इसका यह प्रभाव होगा कि रुक्मिणी को सुव्रता की वह आत्मीयता भी नहीं मिलेगी, जो पहले मिलती थी। फिर तुमने कहा कि शैव्या भी वहाँ नहीं है। इसका तात्पर्य है कि अंतःपुर में अब रुक्मिणी का अपना कोई नहीं रहा। यह तो भीतर की स्थिति है। बाहर भी एक पितामह कौशिक को छोड़ उसका कोई नहीं है; क्योंकि तुमने भी कुंडिनपुर छोड़ दिया है।”

“इन सारी स्थितियों को देखकर ही तो उन लोगों ने स्वयंवर के लिए इतने निकट की तिथि का चुनाव किया है।” श्वेतकेतु बोला।

“उन लोगों ने नहीं।” मैं बोला, “जरासंध ने कहो। वह बड़ा जिद्दी है। प्रतिहिंसा की गाड़ी भी हठ के पहिए पर चलती है।”

मैं सोचते हुए कुछ क्षणों के लिए मौन हो गया।

“तुम तो इधर आए और शैव्या?” मैंने पूछा।

“वह करवीरपुर में ही है।”

“यह तो तुमने भूल की। उसे किसीके साथ कुंडिनपुर भेज देना चाहिए था। रुक्मिणी को कुछ तो सहारा मिलता। मेरे न होने के समाचार से तो उसका सारा स्वप्न ही चूर हो गया होगा। इस समय उसके चारों ओर अँधेरा होगा। ऐसे में वह कुछ उलटा-सीधा न कर बैठे।”

“पत्रवाहक तो कह रहा था कि यह उनकी अंतिम इच्छा है।”

“पर हो सकता है, वह आत्महत्या की सोच रही हो।” मैंने कहा, “पर उसे ऐसा सोचना नहीं चाहिए। वह एक वीरांगना है। कायरतापूर्ण कार्य तो नहीं करना चाहिए।”

अब श्वेतकेतु की उपस्थिति का एक-एक क्षण मुझे भारी पड़ रहा था। मैंने उससे कहा, “अब तुम जाओ और जितना शीघ्र हो सके, कुंडिनपुर पहुँचो। तुम बलराम भैया आदि के पहुँचने की चिंता मत करना।”

वह चल पड़ा। मैंने उसे चलते-चलते अच्छी तरह सावधान किया—“देखो, मेरे जीवित रहने की बात किसीको मालूम न हो। रुक्मिणी को भी नहीं।”

“तब उसे कुछ अप्रिय करने से कैसे रोका जा सकता है?”

“अपनी बुद्धि से। तुम जाओ। तुम्हारी बुद्धि पर मुझे विश्वास है।”

श्वेतकेतु अश्व पर बैठते ही तीर-सा छूटा और उसे हवा में उड़ता हुआ मैं व रक्ताक्ष उसी गवाक्ष से देखते रहे।

□

द्वारकावासियों के इस प्रयाण से मेरी यात्रीशाला में हड़बड़ी मच गई। लोग अब आर्यावर्त की शांति पर भी प्रश्नचिह्न लगाने लगे। इधर हस्तिनापुर भीतर-ही-भीतर खौल रहा था। मथुरा जलने जा रही थी। मगध के स्वामी की महत्वाकांक्षा कभी अपने राज्य की ओर देखने का समय ही नहीं पाती थी। उधर विराट् द्रुपद और द्रोण के अहं की टकराहट से उत्पन्न चिनगारियों से आतंकित था। लोग यही सोच रहे थे कि यह सब कृष्ण के चले जाने से ही हो रहा है। यह मेरे प्रति उनकी श्रद्धा का ऐसा प्रच्छन्न चिंतन रहा, जो अनायास ही नियति की भूमिका को नकारता था।

मध्याह्न के पूर्व ही हम उस यात्रीशाला से चल पड़े। संध्या के पहले ही हमें सिंधु तट पर आना था; क्योंकि आज अष्टमी थी, समुद्र के विक्षुब्ध होने का दिन। हमारी दो घड़ी की यात्रा सामुद्रिक भी थी।

मैं और रक्ताक्ष अपने अश्वों पर सरपट भागे जा रहे थे। मेरी आँखों में द्वारका का स्वप्न था और रक्ताक्ष की आँखों में थकावट की नींद; क्योंकि वह पिछले अनेक दिनों से निश्चित सोया नहीं था। हलका भोजन, हलका विश्राम और रहस्यमय ढंग से भागते रहना ही हमारा कार्यक्रम था।

घोड़े पर चलते-चलते रक्ताक्ष ने बाध्य होकर मुझसे आखिर पूछ ही दिया—“हम कब तक ऐसा जीवन जीते रहेंगे?”

“जब तक राजनीति को इसकी आवश्यकता रहेगी।” मैं इतनी गंभीरता से बोला कि उसने प्रश्न को आगे नहीं बढ़ाया।

हमारी गति अपेक्षा से भी तेज थी। हम संध्या के पहले ही सागर तट पर पहुँच गए। द्वारका पहुँचानेवाला एक बड़ा जलयान भी लगा रहा। कुछ लोग तट पर खड़े भी थे। हम दोनों अश्वारोहियों को देखते ही उन लोगों में फुसफुसाहट भी होने लगी। कोई हमारे पास आया नहीं; पर उन लोगों की आकृतियों पर उभरी निराशा से स्पष्ट लगा कि वे हमसे कुछ कहना चाहते हैं। तब हमीं लोगों ने उनके पास जाकर पूछा, “क्या बात है?”

“हम लोग द्वारका जाना चाहते हैं, पर आज बड़ी पूछताछ हो रही है।”

“क्यों?”

“यह तो नहीं मालूम; पर यान के कई कर्मचारी आए थे—हमारा नाम, पता, प्रयोजन सब पूछकर अपने नायक के पास अनुमति लेने गए हैं।”

“यह यहाँ का नियम है कि आज कोई नई बात है?” मैंने पूछा।

“इसके पहले तो मैंने ऐसा कुछ नहीं सुना था।” उनमें से एक बोला।

“नियम-उयम कुछ नहीं है। यदि ऐसा होता तो मैं यहाँ क्यों आता! बहुत सी नगरियाँ देखी हैं, एक द्वारका न देखता तो क्या हो जाता!”

मैंने अनुभव किया कि सबका असंतोष समवेत हो गया है। फिर मेरी दृष्टि यान की ओर गई।

“कोई आ तो नहीं रहा।” मैंने कहा।

“देखिए, अब वे देर भी कर रहे हैं। अधिक देर होने पर समुद्र विक्षुब्ध हो जाएगा और हमें इस रेत पर रात बितानी पड़ेगी।” उन लोगों ने कहा।

तब तक यान से दो व्यक्ति आते दिखाई पड़े। वे सीधे मेरे पास आए।

“आप लोग कहाँ जाना चाहते हैं?”

“तुम्हारा यान कहाँ जाता है?” मेरी आवाज में टेढ़ापन कुछ अधिक था।

“हम तो द्वारका जाएँगे।”

“तो हम भी द्वारका जाएँगे।”

“इन अश्वों के साथ ही?”

“ये अश्व हमारे हैं तो हम इन्हें कहाँ छोड़ें? यदि आपकी यहाँ कोई अश्वशाला हो तो कहिए, वहाँ बाँध दें।” वह मुझे देखता हुआ चुप हो गया।

“आज बड़ी पूछताछ हो रही है, बात क्या है?” मैंने पूछा।

“महाराज का यही निर्देश है कि किसी व्यक्ति को बिना जाने-समझे तब तक राजधानी में मत ले आना जब तक हम लौटकर न आ जाएँ।”

“किस महाराज का?”

“अरे, यहाँ के महाराज का।” उसकी आवाज थोड़ा रुक्ष हुई—“आप उन्हें नहीं जानते क्या? शेषनाग के अवतार बलराम को।”

“तो क्या वे यहाँ नहीं हैं?”

“नहीं। पूरी सैन्य सज्जा के साथ कुंडिनपुर गए हैं।” उसने बड़े गर्व से कहा, “इस समय द्वारका की रक्षा हम राजभक्त कर्मचारियों के ऊपर ही है। हम अच्छी तरह समझ-बूझकर ही यात्रियों को द्वारका ले जा रहे हैं।”

“तुम्हारी राजभक्ति का आदर करता हूँ।” मैंने कहा, “तुम्हारी सजगता भी अभिनंदनीय है; पर इन सामान्य यात्रियों के साथ इतनी सतर्कता क्यों बरती जा रही है? ये कोई सैनिक तो हैं नहीं।”

“सैनिक भले ही न हों, पर गुप्तचर तो हो सकते हैं।”

अब मैं जोर से हँसा—“बड़े भोले मालूम होते हो, नाविक! अरे, जो गुप्तचर रहा होगा, वह चला गया होगा। उसे तुम्हारे पूछताछ की दीवार रोक नहीं सकती। ये बेचारे तो भोलेभाले सामान्य नागरिक हैं, जो द्वारका देखने आए हैं। इन्होंने सुन रखा है कि इस समय यह संसार की सर्वश्रेष्ठ नगरी है।”

जलयान के कर्मचारी अब कुछ ठंडे पड़े।

“अच्छा, अब आप यह बताने का कष्ट करें कि आप कहाँ से पधारे हैं?”

“हम दोनों मथुरा से आ रहे हैं।”

“आपका नाम?”

अब क्या उत्तर दूँ? झूठ बोलूँ? क्या झूठ बोलना मेरी गरिमा के अनुकूल पड़ेगा? और झूठ की उम्र ही कितनी है? अंत में तो वह खुलेगा ही। तब मैं कौड़ी का तीन हो जाऊँगा और असलियत को छिपाना भी तो झूठ है। ‘क्या तुमने यह अपराध नहीं किया है?’ मेरा मन स्वयं तर्क-वितर्क करने लगा। पर मैंने अपने जीवन और मृत्यु के संबंध में कभी किसीसे कुछ नहीं कहा। यह तो नियति का मेरे प्रति सहज परिहास था, जिसमें मैं बाधक नहीं बना। फिर इस समय क्यों झूठ बोलूँ? पर कुछ तो कहना ही पड़ेगा।

तब तक वह कर्मचारी बोला, “किस सोच में पड़ गए? क्या आपको अपना नाम याद नहीं आ रहा है?”

उसके इस व्यंग्य पर मुझे हँसी आ गई—“प्रश्न याद आने का नहीं है, प्रश्न उसे भुलाने का है।”

अच्छा हुआ कि हँसी के बीच कहे इस वाक्य को वह समझ नहीं पाया। तब तक मैंने अपना नाम बताया—“वंशीधर।”

“वंशीधर! ओ, तुम मथुरा के वंशी बजानेवाले हो!” पहला कर्मचारी बोला। और मुझे लगा कि मेरी पहचान अब शायद खुल जाएगी। तब तक नियति ने अपना दाँव खेला। दूसरा कर्मचारी स्वयं बोल पड़ा—“नहीं जी, यह बंसी से मछली फँसाते होंगे।”

“आप लोग जो भी समझ लें।” मैंने मुसकराते हुए कहा। उसने अपनी पत्रिका में लिखा और हमें यान पर ले चला।

हमारे साथ इसके पूर्व वहाँ रुके सभी लोग चले।

□

समुद्र क्षुब्ध होने की स्थिति में आ गया, इसलिए कोई किसीसे कुछ नहीं बोल रहा था। अंधकार की बढ़ती छाया में हर व्यक्ति तरंगों का घात-प्रतिघात देखता बैठा रहा और हमारा यान लहरों पर उड़ता चला।

हम अभी सागर में ही थे कि द्वारका की झिलमिलाहट हमें दिखाई देने लगी। मैंने उसे प्रणाम किया। यह मेरी अपनी धरती थी। कितना मोह था मुझे! जैसे मुझे खींच रही हो। मैंने अब तक इसका मानचित्र ही देखा था। अब मैं इसे देख रहा था। मेरी जिज्ञासा मुझे यान के भीतर से खींचकर बाहर खुले में ले आई। सागर की उन्मत्त लहरों का झोंका हमें भी भिगोने की चेष्टा करने लगा। भीतर से एक कर्मचारी दौड़ा हुआ आया और बोला, “आप यहाँ न रहें। लहरों का खतरा है।”

“मैं यहाँ नहीं, वहाँ हूँ।” मैंने द्वारका की ओर संकेत किया। वह समझ नहीं पाया। पर मैं वहाँ से हटने की स्थिति में नहीं था। मेरी विह्वल दृष्टि अपने सपनों की उपलब्धि देख रही थी।

तब तक हमारा जलयान द्वारका में आ चुका था। कितना अद्भुत और विशाल है यह पत्तन! सैकड़ों जलयान यहाँ एक पंक्ति में खड़े हो सकते हैं। आर्यावर्त का सबसे विशाल यह पत्तन। आठ तो ऊँचे-ऊँचे ज्योति स्तंभ हैं, जिनका प्रकाश सागर में बहुत दूर से दिखाई देता है। इसके प्रतिबिंब शेषनाग के अवतार की इस नगरी के सजग प्रहरी की भाँति सागर की छाती पर ज्योति के विशाल अजगरों की तरह तैरते दिखाई देते हैं।

तट पर उतरते ही नगर प्रहरियों ने हमारे अश्व रोक लिये और नियमानुसार हमें अश्व ग्रहण का प्रमाणपत्र दिया तथा कहा, “महाराज के आदेशानुसार किसी प्रकार का बाहरी वाहन नगर में नहीं ले जाया जा सकता। ये पत्तन की अश्वशाला में रहेंगे और जब आप वापस लौटेंगे तो आपको दे दिए जाएँगे।”

“यदि मैं द्वारका से न लौटना चाहूँ तो?” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“तो ये भी यहीं रहेंगे।” उसने पल भर में बातें समाप्त कीं।

मैं कुछ बोलना चाहता था कि दूसरा कर्मचारी मुझे पत्तन से निकलनेवाले द्वार की ओर धकेलते हुए बोला, “व्यर्थ की बकवाद मत करो। इस समय अपना रास्ता नापो।”

हम लोग अनजान बटोही की तरह चल पड़े।

“आपके ही कर्मचारी और आपके साथ ऐसा व्यवहार कर रहे हैं!” रक्ताक्ष ने व्यंग्य किया।

“वस्तुतः ये मेरे कर्मचारी नहीं हैं, मेरी उस पहचान के कर्मचारी हैं, जो मुझसे छूट चुकी है।” मैंने हँसते हुए कहा।

उसने मुझे ऐसे देखा जैसे वह कह रहा हो, आपको समझना बड़ा कठिन है।

तब रात्रि का प्रथम प्रहर चल रहा था, जब हम द्वारका के राजमार्ग पर टहलते आए। कैसा प्रशस्त मार्ग! दोनों ओर विशाल वृक्ष। अँधेरे में डूबी उनकी छाया, नृत्य करती हरीतिमा मन को कितनी गहराई तक छू रही थी, सो कैसे बताऊँ! यही समझिए, समुद्री हवा में झूमते उन वृक्षों के साथ मन भी हिलोरें लेता रहा।

अद्भुत और रोमांचक अनुभूति हो रही थी। यह धरती, यह आकाश, यह हवा—सब हमारी हैं। अब तक मैं पराए की धरती पर था, पराई हवा में साँस लेता था, पराया आकाश हमपर छाया करता था; पर अब ऐसा कुछ नहीं है। अब तो सबकुछ ही हमारा है।

आप विश्वास करें, इस समय मैं द्वारका का सबसे प्रसन्न नागरिक था और रक्ताक्ष सबसे चकित। उसने सोचा भी नहीं था कि इतनी विशाल, इतनी वैभवपूर्ण और इतनी भव्य नगरी होगी।

तब तक हम एक विशाल मंदिर के निकट पहुँच चुके थे। यह अंतिम आरती का समय था, पर भीतर से वंशी की आवाज आ रही थी। न घंटा, न घड़ियाल वरन् आरती के समय वंशी! बात क्या है? थोड़ी देर बार शंख की आवाज

सुनाई पड़ी, वह भी पांचजन्य की। मेरा ही शंख, मेरे कानों में उसकी आवाज और मैं उससे ही दूर। कितना विलक्षण! कितना विस्मयकारी!

बगल से जा रहे एक व्यक्ति से मैंने पूछा, “यह किसका मंदिर है?”

“क्यों, आप यहाँ के नहीं हैं क्या?” उसने पूछा।

“अब तक तो नहीं था, पर अब यहाँ का होना चाहता हूँ।”

उसने मुझे एक बार फिर देखा तथा कुछ और न पूछकर सीधे-सीधे बताया—“पहले यह मंदिर देवाधिदेव महादेव के लिए सोमनाथ की अनुकृति पर वैसा ही भव्य बनाया गया था, पर अब यह मंदिर कन्हैया का है।”

“तो इसमें शिव की प्रतिमा भी है और कन्हैया की भी?”

“नहीं। शिव की प्रतिमा स्थापित होने वाली थी, इसके पहले ही यह मंदिर कन्हैया का बना दिया गया।”

“इसका रहस्य मैं कुछ समझ नहीं पाया।” मैंने चिंतन की मुद्रा में उस व्यक्ति से कहा।

“क्यों? आपको कुछ मालूम नहीं है क्या?” अब उसने बताया—“कन्हैया अब इस धरती पर नहीं रहे। कालयवन से युद्ध करते समय उन्होंने वीरगति पाई। कालयवन भी मारा गया।”

इस बीच पांचजन्य की फिर आवाज सुनाई पड़ी। उस युवक ने कहा, “यह शंख उन्हींका बज रहा है।”

“तभी शायद वंशी भी बज रही है।” मैंने कहा।

“कन्हैया का मंदिर हो और वंशी न बजे, यह कैसे हो सकता है?” उसने कहा, “आप जानते हैं कि कन्हैया की सबसे प्रिय वस्तु वंशी थी और उसे वह अद्भुत बजाते भी थे!” इतना कहते-कहते वह जाने किन विचारों में खो गया।

थोड़ी देर बाद वह बोला, “आप भी इस मंदिर में चलेंगे?”

“चलिए।” हम लोग उसके साथ हो लिये। वह आगे-आगे और हम पीछे-पीछे चले।

मैंने धीरे से अपने उष्णीष को ऐसा ढीला किया कि उसका एक अंश मेरी बाईं आँख को ढकने लगा। इसका मुख्य उद्देश्य स्वयं को और छिपाना था; क्योंकि इस समय मैं मथुरावालों के बीच जा रहा था। अपनों से स्वयं को छिपाना अंधकार से जलते दीपक को ढकने जैसा है; पर इस कठिन कार्य को भी करना ही था।

कई बार किए प्रश्न को रक्ताक्ष ने एक बार पुनः मेरे कान में धीरे से दुहराया—“आखिर कब तक आप अपने को छिपाते रहेंगे?”

“जब तक इसकी आवश्यकता का अनुभव करता रहूँगा, या जब तक छिपा सकूँगा।” अब मुझे स्वयं पर ही शंका होने लगी थी; क्योंकि मैं समझ रहा था कि छिपाने की मेरी युक्ति की चादर अब मेरी पहचान से छोटी पड़ने लगेगी। फिर भी प्रयत्न तो करूँगा ही।

अब मैं मंदिर के परिसर में था। सचमुच यह सोमनाथ की तरह भव्य था। दूसरे सोमनाथ के निर्माण की शिल्पकारों की कल्पना का मूर्त रूप था। भीतर कुछ दूर चलने के बाद बहुत सारी सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती थीं। हम सीढ़ी चढ़ते गए और धीरे-धीरे भीड़ बढ़ती गई।

कहते हैं, भीड़ की जबान भीड़ में शामिल लोगों से दूनी होती है; पर यहाँ तो ऐसा लग रहा था कि जैसे एक भी जबान न हो। जितनी बढ़ती भीड़ उतनी बढ़ती शांति—एक उदास शांति, नियति के समक्ष अपना सिर झुकाए हुए एक हताश शांति।

मंदिर के द्वार में घुस नहीं पाया, क्योंकि भीतर लोग ठसाठस भरे थे। न कोई किसीसे बोल रहा था, न किसीको धक्का देकर या हटाकर आगे जाने का अवसर था। लोगों की आँखें डबडबाई-सी थीं और मन बुझा-बुझा-सा।

सामने मूर्ति के स्थान पर मेरा मोर मुकुट रखा था और पास ही रजत पालने में मेरी वही पुरानी छोटी सी प्रतिमा रखकर माँ एक हाथ से झुला रही थी और रह-रहकर दूसरे हाथ से अपने आँसू भी पोंछ लेती थी।

अद्भुत स्थिति के अनुसार ही यह पूजा भी अद्भुत थी। परिस्थिति से अनजान व्यक्ति के लिए यह पूजा भी निश्चित ही शोकसभा का भ्रम पैदा कर सकती थी।

मेरी माँ देवकी के ठीक सामने, दूर कोने में, ऊँची स्फटिक शिला पर मेरे मोर मुकुट के साथ मेरा धनुष शाङ्ग और गदा कौमोदकी रखी थी। वहीं एक श्वेत लंबी दाढ़ीवाला बूढ़ा बैठा था। आँखें एकदम बंद। ध्यानावस्थित। परिस्थितिनिरपेक्ष। मुझे लगा कि यह ककुद्मिन ही होंगे। बाद में पता चला कि मेरा अनुमान ठीक है। पर पहले जैसा मैंने देखा था, उससे वह एकदम भिन्न लगे। आकृति पर न किसी प्रकार की व्यग्रता थी और न उदासी। किसी भी प्रकार के तनाव से मुक्त एक अपूर्व शांति। मैंने सोचा, चलो एक ऐसा तो दिखाई दिया, जिसपर मेरे न होने का किसी प्रकार का तनाव नहीं है।

मैंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, पर कहीं रेवती भाभी दिखाई नहीं दीं।

वहाँ खड़ा-खड़ा मैं क्या करता। अपनी ही मौन पूजा से मेरा मन ऊबने लगा। मैंने रक्ताक्ष को संकेत किया और धीरे से वहाँ से खिसका। जिन दो-चार लोगों ने मुझे वहाँ से चलते देखा, उन्हें निश्चित ही अच्छा नहीं लगा होगा; पर वे कुछ बोले नहीं।

मंदिर के अंतिम द्वार के बाहर आते ही मैंने अपना उष्णीष ठीक किया; क्योंकि वह इतना नीचे आ गया था कि आँखों पर आड़ पड़ता था और चलने पर कठिनाई होती थी।

ज्यों-ज्यों मैं द्वारका के पथ पर आगे बढ़ता रहा, मन में नया उत्साह था। सिंधु का धीर-गंभीर गर्जन और तेज समुद्री हवा का झोंका एक नई स्फूर्ति जाग्रत करते थे। अब तक मन धूल भरी हवाओं से ऊब चुका था, पर इन हवाओं में धूल का एक कण भी नहीं था। घने वृक्ष से छनकर आती ये हवाएँ बच्चे के मन की तरह निर्मल, शांति की तरह शीतल और गौरैया की तरह चंचल थीं। इनमें पैदल चलने पर भी किसी प्रकार की थकावट नहीं थी।

इस नगर के बार-बार देखे मानचित्र की कुछ रेखाएँ अब भी मेरे मस्तिष्क में बैठी थीं। उन्हींके सहारे मैं बिना किसीसे कुछ पूछे राजपथ पर सीधा चला जा रहा था; क्योंकि मुझे मालूम था कि यह मार्ग सीधे राजप्रासाद की ओर जाता है। पर अभी कितना चलना पड़ेगा, इसका अनुमान मुझे नहीं था। इतना चलने के बाद भी प्रासाद का कोई संकेत दिखाई नहीं दिया। मेरे मुख से अनायास निकल पड़ा—“लगता है, अभी और चलना पड़ेगा।” रक्ताक्ष ने समझ लिया कि मुझे मार्ग का सही अनुमान नहीं है। उसने बस इतना ही कहा, “यह तो आपकी नगरी है न?”

“यह नगरी ही नहीं वरन् मेरी राजधानी भी है।” मैंने कहा।

वह मुसकराते हुए बोला, “पर ऐसा लगता तो नहीं है।”

“क्यों, ऐसा नहीं लगता कि इस राजधानी का राजा मर चुका है!” और हम दोनों हँसने लगे।

बगल से ही एक जलप्रपात के झरने की आवाज आ रही थी। हमें पता नहीं था कि हम लोग अब प्रासाद के निकट हैं। यह प्राकृतिक झरना है, जिसे यहाँ के शिल्पियों ने प्रासाद के चारों ओर की गहरी खाई भरने के लिए ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया था। थोड़ा आगे बढ़ने पर ही प्रासाद का बाहरी द्वार दिखाई देने लगा और हमारा पथ खाई के ऊपर के सेतु से मिल गया। पर प्रासाद में कोई जागरण नहीं, लगभग अँधेरे में डूबा-डूबा। केवल शिखर का ज्योति स्तंभ जल रहा था। उधर द्वारपालों के हाथों में छोटे-छोटे दीपदान टिमटिमा रहे थे।

द्वारपाल का हमें रोकना स्वाभाविक था। मैं बिना किसी प्रतिकार के चुपचाप रुक भी गया। मैंने उसे बताया—“मुझे

राजमाता से मिलना है।

“वह तो इस समय मंदिर में होंगी।”

“पर वे वहाँ से आएँगी यहीं न?”

“जी नहीं, वे वहाँ से यहाँ नहीं आएँगी।”

“तो क्या राजभवन में नहीं रहती?”

“नहीं! कभी रहती थीं। राजमाता और राजपिता के लिए तो प्रासाद में ही एक बड़े सुंदर भवन की व्यवस्था की गई। मथुरा से आने के बाद वे उसमें रहते भी थे; पर जब कन्हैया नहीं रहे तो उनके मन टूट गए। उसी क्षण से उन दोनों ने राजभवन का अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। लोगों ने बहुत समझाया, तब राजमाता बोलीं, ‘मेरे भाग्य में राजभवन लिखा ही नहीं। हाँ, उसके कारागार में अवश्य रह सकती हूँ।’ और उन्होंने यह भवन छोड़ दिया। अब वे उसी प्रासाद के बाहर खाई से उस पार जो मार्ग बाईं ओर जाता है, उसीपर बने एक छोटे से आवास में रहती हैं।”

“पर ये आवास तो उनके लिए होंगे नहीं?”

“यह हम प्रहरियों के लिए बनाए गए थे। वे बेचारे हमीं लोगों के बीच रहते हैं।”

“असुविधाओं का अनुभव नहीं करते?”

“असुविधाएँ!” प्रहरी हँसा—“हम लोगों ने एक बार विनम्र निवेदन किया था, तब उन्होंने भरे गले से कहा, ‘जीवन में इतनी असुविधाएँ झेली हैं कि मैं तो अभ्यस्त हो गई हूँ। अब वे असुविधाएँ मुझे ही झेलनी हैं।’ और बड़ी प्रसन्नता से हम लोगों के बीच रहती हैं। केवल रहती ही नहीं, अपने अतिथियों को भी अपने साथ रखती हैं।”

“अतिथि।” मैं कुछ सोच में पड़ा—“यहाँ कौन है उनका अतिथि?”

“अरे, अभी दो दिन पूर्व ही तो उनकी बहन मथुरा से आई हैं।”

कंसा का चित्र सहज ही मेरे मन पर उभर आया; पर मैं कुछ बोला नहीं। मैं तो प्रहरी को सुनने की मुद्रा में था। उसने कहा, “मैंने आपसे इतनी बातें कर लीं, पर अब तक आपका परिचय जान नहीं पाया।”

“मैं भी मथुरा से आ रहा हूँ।”

“लगता है, आप उन्हें अधिक निकट से जानते हैं! तब तो उनके स्वभाव से भी परिचित होंगे। हैं बड़ी सहज महिला। हम लोगों से बड़े खुले मन से बात करती हैं। कन्हैया के चले जाने के बाद से वे बड़ी दुःखी हैं। एक दिन वह हम सबसे कह रही थीं कि जब से वह मेरे गर्भ में आया, तब से मैंने कष्ट ही भोगा। कभी मुझे सुख नहीं मिला। कभी भी वह मेरे साथ नहीं रहा। जीवन भर उसने कष्ट ही दिया और सपने दिखाए। उन्हीं सपनों के सहारे जीती रही। अब तो वह सपना भी टूट गया। अब जीवन निरर्थक हो गया है।” प्रहरी अब भी भावना के स्तर पर ही था—“यह मानसिकता उन्हींकी नहीं है। अब तो पूरा राजपरिवार यह मानने लगा है कि यह राजभवन उन्हें सहा नहीं, अन्यथा कन्हैया इतनी सहजता से हमें छोड़कर न चले जाते।”

मेरी मानसिक स्थिति का आप अनुमान लगा सकते हैं। मैं इतना भावाकुल हो उठा था कि एक बार तो जी में आया कि अपने पर ओढ़ी गई इस अन पहचान के खोल को फाड़कर फेंक दूँ और माँ के चरणों पर अभी गिर पड़ूँ। पर प्रहरी अब भी बोलता जा रहा था—“विचित्र बात है कि उनका विश्वास अब भी कन्हैया में अटल है। अब भी राजमाता सोचती हैं कि कन्हैया मुझे छोड़कर नहीं जा सकता।”

“माँ का यही विश्वास तो पुत्र को अमर करता है।” इसके बाद मैं कुछ बोला नहीं। चुपचाप वहाँ से चल पड़ा। पर घर नहीं गया। सोचा, अभी वहाँ चलकर क्या करूँगा? फिर पिता, अक्रूर चाचा, उपदेव आदि का क्या भरोसा! घर पर हों या न हों।

मैं फिर जलप्रपात की ओर चला गया और वहीं एक ऊँचे शिलाखंड पर बैठा। एक ओर से आती सागरी वायु और दूसरी ओर से हर-हर करते प्रपात से उठी जल फुवार की हवा में तैरती नन्ही-नन्ही बूँदें किसी श्लथ पथिक की क्लांति हरती प्रकृति का प्रयास जान पड़ीं। हम लोग बहुत देर तक उस शिला पर बैठे रहे; फिर ढुलक गए। अब दृष्टि के सामने हीरों के कणों से टँकी हुई आसमान की काली चादर थी।

“प्रकृति का ऐसा मनोरम रूप कालयवन के राज्य में कहीं नहीं है।” रक्ताक्ष बोला, “वहाँ तो प्रकृति का क्रूर रूप ही दिखाई देता था।”

“इसीलिए तो कालयवन इतना क्रूर था। जैसी प्रकृति होती है, पुरुष वैसा ही क्रूर होता है।” मैंने कहा और फिर एक अनिर्वचनीय संतोष में डूब गया। आत्मीयता असुंदर को भी सुंदर बना देती है—और जब वस्तु सचमुच सुंदर हो तो उसमें अद्भुत रस भर देती है। इस समय मेरा मन उसी रस कण का आस्वादन कर रहा था।

अचानक राजप्रासाद के मुख्य द्वार पर बजनेवाले घंटे की टनटनाहट सुनाई पड़ी। अरे, यह तो गजर है। लगता है, रात्रि का प्रथम प्रहर बीत चला। हम लोग उठ खड़े हुए और प्रहरी के बताए मार्ग पर माँ के आवास की ओर चल पड़े।

थोड़ी देर बाद ही मैं वहाँ पहुँच गया, जिसे मैं अपना घर कह सकता हूँ। द्वार बंद था। एक विचित्र गुमसुम-सा माहौल। लगता था, लोग भीतर ढुलके पड़े या सो गए हैं। फिर भी छिद्रों से झाँकता प्रकाश जाग रहा था।

मैंने द्वार खटखटाया। तुरंत भीतर से आवाज आई—“कौन?”

यह मेरी माँ की ही आवाज थी; किंतु मैं क्या कहूँ? मैं यह भी नहीं चाहता था कि उसके सामने से अचानक परदा हट जाए और अप्रत्याशित प्रसन्नता में वह फूट पड़े। क्या वह अचानक आई ऐसी प्रसन्नता भी सँभाल पाएगी?

तब तक भीतर से आवाज आई—“बोलते क्यों नहीं? कौन हो तुम?”

“बोल तो रहा हूँ, पर कौन हूँ, यह बता नहीं पा रहा हूँ।”

‘आवाज तो पहचानी जान पड़ती है।’ लगता है, माँ सोचने लगी। उसने पुनः मुझसे पूछा, “तुम कोई अपरिचित हो?”

“अपरिचित था, पर यहाँ नहीं हूँ।”

फिर थोड़े समय तक मौन। “लगता है, तुम कोई पथिक हो और विश्राम चाहते हो।”

“पथिक था, पर यहाँ नहीं हूँ। हाँ, विश्राम अवश्य चाहता हूँ।”

“तब तो तुम पहेली हो।”

“हाँ, तभी तक जब तक यह द्वार नहीं खुलता।”

“विचित्र है यह।” माँ की आवाज पुनः सुनाई पड़ी। फिर शायद उन्होंने पिताजी को संबोधित करते हुए कहा, “अजी सुनते हो, बाहर कोई विचित्र व्यक्ति आया है।”

“वह विचित्र है, यह तुम कैसे जानती हो?” पिताजी की आवाज द्वार की ओर बढ़ती चली आ रही थी।

“उसकी बातों से ऐसा लगता है।” माँ बोली।

फिर पिताजी ने द्वार खोल दिया। मैं चुपचाप माँ के चरणों पर गिर पड़ा। पिताजी के भी चरण छुए। फिर रक्ताक्ष ने भी वैसा ही किया। इस बीच मैंने द्वार बंद किया। अब तक वे मुझे पहचान नहीं पाए थे। कोई दूसरी स्थिति होती तो वे मुझे आवाज से ही पहचान लेते, पर जब मैं उनके विश्वास की धरती पर नहीं हूँ, तब अचानक मेरी उपस्थिति का अनुमान किसीके लिए भी कठिन था।

अब मैंने अपना उष्णीष खोलना आरंभ किया। इस बीच माँ के मुँह से निकल पड़ा—“मेरा कन्हैया तेरे ही जैसा

था आवाज भी बस एकदम तेरे जैसी।”

तब तक ‘माँ’ कहते हुए मैं उससे लिपट चुका था।

“अरे, तू...तू जीवित है!”

“मैं मरा ही कब था?” मैंने कहा। वह आश्चर्य से चकित थी। वह बार-बार मुझे विस्फारित नेत्रों से देखती, बार-बार चूमती। मेरा अंग-प्रत्यंग छूती। उसके सामने ही वह सत्य चूर-चूर हो गया, जो उसके चारों ओर हवाओं में बड़ी निर्ममता से उड़ रहा था। उसका विश्वास जी उठा। उसका कन्हैया उसके सामने था।

“मेरा कन्हैया, मेरा कन्हैया,” कहती वह मुझसे लिपटी रही। वह न चीख सकी, न चिल्ला सकी, न कुछ ओर बोल सकी। अविश्वस्त को अचानक विश्वास होते समय की भावाकुलता की शिकार थी। यही स्थिति पिताजी की भी थी। वे चुपचाप, जड़वत् विस्फारित नेत्रों से मुझे देखते रहे।

जब भ्रम, अचरज और आकस्मिकता का इंद्रजाल टूटा, तब वह—“अरे, मेरे बेटे! तू इतने दिनों तक कहाँ था?” कहते हुए रो पड़ी। फिर तो आँखें लगातार समुद्र उलीचती रहीं। अब तक तो कंसा मौसी, चाचा अक्रूर, चाची गुणवंती, उपदेव आदि उस समय घर में जितने लोग थे, सभी आ गए; और कुहराम मचे, इसके पहले ही मैंने निवेदन कर दिया था कि मेरे जीवन पर से गोपनीयता की चादर अभी हटाना हितकर नहीं है।

“क्यों?”

“अभी आर्यावर्त की राजनीति की यही इच्छा है।” मैंने कहा।

लोग जैसे थे वैसे ही गंभीर हो गए।

माँ को छोड़ते ही अब कंसा मौसी मुझसे लिपटकर रोने लगी। माँ से किसी स्थिति में वह कम नहीं लगी। न उसके आँसू थमना जानते थे और न वह मुझे छोड़ना ही चाहती थी। किसी प्रकार मैंने उसकी वेदना को थपथपाया। वह बड़ी व्यग्रता से बोली, “अरे बेटा, तू यह समझ नहीं पाएगा कि तेरे बिना क्या हो जाता!”

“जो होना है, वह तो होगा ही, मौसी! मेरे रहने और न रहने में अंतर पड़नेवाला नहीं है।” मैंने कहा।

ममता और अपनत्व की इन बातों के बाद लोगों ने अपने-अपने ढंग से मेरी अनुपस्थिति की स्थिति का वर्णन किया।

“गायों के थनों का जैसे दूध सूख जाए, बादल जैसे जलहीन हो जाए, भोजन का जैसे स्वाद खो जाए वैसे ही हम लोगों की स्थिति हो गई थी। हम लुटे-लुटे-से, ठगे-ठगे-से जी रहे थे।” पिताजी बोले।

फिर सबकी जिज्ञासाएँ एक बिंदु पर स्थिर हो गई थीं—“आखिर तुमने अपने जीवन को इतने रहस्य में क्यों रखा?”

“परिस्थितियों की यही अपेक्षा थी।”

इसपर उनकी जिज्ञासा हुई और मैंने संक्षेप में बताना आरंभ किया—“बात यह हुई कि मैंने मार्ग में ही कालयवन को बढ़ते देख लिया। उस समय आप लोग भी लवण घाटी पार नहीं कर पाए थे। मुझे लगा कि यदि जरा भी मेरी स्थिति का उसे अनुमान हो गया और उसने अपना रुख इधर किया तो हममें से कोई भी द्वारका पहुँचने की स्थिति में नहीं बचेगा।”

“क्या ऐसी स्थिति थी?” अक्रूर की शंका आश्चर्यमय थी।

“बिल्कुल ऐसी ही स्थिति थी।” मैंने कहा, “यदि वह हमारी ओर आता तो मथुरा समाप्त होती। एक ओर आप सब और दूसरी ओर मथुरा। हमें कोई रास्ता तो निकालना ही था। मैंने कूटनीति का सहारा लेकर पहले उसे सेना से अलग किया।”

फिर जो कुछ घटा, उसे धीरे-धीरे बता गया। लोग मेरी चालाकी पर प्रसन्न हुए। उपदेव के मुँह से निकला—“आपने अद्भुत राजनीति खेली!”

“राजनीति नहीं, कूटनीति कहो।” मैंने दोनों का अंतर बताते हुए कहा, “यद्यपि कूटनीति भी राजनीति के अंतर्गत आती है; पर राजनीति राज्य का कर्तव्यबोध है। उसमें सत्य और असत्य की दूरी बहुत होती है। और कूटनीति में सत्य और असत्य की दूरी इतनी कम होती है कि दोनों में अंतर ही नहीं समझ में आता। साध्य के लिए साधन की पवित्रता पर राजनीति में ध्यान होता है। कूटनीति में साधन की पवित्रता को कोई स्थान नहीं। किसी तरह साध्य प्राप्त होना चाहिए, चाहे जैसे भी हो; और यही कालयवन के साथ मैंने किया।”

“हाँ, तुमने झूठ भी बोला और धोखा भी दिया।”

“पर यह सब एक बड़े उद्देश्य के लिए किया गया।” उपदेव बोला। उसने मेरे किए का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की।

पर पिताजी की नैतिकता बोल पड़ी—“किंतु झूठ तो झूठ था ही और धोखा तो धोखा था।”

“इसीलिए तो मैं उसे कूटनीति कहता हूँ।” मैंने कहा, “और रह गई उसके उचित और अनुचित होने की बात, ठीक और अठीक होने की बात, तो हमें इसे कालदेवता को सौंप देना चाहिए। वही इसका निश्चय करेगा।”

“इतने पर भी अपने जीवन को रहस्यमय ढंग से छिपाना क्या आवश्यक था?” पिताजी बोले।

“न छिपाता तो करता क्या? मुझे लगा, कालयवन की मृत्यु की सूचना पाकर उसकी सारी सैन्य शक्ति मेरे विरुद्ध हो जाएगी और जब उसकी प्रजा यह सुनती कि मेरा स्वामी झूठ और फरेब के साथ मारा गया है, तब सेना के साथ ही प्रजा भी चोट खाई नागिन की तरह क्रोध में पागल हो जाती।” मैं कहता गया—“एक ओर सेना का विरोध, दूसरी ओर जनता का विरोध—मैं शायद कहीं का न रहता।...और इसका प्रत्यक्ष लाभ मेरे विरोधियों शाल्व और जरासंध को मिलता। पर अब स्थिति एकदम बदल गई है। जब मैंने यह प्रचारित कराया कि कृष्ण भी मारा गया, तब मेरे विरोधियों की क्रोधाग्नि को जलने के लिए समिधा ही नहीं मिली। कुछ ने तो कहा, ‘चलो जैसा किया, वैसा पाया।’ कुछ ने कहा, ‘अब न रहा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।’ ”

“पर बाँस है और बाँसुरी बजती रहेगी।” उपदेव बोला और प्रसन्नता के आवेग में उछल पड़ा।

मैंने तुरंत उपदेव को रोका—“नहीं-नहीं, ऐसा कुछ मत करो कि यह रहस्य अब भी खुल जाए।”

वह कुछ पूछे, इसके पहले ही कंसा बोल पड़ी—“तुम तो कहते हो कि कालयवन की मृत्यु से जरासंध हतोत्साहित होगा; पर उसने तो मथुरा को भस्म करने की योजना बनाई है।”

“भैया बृहद्बल के रहते हुए भी?” मैंने उसके मर्म में चिकोटी काटी।

पर वह तिलमिलाई नहीं वरन् बोली, “अब वह बृहद्बल को अपना व्यक्ति कहाँ समझता है? वह सबसे कहता फिरता है, आखिर वह उद्धव का भाई है न! मेरा कब होगा!”

“जरासंध ने बृहद् भैया को अपना कब समझा था?” मैं बोला, “वह तो भैया थे, जो उसे अपना समझते थे।” मैंने कहा।

पर उपदेव चुप न रह सका—“कैसे जरासंध बृहद् भैया को अपना नहीं समझता था?”

“केवल सलाह लेता था, वह भी अपने लिए।” मैंने पुनः मौसी की ओर देखकर कहा। एक बार मौसी कुछ लज्जित-सी हुई; पर तुरंत बोल पड़ी—“पर अब क्या होगा, जब वह मथुरा को भस्म करने के लिए चारों ओर से आग लगाएगा?”

“अब कुछ होने वाला नहीं है।” मैंने कहा, “उसकी यह योजना उस समय की है, जब कालयवन जीवित था। इस समय तो वह यही पता लगाने में लगा है कि मैं सचमुच मरा हूँ या नहीं।”

“लगता है, उसे आपकी मृत्यु का विश्वास है।” इस बार फिर उपदेव बोला।

“नहीं, विश्वास तो है, पर पक्का विश्वास नहीं है।” मैंने हँसते हुए कहा, “इसीको वह पक्का करना चाहता है।” मैंने लोगों को यह भी बताया कि “इसके लिए उसने दूर-दूर तक जासूस दौड़ाए हैं।”

“यह आपको कैसे मालूम?” उपदेव बोला।

“इस विषय में मैं अपना विश्वास पक्का कर चुका हूँ।” मैं हँसने लगा और मेरे साथ अन्य लोग भी।

जब हँसी थमी तब माँ बोली, “तुम्हारे न होने पर कितना बड़ा अनर्थ होने जा रहा है!”

मैं कुछ समझ नहीं पाया। वह उठकर एक झोंके के साथ भीतर गई और कुछ ही देर में एक पत्र लाकर मेरे हाथ में दे दिया। यह पत्र वही था, जिसकी चर्चा श्वेतकेतु कर चुका था। पत्र रुक्मिणी का था और भैया को लिखा गया था।

‘वरेण्य भैया! सादर चरण स्पर्श।

‘मैं बड़ी व्यग्रता में यह पत्र लिख रही हूँ। अब जीवन में शायद आप लोगों के दर्शन न हों। इसलिए नहीं कि मैं जीवन से निराश हूँ वरन् इसलिए कि जिनके सहारे मुझे जीवन में जीना था, सुनती हूँ, अब वे ही नहीं रहे। यह तो आप जानते ही हैं कि इसी अक्षय तृतीया को मेरे स्वयंवर का नाटक पुनः रचा गया है। और इस बार लगता है कि वह नाटक वास्तविकता में निश्चित ही बदल जाएगा। उस नाटक को ध्वस्त करने की आशा अब मैं किससे करूँ? साथ ही परिस्थितियाँ भी कुछ ऐसी बनीं कि जो अपने थे, उन्होंने भी मुँह फेर लिये। एक पितामह हैं, जो समुद्र के किनारे उठी हुई एक निरर्थक शिला के अतिरिक्त और कुछ नहीं, जो लहरें गिनने के सिवा और कुछ कर ही नहीं सकते।

‘शैव्या अपनी माँ के यहाँ चली गई है। जब से सुत्रता भाभी ने सुना है कि मेरे पति का अब दूसरा विवाह नहीं होगा, तब से वह भी भैया को ही प्रसन्न करने में लगी है। अब तो वह मुझसे बोलती भी नहीं।

‘एक बार मैंने ही उनसे कहा, ‘भाभी, अब मैं क्या करूँ?’ वह बड़ी बेरुखी से बोली, ‘जब तेरा अपना ही नहीं रहा तब मैं क्या कर सकती हूँ?’ इसके बाद तो उसने बोलना ही बंद कर दिया। जीवन में मैं कभी भी इतनी अकेली नहीं पड़ी थी, जितनी आज हूँ। लिख तो रही हूँ, पर लगता है, मैं अकेली नहीं हूँ। मेरा प्रिय आज भी मेरे साथ है।

‘लोग कहते हैं कि कन्हैया नहीं रहा, पर मेरा मन नहीं मानता। फिर सोचती हूँ कि न मानूँ तो क्या करूँ? मृत्यु एक कठोर सत्य है, उसे मानना ही पड़ेगा।

‘ऐसी स्थिति में मैंने एक निर्णय लिया है। मैंने कन्हैया का ही हृदय से वरण किया है। वही मेरा पति है और अंत तक वही मेरा पति रहेगा। अब किसी और को वरण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उन्होंने एक बार बड़े विश्वास से कहा था कि जब भी तुम मुझको हृदय से याद करोगी, मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। मैं इसी विश्वास को अपने सीने से लगाए हुए हूँ और जब तक जीवित रहूँगी, लगाए रहूँगी।...और इतने पर भी मेरा कन्हैया नहीं आया तो मैं अपनी पवित्र देह को हवि बनाकर अग्निदेवता को सौंप दूँगी। तब आत्मा की बाध्यता हटेगी और वह जहाँ कन्हैया है, वहीं पहुँच जाएगा।

‘आप सबको सादर प्रणाम। आप आशीर्वाद दें कि मैं अपने सतीत्व की रक्षा में सफल रहूँ।

आपकी

एक अभागिनी

रुक्मिणी’

पत्र पढ़ने के बाद रुक्मिणी का सारा व्यक्तित्व आँखों के सामने आ गया। कुछ समय तक तो मैं उसीमें खोया रहा। फिर माँ से ही पूछा, “पत्र पढ़ने के बाद भैया क्या बोले?”

“उसने पत्र पढ़कर मुझे थमा दिया और स्वयं पूरी शक्ति के साथ कुंडिनपुर पहुँचने की तैयारी में लग गया।” माँ ने यह भी बताया—“बलदाऊ का विचार था कि रुक्मिणी कुछ भी हो, अब परिवार की बहू है। उसने जब कन्हैया को हृदय से वर लिया है तब उसका स्वयंवर तो हो चुका। बाह्य स्वयंवर तो मात्र दिखावा है। आत्मिक वरण तो हो चुका। कन्हैया नहीं रहा तो क्या हुआ! राजप्रासाद में उसकी बहू तो रहेगी।”

माँ की बातों से पता चला कि भैया ने मुझसे हुई बातें भी उसे बताई थीं। तभी तो उसने कहा कि तुम लोगों ने द्वारका निर्माण भी इतनी शीघ्रता से इसीलिए कराया था कि रुक्मिणी को यहाँ लाकर रखा जा सके। भीष्मक को इसका दुःख न रहे कि उनकी लड़की किसी राजप्रासाद में न जाकर एक यादव सरदार के घर गई है।

मुझे लगा कि मुझसे भूल हो गई। जब श्वेतकेतु मिला था तब मुझे उसीके साथ कुंडिनपुर चल देना चाहिए था। यहाँ आकर अपने माता-पिता आदि को स्वयं के जीवित होने का संदेश देने से क्या लाभ हुआ? फिर सोचता हूँ, यह भी जीवन की अनिवार्य आवश्यकता थी। माता-पिता को मुझे देखकर जो आनंद हुआ, उसकी कल्पना तक करना मेरे सामर्थ्य के बाहर है; क्योंकि न तो मैं माँ हूँ और न पिता।

माँ अब भी मेरे शरीर पर हाथ फेरती रही। उसकी ममता बार-बार कहती रही कि तू पहले से काफी दुर्बल हो गया है। जीवन की भाग-दौड़ में भोजन और विश्राम का अवसर कहाँ?

वह चाहती तो औरों से भी मैगा सकती थी, पर वह स्वयं उठी और नवनीत की हाँड़ी उठा ले आई। साथ में और जो भी भोज्य सामग्री थी, वह भी और हमें खिलाना आरंभ किया।

बातें चलती रहीं।

“रेवती भाभी कहाँ हैं? ककुद्मिन का क्या हाल है?”

“ककुद्मिन तो मेरे साथ ही मंदिर में थे।”

“हाँ, मैंने देखा था।”

“तो तू मंदिर में भी गया था।” माँ पिताजी की ओर देखकर हँस पड़ी—“तो तू वहाँ क्यों गया था?”

“अपनी पूजा देखने।” इतना कहते ही ऐसी हँसी फूटी कि अब तक की सारी गंभीरता घुल गई—“अपनी पूजा देखने में बड़ा आनंद आता है, माँ।” और फिर लोग खिलखिला उठे।

बातों का सिलसिला उठता, बैठता, लड़खड़ाता आगे बढ़ता रहा। माँ ने बताया—“ककुद्मिन पहले से अब बहुत शांत हैं। वे एक निरपेक्ष जीवन जीते हैं। बहुधा वे मुँदी आँखों में भी जागते हैं और खुली आँखों से भी सोते रहते हैं। कभी-कभी वे दिखाई कहीं देते हैं और होते कहीं और हैं। एक दिन पता नहीं किस मुद्रा में वे अपने पारिषदों से कह रहे थे कि ‘इन्हीं हाथों से मैंने कुशस्थली को जलाया था। तब मैं संसार का सबसे विक्षुब्ध प्राणी था। आज जब द्वारका की किसी दीवार से अनजान में भी यदि ये हाथ टकराते हैं तो बड़ा संतोष मिलता है।...वस्तुतः मेरा जामाता बलराम मुझे वरदान की तरह मिला। उसके मिलने के पूर्व मैं जगत् का परम असंतुष्ट और आज परम संतुष्ट व्यक्ति हूँ। अब कोई अपेक्षा नहीं रही और न किसी प्रकार की स्पृहा।’ तुम्हारे न होने का समाचार भी उन्होंने बड़े सहजभाव से ग्रहण किया था।”

“और भाभी रेवती?” मैंने पूछा।

“रेवती बड़ी दुःखी है।” माँ बोली, “द्वारका के निर्माण से उसमें स्वतः जनमी सारी चहकन और फुदकन का जैसे किसीने गला ही दबा दिया है। सबकुछ लूट लिये जाने की गंभीरता और उदासी के धुँएँ से घिरी उसके जीवन की लौ यद्यपि जल तो रही है, पर निष्कंप नहीं। वह बहुधा कहती है कि द्वारका की आत्मा तो चली गई, अब द्वारका ईंट-पत्थरों और जंगलों का ढेर रह गई है। तुम्हारी वास्तविकता जानकर वह फिर चहक उठेगी।”

“पर अभी इस वास्तविकता के रहस्योद्घाटन का समय नहीं है।” मैंने सावधान किया—“अन्यथा रुक्मिणी का जीवन संकट में पड़ जाएगा।”

इतना सुनते ही मैं और खुली—“रुक्मिणी के लिए तो वह कुछ भी करने को तैयार है। सुना है, उसीने बलराम से कहा था कि इस राजधानी के निर्माण के मूल में कन्हैया के साथ उसीकी छवि थी। अब कन्हैया नहीं रहा तो क्या वह भी नहीं आ सकेगी? उसे तो तुम्हें लाना ही है।”

उस श्यामा गाय की तरह मेरा जीवन लुका-छिपा आगे बढ़ता रहा, जो काली अँधेरी रात में अपनी पहचान छिपा लेती है; पर जिसकी दो चमकीली काली आँखें छिपाए नहीं छिपतीं। द्वारका से अश्व पर नहीं वरन् रथ से पूरी तैयारी के साथ कुंडिनपुर चला था। मेरे पीछे रक्ताक्ष बैठा रहा। यद्यपि मैंने उष्णीष तथा अन्य वस्त्रों से स्वयं को छिपा रखा; फिर भी रथ की चाल से मेरे विशिष्ट होने का अनुमान लोगों को लग रहा था। वे गंभीरता से मुझे देखते और मेरे बारे में सोचने लगते। इस स्थिति की कल्पना मुझे थी। अश्व पर मैं अपने उद्देश्य के साथ कुंडिनपुर सकुशल पहुँच तो जाता, पर वहाँ पहुँचकर हमें जो करना था, उसे करने में कठिनाई होती। इसीलिए पहचान लिये जाने की आशंका के होते हुए भी मैं रथ से चला; और इतनी तेज गति से चला कि लोग सोचते रह जाते थे और मेरा रथ उनकी आँखों के सामने से उड़ता निकल जाता था।

जब मैं कुंडिनपुर के नगर प्राचीर के निकट पहुँचा, वैशाख शुक्ल प्रतिपदा थी। अमावस्या की बाद की रात्रि का काला आकाश जैसे चंद्रमा को निगल चुका था। मैंने वरदा नदी के इसी ओर रुकने का निश्चय किया। इस गंभीर अंधकार में भी रेत के बीच-बीच में से किसी कण का चमक उठना गहरी निराशा में भी आशा के प्रमाणपत्र की तरह अद्भुत प्रेरणादायक था। हवा स्थिर थी और इस शीतल रेत के बीच तन्वंगी वरदा सोई पड़ी थी। मैंने पास ही आम्रकुंज में रथ खड़ा कर दिया।

“क्या यहीं विश्राम लेने का विचार है?” रक्ताक्ष बोला।

“विचार तो नहीं है, पर ठहर गया हूँ।” मैं मुसकराया। किंतु मेरे इस कथन की प्रतिक्रिया रक्ताक्ष पर ठीक नहीं हुई।

“आप कोई बात सीधे-सीधे कहते नहीं। यदि टेढ़ा बोलना महानता का लक्षण हो, तब तो मैं कुछ नहीं कहता, अन्यथा सीधी कही बात मेरे मन में जल्दी उतरती है।”

मुझे हँसी आ गई। अब मैं खुला—“मैंने श्वेतकेतु को यहीं मिलने के लिए कहा था; पर हम कुछ जल्दी आ गए हैं। अभी रात्रि का प्रथम प्रहर ही बीता है।”

“और उनसे मिलने की बात कब की थी?”

“ब्राह्म मुहूर्त से कुछ पहले, रात्रि के तृतीय प्रहर में।”

“तब तो अभी काफी समय है। इस सुखद शीतल रेत पर ढुलककर कुछ समय तक विश्राम भी किया जा सकता है और निरभ्र आकाश से बरसती शून्यता का आनंद भी।”

और हुआ भी यही। हम लोगों ने रथ के अश्व खोल दिए और वहीं रेत पर ढुलक गए।

“यदि इस समय कोई नगर प्रहरी या गुप्तचर हमें देख ले तो क्या समझेगा?” रक्ताक्ष ने शंका की।

“कुछ नहीं समझेगा। उसकी दृष्टि में हम लोग भी रुक्मिणी स्वयंवर में आमंत्रित व्यक्ति होंगे।”

मुश्किल से एक प्रहर बीता होगा कि मैंने देखा कि एक विशाल नाव वरदा के उस पार से चली आ रही है। अवश्य इसपर श्वेतकेतु होगा। मैं उठकर बैठ गया। दूर से नाव पर बैठे व्यक्ति की आकृति तो स्पष्ट नहीं हो रही थी, पर थोड़ा और बढ़ने पर नाव ने अपना रुख आम्रकुंज की ओर कर लिया। मुझे निश्चय हो गया कि वह श्वेतकेतु ही है; क्योंकि उससे मिलने का वही स्थान निश्चित था।

हम लोग रथ छोड़कर कुछ दूर चले आए थे। अब हमें उधर चलना चाहिए, अन्यथा श्वेतकेतु संदेह में पड़ जाएगा। रक्ताक्ष की ओर देखा तो वह खरटि भर रहा था। मैं चुपचाप उठकर चल पड़ा। मैंने देखा, नाविक को नाव पर ही छोड़कर श्वेतकेतु चला आ रहा है। वह मुझे देखकर मुसकराया। उसकी मुसकराहट मुझपर थी या मेरी भूषा पर, कुछ कह नहीं सकता।

“लगता है, बहुत देर से आए हो!” वह बोला।

“हाँ, गति कुछ तेज थी।”

“अच्छा किया कि नगर द्वार की ओर नहीं आए।”

“क्यों?”

“क्योंकि नगर द्वार अब रात को बंद रहता है।” उसने मुसकराते हुए याद दिलाया—“पिछली बार आप लोग रात को ही आ गए थे। तभी से रात को द्वार बंद रखने का आदेश हो गया।

मुझे हँसी आ गई—“इसका तात्पर्य है कि उषःकाल के पूर्व हम लोग चल नहीं पाएँगे।”

“चलने को तो हम अभी चलते हैं, पर प्रतिहारियों का सामना करना पड़ेगा।” श्वेतकेतु बोला। शायद वह इस स्थिति का सामना करने के लिए मानसिक रूप से तैयार होकर आया था।

उसने कहा, “रथ का संचालन मैं करूँगा। आप लोग पीछे चुपचाप बैठ जाइए। पहले तो मुझे देखकर प्रतिहारी कुछ बोलेगा नहीं; यदि कुछ जानकारी चाहेगा तो उसका उत्तर दिया जाएगा।”

मैंने रक्ताक्ष को जगाया। घोड़े रथ में कसे और चल पड़ा। श्वेतकेतु ने बताया—“हम रथ को नाव पर ही ले चल रहे हैं। उसीसे हम सब पार हो जाएँगे।”

“तुमने कोई ऐसी नाव नहीं बनाई है, जिससे रुक्मिणी समस्या भी पार हो जाए। डूबना न पड़े!” मैंने हँसते हुए कहा।

उसने हँसते हुए ही उत्तर दिया—“ऐसी नाव तो आपके ही पास है। आप तो जगत् के तारणहार हैं। फिर रुक्मिणी को पार उतारना तो आपके बाएँ हाथ का काम है।”

मेरी हलकी मानसिकता पर देवत्व का बोझ थोपते हुए श्वेतकेतु ने वातावरण को गंभीर बना दिया। मैंने तुरंत बातों का क्रम बदला—“अच्छा, भैया आदि सकुशल आ गए हैं?”

“आ ही नहीं गए हैं, वह राजकीय अतिथि भी हैं।” श्वेतकेतु ने बताया—“महाराज का कहना था कि उनके नाम का निमंत्रण था, जो जा नहीं पाया। उसके मिलने के पहले ही बलराम पधारे। यह हमारा भाग्य है।”

“इस बार भैया के प्रति ऐसा बदला हुआ रुख क्यों?”

“क्योंकि आप तो परिदृश्य में हैं ही नहीं। सारी समस्या आपकी है। यदि आप ही नहीं तो रुक्मिणी स्वयंवर में किसीके लिए कोई बाधा नहीं।”

“पर जरासंध क्या सोचता है?”

“यह तो नहीं मालूम।” श्वेतकेतु बोला, “किंतु आजकल बड़ा गंभीर रहता है।”

“क्यों? मेरे न होने का आह्लाद उसके चेहरे पर नहीं है?”

“नहीं। ऐसा तो कुछ नहीं लगता। सारे अतिथि और राजागण उसे ही घेरे रहते हैं। सुना है कि एक दिन किसीने उससे कहा, ‘अब साँप तो मर गया।’

“‘जानते हो, साँप छह महीने तक सो सकता है। ऐसे में वह मरा हुआ ही दिखाई देता है।’ तब जरासंध ने कहा था।

“‘तो क्या साँप मरा नहीं है, वह मरा हुआ दिखाई दे रहा है?’ उस व्यक्ति ने पूछा।”

अब मेरी जिज्ञासा प्रगल्भ हुई—“तब जरासंध ने क्या कहा?”

“वह क्या कहता! केवल चुप रह गया।” श्वेतकेतु बोला।

अब हम लोग नाव पर आ गए थे और वह किनारा छोड़ चुकी थी। नाविक की परिस्थिति में मैं खुलकर बातें कर नहीं सकता था; पर मेरी जिज्ञासा मौन भी न रह सकी। मैंने संकेतों से बातें शुरू कीं।

“मैंने वह पत्र तो पढ़ लिया। उसमें वह काफी घबराई हुई लग रही थी।” मैंने कहा।

श्वेतकेतु एक क्षण तक मेरा मुख देखता रहा, फिर शीघ्र ही समझ लिया कि मैं रुक्मिणी के संबंध में कह रहा हूँ। फिर बोला, “पहले तो वह काफी घबराई हुई थी; पर जब से शैव्या आई है तब से वह बहुत कुछ प्रकृतिस्थ हो गई है। शैव्या स्वयं इस परिवर्तन पर चकित है। एक दिन उसने इसके विषय में पूछ ही दिया।

“तब रुक्मिणी बोली, ‘तुम जो आ गई हो। अब प्रासाद में लगता है कि कोई अपना है। इसके पूर्व तो मेरा मैं ही अपना नहीं रह गया था। वह मुझे कभी धिक्कारता था कि जीवित कैसे हूँ और कभी मेरी कायरता पर मुझे लज्जित करता था कि मैंने साहसिक कदम क्यों नहीं उठाया? मैं उसके साथ चली क्यों नहीं गई?’ ”

“इसका तात्पर्य है कि शैव्या का आना उसके लिए अच्छा हुआ।” मैंने कहा।

“अन्यथा वह कुछ कर बैठती।” श्वेतकेतु बोला, “मुझे तो ऐसा ही लग रहा था। इसीलिए स्वयंवर का निमंत्रण जब करवीरपुर जा रहा था तब मैंने शैव्या को पत्र लिखकर बुलाया। ईश्वर की कृपा कि वह शक्र के साथ चली भी आई।”

“शक्र आया है! चलो, कोई तो अपने पक्ष का मिला।” मैंने कहा।

“पक्ष के तो बहुत से लोग मिल जाएँगे। इधर आपका गुरुभाई...”

श्वेतकेतु इतना ही बोल पाया था कि मैंने उसका हाथ दबाया। संकेत था कि ऐसा कुछ मत कहो, जिससे मेरी वास्तविकता खुलने का खतरा हो। श्वेतकेतु ने शीघ्र समझ लिया और सावधान हुआ।

“पर इस बार वैसी सक्रियता नहीं है।” वह बताता रहा—“विंद आया है, और भी बहुत से लोग आए हुए हैं; पर न वैसी चहल-पहल है, न वैसा उत्साह। अधिकांश तो केवल इसीलिए चले आए हैं कि निमंत्रित हैं, उत्सवी मनोवृत्ति के हैं। तमाशा देखेंगे और चले जाएँगे। जनता में कोई उत्साह नहीं है। लगता ही नहीं कि इस देश की भावी राजमहिषी का स्वयंवर होने वाला है।”

“शिशुपाल तो बड़ा प्रसन्न होगा?” मैंने पूछा।

“वास्तविक प्रसन्नता तो प्रतिमल्ल को पराजित करने में होती है। उसके अभाव में अखाड़े में चारों ओर घूमकर हाथ-पैर मारने में नहीं।”

“तो तुम भी शिशुपाल को मल्ल ही समझते हो?”

“इस अखाड़े का मल्ल तो वही है।” श्वेतकेतु बोला।

“खैर, शिशुपाल को छोड़ो, पर जनता में इतनी निराशा क्यों है?” मैंने पुनः प्रश्न किया।

“क्योंकि इस बार कन्हैया नहीं है।”

“और वह कहीं से आ जाए तो?” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“अब क्या आएगा! इस समय वह यमपुर की शोभा बढ़ा रहा होगा।” श्वेतकेतु बोला।

इसी समय नाव जोर से हिली; जैसे किसीने धक्का मारा।

“क्या है, भाई?” हम लोगों की समवेत जिज्ञासा थी।

“लगता है, कोई बड़ी मछली नाव से टकराई है।” नाविक बोला।

“क्या मछलियाँ रात को सोती नहीं हैं?” मैंने पूछा।

“रात को मछलियाँ सोती हैं या नहीं, यह तो नहीं मालूम।” नाविक बोला, “पर इस प्रकार टकराने का उनका कुछ अर्थ अवश्य होता है।”

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“तात्पर्य यही है कि किसी बात के बीच में जब मछलियाँ टकराती हैं तब वह बात होकर ही रहती है।” नाविक बोला, “इसका मतलब है कि हो न हो, कन्हैया ऐन मौके पर उपस्थित हो जाए।”

“तुम क्या बात करते हो? मरा घोड़ा भी कहीं दाना खाता है!” मैंने कहा।

“यह तो नहीं मालूम, पर श्रीमान, मरी मछली भी कभी-कभी जी जाती है।” नाविक बोला और हम सबको हँसी आ गई।

मैंने श्वेतकेतु के कान में धीरे से कहा, “देखा, मेरे जीवन की आशंका भी लोगों को कितना आतंकित किए हुए है!” वह मुसकराया।

“तुमने मेरे बारे में रुक्मिणी से तो कुछ नहीं कहा।” मैंने कान में ही पूछा।

“नहीं।”

“और शैव्या से?”

“उससे भी नहीं। मैंने किसीसे भी कुछ नहीं कहा।”

“फिर शैव्या ने रुक्मिणी की इस बदली हुई मनःस्थिति के बारे में जानना नहीं चाहा?”

“जानना चाहा था और उसने बताया भी—‘बहन, सारी व्यग्रता के मूल में आकांक्षाएँ होती हैं, सपने होते हैं, अब न सपने रहे और न आकांक्षाएँ। अब कोई अभीप्सा भी न रही।

‘आज मैं परम मुक्त हूँ। ऐसी मुक्ति की दशा में जीवन अर्थहीन हो जाता है। अब मैं एक निरर्थक जीवन जी रही हूँ।’ ”

इतना कहने के बाद श्वेतकेतु चुप हो गया। हम सब भी मौन ही थे। रात्रि का यह घुटन भरा अंतराल नाविक के डाँड़ों से बजता जा रहा था। मैंने पीछे मुड़कर देखा। हम किनारे के निकट थे। पूरब के आकाश में शुक्र झिलझिलाने लगा था।

“फिर इस अभीप्साहीन जीवन जीने की कोई योजना उसने शैव्या को नहीं बताई?” मेरी जिज्ञासा फिर कुलबुलाई।
“यह तो मुझे मालूम नहीं।” श्वेतकेतु बोला, “यदि शैव्या को उसने कुछ बताया भी हो, तो भी उसने मुझे कुछ नहीं बताया।”

“तो क्या वह तुमसे बिना बताए भी रह सकती है?”

“क्यों नहीं! आप तो उसकी प्रकृति जानते ही हैं।” श्वेतकेतु मुसकराते हुए बोला, “उसने कभी भी मेरे पतित्व को प्राथमिकता नहीं दी। अभी परसों की बात है। उसने दो परिचरों को मिलाकर कुछ चंदन की लकड़ी मँगवाई और धीरे से अंतःपुर के प्रकोष्ठ में चुपचाप रखवा दिया। मैंने पूछा कि ‘क्या होंगी इतनी चंदन की लकड़ियाँ?’

“‘क्या करोगे तुम जानकर?’ वह छूटते ही बोली।

“जब मैंने जानने के लिए और जोर दिया तो वह एकदम भड़क उठी—‘इसकी चिता लगाकर उसमें भस्म होऊँगी।’

“मैं एकदम चुप हो गया। आप तो जानते ही हैं कि उसके क्रोध की ज्वाला कितनी भयंकर होती है!”

इसके बाद भी श्वेतकेतु ने शायद और कुछ कहा हो; पर मेरे कान अब और कुछ भी सुनने को तैयार न थे। मुझे लग रहा था कि रुक्मिणी स्वयं चंदन की चिता में कूदने जा रही है। मैं काफी व्यग्र हो उठा था। लेकिन स्वयं पर नियंत्रण किया।

अब मेरी दृष्टि रक्ताक्ष की ओर गई। वह दुलका हुआ खरटे भर रहा था।

□

आहट पर टँगी रक्ताक्ष की नींद उस समय टूटी, जब हम नाव से उतरने लगे थे। नाव भी बड़े आराम से धीरे-धीरे ले आई गई थी। समय का एक छोटा, पर बातों में व्यस्त हिस्सा नाव पर ही बीत गया था। जब रथ को नाव पर से उतारा जाने लगा तब ब्राह्म मुहूर्त की सूचना देनेवाले घंटे मंदिरों में बजने लगे थे।

पूर्व योजना के अनुसार श्वेतकेतु ने सारथि की जिम्मेदारी सँभाली और रथ नगर द्वार की ओर चल पड़ा। मैंने दूर से ही देखा, नगर द्वार के प्रहरी रथ की घरघराहट से सजग हुए। पर जब उन्होंने श्वेतकेतु के द्वारा संचालित जाना तो सिर झुकाकर बगल हट गए। सबसे अधिक बाधा का यही द्वार था, जो बड़ी आसानी से पार हो गया। मेरी गोपनीयता ज्यों-की-त्यों बनी रह गई।

थोड़ी दूर और जाने पर विचार हुआ कि रथ को रथशाला की ओर भेज दिया जाए और हम लोग पैदल ही पितामह कौशिक के आश्रम की ओर चलें; क्योंकि उससे अधिक निरापद हमारे लिए कोई दूसरा और स्थान नहीं था।

श्वेतकेतु ने तुरंत दो नगर प्रहरियों को बुलाया। एक को रथ सौंप दिया और दूसरे को हमारा सामान पितामह के आश्रम में पहुँचाने की व्यवस्था करने को कहा। फिर मुझसे बोला, “यह घंटे और घड़ियाल की तीव्र और गंभीर ध्वनि सुन रहे हैं न! यह गिरिजा मंदिर की है। आज वहाँ रात भर अनुष्ठान हुआ है। इस समय वहाँ दुग्धस्नान चल रहा होगा। दर्शनीय होती है यह पूजा। देखने चलिएगा?”

मैं थोड़ा सहमा; क्योंकि मैं समय के पूर्व किसी प्रकार की अपनी गोपनीयता उधेड़ने के पक्ष में नहीं था। फिर भी बोला, “जैसी तुम्हारी इच्छा।”

वह मेरी मानसिकता समझ गया।

“घबराइए नहीं। वहाँ किसीको भी हमारी ओर देखने का न अवसर होगा और न आवश्यकता। सारा माहौल देवी की आराधनामय होगा।”

सचमुच ऐसी ही स्थिति थी। माँ की स्तुति के साथ ही दुग्धस्नान चल रहा था। श्वेतकेतु को देखते ही मंदिर के प्रहरी और उपस्थित जन एक किनारे हट गए। हम लोगों ने देखा कि स्वर्ण कलश में दुग्ध माँ के मस्तक पर

मंत्रोच्चार के साथ डाला जा रहा है। थोड़ी दूर पर बड़े-बड़े पात्रों में मधु भी रखा था और घृत भी। श्वेतकेतु ने बताया कि यह पंचामृत स्नान की व्यवस्था है।

कुछ समय बाद हम लोग वहाँ से निकले। देवी की विशेष पूजा की चर्चा करते हुए श्वेतकेतु ने बताया—“स्वयंवर के पूर्व रुक्मिणी आराधना के लिए यहाँ लाई जाएगी। यह कुंडिनपुर की परंपरा है। अपने अक्षय और सौभाग्य की पात्रता के लिए स्वयंवर के पूर्व लड़कियाँ यहाँ लाई जाती हैं और विवाह के बाद भी सबसे पहले वर-वधू यहाँ माँ का आशीर्वाद लेने आते हैं।”

“तो आज कब तक रुक्मिणी यहाँ आएगी?” मैंने जिज्ञासा की।

“आज मध्याह्न के पूर्व ही स्वयंवर है।” श्वेतकेतु समय की गणना करते हुए बोला, “इसका तात्पर्य है कि दिन के प्रथम प्रहर के बाद ही राजकुमारी यहाँ लाई जाएँगी।”

अब मैं मन-ही-मन सोचने लगा कि यहाँ से यदि हमें अचानक निकलना पड़े तो वह कैसे संभव हो सकता है? मैंने मंदिर के परिसर के चारों ओर देखा। कहीं से कोई प्रशस्त मार्ग नहीं, जिसपर रथ दौड़ाया जा सके। सामने राजपथ है, जिसपर सैनिकों के गंभीर अवरोध का सामना करना पड़ेगा।...और फिर नगर प्राचीर तक तो मैं घेर लिया जाऊँगा। पर कोई बात नहीं, भैया बलराम, उद्धव और द्वारका के कुछ सैनिक तो हैं ही; फिर श्वेतकेतु की सहायता कम महत्त्व की नहीं है।

“क्या सोच रहे हैं?” श्वेतकेतु बोला।

“आ तो गया।” मैंने कहा, “अब जाने का रास्ता खोज रहा हूँ।”

“आते देर नहीं और आपको जाने की लगी है। अरे, अभी भैया और उद्धव से तो आप मिले ही नहीं। फिर आपको मालूम है या नहीं कि आपका मित्र सात्यकि भी यहीं है!”

“पर इन लोगों को अभी मेरी उपस्थिति की गंध भी न लगे।” मैंने कहा, “मैं तो अचानक रुक्मिणी के समक्ष उपस्थित होकर पूरे जनमानस को चकित कर देना चाहता हूँ, जिससे मेरी उपस्थिति एक चमत्कार लगे। लोग दाँतों तले अँगुली दबाकर मुझे देखते रह जाएँ और मेरा रथ कुंडिनपुर से घरघराता निर्द्वंद्व निकल जाए।”

मुसकराते हुए श्वेतकेतु ने मेरी योजना का समर्थन किया।

“मैं चाहता हूँ कि इस संदर्भ में मंदिर के पीछेवाला भाग भी देख लिया जाए।” मैंने कहा।

“अभी ही?” श्वेतकेतु बोला, “अभी तो उधर बड़ा अँधेरा होगा। तारों की छाँव में भी कुछ दिखाई नहीं देगा।”

“पर मेरी आँखें अपने मतलब की बात देख लेंगी।” मैंने कहा, “और मेरे पास समय ही कितना है, मुश्किल से चार घड़ी का। अर्द्धयाम ही समझिए।”

अब हम लोग मंदिर के परिसर से निकलकर पार्श्व भाग में चले। थोड़ा आगे बढ़े होंगे कि एक व्यक्ति सिर पर लकड़ियाँ लेकर जाता दिखाई दिया। उसे देखकर श्वेतकेतु ठिठक गया।

“क्या बात है?” मैंने पूछा।

वह कुछ बोला नहीं।

“क्या तुम उस व्यक्ति को पहचानते हो?” मैंने श्वेतकेतु से पूछा।

“पहचानता तो हूँ। यही तो सोचने की बात है।” श्वेतकेतु बोला, “यह शैव्या का परिचर है, भूमा। आखिर इस समय वह लकड़ियाँ लेकर गया कहाँ था?”

“इसमें इतना सोचने की क्या बात है?” मैंने कहा, “चलो, यह बात उसीसे पूछ लो।”

“हो सकता है, वहाँ कोई और हो!” उसने कहा, “हो सकता है, आपके लिए समस्या उत्पन्न हो जाए।”

“तब मैं रक्ताक्ष के साथ यहीं रह जाता हूँ या मंदिर में चला जाता हूँ। तुम पता लगाकर आओ।”

हम लोग इसी द्विविधा में थे कि भूमा लौटता दिखाई दिया। इस बार उसके सिर पर लकड़ियाँ नहीं थीं। जब वह थोड़ा और पास आ गया तब श्वेतकेतु ने उसे बुलाया—“भूमा, जरा सुनो।” वह अचानक श्वेतकेतु को देखकर सकपका गया।

“यह लकड़ियाँ कहाँ ले जा रहे थे?”

वह मुसकराकर बड़े संकोच के साथ बोला, “यह गोपनीय है। स्वामिनी ने किसीको कुछ भी बताने के लिए मना किया है।”

“मुझसे भी?” श्वेतकेतु बोला; पर वह मुसकराता हुआ खिसक गया।

श्वेतकेतु को यह अच्छा नहीं लगा। वह बड़बड़ाया—“यह मुझे भी किसीमें शामिल करता है। अरे, मैं शैव्या का पति हूँ।” इसके बाद वह बड़े आवेग से आगे की ओर बढ़ा।

मैंने देखा, मार्ग प्रशस्त है। इधर से रथ घुमाया जा सकता है। पर आगे थोड़ी ही दूरी पर वरदा की धारा बह रही है। आगे-आगे बढ़े जा रहे श्वेतकेतु को मैंने थोड़ा रोका—“अच्छा यह बताओ, यह मार्ग सीधे-सीधे वरदा के तट पर चला गया है या कोई रास्ता और है, जिससे वरदा पार न करना पड़े?”

“यह मार्ग तो वरदा के तट पर ही जाता है।” श्वेतकेतु बोला, “पर थोड़ा आगे जाने पर एक रास्ता वाम पक्ष को जाता है। उसपर सीधे रथ दौड़ाते हुए आप निकल जा सकते हैं।”

श्वेतकेतु उधर ही बढ़ता जा रहा था, जिधर से भूमा आया था। वरदा के तट पर ही लकड़ियों के ढेर के निकट उसे एक स्त्रा खड़ी दिखाई दी। उसने मुझसे कहा, “लगता है, वहाँ शैव्या खड़ी है। आप लोग या तो लौट जाइए या वहाँ पीपल के नीचे खड़े हो जाइए।”

मैंने और रक्ताक्ष ने वैसा ही किया। हम लोग एक आज्ञाकारी शिशु की तरह उसी वृक्ष की आड़ में हो गए। तब हमने देखा, सिर पर लकड़ियों का गट्ठर लिये एक व्यक्ति फिर चला आ रहा है; पर वह भूमा नहीं है।

वह थोड़ा ही आगे बढ़ा होगा कि श्वेतकेतु ने पूछा, “अरे धरमा, यह लकड़ियाँ कहाँ ले जा रहा है?”

व्यक्ति पर बोझ उसके सामर्थ्य से अधिक था, इसलिए वह अपने वेग में चलते हुए ही बोला, “यह सब स्वामिनी से पूछिए।”

अब मैंने देखा कि श्वेतकेतु लकड़ी के ढेर के पास पहुँच चुका है। वह उस स्त्रा से बोला, “इस समय तुम यहाँ?”

“यही तो मैं आपसे पूछ रही हूँ। इस समय तक तो आप सोते रहते थे, पर इस समय यहाँ कैसे?”

श्वेतकेतु चुप ही रहा।

यद्यपि वे लोग दूर थे और बातें भी धीरे-धीरे ही कर रहे थे; पर इस समय की शांति इतनी स्निग्ध थी कि उनकी आवाज फिसलती हुई बखूबी चली आ रही थी—

“इन लकड़ियों का ढेर यहाँ क्यों लगा रही हो? कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।”

“अच्छा हो, आप समझने की चेष्टा भी न करें।”

“क्यों?”

“समय की प्रतीक्षा कीजिए। आपकी समझ में सब आ जाएगा।” शैव्या बोली।

श्वेतकेतु अब भी वहीं खड़ा रहा।

“मेरा आग्रह है कि यहाँ से चले जाते तो अच्छा था।”

“क्यों, तुम्हें मुझसे भय लग रहा है?”

“मुझे आपसे कोई भय नहीं है; पर आपको देखकर कोई और चला आएगा तो मेरी योजना खटार्ई में पड़ जाएगी।”

“तो यह सब किसी योजना के अंतर्गत हो रहा है?”

“जी हाँ।”

श्वेतकेतु को शैव्या का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। वह चुपचाप वहाँ से लौट पड़ा और मेरे पास आकर भभक उठा—“यह क्या पति-पत्नी का संबंध है कि मुझसे भी छिपाती है और उलटा-सीधा जवाब देती है!”

“कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है, पर जीवन में हमेशा ऐसा नहीं होता।” हम उसीके साथ उसे समझाते हुए लौटे—“परिस्थितियों की मजबूरी पर व्यक्ति से नाराज नहीं होना चाहिए।”

उसने इसपर तो कुछ नहीं कहा, पर मेरा ध्यान दूसरी ओर खींचते हुए बोला, “आपने देखा, वहीं नदी में एक नाव भी खड़ी थी?”

“हाँ, दूर से हमें भी कुछ ऐसा ही लग रहा था।”

“लगता है, यह सब उस योजना के ही अंतर्गत है।” श्वेतकेतु बोला, “अवश्य ही शैव्या और रुक्मिणी ने मिलकर कोई योजना बनाई है।”

“तब तो उसका पता अवश्य लगाना चाहिए।” मैंने कहा और सोचा कि मेरी सारी योजना इस योजना पर निर्भर है।

□

बारह

सूर्य पूर्व से झाँकने लगा था। किरणों की पहली खेप के साथ ही मंदिरों के घंटे चुप हो गए। जीवन एक नई स्फूर्ति के साथ अँगड़ाई लेने लगा। हम लोग पितामह के आश्रम में ही थे; पर हमारी उपस्थिति की जानकारी उन्हें थी नहीं। हम स्वयंवर के सामान्य दर्शकों की पहचान ओढ़े अपने नित्यकर्म से निवृत्त हो रहे थे।

हमने अनुभव किया कि एक व्यक्ति बराबर देख रहा है और हमारी गतिविधि पर दृष्टि रखे हुए है। मुझे शंका हुई कि कहीं मेरी उपस्थिति की गंध प्रासाद में तो नहीं पहुँच गई। चोर का जी आधा और मैं उसपर छिपी-छिपी दृष्टि रखने लगा। मुझे लगा, उसका संदेह बढ़ता जा रहा है। पर वह मेरे पास नहीं आ रहा है और न कुछ पूछना चाहता है। उसकी मानसिकता अपने में ही उलझी हुई जान पड़ती है।

कहीं वह इसी उलझी हुई मानसिकता में प्रासाद में लौट गया और अपने साथियों को बुला लाया, तब तो स्थिति गड़बड़ा सकती है। मैंने तुरंत रक्ताक्ष से उस व्यक्ति को बुला लाने के लिए कहा।

रक्ताक्ष जब उसे बुलाने गया तो वह एकदम चौंक पड़ा; जैसे वह किसी दूसरे संसार में था और अचानक पृथ्वी पर धकेल दिया गया हो।

वह मेरे सामने आकर खड़ा हो गया।

“आप मेरे इस आमंत्रण को अन्यथा मत लीजिएगा। आप मुझे बड़े ध्यान से देख रहे थे। सोचा, कोई बात होगी।” मैंने बड़े सहजभाव से कहा।

वह बड़े संकोच में सकुचाते हुए बोला, “आपकी आकृति बहुत कुछ कन्हैया से मिलती है।”

“यही तो मेरा सौभाग्य भी है और दुर्भाग्य भी।”

वह कुछ समझ नहीं पाया। अब मैंने थोड़ा विस्तार से कहा, “आपसे ही नहीं, यह भूल बहुतों से होती है। बहुत से लोग मुझे कन्हैया समझकर मेरी आराधना आरंभ कर देते हैं और जब उन्हें पता चलता है कि मेरी आकृति के अतिरिक्त कुछ भी कन्हैया से नहीं मिलता, तब वे बड़े निराश होते हैं।”

“पर यह तो आपका सौभाग्य है।” वह व्यक्ति बोला, “आपने दुर्भाग्य की भी बात कही है।”

“दुर्भाग्य है कि कभी-कभी जरासंध के सैनिक मेरे पीछे पड़ जाते हैं और जब उन्हें असलियत का ज्ञान होता है तो वे

स्वयं ही खीज उठते हैं।” इतना कहते हुए मैं मुसकराया। वह मेरी मुसकराहट को भी ध्यान से देखता रहा। उसे लगा जैसे यह कृष्ण की ही मुसकराहट हो।

“पर जो मारा गया, वह कहाँ से उठकर चला आएगा?” वह व्यक्ति बोलता रहा—“मुझे तो लगता है कि यहाँ भी आपका दुर्भाग्य काम करेगा।”

मैंने उसकी बात समझ तो ली थी, फिर भी उसका मुँह देखता रहा। उसने कहा, “यहाँ भी जरासंध के सैनिक आपको देखकर धोखा खा जाएँगे। आपको यहाँ आना नहीं चाहिए था।”

“मैं भी यही सोच रहा था।” मैंने कहा, “पर मैंने सुना कि यदि कन्हैया कहीं जीवित होगा तो वह यहाँ आएगा अवश्य; क्योंकि वह रुक्मिणी को किसी दूसरे के हाथ में जाने के लिए अकेला नहीं छोड़ देगा।”

“इसका तात्पर्य है कि कन्हैया जीवित भी हो सकता है?”

“कुछ कहा नहीं जा सकता।” मैंने कहा, “भगवान् की माया जानी नहीं जा सकती—और जिस दिन जान ली जाएगी, भगवान् भी हमारे-आप जैसे हो जाएँगे।”

अब वह मुझे नमस्कार कर चला गया। उस व्यक्ति की मानसिकता द्विविधा के घेरे में आ चुकी थी। उसके जाने के बाद रक्ताक्ष श्रद्धावनत हो मेरे चरणों पर गिर पड़ा—“आप जैसा व्यक्ति शायद ही इस समय आर्यावर्त में हो।”

मैंने मुसकराते हुए पूछा, “क्यों?”

“परिस्थिति को बदलने में आपको एक क्षण भी नहीं लगता। अब पूरी नगरी में दो कृष्णों की चर्चा हो जाएगी। द्विविधा की लपटें उठने लगेंगी। ऐसा धुआँ उठेगा कि उसके अँधेरे में जरासंध असली-नकली की पहचान भी नहीं कर पाएगा और नाटक समाप्त।”

मुझे हँसी आ गई। यह हँसी मेरी वास्तविक थी। अब मैंने जाना कि रक्ताक्ष भी मुझे समझने लगा है। वह मूर्ख नहीं है।

हम पूजन आदि से निवृत्त हो चुके थे, तब तक श्वेतकेतु आया। उसकी आकृति पर व्यग्रता मिली एक प्रकार की उलझन थी। मैंने उसे देखते ही पूछा, “क्या कुछ पता चला?”

“पता तो सबकुछ चल गया, पर कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ।” श्वेतकेतु ने बताया—“रुक्मिणी को पूजन के लिए गिरिजा के मंदिर तक लाया जाएगा। वह मंदिर में प्रवेश करेगी। माँ को प्रणाम करेगी और बड़ी शीघ्रता से पिछले द्वार से होते हुए चंदन की चिता की ओर चली जाएगी।”

“उसे कोई रोकेगा नहीं?”

“अभी किसीको पता नहीं है, कोई करेगा क्या!”

“उसके साथ में सैनिक तो रहेंगे ही।”

“वे भी कुछ नहीं कर सकते; क्योंकि उद्धव और बलराम उसकी सहायता करेंगे।”

“उद्धव और बलराम भैया उसकी सहायता करेंगे!” अब मुझे आश्चर्य हुआ—“रुक्मिणी और मेरे संबंध को जानते हुए भी?”

“आपका संबंध ही तो यह सब करा रहा है।” उसको शैव्या से जो कुछ ज्ञात हुआ था, उसे धीरे-धीरे बताना शुरू किया—“स्थितियाँ विचित्र हैं। शैव्या ने उद्धव और बलराम भैया से रुक्मिणी का गुप्त मिलन कराया था। उन लोगों ने उसे बहुत समझाया—‘कन्हैया नहीं रहा तो क्या हुआ? हम लोग तो हैं।’

“‘पर मेरे लिए आपका होना, न होना बराबर है।’ रुक्मिणी छूटते ही बोली, ‘जब मेरे प्राणनाथ ही नहीं रहे तो मेरे लिए संसार में कोई नहीं।’

“ ‘आपके लिए ही तो द्वारका का निर्माण कराया गया है।’

“ ‘कराया गया होगा।’ रुक्मिणी बड़े निरपेक्षभाव से बोली।

“ ‘कन्हैया हमें भी बड़ा प्यारा था। उसके न होने से हम तो और दुःखी हैं।’ बलराम भैया ने रुक्मिणी से कहा, ‘इसका मतलब यह तो नहीं कि हम आत्महत्या कर लें।’

“ ‘आपकी और हमारी स्थिति में बड़ा अंतर है, भैया!’ तब रुक्मिणी बोली, ‘कन्हैया के न होने पर भी आप लोगों के जीवन में कोई-न-कोई है; पर अब मेरा कौन रहा? मेरे लिए तो संसार मनुष्यों से भरा ऐसा जंगल है, जिसमें मेरा कोई नहीं। जाना-बूझा हर चेहरा पराया है। ऐसे में जीकर मैं क्या करूँगी?’

“ ‘उन परायों को कहीं अपना बनाने के लिए।’ भैया बोले।

“ ‘अब किसीको भी अपना बनाने की न आकांक्षा है और न आवश्यकता।’ रुक्मिणी इतना कहकर हँसने लगी थी, एक विद्रूप हँसी। पागल तो नहीं, पर पागलपन की परिधि पर दिखाई अवश्य दी।

“सब लोग चुप थे। केवल उद्धव बोला, ‘आपकी मनःस्थिति में आया यह ज्वर उतर भी तो सकता है?’

“बस इतना सुनना था कि रुक्मिणी भभक पड़ी—‘आप क्या समझते हैं, मैं कोई मुग्धा हूँ, जो प्रेम के हिंडोले पर कभी इधर और कभी उधर पेंग मारती फिरूँगी? और राधा की तरह परकीया भी नहीं हूँ, सबकुछ समर्पण के बाद भी जीवन भर रोना जिसके भाग्य में लिखा है। मैं सीता की तरह कन्हैया की स्वकीया हूँ। मैंने उनका मन से वरण किया है और उन्होंने स्वीकार भी किया है। ऐसी स्थिति में या तो धरती माता या अग्निदेवता की गोद ही मेरा अंतिम आश्रय होगा।’

“रुक्मिणी की इस तेजस्विता के समक्ष हम सब चुप हो गए थे।

“ ‘फिर द्वारका क्या करेगी?’ भैया ने रुक्मिणी से पूछा।

“ ‘युग-युगांतर तक मेरे और पति की प्रेमकथा कहेगी।’ इसके बाद वह पागलों-सा प्रलाप करने लगी—‘अब मैं अग्निदेवता की गोद में बैठकर सीधे अपने पति से मिलूँगी।’ ”

रुक्मिणी की ऐसी दशा सुनकर मेरा कर्तव्यबोध भी जाग उठा। मैं सोचने लगा, ‘कितनी अद्भुत है वह! एक ओर मेरे प्रति उसका समर्पण और दूसरी ओर कोई व्यग्रता नहीं, छटपटाहट नहीं। बिल्कुल शांतभाव से आत्म उत्सर्ग के लिए तैयार।’

अब मेरी गतिशीलता बढ़ी और मैंने श्वेतकेतु से पूछा, “रुक्मिणी कब तक गिरिजा मंदिर में जाएगी?”

“अब स्वयंवर मंडप में जनता पहुँचने लगी है। लगता है, घड़ी भर में ही रुक्मिणी गिरिजा मंदिर में ले जाई जाएगी।”

“उसके साथ और कौन से लोग रहेंगे?”

“एक तो शैव्या का रहना निश्चित है और दूसरी—हो सकता है कि सुव्रता भी रहे। आखिर उसकी भावज जो ठहरी। उसका रहना तो आवश्यक है। फिर वहाँ और महिलाएँ भी हो सकती हैं।”

“महिलाएँ ही रहेंगी या पुरुष भी?” मैंने पूछा।

“परंपरा तो महिलाओं की रहने की है।” श्वेतकेतु बोला, “फिर जरासंध सुरक्षा की दृष्टि से इन महिलाओं की देखरेख के लिए सैनिकों को भी लगा सकता है।”

तब तक कुंडिनपुर में एक दूसरी ही अफवाह फैली कि नगर में एक ऐसा व्यक्ति आया है, जिसकी आकृति कन्हैया से मिलती है, पर वह कन्हैया नहीं है।

जनता की जिज्ञासा बढ़ी और जरासंध की आशंका भी—‘यदि कन्हैया भी हो, तो उसे रोका कैसे जा सकता है! यह बहु प्रचारित है कि निमंत्रण द्वारका गया है। वहाँ से लोग आए भी हैं। वह निमंत्रित माना जाएगा। निमंत्रित का

निरादर कैसा!’

अब स्थिति एकदम दूसरी। मुझे अब छिपने की आवश्यकता नहीं। लोगों की आँखों पर स्वयं संदेह का परदा पड़ गया था। कन्हैया मारा गया, फिर यहाँ कन्हैया कैसे! मैं अपना काम अपने प्रेत से लेने की स्थिति में था।

सुना है, इस समाचार के प्रसारित होते ही उद्धव, सात्यकि और स्वयं मेरे भैया मुझसे मिलने के लिए व्यग्र हो उठे। पर अब समय कहाँ था। राजकुमारी के गिरिजा पूजन के लिए प्रस्थान की घोषणा हो चुकी थी।

मैंने श्वेतकेतु से तुरंत अपना रथ मँगवाने का आग्रह किया। उसने शंका की कि रथ यहाँ लाने से पितामह कौशिक आपके प्रति सजग हो जाएँगे।

“अब हमें अपने प्रति किसीके सजग होने की चिंता नहीं।” मैंने कहा, “मुझे स्वयं अपने प्रति सजग होना है।”

फिर मैंने रक्ताक्ष से पूछा, “रथ-संचालन का ज्ञान है?”

“मैंने रथ चलाया तो है, पर...” रक्ताक्ष हिचकिचाया।

मैंने कहा, “कोई बात नहीं, केवल सहायता करो।”

“रथ आ ही रहा होगा।” श्वेतकेतु ने अपनी सूचना दी—“तो आप रथ लेकर किधर चलेंगे?”

“गिरिजा मंदिर के पार्श्व भाग में वरदा के किनारे, जहाँ चंदन की चिता सजाई जा रही है।” मैंने कहा और पूछा, “शैव्या कहाँ होगी?”

“मुझे लगता है, वह भी अपने परिचरों के साथ वहीं होगी।” श्वेतकेतु बोला।

“और उद्धव भैया तथा द्वारका के लोग?”

“भैया और उद्धव को तो रुक्मिणी की योजना मालूम ही है। उन लोगों ने नदी में एक नाव भी ठीक कर रखी है।” उसने कहा और तुरंत मेरी स्मृति में वह नाव उभर आई, जिसे मैंने आज प्रातः देखा था।

“पर नाव की अपेक्षा कहीं अधिक उचित होता कि भैया अपने रथ, साथी और सैनिकों के साथ वहाँ रहते।”

मेरे आदेश का पालन करने के लिए श्वेतकेतु तीर-सा छूटा।

इसी बीच मेरा रथ भी पितामह कौशिक के आश्रम के द्वार पर आ गया। दूसरी और वाद्य यंत्रों की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। निश्चित ही राजकुमारी का श्रृंगार पूरा हो चुका है और वह अब मंदिर की ओर चलने ही वाली हैं।

नगरवासियों का कोलाहल मंदिर की ओर बढ़ा। रक्ताक्ष से तुरंत मैंने रथ पर चलने को कहा। वह अपने आवश्यक सामान उठाने और सहेजने में लगा। मैंने उसे सावधान करते हुए कहा, “जब यात्रा लंबी और संघर्षमय हो तो हलके होकर चलना चाहिए।”

अब वह जैसे था, अपने अस्त्र लेकर मेरे पीछे हो लिया। हम लोग दौड़ते हुए आए और कूदकर अपने रथ पर सवार हो चल पड़े। मैंने तिरछी निगाहों से देखा कि पितामह बड़े गौर से हमें देख रहे थे।

रथ चलाते हुए मार्ग में जिन लोगों ने हमें देखा, उन्होंने मुझे अपने साथियों को दिखाते हुए कहा, “यही वह व्यक्ति है, जो कन्हैया की तरह दिखाई देता है।”

“बिल्कुल कन्हैया जैसा लगता है।” दूसरा बोला।

“हो सकता है, यह कन्हैया ही हो।”

“यह कैसे हो सकता है? वह तो मारा गया।”

संदेह और आशंका लिये हमारा रथ बढ़ता जा रहा था। एक स्थान पर भीड़ ने एकदम हमें घेर लिया। वे मेरी आराधना करने को तैयार थे। कुछ मुझे अचानक प्रकट हुआ देखकर प्रसन्नता से नाचने लगे।

“यदि आपकी भावना मुझे कन्हैया मानती है तो मैं आपका कन्हैया बन सकता हूँ।” मैंने कहा, “भावनाएँ तो

भगवान् बना देती हैं, कन्हैया बनाना तो दूर रहा।” सारी भीड़ मगन हो नाचने लगी।

और मैंने उनसे विनती की—“पर इस समय मुझे आराधना की नहीं वरन् आपके सहयोग की आवश्यकता है। बड़ी कृपा होगी, यदि आप मुझे मार्ग दे दें।” इतना सुनते ही भीड़ ने रास्ता छोड़ दिया।

मेरा रथ धड़धड़ाता हुआ मंदिर के पार्श्व भाग में पहुँचा। सामने चंदन की विशाल चिता में आग लगाई जा चुकी थी। निकट मूर्तिवत् स्थिर शैव्या खड़ी थी। दूर—नाव के पास उद्धव और सात्यकि मुँह लटकाए हुए किंकर्तव्यविमूढ़ से खड़े थे। हम भी रथ से उतरकर उसी वृक्ष की आड़ में खड़े हो गए। गदराए आम्रमंजरियों से ठिठोली करती वायु हमपर गंधवर्षा करने लगी।

तब तक मैंने देखा कि बलराम भैया भी रथ से आए और उतरकर किनारे लगी नाव की ओर बढ़े। शायद वे उद्धव और सात्यकि के निकट ही जा रहे थे। सारा माहौल हमसाये राजकुमारी की प्रतीक्षा में था।

घंटे, घड़ियाल और शंख ध्वनि के निरंतर बढ़ते हुए स्वर से यही लगा कि राजकुमारी इधर ही आ रही हैं। एक विचित्र हलचल हुई। भैया और उद्धव भी तट की ओर से चिता की तरफ बढ़े। देखते-ही-देखते रुक्मिणी एक घायल पक्षी की तरह लड़खड़ाती हुई चिता की ओर बढ़ी। भैया ने आगे जाकर उसे रोका और बाँह पकड़कर पीछे की ओर खींचा।

“छोड़ दो मुझे! छोड़ दो मुझे! तुम्हें ज्ञात नहीं क्या कि मैं तुम्हारे छोटे भाई की पत्नी हूँ? तुम्हें मुझे छूने तक का अधिकार नहीं है। तुम अपने अधिकार का अतिक्रमण मत करो।” रुक्मिणी जोर से चिल्लाई।

“मैं अपने अधिकार का नहीं वरन् तुम अपने अधिकार का अतिक्रमण कर रही हो।” भैया की आवाज भी काफी तेज थी—“इस चिता में कूदने से तुम्हारा अपना पति मिल नहीं जाएगा।”

“नहीं! मैं इस चिता के माध्यम से उससे मिलूँगी जरूर।” वह झटका देकर आगे बढ़ी।

तब तक जरासंध भी अपने साथियों को लेकर उधर आ चुका था।

“नहीं, यह नहीं होगा।” वह चिल्लाया।

“अब यही होगा।” रुक्मिणी पागलों की तरह चीखी। वह एकदम कूदने ही वाली थी कि मैं वृक्ष के पीछे से निकलकर दौड़ा और बोला, “अग्नि में नहीं, अग्नि के बाहर ही तुम्हारा पति तुमसे मिल जाएगा।” इतना कहते-कहते मैं उसके निकट पहुँचा और वह मुझे देखते ही बेहोश होकर मेरी गोद में आ गिरी।

“अरे कन्हैया!” बलराम भैया चकित हो मुझे देखते रह गए। उद्धव और सात्यकि तो पागलों-सा कूदने लगे।

“पर यह पागल होने का समय नहीं है।” मैंने एक आवाज उन्हें लगाई और उस संज्ञाशून्य रुक्मिणी को उठाकर अपने रथ पर ले चला।

मैंने उसे वैसे ही रथ में डाल दिया और उसके सुरक्षा की सारी जिम्मेदारी रक्ताक्ष पर छोड़कर रथ उड़ा ले चला। भैया और उद्धव के रथ भी पीछे हो लिये।

जरासंध हमें देखता ही रह गया। यह कन्हैया जैसा लगनेवाला व्यक्ति सचमुच कन्हैया था। वह एकदम स्तब्ध रह गया। उसकी सारी चेतना चकित थी। उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि ऐसा भी हो सकता है।

लोग कहते हैं कि हमारे चले जाने के बाद वह चकराकर वहीं गिर पड़ा था। जब रुक्मी और बाण ने उठाया तब उसकी आँखें झर रही थीं। वह पागलों-सा बड़बड़ाया—“रुक्मी, आज मैं पराजित हो गया। वह सामने देख रहे हो न! वह चिता नहीं बल्कि मेरा स्वाभिमान जल रहा है।”

रुक्मी भी दुःखी था ही, फिर भी उसने जरासंध को यह कहते हुए उठाया—“उठिए! अपने को सँभालिए। अन्य अतिथि देखेंगे तो क्या कहेंगे!”

जरासंध उठकर खड़ा तो हो गया, पर वह अब भी विक्षिप्तों-सा बड़बड़ाता रहा—“जिसको जो कहना हो, कह ले; पर इतने बड़े आयोजन में मेरी प्रतिष्ठा धूल-धूसरित हो गई, मेरे चक्रवर्ती बनने के स्वप्न में आग लगा दी गई है—और वह तब तक जलता रहेगा जब तक इस धरती पर कन्हैया मौजूद है।”

□

बाद में श्वेतकेतु ने बताया—“वह सबसे अधिक नाराज शैव्या पर था। उसका वश चलता तो वह उसे कच्चा चबा जाता; क्योंकि उसका विश्वास था कि वह सबकुछ जानती थी, पर उसे बताया तक नहीं।”

“वह तुमसे नाराज तो नहीं है?” मैंने पूछा।

“मुझसे तो बोलता ही नहीं।” श्वेतकेतु ने कहा।

□

हमारा रथ अपनी पूरी गति से चला जा रहा था। हमें आशंका थी कि जरासंध हमारा पीछा करेगा। रुक्मी हमारा पीछा करेगा। कुंडिनपुर की और मागधी सेनाएँ हमारा पीछा करेंगी। मैंने मुड़-मुड़कर कई बार पीछे देखा। केवल भैया, उद्धव एवं सात्यकि के रथ और हमारी सेनाएँ थीं; पर ये सब तो हमारे थे। यदि कोई मेरा पीछा करती चली आ रही थी तो विदर्भ की प्रतिष्ठा की उड़ती धूल।

थोड़ा आगे बढ़ने पर एक विचित्र घटना घटी। मैंने दूर से ही देखा, मार्ग के किनारे खड़ी एक श्वेत वस्त्रधारिणी रथ रोकने के लिए हाथ हिला-हिलाकर कुछ कह रही है। निकट आने पर उसकी आवाज स्पष्ट हुई—“कन्हैया, मुझे क्यों छोड़े जा रहे हो?”

“अरे, यह तो मालिनी (त्रिवक्रा) है!” मैंने एकदम रथ रोक दिया।

“तुम यहाँ कैसे?” मैंने पूछा।

“तुम्हें खोजते हुए।” वह बोली। काफी हाँफ रही थी। लगता था कि वह बहुत दूर से दौड़ी चली आ रही थी। उसीने बताया—“मैं भी कुंडिनपुर से आ रही हूँ।” वह संक्षिप्त मार्ग से आई थी, इसीलिए उसने हमारे रथ को पकड़ लिया।

हाँफते-हाँफते ही बोली, “मुझे तुम्हारे न होने का विश्वास नहीं था। मैं सोचती थी कि तुम अवश्य कहीं अदृश्य हो गए हो। अदृश्य होने से तुम्हारी व्याप्ति काफी बढ़ गई थी। आखिर मैं तुम्हें कहाँ खोजती! तुम जहाँ कहीं होगे, अक्षय तृतीया को कुंडिनपुर अवश्य आओगे। इस विश्वास को मैं कलेजे से लगाए यहाँ तक आ गई थी।”

मेरे पास उससे अधिक बात करने का समय नहीं था। मैंने उसे रथ पर बैठा लिया। रुक्मिणी की चेतना लौटते ही उसकी देखभाल के लिए हमें एक महिला की आवश्यकता पड़ती ही। फिर मेरा मन भी मालिनी को छोड़ने की स्थिति में नहीं था। वह कितने प्रयत्न के बाद मुझे पा सकी थी।

मैं चल पड़ा। मेरे आतंकित मन ने पुनः मुड़कर पीछे देखा। उड़ती हुई धूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। सूर्य मध्याह्न की ओर बढ़ चला था।

□

भय के वातावरण से हम लोग मुक्त हो बड़े आराम से चले जा रहे थे। यद्यपि संध्या नहीं हुई थी, पर सूर्य अस्ताचल की ओर आहिस्ता-आहिस्ता दुलक रहा था। आगे कुछ दूर पर कोलाहल-सा सुनाई दिया। उधर से भी एक पथ कुंडिनपुर से आकर इस मार्ग से मिल जाता था। यह समझते मुझे देर नहीं लगी कि इसी मार्ग से आई कुंडिनपुर की सेना का हमें सामना करना है। अपने साथियों को मैंने सचेत किया। वे लोग हमारी ओर आए। मैंने स्वयं रथ पर खड़े होकर रास सँभाली और मुड़कर रुक्मिणी की ओर देखा। अब भी वह चेतनाशून्य-सी शिथिल लग रही थी।

आगे तो हम लोग बढ़ ही रहे थे। वे लोग भी आगे आते गए। रुक्मी दूर से ही पहचान में आ गया; क्योंकि वह शब्द-अपशब्द चिल्लाता जा रहा था। उसकी भाषा मर्यादा का उल्लंघन करती रही थी। मुझे क्रोध आ गया। मैंने तुरंत सुदर्शन चक्र सँभाला।

अचानक रुक्मिणी उठकर बैठ गई।

“नहीं-नहीं, भैया को मत मारिए। मैं उसके जीवन की भीख माँगती हूँ।”

मेरी अर्द्धांगिनी और मुझसे भीख माँगे। मैंने तुरंत चक्र रोक लिया; पर तब तक रक्ताक्ष अपना बाण चला चुका था। मेरे रोकते-रोकते पीछे से कई बाण उसपर छूट चले और वह घायल होकर धरती पर गिर पड़ा। फिर भी बड़बड़ा रहा था। पर आपको जानकर आश्चर्य होगा कि उसकी सेना अब भी शांत थी। वह हतप्रभ-सी एकटक मुझे देख रही थी। मरा घोड़ा तो घास नहीं खाता। यह कन्हैया का न होना ‘होने’ में बदल कैसे गया!

कुंडिनपुर में ही रुक्मी जरासंध के साथ मुझे देखकर हतप्रभ हो गया था। यह बाद में पता चला कि हम लोगों के वहाँ से चल पड़ने पर वह जैसे सचेत-सा हुआ और सबके सामने बोला, “अरे, यह क्या हो गया?”

तब जाकर उसने हमपर आक्रमण करने की योजना बनाई।

उसकी इस योजना में बहुत थोड़े सैनिकों ने साथ दिया; क्योंकि उस समय कुंडिनपुर में मेरे देवत्व का चमत्कार आतंक बन गया था। इस आतंक से उसकी ही सेना के अधिकांश लोग उसका साथ देने से कतरा गए। जरासंध के मुख में तो जैसे कालिख लग गई थी। फिर मागधी सेना कैसे साथ आती!

इस समय भी उसकी सेना मौन, विस्मयाभिभूत होकर मुझे देख रही थी। पर धरती पर गिरा रुक्मी अब भी मुझे बुरा-भला कहता ही जा रहा था—“भगोड़ा कहीं का! कभी मगध नरेश के भय से मथुरा छोड़कर भाग गया और आज हम लोगों के भय से सारे विदर्भ को धोखा देकर मेरी बहन को ले भागा। यदि साहस हो तो आ जा मेरे सामने। एकाकी युद्ध हो जाए।”

इसी प्रकार भूमि पर पड़ा-पड़ा वह ललकारता रहा। भैया, उद्धव और सात्यकि उसपर हँसते रहे।

आप अचरज करेंगे कि उसके सारथि के सिवा कोई दूसरा उसे उठाने नहीं आया। वह उसे झटका दे रहा था और भूमि पर पड़ा-पड़ा पागलों-सा मेरे विरुद्ध बड़बड़ा रहा था; यद्यपि उसके व्रण से रुधिर बह रहा था।

आखिर सुनने की भी एक सीमा होती है। उसकी वाणी एकदम अमर्यादित हो गई। मेरे धैर्य का बाँध भी टूट पड़ा और मैं एकदम अपने रथ से कूद गया। मेरे कूदते ही रुक्मिणी कूदी। अब तक पड़े उसके श्लथ शरीर में कहाँ की ऐसी तेजी आ गई और मेरे निकट आकर उसने तुरंत मेरा हाथ पकड़ लिया।

मैंने उससे कहा, “मैं उसे मारने नहीं जा रहा हूँ। भूमि से पहले उसे उठाने जा रहा हूँ।”

रुक्मिणी ने मुझे अत्यधिक क्रोध में देखा। मेरा तन काँप रहा था। उसने सोचा कि मैं उठाने के बाद उसकी हत्या कर दूँगा। तब उसने मुझसे गिड़गिड़ाते हुए कहा, “आप इसे छोड़ दीजिए। यह स्वयं अपनी करनी का फल पा रहा है।”

मैं लौट आया। रुक्मिणी ने उसे उठाने की चेष्टा की। वह उससे भी स्वयं को छुड़ाने की कोशिश कर रहा था। पर तन से इतना रक्त निकल चुका था और वह इतना शक्तिहीन हो गया था कि अपनी बहन से भी स्वयं को छुड़ा नहीं पाया और उसे भी बुरा-भला कह रहा था।

जब उसके पागलपन ने अपनी बहन को ‘कुलटा’ और ‘चरित्रहीन’ जैसे शब्दों से संबोधित किया तो मुझसे रहा नहीं गया। मैंने बड़े झटके से रुक्मिणी को खींचा और उसपर झपटा।

“यह क्या कर रहे हैं, नाथ?” वह एकदम अपने भाई पर आकर गिर गई और बोलती रही, “हे भगवान्, तुमने मुझे

किस विपत्ति में डाल दिया है! एक ओर मेरा पति, दूसरी ओर मेरा भाई। इनका हर प्रहार भले ही इन दोनों में से किसी पर हो, पर चोट तो मुझे ही लगेगी।”

इसके बाद उसने अपने भाई को बड़ी जोर से झकझोरा—“तू अपनी दशा नहीं देखता, बोले जा रहा है। पहले तो तू उनका कुछ कर नहीं सकता और तूने उन्हें मार ही दिया, तो विजय तेरी नहीं होगी। विधवा मैं होऊँगी। पराजय मेरी होगी।”

वह बोलती जा रही थी—“तू हठ पर अड़ा है; पर सोचता नहीं कि कालयवन भी जिसका बाल बाँका न कर सका, जरासंध भी जिसके विरोध का साहस न जुटा पाया, उसका विरोध करने तू आया है! क्या कर सकेगा तू इनका? एक हाथ में तो स्वर्ग सिंधार जाएगा, तब भी पराजय मेरी ही होगी। मैं भ्रातृविहीन हो जाऊँगी।...और उनकी सोच, जो इस समय कुंडिनपुर में पड़े हैं। पितामह का क्या होगा? पिताजी का क्या होगा और उस बेचारी सुव्रता का क्या होगा?”

इतना कहते हुए रुक्मिणी ने विदर्भ के सैनिकों को बुलाया और एक सेनापति की तरह उन्हें आज्ञा देते हुए बोली, “तुम लोग मुँह क्या देख रहे हो! इन्हें उठाओ और रथ में डालकर राजधानी ले जाओ। इनकी चिकित्सा करो।”

सैनिकों ने तुरंत उसे उठाया। वह अब भी झटककर निकल जाने की कोशिश कर रहा था।

“आप लोग हमारा रास्ता छोड़ देने की कृपा कीजिए।” रुक्मिणी बोली।

“ना हों।” रुक्मी चिल्लाया; पर उसकी आवाज अनुशासन की शक्ति खो चुकी थी। सेना रुक्मी को लेकर जिस मार्ग से आई थी, उसी मार्ग से चली गई। यह सब भी एक नाटक की तरह हुआ और दो-तीन घड़ी का व्यवधान देकर नाटक की तरह ही समाप्त हो गया। मैंने सोचा, कहने को नहीं रहेगा कि किसी प्रकार का प्रतिरोध नहीं हुआ।

हम लोग चले जा रहे थे। संध्या हो चुकी थी और कालिमा बढ़ रही थी। हमें जल्दी-से-जल्दी प्रभास पहुँचना था। यदि वरदा पार कर हमने प्रभास का मार्ग पकड़ा होता और किसी प्रकार का व्यवधान न आता तो हम रात के प्रथम प्रहर तक प्रभास पहुँच जाते। पर यह मार्ग लंबा था।

लंबे संघर्ष के बाद आई निश्चिंतता ऐसी थकान का बोझ लाती है कि आगे चलना मुश्किल हो जाता है। इस समय भी यही स्थिति थी। अपने साथियों को देखकर मैं यही चाहता था कि कम-से-कम रात्रि में एक प्रहर का विश्राम तो ले लिया जाए। लगातार यात्रा से लोग थक चुके थे। पर भैया आदि इस पक्ष में नहीं रहे। उनका सोचना था कि द्वारकावासी घबरा रहे होंगे।

उन्होंने जोर देकर कहा, “यह तो सोचो, उनकी दृष्टि में यह प्रयाण अब भी कन्हैयाविहीन है। पल-पल पर उन्हें भारी पड़ रहा होगा। प्राण शूली पर टँगे होंगे।”

अब तो रात भर चलना था। अँधेरी रात थी, पर रास्ता साफ। मौसम भी अनुकूल था। मुझे झपकी आने लगी। रक्ताक्ष पहले से ही दुलका जा रहा था। रुक्मिणी ने स्थिति भाँप ली और वह खिसककर आगे आई—“आप लगाम मुझे दे दीजिए और पीछे दुलककर झपकी ले लीजिए।”

“तू क्या रथ चला लेगी?”

“रास देकर तो देखिए।” वह मुसकराई और मैंने उसे डोर थमा दी। अब वह बड़े सहजभाव से रथ का संचालन करने लगी।

“अरे, तू तो कैकेई है। युद्धस्थल में भी काम आ सकती है।” मैंने प्रसन्न होकर कहा।

“ऐसा मत बोलिए।” वह बड़े सलज्जभाव से बोली, “मैं आपको अपना राम मान चुकी हूँ।”

मैं एकदम चुप हो गया। मैं रुक्मिणी की वाक्पटुता से पहले ही से परिचित था; पर इस समय तो वह बड़ी

सहजता से जीवन का यथार्थ बोल गई।

ब्राह्म मुहूर्त होते-होते हम प्रभास पहुँच गए थे। अब मेरे होने की बात जंगल की आग की तरह चारों ओर फैलती जा रही थी। प्रभास में भी मेरा दर्शन करनेवालों की कमी नहीं थी। उनकी दृष्टि में भक्ति से अधिक कुतूहल था। चमत्कार के प्रति आकर्षण था।

हम लोग शीघ्रता में रहे। यथाशीघ्र निवृत्त हो महाकाल का दर्शन कर चल पड़ने वाले थे, इसलिए लोगों की जिज्ञासाओं के उत्तर देने के झमेले में पड़ना मेरे लिए संभव नहीं था। अतएव हर जिज्ञासा, हर अभिवादन के लिए एक मुसकराहट के अतिरिक्त और कुछ था ही नहीं।

जब हम सोमनाथ मंदिर में पहुँचे, दिन दो घड़ी पार कर गया। मंदिर का पूजन समाप्त हो चुका। आरती की लौ भी ठंडी पड़ चुकी थी; फिर भी अभी देवाधिदेव को भोग नहीं लगाया गया। मेरी प्रतीक्षा की जा रही थी। उधर मैं घिरा हुआ। सोमनाथ नगर में पहुँचते ही लोगों ने मुझे पहचान लिया। लोग मेरे चारों ओर एकत्र हो गए। कुछ की दृष्टि काल के प्रकोष्ठ से लौटे व्यक्ति को देखने के लिए आतुर जरूर थी।

तब तक पुजारियों का एक झुंड 'हटो-बढ़ो' करता हुआ आया और हमारे रथ को भीड़ से निकालकर सीधे मंदिर की ओर ले गया। मंदिर परिसर के बाहर उन्होंने बड़ी श्रद्धापूर्वक रथ से पहले मुझे उतारा, बाद में रुक्मिणी को। मंदिर की बाहरी ड्योढ़ी पर ही हम दोनों का मत्था टिकाया गया। पर जनश्रद्धा का ऐसा दबाव था कि मैं कुछ बोल नहीं पाया। पुजारी जो कहते गए, यथावत् वह करता रहा।

जब मंदिर के मुख्य प्रकोष्ठ में प्रविष्ट होने लगा, तब प्रधान पुजारी स्वर्ण के एक थाल में मधु-केशरमिश्रित मक्खन ले आया और उसको मेरे हाथ में थमाकर बोला, “इसे ले जाइए और अपने हाथ से ही देवाधिदेव को भोग लगाइए। आपको मालूम है, जब से आपके न होने का समाचार मिला था तब से हम लोगों ने नवनीत का नैवेद्य समाप्त कर दिया था।”

और फिर घंटे-घड़ियाल बजने लगे। मंत्रोच्चार होने लगा। मुझे पता नहीं था, मेरे सोमनाथ मंदिर में प्रविष्ट होते ही सात्यकि को साथ लेकर उद्धव चल पड़ा था। उन लोगों ने सबसे पहले पहुँचकर द्वारका में रुक्मिणी के साथ मेरे आने की सूचना दी। सुनते ही द्वारका जैसे प्रसन्नता में नाच उठी।

“अरे, कन्हैया जीवित है!” यह समाचार नहीं था। उनके लिए आकाशवाणी थी। हर आकृति पर फूल खिल उठे। हर अधर पर बिजली चमकने लगी। नानाजी (उग्रसेन) तो हर्षातिरेक में अचानक मेरी माँ को गले लगाने के लिए बढ़े और गिर पड़े। कुछ समय तक तो संज्ञाशून्य थे; पर जब उन्हें होश आया तो बोले, “यह मेरे जीवन का परम आनंददायक क्षण है।”

जब रेवती भाभी ने मेरे होने का समाचार अपने पिताजी से कहा तो वे प्रसन्नता में मुसकराए और बोले, “मेरे लिए तो वह कभी मरा ही नहीं था, इसलिए उसके जीवित रहने का समाचार कोई महत्त्व नहीं रखता।”

देखते-देखते द्वारका दुलहन की तरह सज गई। लोग अगवानी के लिए समुद्रतट की ओर आने लगे। मेरा जलयान अभी पहुँचा नहीं था कि पूरा पत्तन द्वारकावासियों से भर गया। लोगों की जिज्ञासा चरम सीमा पर थी। वे मुझे ही नहीं वरन् एक ऐसे व्यक्ति को देखने आए थे, जिसका भगवान् होना भले ही विवादास्पद हो, पर वह ऐसा व्यक्ति अवश्य है, जिसकी मुट्ठी में जीवन और मृत्यु है, जिसकी गरिमा पर जय और पराजय है।

पत्तन पर उतरते ही गगनभेदी नारों से आकाश गूँज उठा; जैसे मैं बहुत बड़ी विजय करके लौटा हूँ। एक विजयी योद्धा से अधिक मेरा सम्मान एक चमत्कारी व्यक्ति के रूप में किया गया। राजमार्ग के दोनों ओर पुष्पवर्षा करती भीड़ मेरे स्वागत में खड़ी थी। प्रासाद के द्वार पर नाना उग्रसेन, पिताजी, चाचा अक्रूर, गुणवंती चाची, उपदेव और

माँ मेरी आरती लेने के लिए विह्वल दिखाई पड़े।

मेरे पीछे-पीछे रुक्मिणी और उसे सहारा देती हुई मालिनी (त्रिवक्रा)। यद्यपि रुक्मिणी को सहारा देने की आवश्यकता तो थी नहीं; पर वह नवल वधू थी न। उसकी चाल में वैसी ही गरिमा आ गई थी।

मालिनी को देखते ही माँ बोली, “अरे, यह यहाँ कैसे?”

“आप तो मुझे छोड़ आई थीं।” इठलाते हुए उसने कहा, “आखिर वधू को लाने के लिए एक सखी की आवश्यकता तो थी ही। मैं चली आई।” उसके कहने के ढंग पर सभी हँस पड़े।

जब कुलदेवता के पूजन की बात आई, मैंने हँसते हुए कहा, “अभी हमारा विवाह नहीं हुआ है।”

“तो इससे क्या! घर में वधू तो आई है।” माँ प्रसन्नता में बोली और कुलदेवता का पूजन आरंभ हुआ। मैं चारों ओर देखकर बोला, “कंसा मौसी दिखाई नहीं पड़ रही है।”

“वह तो इसी दिन यहाँ से चली गई, जिस दिन उसे पता चला कि कालयवन मारा गया।” माँ ने बताया—“वह कह रही थी, अब तो जरासंध की कमर ही टूट गई, वह मथुरा को भस्म क्या करेगा!”

“विदर्भ से लौटने तक तो उसे प्रतीक्षा करनी चाहिए थी।” मैंने कहा।

“कंसा को तुम्हारे होने की सूचना बृहद्बल को देनी रही होगी।” माँ बोली और बात वहीं समाप्त हो गई।

अब शीघ्र ही मेरे विवाह की व्यवस्था के प्रति लोग चिंतित हुए। मुख्य चिंता भैया की थी। उनका कहना था—“वास्तविक विवाह तो आत्मिक होता है—और मैं यह मानता भी हूँ कि उन दोनों का विवाह हो चुका है; पर जब तक कर्मकांड नहीं संपन्न होता तब तक इस आत्मिक विवाह को भी सामाजिक मान्यता नहीं मिलती।”

“पर इसमें बाकी क्या है?” मैंने कहा।

भैया एकदम बिगड़ पड़े—“इतने बड़े राजनीतिक होकर तुम कभी-कभी बड़ी मूर्खता की बात करते हो। जानते हो, जब तक तुम्हारा विवाह नहीं होता तब तक जरासंध और रुक्मी के आक्रमण का खतरा बना रहेगा। जैसे तुम उनसे रुक्मिणी को छीनकर लाए हो वैसे वे भी तुमसे रुक्मिणी को छीनकर ले जा सकते हैं।”

“क्या आपको विश्वास है कि इतना होने के बाद भी उनमें कुछ करने का साहस होगा?”

“तुम साहस की बात करते हो? प्यासी महत्वाकांक्षा और कुचला हुआ अहं सौ गुना आक्रामक होता है; वैसे उसके घायल मन की छटपटाहट कुछ भी कर सकती है।”

भैया का समर्थन माँ ने किया। पिताजी ने भी, नाना ने भी और सबने।

तुरंत यह निश्चय हुआ कि आचार्य को बुलाकर कोई मुहूर्त निकलवाकर विवाह कर दिया जाए।

मैंने पहली बार अनुभव किया कि रुक्मिणी बड़ी प्रसन्न है। उसकी प्रसन्नता उसके व्यक्तित्व से छलकी पड़ रही थी। अधर मुसकराहट को रोक नहीं पा रहे थे। और मालिनी, वह भी कम प्रसन्न नहीं थी—एक की प्रसन्नता में कुछ पाने का सुख था और दूसरे में त्याग का संतोष। एक सौभाग्य बटोरने के आह्लाद में थी और दूसरी अपने प्रिय की प्रसन्नता पर उसे लुटाकर आनंदित होने की मुद्रा में। एक का प्रेम पुष्पित हो रहा था और दूसरी तितली की तरह उस पुष्प को बड़े सहजभाव से देखते हुए एक विचित्र स्पंदन का अनुभव कर रही थी।

बुलाना जिसे था—गर्गाचार्य तो उपस्थित थे ही। नानाजी ने उनसे विवाह का मुहूर्त निकालने का निवेदन किया।

“तेरा विवाह!” गर्गाचार्य मुझे संबोधित करते हुए मुसकराए। फिर उन्होंने औरों से कहा, “उसके विवाह के मुहूर्त की आवश्यकता क्या, जिसने बिना मुहूर्त के कई विवाह कर लिये हों?” इतना कहते-कहते आचार्य की हँसी जैसे फूट पड़ी। अन्य लोग भी हँसने लगे।

फिर उन्होंने गणना आरंभ की; पर मेरा मन तो यमुना के किनारे करील के कुंजों में रमने लगा था। यादों की बंद

पेटिका सहसा खुल गई थी। उन कुंजों में मैंने राधा के साथ कितने विवाह रचाए थे। यद्यपि वे हँसी-खेल थे, पर मेरे मन से कितने चिपके हुए। आज भी कितने गुदगुदाते हुए।

आचार्यजी ने बताया—“एक महीने के पूर्व कोई भी ठीक मुहूर्त मिल नहीं पा रहा है।

“तो ठीक है। एक मास बाद ही सही।” भैया बोले, “इसके साथ ही राज्याभिषेक की भी तिथि निकाल दें, तो आपकी बड़ी कृपा होगी। मैं चाहता हूँ कि दोनों तिथियाँ आसपास ही रहें तो अतिथियों को सुविधा होगी। दोनों समारोहों के निमित्त उन्हें एक ही बार आना होगा।”

“किंतु राज्याभिषेक की तिथि तो आपके ग्रह-नक्षत्रों के अनुसार निकाली जाएगी।” मैंने भैया से कहा।

“क्यों?”

“क्योंकि राज्याभिषेक आपका होगा।”

“वह भी तुम्हारा ही होगा।” भैया तुरंत बोले; जैसे उन्होंने पहले से ही इसका निश्चय कर लिया हो—तभी तो एक ठोकर मारकर कंदुक की तरह राजसत्ता मेरी ओर उछाल दी।

मैं बड़े असमंजस में पड़ा। ककुद्मिन के प्रतिशोध का संकल्प भैया ने लिया था। उस युद्ध में सारा प्रयत्न उनका और रेवती का था; पर मैं भैया का विरोध करने की स्थिति में नहीं था। मैंने धीरे से कहा, “द्वारका के निर्माण में सारा प्रयत्न आप और भाभी रेवती का है।”

“पर स्वप्न तुम्हारा था। आकांक्षा तुम्हारी थी। समस्या तुम्हारी थी कि राजकुमारी रुक्मिणी को लाकर रखा कहाँ जाएगा। मैं तो केवल तुम्हारे स्वप्न को रूप देने में सहायक बना, तुम्हारी समस्या के समाधान में सहयोगी बना।”

भैया की मुद्रा तो सत्ता के प्रति ऐसी निस्पृह दिखाई दी जैसे राम भरत के लिए अयोध्या छोड़ रहे हों।

“पर परंपरा के अनुसार बड़े भाई के रहते छोटा भाई द्वारकाधीश कैसे हो सकता है?” मैंने कहा।

“आर्यावर्त में अब परंपराएँ नहीं, परिस्थितियाँ देखी जाती हैं।” भैया छूटते ही बोले। शायद उनके समक्ष हस्तिनापुर का ताजा उदाहरण था।

फिर उन्होंने पिछली घटनाओं की याद दिलाई—“आप लोगों को स्मरण होगा, नानाजी ने मथुरा में जब अपने उत्तराधिकारी की बात कही तब भी मैंने स्वयं को उस स्थिति से अलग किया था। मैं चाहता था कि कन्हैया ही उनका उत्तराधिकारी बने।”

“पर यहाँ की स्थिति दूसरी है, भैया।” मैंने कहा, “वहाँ तो प्रजा का भी यही आग्रह था।”

“यहाँ भी तो वही प्रजा है।” भैया बोले, “मेरे विचार से तो परिस्थिति में कोई अंतर नहीं है।”

मैंने अब रेवती भाभी की ओर देखा। वह चुपचाप खड़ी थीं। उनकी आकृति पर तनाव की कुछ रेखाएँ उभर आई थीं। स्पष्ट लगा कि भाभी भैया के प्रस्ताव से सहमत नहीं हैं।

“अच्छा, इस विषय को अभी छोड़ दिया जाए, फिर विचार किया जाएगा।” मैंने बतलाने की नीयत से कहा।

“विचार आप जब चाहें तब करें, पर मुहूर्त एक साथ ही निकल आता तो ठीक था।” भैया बोले, “अतिथियों को दो बार आने-जाने का कष्ट न उठाना पड़े।” भैया ने यह बात इतनी जोर देकर कही कि किसीका साहस जरा भी मीन-मेख निकालने का न हुआ। रुक्मिणी भी दबी आँखों भैया की आकृति देखती रह गई।

आचार्यजी ने महीने भर के भीतर मेरे द्वारकाधीश बनाने के लिए मुहूर्त तो निकाल दिया था, अब समस्या थी उसकी व्यवस्था करने की; क्योंकि विवाह के कर्मकांड में कोई झंझट नहीं था। सारी परेशानी थी राज्याभिषेक की। उसमें सप्त सागरों, सप्त महानदियों तथा सभी ऋतुओं में हुई वर्षा के जल की आवश्यकता थी। एक ओर मानसरोवर व्यक्ति भेजना था और दूसरी ओर कन्याकुमारी। फिर आर्यावर्त के सुदूर पूर्व से ब्रह्मपुत्र का जल लाना

था।

समस्या कठिन थी। एक महीने में सबकुछ संभव नहीं था। कुछ समय तक यह चिंता सभी को घेरे रही। जब कोई रास्ता निकलता दिखाई नहीं दिया तब पिताजी ने भैया को वस्तुस्थिति बताते हुए कहा, “जितना शीघ्र तुम कन्हैया को द्वारकाधीश बनाना चाहते हो, उतना शीघ्र तो संभव नहीं लगता।”

“क्यों? राजसिंहासन कभी खाली तो नहीं रहता।” भैया बोले, “एक राजा के न रहने पर दूसरा राजा कैसे गद्दी पर बैठा दिया जाता है?”

“गद्दी पर बैठा देना और बैठ जाना एक बात है और राज्याभिषेक दूसरी बात।” आचार्यजी उसी आवेश में बोलते गए—“किसीके प्रेमजाल में फँसकर किसीको पत्नी मान लेना एक बात है और विधिवत् विवाह करना नितांत दूसरी बात।”

अब चिंता से बोझिल मौन सबकी आकृतियों पर चिपक गया।

“आचार्यजी ठीक कहते हैं।” इस अवसर पर रेवती भाभी के एक संकोच भरे वाक्य ने माहौल को और गंभीर बना दिया।

उस समय तो बात बिना किसी समाधान के ही समाप्त हो गई।

मुझे लग रहा था कि मेरा अभिषिक्त होना शायद भाभी को अच्छा नहीं लग रहा है; पर मेरी स्थिति ऐसी नहीं थी कि किसीसे स्पष्ट बातें कर सकूँ। मैं उद्धव से मिला। उससे सारी बातें बताईं। उसका भी अनुमान मेरा समर्थन कर रहा था। मैंने उसे समझाया—“किसीसे इस संबंध में बातें करना ठीक नहीं है। यह उचित तो नहीं है, पर तुम भैया के साथ लगे रहो। देखो, भाभी से उनकी क्या बात होती है।”

“उनके साथ लगे रहने का मेरा साहस नहीं है। यह हो सकता है कि दूर से उन्हें देखता रहूँ।” उद्धव बोला, “पर इससे कोई लाभ नहीं। कोई जरूरी नहीं कि वे सारी बातें मुझे बता ही दें।”

“इतने दिन हो गए साथ रहते और तुम भैया को नहीं जानते!” मैंने कहा, “जो बात उनके मन के अनुकूल नहीं होगी, वे उसे कभी गोपनीय नहीं रख सकते। यों ही बड़बड़ाने लगेंगे।”

और हुआ भी ऐसा ही।

उद्धव ने बताया—“भैया के अपने कक्ष में पहुँचने के थोड़ी देर बाद ही बड़ी दबी जबान से रेवती भाभी ने कहा, ‘सचमुच आपने कन्हैया को द्वारकाधीश बनाने का निश्चय कर लिया है?’

“‘क्या इसमें तुम्हें कोई संदेह दिखाई देता है?’

“‘मैं चाहती हूँ कि इस विषय पर आप मेरे पिताजी से भी राय ले लेते तो अच्छा होता।’

“‘क्या अच्छा होता?’ भैया एकदम भड़क उठे और लगे जोर-जोर से बोलने—‘जो अपना राज्य सँभाल नहीं पाया, सारे वैभव में आग लगाकर विरक्त हो गया, उससे राजनीति के संबंध में सलाह लेना वेश्या से सतीत्व के बारे में राय लेना है।’

“रेवती भाभी को भैया के तर्क की शब्दावली खराब लगी और उन्होंने भैया से कहा भी—‘आप बोलते समय कभी भी ध्यान नहीं रखते कि आप किसके लिए कौन सा शब्द प्रयोग कर रहे हैं।’

“‘शब्दों को तो बदला भी जा सकता है और तुम अच्छी तरह बदल सकती हो।’ भैया ने कहा, ‘मैं हर बात सीधे और सादे ढंग से करना जानता हूँ।’

“‘क्योंकि आप वास्तव में राजनीतिज्ञ नहीं हैं।’

“‘इसीलिए तो मैं द्वारकाधीश बनना नहीं चाहता।’ ”

उद्धव ने बताया—“इतना सुनते ही रेवती भाभी वहाँ से चली गई। उनकी मुद्रा अत्यंत गंभीर थी।”

इससे मेरे मन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा; क्योंकि मैं द्वारकाधीश होने के लिए बहुत लालायित नहीं था। मैं भाभी से भी मिला और उन्हें खोलने के लिए बातों-बातों में कुरेदा भी—“द्वारका पर तो वास्तविक अधिकार आपका ही है। आपके पराक्रम और संकल्प के कारण हम इतनी अद्भुत नगरी बनाने में सफल हो सके हैं।”

पर वह कुछ नहीं बोलीं। मैंने भी इस विषय को समय की खूँटी पर टाँग दिया। सोचा, जब समय आएगा तो देखा जाएगा।

मेरी दृष्टि इस समय विवाह पर ही थी; क्योंकि रुक्मी और जरासंध के कुछ भी कर देने की आशंका हर क्षण बनी थी। विवाह के बाद तो देवताओं के साक्ष्य के साथ हम दोनों का एक संस्कारी बंधन हो जाएगा। इस समय तो हमारे बीच मात्र बंधन था, जो मेरी दृष्टि से किसी प्रकार भी दुर्बल नहीं था। पर समाज की दृष्टि में ऐसे बंधनों का कोई महत्त्व नहीं। उसने प्रतिदिन ऐसे बंधनों को टूटते और बँधते देखा था।

पर भैया आदि बड़ों की दृष्टि में दोनों समारोह अत्यंत आवश्यक थे। समस्या थी तो सारे विधि-विधान के अनुसार अभिषेक के लिए सामग्री जुटाने की। इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया नानाजी ने।

उन्होंने बताया—“मथुरा में अभिषेक के लिए सभी आवश्यक उपकरण जुटा लिये गए थे। सप्तसिंधु, सप्तनदी और सभी ऋतुओं का जल एकत्रित किया गया था। आज तक उसका उपयोग नहीं हुआ। उसे सुरक्षित होना चाहिए। किसीको भेजकर उसे यथाशीघ्र मँगा लेना होगा।”

साथ ही नानाजी ने एक आशंका व्यक्त की कि यह सारा सामान मामी की देखरेख में ही रखा गया था। यदि उसने नष्ट न किया होगा तब तो मिल ही जाएगा।

“आखिर नष्ट क्यों करेगी वह?” पिताजी बोले।

“नहीं। वह कर सकती है। जब उसने यह सुना कि अब मथुरा के युवराज पद पर बृहद्बल का अभिषेक होगा तो वह एकदम नाराज हो उठी। ऐसी मनःस्थिति में वह कुछ भी कर सकती है।” नानाजी बोले।

अब एक व्यक्ति के शीघ्र दौड़ाने का प्रश्न था; पर वह कोई भी व्यक्ति नहीं हो सकता था, अन्यथा मैं रक्ताक्ष को भी भेज सकता था। उस व्यक्ति को ऐसा होना चाहिए था, जिसका माया भी विश्वास कर सके। फिर अच्छा होता कि वह मथुरा की मानसिकता का भी पूरा आभास लेने में समर्थ हो।

इन सभी दृष्टियों से मेरे पास बस एक ही व्यक्ति था—उद्धव। किंतु उसने आना-कानी की। मैंने उसे समझाया—“मैं भी नहीं चाहता कि तुम्हें भेजूँ, क्योंकि तुम्हें भेजने पर मैं अकेला हो जाता हूँ; पर तुम्हारे सिवा मेरा कोई ऐसा विश्वस्त भी तो नहीं है। यदि तुम्हें न भेजूँ तो क्या करूँ?”

मैं कहता गया—“तुम्हें याद है? मैंने कभी तुम्हें गोकुल की गोपियों के पास भी भेजा था और लौटकर तुम्हींने मुझे बताया कि आपने उन विरहिणियों के पास भेजकर मेरा बड़ा उपकार किया। मेरे ज्ञान का सारा अहंकार वहाँ धूल में मिल गया। मैं कितना हलका हो गया हूँ, गोपाल।...और तुम वहाँ से भक्ति की जो निधि ले आए थे, वही आज तुम्हारे कर्मों की पूँजी है। उस माया की तरह यह माया भी। हो सकता है, तुम्हारे जीवन की यह अविस्मरणीय घटना हो।”

बस इतना समझाया था कि उद्धव एकदम तैयार हो गया। वह इधर के मार्ग से अनभिज्ञ था, इसलिए मैंने उसके साथ रक्ताक्ष को कर दिया और कहा, “अपनी सुविधा के लिए तुम्हें और जिसे ले जाना हो, चुपचाप ले जाओ; क्योंकि तुम्हारी यह चालाकी बहुत प्रचारित नहीं होनी चाहिए।”

दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त में उद्धव मथुरा के लिए चल पड़ा।

□

रुक्मिणी के लिए यह संसार बिल्कुल नया था। उसने जीवन में पहली बार समुद्र देखा। उसकी उत्ताल तरंगें, हवा को दूर तक खदेड़ता उसका लहराता झोंका, उसकी क्रुद्ध मनःस्थिति का हाहाकार, उसकी सुखद मानसिकता की खिलखिलाहट, उसकी शांत मुद्रा का गंभीर मौन और टकराती लहरों पर बर्फ के मुकुट की तरह फेनों का अंबार— यह सबकुछ उसके लिए नया, आकर्षक, अनदेखा और विस्मयकारी था। वह बहुधा मालिनी के साथ समुद्रतट पर चली जाती और वहीं बैठी-बैठी सागर के विभिन्न रूप देखा करती।

उसे सूर्यास्त सबसे अच्छा लगता था। इसलिए संध्या होते-होते वह अवश्य सागरतट पर पहुँच जाती और बताती कि जब सूर्य डूबने लगता तब ऐसा प्रतीत होता है कि विशाल स्वर्ण कलश ढुलकता हुआ जल के भीतर चला जा रहा है और पिघला हुआ सोना लहरों पर बह गया है।

मैंने उससे एक दिन कहा, “यहाँ तुम सुरक्षित तो हो, पर खतरे से खाली नहीं हो।”

“क्यों?”

“क्योंकि यह पुण्यजन और पंचजन राक्षसों का प्रभाव है। वह तुम्हें अकेला देखकर उठा ले जा सकता है।...फिर तुम्हारे भाई की नीयत और उसकी कुयोजना का कोई ठिकाना नहीं। पता नहीं वह कौन सा षड्यंत्र रच रहा हो और कब आ धमके!”

“इसके लिए मुझे तो चिंता करनी नहीं है। यह चिंता तो आपकी है।” रुक्मिणी ने बड़े सहजभाव से कहा, “मैंने जब स्वयं को आपके चरणों में अर्पित कर दिया और आपने मेरा समर्पण स्वीकार कर लिया, बस उसी क्षण मैं चिंतामुक्त हुई।”

मुझे उसके तर्क पर हँसी आ गई। फिर भी मैंने चार परिचर उसके साथ सदा के लिए लगा दिए। इसके बाद मैंने रेवती भाभी की स्थिति का भी आभास कराया और उससे कहा कि यदि तुम्हारे और उनके बीच कोई दूरी हो तो यथाशीघ्र उसे समाप्त करो।

“पर मुझे तो कोई दूरी दिखाई नहीं देती।” उसने कहा अवश्य, फिर भी वह निकटता बढ़ाने की ओर अग्रसर हुई और छाया की तरह उसके पीछे लग गई। अब जहाँ रुक्मिणी वहीं रेवती, जहाँ रेवती वहीं रुक्मिणी।

सुना है, एक दिन रेवती भाभी चुपचाप उसे अपने पिता के पास ले गई थीं। उन्होंने उसे खुलकर आशीर्वाद तो दिया ही, साथ ही रेवती से कहा भी—“देखना, इसे तुम अपनी छोटी बहन ही समझना। इसमें तुम्हारी भलाई है और इसकी भी।”

रेवती को बड़ा आश्चर्य था कि किसीसे न बोलनेवाले पिताजी इससे इतना बोले कैसे? और ‘तुम्हारी भलाई और इसकी भलाईवाली’ बात उन्होंने कैसे कही?

रुक्मिणी ने भी इसके विषय में मुझसे पूछा। मैंने बताया कि “जो कुछ भी नहीं बोलता, यदि कभी कुछ बोल देता है तो रहस्यमय हो जाता है।”

“तो यह रहस्य हो गया है। इसमें रहस्य है नहीं।”

“बिल्कुल नहीं।” यही बात मैंने रेवती भाभी को भी समझाई। वह लगभग मेरे निष्कर्ष के समीप थीं। रुक्मिणी अब भी सोचती रही कि पिताजी के इस कथन के पीछे हमारी भवितव्यता के संबंध में कोई संकेत है। वस्तुतः उसके इस सोच के मूल में वह मानसिकता रही, जो विरोधी परिस्थितियों से जूझते-जूझते शंकाकुल हो गई थी।

एक के बाद एक दिन खिसकने लगे।

इसी बीच गर्गाचार्यजी ने आचार्य सांदीपनि को प्रभास से बुला लिया और उनसे प्रार्थना की कि उपनयन, विद्यारंभ, दीक्षांत आदि कन्हैया के संस्कार आपने ही संपन्न कराए हैं तो विवाह के संदर्भ में आपकी कृपा होनी चाहिए।

उन्होंने गर्गाचार्य के निकाले मुहूर्त का समर्थन किया। इसके बाद ही मेरे विवाह और राज्याभिषेक का निमंत्रण भेजा जाने लगा।

बड़ा उत्साह था। द्वारका में भी यह पहला उत्सव था और मामा की मृत्यु के बाद मेरे परिवार में भी पहला ही। चारों ओर दूत दौड़ाए गए। जहाँ से हमारे यहाँ निमंत्रण आता था, वहाँ भी और जहाँ से नहीं आता था, वहाँ भी। यहाँ तक कि चेदि और विदर्भ भी निमंत्रण गया।

जब चेदि निमंत्रण जाने लगा तब उसकी व्यर्थता का अनुभव तो कइयों को हुआ। यहाँ तक कि मैंने भी भैया को संकेत किया। वह कुछ बोलें, इसके पहले ही रुक्मिणी तिलमिलाई—“वहाँ निमंत्रण भेजकर क्या होगा?”

वह नहीं चाहती थी कि शिशुपाल की अंतर्ज्वाला में घृत डाला जाए। यह तो प्रत्यक्ष उसे चिढ़ाना होगा।

पर पिताजी की सहजता अपनी जगह थी। उनका कहना था कि दमघोष मेरा बहनोई और शिशुपाल मेरा भानजा है। जब इतने निकट के रिश्तेदार ही नहीं रहेंगे तब इस विवाहोत्सव का महत्त्व ही क्या?

लोग एकदम चुप हो गए; पर रुक्मिणी की आकृति का बदलता रंग देखने योग्य था। रेवती भाभी ने उसके कान में जब धीरे से कुछ कहा तब वह प्रकृतिस्थ हुई।

इस सारे संदर्भ में सबसे प्रसन्न थे आचार्य सांदीपनि। मेरे विवाह संस्कार की अगुआई में अपना सौभाग्य समझते थे। एक बात मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि हमारे गुरुदेव कई दृष्टियों से अद्भुत थे। उस समय के आर्यावर्त के अनेक आचार्यों से मैं मिला था। अनेक के आश्रम में स्वयं गया था; पर ऐसा आचार्य मुझे दूसरा दिखाई नहीं पड़ा। उनकी बुद्धि केवल पारंपरिक ज्ञान की परिधि में बंदी नहीं थी। परिस्थिति और परिवेश के अनुसार उनका चिंतन नए संदर्भों के साथ जुड़ता था। वह रूढ़िवादिता और आधुनिकता के अद्भुत समन्वय थे। एक ओर संपूर्ण प्राचीन ज्ञान के वे आगार थे तो दूसरी ओर हर समस्या का तात्कालिक निदान प्रस्तुत करने में भी पूर्ण सक्षम।

जब अभिषेक की बात चली और मथुरा से जल लाने का संदर्भ उभरा, तब वे हँस पड़े और बोले, “चलिए, आप लोगों ने जो किया, ठीक ही किया।”

“आप तो ऐसा कह रहे हैं जैसे उस जल के बिना भी काम चल सकता था।” गर्गाचार्य ने कहा।

“बिल्कुल चल सकता है।” आचार्य सांदीपनि बोलते रहे—“एक बात सदा ध्यान में रखो, मित्र, कि शास्त्र बोझ की तरह ढोने के लिए नहीं, वह जीवन का बोझ हलका करने के लिए होता है।...और जब यह दिखाई पड़े कि उसमें जीवन की सद्यः उभरी समस्या का समाधान करने की सामर्थ्य नहीं है, तब उसे इतिहास की मंजूषा में बंद कर देना चाहिए।”

“फिर हमारा मार्गदर्शक कौन होगा?”

“हमारी स्वतंत्रचेता बुद्धि।” हम सबने देखा कि ऋषियों जैसी तेजस्विता उनकी आकृति पर उभर आई थी।

नानाजी ने धीरे से पूछा, “यदि शास्त्रसम्मत सभी प्रकार के जलों की व्यवस्था न हो पाती तो क्या होता?”

“तब भी कन्हैया का राज्याभिषेक होता।” क्या दृढ़ता थी उनके स्वर में!

कोई कुछ नहीं बोला। सबकी मूक आकृतियों पर एक ही जिज्ञासा थी—‘कैसे?’

“सिंधु के जल से।” वह मुसकराते हुए बोलते रहे—“आखिर सिंधु में भी तो सभी नदियों का जल है, सभी ऋतुओं का जल है और कहाँ-कहाँ का जल नहीं है! शायद इसमें इतने प्रकार का जल संगृहीत है, जितने प्रकार का जल संग्रह कर पाना हमारी सामर्थ्य के बाहर है।”

गुरुजी की इस सूझ और तर्क से केवल गर्गाचार्य ने ही नहीं, हम सबने उनका लोहा माना। फिर वे विस्तार से अभिषेक के लिए इन प्रकार के जलों के प्रयोजन पर बोलने लगे।

उन्होंने जो बताया, उसका सारांश था कि इन सारे प्रकार के जलों तथा अभिषेक के अन्य उपकरणों का एकमात्र तात्पर्य यह है कि धरती और प्रकृति ने हमें अभिषिक्त किया है। उसके प्रति हमारा कुछ कर्तव्य है, हम उन कर्तव्यों का पालन जीवन भर करते रहेंगे।

उनकी इस व्याख्या से जहाँ एक ओर हम लोगों ने कुछ हलकापन अनुभव किया, वहीं उनके व्यावहारिक ज्ञान का द्वारका में सिक्का जम गया।

उत्सव की व्यवस्था जोरों पर थी। कई जगह तो मुझे स्वयं निमंत्रण भेजना था। कम-से-कम मैं उन स्थानों को तो भूल नहीं सकता था, जहाँ मुझसे कहा गया कि एक समय ऐसा भी तुम्हारे जीवन में आएगा, जब तुम हमें भूल जाओगे।

ऐसे ही लोगों में गोमांतक का सरदार गरुड़केतु भी था। मैंने उसे तो निमंत्रण भिजवाया ही, साथ ही उसके पुत्र तिरुदत्त को अलग से निमंत्रण भेजा था। इस प्रसंग में मैं प्रभास के श्रेष्ठी कुलक तक को नहीं भूला। मथुरा में नानाजी की परिचारिकाएँ—माया और वरदा को भी नहीं छोड़ा। मैं तो प्रमदा के पास भी निमंत्रण भेजना चाहता था; पर उसका कुछ पता न चला। जीवित भी है या नहीं, इसकी भी जानकारी किसीको न थी।

उनके अतिरिक्त नंद और यशोदा के निमंत्रण के साथ ही संपूर्ण गोकुल को आमंत्रित किया गया।

किसे छोड़ा जाए और किसे न छोड़ा जाए, यह एक ऐसी समस्या थी, जिसपर मेरा परिवार एक नहीं हो पाया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक-एक करके पूरा आर्यावर्त आमंत्रित हो गया। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि रुक्मिणी के मुखर विरोध के होते हुए भी रुक्मी को अलग से आमंत्रित किया गया।

रुक्मिणी का कहना था कि जब विदर्भ में राजकीय निमंत्रण जा रहा है तो रुक्मी को विशेष आमंत्रित करने की क्या आवश्यकता है? और भैया का कहना था कि यदि उसे नहीं बुलाया गया तो आग को हवा कौन देगा?

जब सभी जगह निमंत्रण जा रहा है तब जरासंध को क्यों छोड़ा जाए? नानाजी की ओर से उसे भी निमंत्रण भेजा गया और उसका निमंत्रण लेकर अक्रूर चाचा स्वयं गए।

ज्यों-ज्यों विवाह और राज्याभिषेक का समय निकट आता गया, द्वारका एक अजीब उन्माद में विह्वल होती गई। कुछ लोग आतंकित भी थे कि समर्थकों के साथ ही सारे विरोधियों को भी आमंत्रित कर लिया गया था। इतने विरोधियों का एक साथ एक स्थान पर जुटना विस्फोटक हो सकता था।

पर हमारे ज्येष्ठ पुरुषों ने इसकी परवाह नहीं की। उन्हें मेरे देवत्व पर पूरा विश्वास था। उसमें किसी भी स्थिति का सामना करने की शक्ति सदा दिखाई देती थी।

दो दिन बाद ही छंदक आया। वह पूरे आर्यावर्त की नाड़ी टटोलकर आया था। आते ही वह सबसे पहले मुझसे मिला और लगा नाटक करने—“अब मेरी आवश्यकता आपको तो रही नहीं। जब संघर्ष और विपत्ति का समय था तब तो मैं था और अब तो आप द्वारकाधीश होने जा रहे हैं। अब मेरी क्या आवश्यकता!”

“तुम्हारी आवश्यकता तो सदा बनी रहेगी; क्योंकि एकमात्र तुम्हीं हो, जो चिनगारियों की खेती करते हो।” मैंने उसके राजनीतिक व्यक्तित्व के अतीत पर बड़ी समझदारी से अँगुली धरी।

वह प्रसन्न हो गया। उसने कहा, “पूरा आर्यावर्त चमत्कृत है।”

“किस बात पर?”

“आपके जी उठने पर। अब उसका विश्वास दृढ़ हो गया कि आपमें कोई दैवी शक्ति अवश्य है, जिससे कालयवन मारा गया। यमराज के यहाँ जाकर भी आप लौट आए। इतनी घेराबंदी करने पर भी जरासंध रुक्मिणी को शिशुपाल से बाँध नहीं पाया।”

मैंने उसे बताया—“यह सब एक संयोग था। कालयवन की मृत्यु विशुद्ध संयोग थी। यदि वह गुफा न मिलती, उसमें मुचुकुंद न मिलते तो शायद वह अभागा मारा न जाता।”

“इन संयोगों का आपके पक्ष में खड़ा होना ही आपके देवत्व का साक्षी है।”

इन्हीं बातों के क्रम में उसने स्वयं से जरासंध के मिलने का प्रसंग बताया और कहा, “रुक्मिणी के संदर्भ में असफल होने के बाद वह मथुरा गया था। सारे नगर में हलचल मच गई कि उसका भभकता क्रोध मथुरा को भस्म करने आया है। भूकंप जैसा आ गया। आपकी मौसी कंसा तो एकदम व्यग्र हो उठी। वह दौड़ी हुई मेरे पास आई। बोली, ‘कुछ करो।’

“ ‘मैं क्या कर सकता हूँ? यदि कन्हैया होते तो कुछ करते भी।’

“ ‘पर मेरे लिए तो तुम्हीं कन्हैया हो।’ ”

“क्यों? बृहद्बल क्या कर रहा था?” मैंने पूछा।

छंदक ने बताया—“वह मथुरा के प्रासाद के खोल में कछुए की तरह दुबक गया था।”

“अरे, वह तो जरासंध का मित्र था।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“अब वह बात नहीं रही।” छंदक ने बताया—“जरासंध अब उसे परम स्वार्थी मानता है। उसकी दृष्टि में वह उसका मित्र इसलिए है कि मथुरा की सत्ता उसे मिल सके।”

छंदक का कहना था—“मेरा उससे मिलन भी बड़ा नाटकीय हुआ। वह मथुरा के पश्चिम अर्द्ध योजन पर अपना पड़ाव डाले पड़ा था। मैं स्वयं उससे मिला। वह मुझे देखते ही उबल पड़ा—‘जलती हुई अग्नि के सम्मुख आने का परिणाम जानते हो?’

“ ‘जानता हूँ।’ मैंने कहा, ‘ताप का अनुभव करना; पर अग्नि और आप में अंतर है। अग्नि में बुद्धि नहीं होती, पर आप बुद्धिमान हैं। अग्नि हर उस वस्तु को भस्म कर देती है, जो उसके निकट पहुँचती है। उसकी उपयोगिता पर विचार नहीं करती; पर आप तो करते हैं।’ ”

छंदक ने बताया कि “मैंने अपना प्रवचन अनवरत जारी रखा—‘अब सोचिए कि आप मथुरा को बड़ी सरलता से भस्म कर सकते हैं; पर इससे आपको क्या मिलेगा? उलटे अपयश। लोग कहेंगे कि जरासंध ने उस समय मथुरा पर अपना क्रोध उतारा जब कृष्ण नहीं थे, बलराम नहीं थे; वसुदेव, देवभाग और अक्रूर नहीं थे। जब अधिकांश सैन्य शक्ति द्वाराका चली गई थी। रह गई थी केवल निरीह प्रजा, वह भी आधी-अधूरी।’ ”

छंदक ने बताया—“इतना सुनने के बाद वह एकदम चुप हो गया। फिर भी वह मुझपर झुँझलाया—‘अच्छा आप जा सकते हैं। अब आपका काम पूरा हो गया।’

“मैं चुपचाप वहाँ से निकला और चला आया। मौसी से मिलकर बोला, ‘मेरा काम पूरा हो गया।’

“ ‘क्या पूरा हो गया?’

“ ‘यह मैं नहीं जानता।’ मैंने मौसी से कहा, ‘जरासंध ने मुझसे यही कहकर चले जाने को कहा था। मैं चला आया।’

“मौसी उस वक्त कुछ समझ नहीं पाई। उसने दूसरे दिन कुछ लोगों को उधर भेजा था। पता चला, वहाँ कोई नहीं है। पड़ाव का कोई चिह्न भी नहीं।”

मैंने छंदक की बुद्धि को सराहा—“तुम चिनगारी बोना ही नहीं, आग बुझाना भी जानते हो।”

वह हँस पड़ा।

मैंने उसे बताया कि “यहाँ से भी निमंत्रण गया है।”

“वह देखते ही जल उठेगा।”

“क्यों? वह आएगा नहीं?”

“क्या करने आएगा? अपने काल का अभिषेक देखने!”

किसीके यहाँ कोई विशेष संदेश भेजना नहीं था। केवल निमंत्रण भेजने भर का ही हम लोगों का काम था। सारी द्वारका तैयारी में लगी थी। यों तो वह वैसे ही नूतन नगरी थी। शिल्पकारों की कला का रूप पूरे निखार पर ही था। ऊपर से वह सजाई भी जाने लगी। सोमनाथ के लोग इसकी सजावट में अपना योगदान दे रहे थे। उनकी दृष्टि में द्वारकाधीश के पद पर प्रतिष्ठित होनेवाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं, वह भगवान् विष्णु का अवतार था। अद्भुत संयोग कि शेषनाग के अवतार ने सागर के वक्ष पर इस नगरी का निर्माण कराया और अब भगवान् विष्णु ही इसकी सत्ता सँभालने जा रहे थे।

लोगों के विश्वास से कहीं अधिक इस चिंतन में छंदक के प्रचार का हाथ था। प्रातः से सायं तक कुछ ऐसा करता रहता, जिससे मेरे देवत्व पर पानी चढ़ता जाए और लोग आकर्षित होते जाएँ। लोगों की मानसिकता प्रतीक्षा कर रही थी उस महत्त्वपूर्ण दिवस की, जब क्षीर सागर के तट पर भगवान् विष्णु अपनी लक्ष्मी के साथ शेषशय्या पर विराजमान होंगे। ऐसे आयोजन में कौन अपना योगदान न देना चाहेगा। हर व्यक्ति अपनी योजना के अनुसार मानसिक रूप से इस उत्सव का भागीदार बन गया।

आश्चर्य था कि पंचजन और पुण्यजन दोनों उत्सव के दस दिन पूर्व ही अपने यान लेकर आ गए थे; जबकि दोनों आपस में परम शत्रु थे। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी सेवा अतिथियों को इस पार उतारने में लगा दी थी।

मुझे विस्मय तो तब हुआ जब एक दिन प्रातःकाल ककुद्मिन मेरे आवास पर पधारे। एकदम अकेले। श्वेत उत्तरीय और अधोवस्त्र में, दुग्ध-धवल केशों से आच्छादित उनका व्यक्तित्व ऋषियों-सा आकर्षक था। पैरों में पदत्राण के स्थान पर खड़ाऊँ। ऐसा लगा जैसे कोई आचार्य अपने आश्रम से सीधे चला आ रहा हो।

बिना किसीको पुकारे, बिना किसीसे कुछ कहे-सुने वे सीधे भीतर चले आए। हम सब चकित से रह गए। आते ही उन्होंने मुझे पूछा। मैं जब दौड़कर चरण छूने लगा तब उन्होंने उठाकर छाती से लगा लिया और बड़ी गंभीरता से बोले, “मैं तो यह जानने आया हूँ कि मेरे योग्य कोई सेवा तो नहीं है।”

“अरे, आपकी सेवा के लिए तो हम उपस्थित ही हैं।” पिताजी बोले, “आप केवल आशीर्वाद दीजिए।”

“मेरा सारा आशीर्वाद तो भस्म हो गया। मैंने स्वयं उसे जलाकर राख कर दिया।”

मैंने देखा, अतीत की वितृष्णा ज्यों-की-त्यों उनकी आँखों में उतर आई है।

उन्होंने बड़े सहजभाव से कहा, “अब तो मैं मात्र प्रणाम करने की स्थिति में रह गया हूँ, और यह स्थिति भी कन्हैया के कारण ही आ सकी है।”

इसके बाद उन्होंने सारी पिछली कथा दुहराई और बताया—“यदि कन्हैया ने मुझे पुनः जीवन के प्रति आस्था न जगाई होती तो शायद मैं अब भी उसी कंदरा में एकांत पड़ा हुआ भीतर-ही-भीतर जलता रहता।”

हम लोगों ने उनकी आवभगत की बड़ी चेष्टा की। आसन ग्रहण करने के लिए कहा; पर उन्होंने कुछ भी स्वीकार नहीं किया वरन् बड़े विनीतभाव से बोले, “मैं एक प्रार्थना करने आया हूँ। विश्वास है कि आप उसे अवश्य स्वीकार करेंगे।”

वे बोलते गए—“जब मैंने अपने राजप्रासाद को फूँक दिया था तब सबकुछ धू-धू कर भस्म हो गया, पर मेरा सिंहासन नहीं जला; क्योंकि वह स्वर्ण का था। अग्नि में तपकर वह और देदीप्यमान होकर निकला। तब से उसकी दैवी आत्मा अपने लिए देवता की प्रतीक्षा कर रही थी। मुझे लगता है, वह दिन अब आ गया है। कन्हैया के

राज्याभिषेक के लिए मेरा वह सिंहासन स्वीकार कर लेते तो बड़ी कृपा होती।”

इतिहास में शायद ही किसीने अपना स्वर्ण सिंहासन इतनी विनम्रता से देने की प्रार्थना की हो। हम विस्मयाभिभूत-से खड़े रह गए, कुछ बोल भी नहीं पाए और वे पुनः प्रणाम कर हमारा अनुग्रह ग्रहण किए बिना ही चले गए। ज्यों-ज्यों समारोह का समय आता गया, आनेवालों का ताँता बँधने लगा। सबसे पहले चेदिराज फूफा दमघोष बुआ श्रुतश्रवा के साथ पधारे। वे परम प्रसन्न थे। जब वे पिताजी से मिले तो बोले कि इस दिन की कल्पना मेरे मन में बहुत पहले से आ चुकी थी। पर उन्होंने अपने पुत्र शिशुपाल की कोई चर्चा नहीं की और न किसीने पूछा ही।

इस समय आर्यावर्त के दो विशाल राज्य अपने प्रभुत्व के उत्कर्ष पर थे—एक हस्तिनापुर और दूसरा पांचाल। हस्तिनापुर से बुआ कुंती अपने पाँचों पुत्रों को लेकर आई थीं। परंपरा के अनुसार उन्हें आना नहीं चाहिए था। अभी कुछ ही महीने पूर्व फूफा पांडु की मृत्यु हुई थी। उनका वैधव्य साल भर भी पुराना नहीं पड़ा था। उनको देखते ही सभी वृद्ध एकदम बोल पड़े—“अरे, तू कैसे चली आई?”

यहाँ भी आचार्य सांदिपनि ने ही सँभाला—“क्यों? यदि अपने ही बेटे का राजतिलक होता तो क्या ये हस्तिनापुर से कहीं और चली जाती?” आचार्यजी के स्वर में विश्वास की और गंभीरता आई—“मैंने देखा है कि बहुत से राजतिलकों के समय माताएँ वैधव्य की पीड़ा झेलती रही हैं।”

“यहाँ राजतिलक ही नहीं है बल्कि कन्हैया का विवाह भी है।” इसके आगे पिताजी कुछ बोले नहीं; पर उनकी मुद्रा कह रही थी कि विवाह में वैधव्य का उपस्थित होना भोजन में मक्खी का पड़ना है।

आचार्यजी समझ गए। वे बोले, “मात्र विश्वास की यह परंपरा शास्त्रसमस्त नहीं है। सहूलियत के लिए बना ली गई है। प्रसन्नता और उल्लास के वातावरण में एक दुःखी मन और दुःखी होता है। अतएव उसका वर्जन किया गया।...इसलिए वैधव्य वर्जित नहीं है, वर्जित है दुःख। यदि भतीजे के विवाह के समय बुआ के मन में आह्लाद हो तो उसकी उपस्थिति शुभ ही होगी।”

इतना सुनते ही बुआ बोल पड़ीं—“यहाँ आकर तो सारा दुःख भूल गई। मेरे लिए तो यह दूसरा ही संसार है, जहाँ प्रकृति भी प्रसन्न है और पुरुष भी। मैं जिस संसार से आ रही हूँ, वहाँ सबकुछ होते हुए पुरुष बड़ा दुःखी है।” और इसके बाद वे हस्तिनापुर की राजनीति की ओर चली गईं।

मेरे यहाँ पधारनेवालों में वे बहुत पहले आ गए थे, जो आरंभ से मेरे हितैषी रहे हैं। उनमें उल्लेख्य हैं—गोमांतक सरदार गरुड़केतु और उनका पुत्र तथा अवंतिराज और उनके पुत्र विंद व अनुविंद। गरुड़केतु तो पूरा रथ भरकर बहुमूल्य रत्न उपहार के लिए लाया था। जब मैंने कहा कि लगता है कि आपने अपना सारा कोष उड़ेल दिया, तब वह बड़ी विनम्रता से बोला, “वह मेरा कोष नहीं, वह तो आपका ही है। आप वहाँ छोड़ आए थे। उसमें से भी मैं बहुत थोड़ा लाया हूँ।”

मेरी समझ में पूरी बात आई नहीं, तब भला मेरे घर के लोग क्या समझ पाते। हमारी मनःस्थिति का अनुमान लगाकर वह मुसकराता रहा। बाद में उसने बताया—“हमारी गोमांतक की पहाड़ी के नीचे जो आपने वरुण के कोष और शस्त्रागार का पता लगाया था, ये थोड़े से रत्न उसी कोषागार के हैं।”

मुझे हँसी आ गई। मुझे तो संदर्भ ज्ञात था, पर मेरे घरवाले अभी भी समझ नहीं पाए।

“पर इन रत्नों से भी एक महत्वपूर्ण मेरे पास एक वस्तु और है।” गरुड़केतु बोला।

हम सबकी मुद्रा प्रश्नवाची हो गई।

उसने बताया—“वह वस्तु आचार्य परशुराम की दी हुई है। उन्होंने कहा है कि राजतिलक के समय उसे मेरे आशीर्वादस्वरूप देना; पर इसके पूर्व इस विषय में कुछ न बताना।”

गरुड़केतु ने बातों के क्रम में यह भी बताया कि “यहाँ आते समय मैं आचार्यजी के आश्रम में गया था।” वह और कुछ बताने वाला था कि नानाजी की जिज्ञासा चुप न रह सकी—“और कुछ कहा आचार्यजी ने?” “वे प्रसन्न थे। प्रसन्नता में केवल इतना ही बोले कि अब द्वारका भी पूज्य हो गई।”

फिर इस संबंध में मैंने कुछ पूछना उचित नहीं समझा। मुझे जल्दी भी थी; क्योंकि मैं कुंती बुआ के लड़कों से मिलने के लिए आतुर था। उनसे भेंट तो हुई थी, पर जमकर बातें नहीं हुईं। उनसे मेरा मन बहुत मिलता था; पर वे द्वारका देखने में ही मगन थे। जिधर निकल जाते, उधर दिन ही बिता देते। उनका कहना था कि राजधानी छोटी अवश्य है, पर हस्तिनापुर से अच्छी है। शिल्पियों की कला का कौशल अद्भुत है। इतने संक्षिप्त विस्तार में आर्यावर्त की पूरी प्रकृति समा गई है और फिर समुद्र, उसने तो जैसे अपनी गोद में ही इसे रख लिया है। हर क्षण इसका प्रक्षालन करता रहता है।

भीमसेन को तो समुद्र में तैरने में बड़ा आनंद आता था। वह घंटों उसकी लहरों में किल्लोल किया करता। कभी-कभी तैरते हुए इतना दूर निकल जाता कि सागर प्रहरियों को भी चिंता होती। आज मैंने कुंती बुआ के पाँचों बेटों की शय्या अपने कक्ष में लगवाई थी। सोचा, रात में खुलकर बातें होंगी। जब हम शयनकक्ष में मिले तो सचमुच ऐसा लगा कि हम छह नहीं, एक ही हैं।

मेरे बिस्तर पर पड़ते ही अर्जुन बोला, “सुना है, आज पांचाल नरेश भी आए हैं?”

“हाँ, उन्होंने भी कृपा की है।” मैंने कहा, “यों हम लोगों से उनका कोई विशेष संबंध नहीं है।”

“और मैंने यह भी सुना है कि वे दिन भर आपके श्वसुर के यहाँ रहे हैं।” अर्जुन बोला।

“क्या यहाँ आने के पूर्व वे कुंडिनपुर गए थे?” मैंने पूछा।

“अरे नहीं भाई, मेरे ‘श्वसुर’ कहने का तात्पर्य रेवती भाभी के पिता ककुद्मिन से था।”

“अरे...” मुझे हँसी आ गई।

“यह हँसने की बात नहीं है।” अर्जुन बोला, “दोनों एक ही रोग के रोगी हैं। अंतर केवल इतना ही है कि एक रोगमुक्त हो चला है और दूसरा रोगग्रस्त है।”

“तुम्हारा तात्पर्य?”

“तात्पर्य स्पष्ट है। एक के अपमान की आग आप लोगों ने बुझा दी है और दूसरा अपमान की आग में अब भी जल रहा है। उसकी प्रतिहिंसा निराश्रित होकर भटक रही है। कदाचित् इसी भटकन की अवस्था में वह यहाँ तक चला आया है।”

इस प्रसंग में देर रात तक बातें होती रहीं। उसने जो कुछ बताया, उसका सारांश इस प्रकार है—“एक बार पांचाल नरेश द्रुपद ने मेरे आचार्य का बड़ा अपमान किया था। बात यह थी कि दोनों एक ही गुरु अग्निवेश्य के शिष्य थे। दोनों उन्हींके आश्रम में रहते थे। एक निर्धन परिवार का प्राणी और दूसरा राजकुमार। एक को अपने भविष्य की चिंता और दूसरे के वर्तमान का वैभव भविष्य तक फैला हुआ। अतएव एक ने अग्निवेश्य की शिक्षा आत्मसात् करने में रात-दिन एक कर दिया और दूसरे ने वहाँ रहकर राजकुमार जीवन की औपचारिकता मात्र निभाई।

“जब परीक्षा हुई तो द्रुपद बेतरह असफल। यहाँ तक कि वह आग्नेय अस्त्रों के रेखाचित्र तक न बना पाया। आचार्यजी ने उन्हें आश्रम छोड़ देने को कहा। अब द्रुपद बड़ा घबराया। वह अपने मित्र द्रोण के पास आया और बोला, ‘तुम्हीं मेरी रक्षा कर सकते हो। तुम परीक्षा में प्रथम भी हुए हो। आचार्यजी तुम्हें खूब मानते भी हैं। तुम्हीं मेरे लिए कुछ करो।’ अग्निवेश्य के स्वभाव से सभी परिचित थे। द्रोण का साहस उनसे कुछ कहने को न हुआ। फिर भी द्रुपद का दबाव था। अंत में द्रोण ने उससे कहा, ‘मैं उन्हें मनाने की चेष्टा करता हूँ; पर तुम मेरे लिए क्या करोगे?’

“ ‘इस समय मैं क्या कर सकता हूँ?’ द्रुपद बोला, ‘पर यह वचन देता हूँ कि यदि कभी मैं पांचाल के सिंहासन पर बैठा तो तुम्हें अपना युद्ध अमात्य बनाऊँगा।’ बात द्रोण के मन में बैठ गई। उन्होंने आचार्य से द्रुपद के लिए बहुत कुछ कहा; पर अग्निवेश्य जल्दी तैयार नहीं हुए। उनका कहना था कि ‘द्रुपद में विद्या ग्रहण की पात्रता ही नहीं है। कुपात्र को विद्या देना विद्या का अपमान करना है। इससे आचार्य की तेजस्विता का क्षरण होता है। मैं ऐसा खतरा मोल नहीं ले सकता।’

“इसपर भी द्रोण ने आचार्यजी को बड़ा समझाया कि ‘वह अपने किए पर बड़ा दुःखी है। वह कहता है कि मन लगाकर पाठों की आवृत्ति करूँगा।’

“ ‘यदि वह सचमुच दुःखी है तो उसमें विद्यार्जन के लिए कहीं-न-कहीं स्फुलिंग है। यदि तुम उसकी सहायता का वचन दो तो उसे एक अवसर दिया जा सकता है।’ आचार्य ने किसी प्रकार अपनी स्वीकृति दी।

“कहते हैं, द्रोण ने रात-दिन एक कर द्रुपद को आवृत्ति कराई। तब जाकर किसी प्रकार द्रुपद की शिक्षा पूरी हुई। कालांतर में सत्ता भी द्रुपद के हाथ आई। अपनी आर्थिक स्थिति से संतुष्ट आचार्य द्रोण उसके पास गए। अपने दिए हुए वचन का पालन करना तो दूर, द्रुपद ने उन्हें पहचानने से भी इनकार कर दिया और बड़ा अपमानित कर अपने राजदरबार से उन्हें निकाल दिया।”

अर्जुन की कहानी अभी समाप्त नहीं हुई कि मेरे मुख से निकला—“बड़ा कृतघ्न है। जानते हो, पार्थ, संसार के सारे पापों का प्रायश्चित्त हो सकता है। हमारे धर्मशास्त्रों में ब्रह्म हत्या तक का भी प्रायश्चित्त है; पर कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित्त नहीं।”

अर्जुन ने आगे बताया—“आचार्यजी (द्रोण) इसके बाद बड़े दुःखी रहने लगे। अपमान की ज्वाला में भीतर-ही-भीतर जलते रहे। अपने दो-एक मित्रों से इसकी चर्चा भी की; पर सार्वजनिक रूप से उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। यहाँ तक कि मुझे भी नहीं बताया। यद्यपि वे मुझे सबसे अधिक मानते थे और आज भी मानते हैं। बहुत सी आत्मीय बातें होती रहीं; पर उन्होंने इसकी चर्चा कभी नहीं की। वह तो जब मेरी शिक्षा पूरी हुई और मैंने गुरुदक्षिणा देने की इच्छा व्यक्त की, तब उन्होंने एकांत में बुलाकर कहा, ‘तुम मुझे गुरुदक्षिणा देना ही चाहते हो तो बस एक काम कर दो।’

“ ‘क्या?’

“ ‘पांचाल नरेश द्रुपद को बंदी बनाकर मेरे चरणों में उपस्थित करो।’ आचार्य ने कहा और मैं अवाक् रह गया। मैं पूर्व प्रसंग तो जानता ही नहीं था।”

अर्जुन ने बताया—“मैंने उनके चोट खाए अहं को सहलाते हुए पूछा तो उन्होंने सारी कहानी बताई।”

“तब तुमने क्या किया?” मैंने अर्जुन से कहा।

“करता क्या! मुझे तो गुरुदक्षिणा देनी ही थी। मैंने तुरंत कांपिल्य (पांचाल की राजधानी) पर चढ़ाई की और द्रुपद को बंदी बनाकर आचार्य के चरणों में उपस्थित किया।

“आचार्यजी ने अपने अपमान का बदला लिया। उसी समय पांचाल के दो भाग किए गए। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र हो गई और आचार्यजी वहाँ की सत्ता पर आसीन हुए।”

“जिसे द्रुपद अपना अमात्य भी नहीं बनाना चाहते थे।” मैंने कहा।

“यह कहिए कि जिसे पहचानने से भी इनकार कर दिया था।” अर्जुन बोला, “वही अब बराबर का प्रतिद्वंद्वी हो गया। अब प्रतिशोध की वही आग, जो कभी आचार्य के भीतर जल रही थी, कई गुना ऊष्मा के साथ द्रुपद के भीतर जल रही है। अब उसका प्रतिशोध विक्षुब्ध होकर इधर-उधर घूम रहा है। द्रुपद आचार्य से बदला लेने की चिंता में पागल है। उसे कोई रास्ता सूझ नहीं रहा है। उसने कई लोगों से चर्चा की। हो सकता है, वह ककुद्मिन से भी इसी

संदर्भ में मिला हो।”

“हो सकता है!” मेरे मुँह से निकला और मैं सोचने लगा कि प्रतिशोध को प्रतिशोध से नहीं जीता जा सकता। आग को आग से नहीं बुझाया जा सकता; पर प्रतिहिंसा की प्रकृति की यह सबसे बड़ी विडंबना है कि वह अंधकार से लड़ने के लिए आँखें बंद कर बुझे हुए दीप को हथियार बनाता है।

इस प्रकार वह रात कुंती बुआ के बेटों के साथ बीती, विशेषकर अर्जुन के साथ; क्योंकि उसकी शय्या ठीक मेरी बगल में लगी थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही नानाजी के यहाँ से बुलाहट आई। यों भी हम टहलते हुए उनके यहाँ जाने ही वाले थे। हम सभी प्रासाद परिसर में ही रहे। हमारे आवास से उनका आवास थोड़ी ही दूरी पर था।

सोचा, व्यवस्था संबंधी कोई बात होगी। परिचर के चले जाने के बाद मैं अर्जुन को लेकर नानाजी यहाँ पहुँचने के लिए निकला।

पर हमने जो सोचा था, परिस्थिति ठीक उसके विपरीत पैदा हो गई। ज्यों ही हम लोग नानाजी के कक्ष में पहुँचे, वहाँ ककुद्मिन के साथ द्रुपद पहले से उपस्थित थे। अर्जुन को देखते ही वे ठगे से रह गए। नेवले और नाग का यह साक्षात्कार अप्रत्याशित था। इस आकस्मिकता ने उस माहौल का जैसे गला ही घोंट दिया। सब एकदम चुप हो गए। केवल द्रुपद और अर्जुन एक-दूसरे को देखते रहे।

कुछ देर बाद बिना किसीसे कुछ कहे-सुने ककुद्मिन को लेकर द्रुपद चले गए। नानाजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने अतिथि की इस विलक्षणता पर वे बोल पड़े—“विवाह से पूर्व उसने मुझसे मिलने की इच्छा स्वयं व्यक्त की थी; पर तुम लोगों को देखते ही वह चला गया। आखिर बात क्या है?”

“कोई बात तो होगी ही।” मैंने रहस्य को रहस्य ही बने रहने दिया। अर्जुन की मुसकराहट से नानाजी को लगा कि कोई बात तो जरूर है। वे पूछना ही चाहते थे कि इसी बीच पंचजन का प्रधान नाविक मंकण आ पहुँचा। उसने एक विचित्र अतिथि के आने की सूचना दी। उसने बताया—“वह जहाज पर ही रहना चाहता है। वह कहता है कि मैं इस धरती पर पाँव नहीं धरूँगा।”

मंकण ने कहा, “तब मैंने पूछा कि ‘आप आए ही क्यों?’”

“‘यह तो परिवारवालों की विवशता थी, अन्यथा थूकने तो मैं यहाँ आता ही नहीं।’ उसने कहा।”

मंकण ने बताया—“वह ठीक विवाह के समय ही यहाँ उपस्थित होगा।”

“तुमने उसका नाम नहीं पूछा?” मैंने कहा।

“उसने कुछ भी बताने से इनकार कर दिया।” मंकण बोला, “मुझे संदेह हो रहा है कि ऐन मौके पर कोई बाधा तो उपस्थित नहीं होने वाली है।”

एक बार सबका सोच में पड़ जाना स्वाभाविक था। मैंने तुरंत छंदक के साथ उपदेव को भेजा। सोचा, एक बार तो उसे ले आना ही चाहिए। यहाँ आने पर ही उसकी वास्तविकता का ज्ञान होगा। आखिर अतिथि है, किसी बात से नाराज भी हुआ हो तो उसे समझा लाना चाहिए।

धीरे-धीरे यह बात पूरे द्वारका में फैल गई कि एक ऐसा भी अतिथि आया है, जो द्वारका की धरती पर पैर नहीं रखना चाहता।

इस विलक्षण अतिथि की ओर लोगों की जिज्ञासा बढ़ी। देखते-देखते लोग समुद्रतट की ओर जाने लगे। मुझे शीघ्र ही पता चला कि यह विदर्भ का कोई व्यक्ति है। इतना सुनते ही रुक्मी की आकृति मेरे मस्तिष्क में उभर आई।

मैंने यह बात रुक्मिणी से कही। उसने भी मेरे अनुमान का समर्थन किया और कहा, “ऐसा अहंकारी और बुद्धि

का शत्रु भैया के सिवा विदर्भ का और कोई नहीं हो सकता।”

रुक्मिणी के कहने के ढंग पर मुझे हँसी आ गई—“यदि मुझसे और इस धरती से उसे इतनी घृणा थी तो फिर वह यहाँ आया ही क्यों?”

“उसे पितामह और पिताजी ने बलात् भेजा होगा।” रुक्मिणी बोली, “पिछले सारे संदर्भों से न तो पिताजी दुःखी हुए होंगे और न पितामह। पितामह तो प्रसन्न ही होंगे। पिताजी भी शिशुपाल के साथ मेरा विवाह हृदय से नहीं चाहते थे। यह तो जरासंध और भैया की दुरभिसंधि थी, जिससे वे निरुपाय हो गए।”

“तब रुक्मी को भेजने की आवश्यकता क्या थी?” मैंने कहा।

“विवाह के कर्मकांड में वधू के भाई की आवश्यकता पड़ती है।” रुक्मिणी बोली।

“ओ, तो वह भगिनि ऋण से मुक्त होने आया है!” मुझे हँसी आ गई।

आपको जानकर संतोष होगा कि मेरा अनुमान ठीक निकला। वह रुक्मी ही था। घर के बड़े लोगों ने मुझे समझाया और मैंने भी उचित समझा कि अपने इस विचित्र अतिथि की अगुआई में स्वयं करूँ।

शायद रुक्मी चाहता भी यही था। जब मैं पहुँचा और मैंने पधारने के लिए विनीत आग्रह किया, तो वह कुछ बोला नहीं। मेरे साथ चुपचाप चल पड़ा। मुझे लगा कि उसके अहं को बड़ी संतुष्टि मिली।

आखिर वह घड़ी भी आ गई, जब मेरे विवाह का कर्मकांड आरंभ हुआ। वह पंडाल न तो द्वारका के राजप्रासाद में बना था और न नगर में ही, वरन् अरण्य के बीच में निर्मित था। इस आरण्यक सौंदर्य और सुरभि को अपने में समेटे, पुष्पों और अशोक तथा रसाल के पत्रों से सजा विवाह मंडप कितना आकर्षक था, सो कैसे बताऊँ! इसके चारों ओर कई हजार लोगों के बैठने की व्यवस्था थी। अतिथि और सम्मानित व्यक्तियों के बैठने की पश्चिम की ओर, नानाजी और ककुद्मिन के सिंहासन के निकट ही प्रबंध किया गया था। यह वर्तुलाकार व्यवस्था सामने की ओर प्रजा के बैठने के स्थान पर सबके लिए खुल जाती थी। मध्य में अग्निहोत्र का स्थान था।

इस सारे प्रबंध के निर्देशक आचार्य सांदीपनि ही थे। गर्गाचार्य चाहते थे कि वैवाहिक कार्य प्रासाद परिसर में ही हो। उन्होंने इसका संकेत भी आचार्यजी से किया। वे बोले, “प्रासाद में तो कन्हैया को जाना ही है। अरे, जब तक उसका जीवन आरण्यक छवि का आनंद ले सके तब तक तो उसे लेने दीजिए। फिर उसके सारे संस्कार आरण्यक वातावरण में ही हुए हैं, तब विवाह भी क्यों न हो!”

बात समाप्त हुई। कर्मकांड आरंभ हुआ। लगभग चौदह-पंद्रह घड़ियों तक चलनेवाले इस कर्मकांड का एक-एक शब्द जहाँ मेरी चिंतना में बैठता जा रहा था, वहाँ मुझे संकल्पबद्ध भी वह करता जा रहा था। हर शब्द के साथ मैं बँधता चलता गया। मुझे ऐसा लगा जैसे जंगल के मुक्त जीव को बेड़ियाँ पहनाई जा रही हों।

जब कर्मकांड समाप्त हुआ और वैदिक मंत्रों से मुझे आशीर्वाद दिया जाने लगा, तब उस समवेत स्वर के साथ की गई शमी पुष्पों की वर्षा आज भी मेरे स्मृति पटल पर अंकित है। उस आशीर्वाद ने कुछ क्षणों के लिए मेरे ईश्वरत्व को फूलों के नीचे दबा दिया था और मुझे एक ऐसा साधारण व्यक्ति बना दिया, जो अपनी नवल वधू के साथ जनता के बीच शुभाशंसाएँ बटोर रहा था।

‘मैं’ अब ‘मैं’ नहीं रहा वरन् आशीर्वाद के समवेत स्वरों के साथ ‘हम’ हो गया था। कर्मकांड समाप्त होते ही हम जैसे माता-पिता के आशीर्वाद लेने की ओर बढ़े वैसे ही गरुड़केतु ‘रुकिए-रुकिए’ चिल्लाता हुआ हमारी ओर आया।

“उपहार देने की व्यवस्था तो कल राज्याभिषेक के बाद होगी।” आचार्य बोले।

“पर यह उपहार नहीं, आशीर्वाद है।”

गरुड़केतु के प्रयुक्त शब्द पर आचार्यजी को आश्चर्य हुआ। वे बोले, “आपका आशीर्वाद!”

“मेरा नहीं, आचार्य परशुराम का यह आशीर्वाद है।”

आचार्य परशुराम का नाम सुनते ही लोग सकते में पड़ गए। जिन्हें वास्तविकता नहीं मालूम थी, वे चारों ओर देखने लगे। कहीं आचार्यजी स्वयं तो नहीं पधारे हैं!

तब तक कच्चे सूत में बँधा हुआ नारियल निकालकर गरुड़केतु ने आगे किया। आचार्यजी ने दोनों हाथों से ग्रहण करते हुए बड़े गौर से देखा, फिर उसे रुक्मिणी की गोद में डाल दिया।

“शायद ही महाभारगव ने किसी गैर ब्राह्मण को ऐसा आत्मीय उपहार भेजा हो।” गर्गाचार्य ने आचार्य सांदीपनि से कहा।

सांदीपनि ने भी उस आशीर्वाद की महत्ता स्वीकार की।

□

विवाह के दूसरे ही दिन मेरा राज्याभिषेक होने वाला था। सवेरे ही पता चला कि रुक्मी जा रहा है। उसे रोकने के लिए मैं अतिथिभवन की ओर दौड़ा। वह बोला, “अब तो मेरी कोई आवश्यकता नहीं। विवाह कर्मकांड में मेरी आवश्यकता थी, मैं उपस्थित हुआ; पर राज्याभिषेक में मेरी आवश्यकता क्या?” खिन्नता, झेंप और ठोकर खाए अपने अहं को वह दबा नहीं पाया और मेरे अनेक समझाने पर वह नहीं माना। मैंने द्वार पर अपना हाथ भी लगा दिया। उसे रुक जाने के लिए मेरा प्रतीकात्मक संकेत था; पर धक्का देते हुए वह अतिथिभवन से बाहर निकल आया। मैंने कोई प्रतिरोध नहीं किया।

पर उद्यान की ओर से लपके चले आ रहे भैया का गर्जन सुनाई पड़ा—“तुम्हारा जाना कन्हैया के राज्याभिषेक का विरोध करना है। अतिथिभवन से तो तुम जा रहे हो; पर याद रखो, द्वारका के बाहर तुम जा नहीं पाओगे।”

जब उसने मेरा हाथ झटका था तब मुझे भी अच्छा नहीं लगा; पर मैं चुप रह गया। अब भैया की गर्जना पर सबके कान खड़े हो गए। रुक्मी के आगे बढ़े पैर भी रुक गए। उसे वे क्षण तो याद हो आए होंगे, जब भैया ने उसे हाथों से मार-मारकर धरती सुँघा दी थी। तब तक छंदक ने उसके कान में आकर धीरे से कुछ कहा और रुक्मी जड़ी सुँघाए नाग की तरह चुपचाप सपेरे के पिटारे अर्थात् अतिथिभवन की ओर चल पड़ा।

इसके अतिरिक्त राज्याभिषेक के दिन कोई विशेष घटना नहीं घटी।

अभिषेक के लिए अभीष्ट जलों से भरे चार कुंभ कल शाम को ही मथुरा से ले आए जा चुके थे। आज मध्याह्न के पूर्व ही जामुन की लकड़ी की चौकी पर मेरा अभिषेक स्नान आरंभ हुआ। विवाह के लिए बने मंडप में ही यह अनुष्ठान संपन्न हो रहा था। वैदिक मंत्रों के बीच-बीच में उठी गगनभेदी जयघोष ध्वनियों का उन्माद वायु की पकड़ से छूटकर सागर की लहरियों पर थिरकता चला जा रहा था।

स्नान के बाद मुझे साधारण वस्त्र पहनाया गया। फिर कुछ कर्मकांड हुआ। इसके बाद उपस्थित सारी जनता ने अक्षत छिड़ककर मुझे आशीर्वाद दिया। फिर मुझे राजकीय भूषा पहनाई गई, चक्र थमाया गया; पर मेरी वंशी छूट ही गई।

यह मुझे असह्य था। मैंने वंशी के लिए आग्रह किया।

“अब तुम्हें वंशी की जगह दंड लेना होगा।” बड़ी गंभीर आवाज गर्गाचार्य की थी; पर आचार्य सांदीपनि चुप थे। शायद वह मेरी प्रकृति को बड़ी निकटता से पहचान रहे थे।

मैंने बड़ी दबी जबान से गर्गाचार्य को उत्तर दिया—“यदि ऐसा है तो मैं शायद दंड स्वीकार न करूँ।”

“राजदंड के बिना सिंहासन कैसा?”

“तो मैं उसे भी स्वीकार नहीं करूँगा।” मैं बोला। लोग सन्न रह गए। मैं कहता गया—“वंशी मेरी साँस है। मेरे

जीवन का स्पंदन है। स्पंदन छोड़कर जीवन का अस्तित्व क्या!”

“यदि ऐसा है तो तुम अपने पास वंशी भी रखो और दंड भी। चक्र भी और पांचजन्य भी।” इस बार सांदीपनि बोले, “तुम्हारे व्यक्तित्व का समुच्चय ही राजा है। उसका एक भाग नहीं।”

सांदीपनि की इस व्यवस्था पर मैं तो प्रसन्न हुआ ही, सारी जनता आह्लाद से चिल्ला उठी—“वंशीधर श्रीकृष्ण कन्हैया की, जय !”

अब मैं सपत्नीक मंडप से राजसिंहासन की ओर ले जाया जाने लगा। आगे-आगे हम और हमारे पीछे आचार्यगण, उनके पीछे परिवार के लोग, फिर सारी जनता। पंक्तिबद्ध बढ़ते हमारे इस जन प्रवाह मार्ग के दोनों ओर खड़े लोग पुष्पवर्षा कर रहे थे। उन्हींमें खिलखिलाती और दोनों हाथों फूल लुटाती मालिनी भी थी।

मंत्रोच्चार के साथ मुझे और रुक्मिणी को राजसिंहासन पर आसीन किया गया। इसके बाद ही ककुद्मिन तथा नानाजी ने मेरे सिर पर मुकुट रखा और मैं द्वारकाधीश हो गया।

“द्वारकाधीश महाराज श्रीकृष्णचंद्र की, जय !” की ध्वनि उस प्रासाद के विशाल कक्ष में अपनी प्रतिध्वनियों से कई बार टकराई और अंत में जब चूर-चूर होकर बिखर गई तब मैं परंपरानुसार आभार व्यक्त करने खड़ा हुआ।

“पूज्य आचार्यगण, आदरणीय नानाजी, पितृकल्पकुशस्थली नरेश, पिताजी, माताजी, बंधु-बंधव एवं प्रजाजनो!

“आपके आशीर्वाद से आज मैं द्वारकाधीश के पद पर आसीन हुआ हूँ। एक सामान्य यादव का पुत्र होकर मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि कभी राजसिंहासन पर बैठूँगा। यों जन्म से ही राजनीति मुझे घेरे रही और मैं उससे लुका-छिपी खेलता रहा। इसीका परिणाम था कि कभी मैंने प्रत्याशित जीवन नहीं जिया। एक प्रकार की अप्रत्याशितता और अनिश्चितता में जीवन का हर पल आगे बढ़ता रहा। जो होता रहा और जिसका होना मैं चाहता भी था, इन दोनों के बीच में नियति का अदृश्य हाथ सदा अपने ‘करतब’ दिखाता रहा। इसीने जीवन को अनिश्चित और अप्रत्याशित बनाया। इससे मैं घबराया नहीं और न मैं इससे दुःखी ही हुआ; वरन् इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह अनिश्चितता जीवन की ऐसी अनिवार्यता है, जो उसे सरस बनाती है। उस अनिश्चितता को जब हम भोगने लगते हैं तब सपने गढ़ते हैं और तब हम वर्तमान को ही नहीं, भविष्य को भी बड़ी योजनाओं के साथ जीते हैं। यही जीवन का रस है, अनिश्चितता का आनंद है—और उसी नियति ने हमें इस स्थिति तक पहुँचाया है। जिस सिंहासन पर मैं हूँ वह मेरी आकांक्षा का प्रतिफल नहीं है। कोई राजसत्ता मेरी होगी, ऐसा मैंने सोचा तक नहीं था। यह तो आपके आशीर्वाद का परिणाम है। और हमें आशा है कि आपका आशीर्वाद ही मुझे इस योग्य बनाएगा कि मैं संसार का सर्वश्रेष्ठ शासक सिद्ध होऊँ।

“राजा कोई और नहीं, आपके बीच का ही एक ऐसा शक्तिशाली व्यक्ति होता है, जिसे आप अपनी शक्ति का एक-एक अंश देकर उसे महाशक्तिशाली बना देते हैं। उस महाशक्तिशाली को भी हमेशा यह सोचते रहना चाहिए कि प्रजा की जिस शक्ति से मैं बना हूँ, प्रजा वह शक्ति हमसे वापस भी ले सकती है। इस महान् सत्य को मैं कभी नहीं भूलूँगा और संकल्प करता हूँ कि आपका रहा हूँ, आपका रहूँ और आपका ही रहूँगा।”

इतना कहते ही ‘साधु-साधु’ का समवेत स्वर सारे आकाश पर छा गया। फिर उसीका पीछा करता दूसरा स्वर था—“द्वारकाधीश श्रीकृष्ण की, जय !”

मेरे पीछे खड़े छंदक को लगा कि मैं अपना भाषण पूरा कर रहा हूँ।

“अरे आभार प्रदर्शन, विशेषकर ककुद्मिन को भूल मत जाना।” उसने मेरे कान में धीरे से कहा।

जय-जयकार का स्वर थमते ही मैं पुनः अपने मार्ग पर आ गया—“मैं किन शब्दों में आपका आभार व्यक्त करूँ। बेटा हजार आभार व्यक्त करे, पर वह कभी अपने माता-पिता के ऋण से उऋण नहीं हो सकता।”

पता नहीं इस वाक्य का लोगों ने क्या अर्थ लिया; पर पूरी जनता इतनी प्रसन्न हुई कि वह 'साधु-साधु' करके नाच उठी।

“पहले तो मैं आभारी हूँ अपने पितृकल्प ककुद्मिन का, जिनकी कृपा न होती तो शायद आज मैं यहाँ उपस्थित न होता। मैं आभारी हूँ अपने भाई और भाभी रेवती का, जिनके ममत्व ने मुझे गोद में उठाकर इस सिंहासन पर बैठा दिया।” मैंने यह कहते हुए रेवती भाभी की ओर देखा। उनकी आँखें छलछला आई थीं।

मैं बोलता जा रहा था—“मैं आभारी हूँ विश्वकर्मा और उनके शिल्पियों का, जिन्होंने इतने अल्प समय में समुद्र के गर्भ में इतने सुंदर नगर का निर्माण किया। हम-आप क्या, इनके इस शिल्पकला पर इतिहास गर्व करेगा।

“मैं सभी राजे-महाराजे और अतिथियों का आभारी हूँ, जिन्होंने तमाम व्यस्तताओं के होते हुए भी यहाँ आने का कष्ट किया। आखिर मैं उनके लिए क्या कर सकता हूँ, सिवा इसकेकि आर्यावर्त के पश्चिमी द्वार पर प्रहरी की तरह सन्नद्ध रहूँ।”

फिर मैंने पंचजन, पुण्यजन, गरुड़केतु, विंद-अनुविंद आदि के साथ ही पांचाल नरेश को बड़े अनुग्रहभाव से स्मरण किया।

कार्यक्रम अपराह्न के पूर्व ही समाप्त हो गया। छंदक सबसे अधिक प्रसन्न दिखा। उसने प्रजा के अपूर्व उत्साह की बड़ी प्रशंसा की। मैंने सोचा, वह तो अपना ही है, उसे मेरी हर बात अच्छी ही दिखाई देती है। हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र का भी राज्यारोहण हमारे सामने हुआ है; पर उसमें यह बात न थी।

तब हमें अपने राज्यारोहण की महत्ता पर विश्वास न हुआ।

उस दिन अर्द्ध रात्रि तक अतिथि मुझसे मिलते रहे। अपने उपहार देते रहे। पांचाल नरेश भी आए; पर वे मेरे पास अर्जुन को बैठा देखकर चुपचाप वापस जाने लगे। दो ही कदम आगे बढ़े होंगे कि पता नहीं उनके मन में क्या आया कि पुनः लौट आए और इस अवसर के लिए विशेष रूप से लाई रत्नजटित कटार मुझे अर्पित की। मैंने खड़े होकर उसे स्वीकार किया; पर वे कुछ बोले नहीं। उनकी मुद्रा से लगा कि वे कुछ कहना चाहते हैं।

बाद में छंदक बता रहा था कि वह उससे पूछ रहे थे कि ये हस्तिनापुर के लोग कब तक रहेंगे?

“यह तो मैं कुछ नहीं कह सकता।” छंदक उनसे बोला। उनकी प्रतिहिंसा कितनी निराश हुई होगी, यह तो वही जानें। दूसरे दिन पता चला कि पांचाल नरेश चले गए हैं।

रात्रि का दूसरा प्रहर आरंभ हो चुका था, जब मालिनी मुझसे मिलने आई। श्वेत वस्त्रों में अपनी मुसकराहट की धवलता बिखेरती हुई, अगणित जलते दीपों की ज्योति में वह बहुत अच्छी लगी।

“क्या तुम भी आज जा रही हो?” मैंने पूछा।

“अब मैं अपनी कोई आवश्यकता नहीं समझती।” वह मुसकराते हुए बोली और विचित्र भंगिमा से रुक्मिणी की ओर देखा।

उस समय भैया, उद्धव आदि वहाँ उपस्थित थे, इसलिए मैं उससे रुकने का आग्रह भी न कर सका। उसने उपहार में एक वंशी मुझे दी। मैंने उसे ध्यान से देखा—‘अरे, यह तो मेरी ही है।’ मुझे याद आया कि जब मैं मथुरा छोड़कर अज्ञातवास में जा रहा था तब मैंने उसे अपनी स्मृतिस्वरूप दिया था। यह बात मैंने उसे भी याद दिलाई।

वह मुसकराई और बोली, “अब तो जो कुछ मेरे पास है, वह सब आपकी दी हुई वस्तुएँ ही हैं।”

“तो तुम इसे मुझे देकर क्या करोगी?”

“आपसे दूसरी ले लूँगी।” और फिर ऐसी खिलखिलाई कि क्या बताऊँ!

इसके बाद और शायद सबसे अंतिम आनेवालों में रुक्मी था। अपने साथियों के साथ ही उसने कक्ष में प्रवेश किया।

ऐसा लगा जैसे अहं का हिमालय चला आ रहा है। देखते ही भैया ने धीरे से कहा, “जल गया है, पर ऐंठन नहीं गई।”

“इसके सारे व्यक्तित्व में केवल ऐंठन-ही-ऐंठन तो रह गई है।” यह आवाज उद्धव की थी। पर ये दोनों आवाजें उस तक नहीं पहुँचीं।

मेरे निकट आते ही रुक्मी बड़ी रुक्षता से बोला, “अच्छा, तो मैं अब जा रहा हूँ।”

“कैसे कहूँ!” मैंने बड़े संकोच से कहा, “मैं तो चाहता था कि आप कुछ दिनों और रहते।”

“क्यों?” उसने रुक्मिणी की ओर संकेत कर कहा, “इसका मुँह देखता रहूँ और जलता रहूँ!” इतना कहते हुए वह बड़े झटके से लौट पड़ा।

कोई कुछ नहीं बोला। यदि कोई दूसरा अवसर होता तो भैया अवश्य एक धौल जमा देते। फिर भी मैंने रुक्मिणी को संकेत किया कि तुम्हारा भाई जा रहा है, जाकर आशीर्वाद ले लो।

रुक्मिणी बड़े आवेश से उठी और बढ़ी। पर उसको आता देखकर भी रुक्मी रुका नहीं। रुक्मिणी ने दौड़कर उसे पकड़ा और गिड़गिड़ाते हुए बोली, “भैया, जाते समय आशीर्वाद तो देते जाओ।”

“चल हट कुलटा!” उसने उसे ऐसा झटका कि वह गिर पड़ी।

□□□